भाषाशास्त्र

तथा

हिन्दी भाषा की रूपरेखा

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री,
साहित्याचार्य एम० ए० पी एच० डी०
प्राध्यापक हिन्दी विभाग
शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
नीमच (मन्दसौर) म० प्र०



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

प्रथम संस्करण, १९७३

मूल्य : १५.५०

BHĀSHĀ SHĀSTRA TATHĀ
HINDĪ BHĀSHĀ KĪ ROOPREKHĀ

[An outline of Linguistics and Hindi Language]
by
Dr. Devendra Kumar Shastri

First Published 1973
by Vishwavidyalaya Prakashan
Chowk, VARANASI-1

प्रकाशक : विश्वविद्यालय प्रकाशन, विशालाक्षी भवन, चौक, वाराणसी।
मुद्रक : ओम्प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (बनारस) ७१०४-२९।

पूर्व कथन

किसी भाषा का सम्यक् अध्ययन करने के लिए उस की विधि का ज्ञान करना आवश्यक होता है। आज के वैज्ञानिक युग में भाषा के अध्ययन की प्रणाली को भी वैज्ञानिक रूप मिल चुका है, इसलिए इसे भाषा-विज्ञान कहा जाता है। भाषा-विज्ञान मे भाषा मात्र के सामान्य नियमों तथा उस की आकृति एवं प्रकृति का विवेचन किया जाता है। भाषा की प्रकृति का स्वरूप भाषण-ध्वनियों मे तथा आकृति-रूप पद एव पदिमो में लक्षित होता है। वर्णनात्मक भाषाशास्त्र मे इन के अध्ययन-विश्लेषण की वैज्ञानिक रूप से व्याख्या की जाती है। आज अमेरिका मे ही नहीं, रूस तथा अन्य प्रगतिशील देशो में भी भाषाशास्त्र तथा भाषा-विज्ञान के मुख्य केन्द्र स्थापित हो चुके हैं।

भाषा का सम्बन्ध समाज के प्रत्येक प्राणी से है। बिना भाषा के समाज नहीं चल सकता है। भाषण स्वय गतिशील और प्रेरक है। केवल कवि, लेखक, कहानीकार, उपन्यासकार, आदि साहित्यिको, अध्यापको और दार्शनिकों, आदि के लिए ही भाषा का विशेष महत्त्व नही है, किन्तु वैज्ञानिक, डॉक्टर और इजीनियरो, आदि के लिए भी भाषा समान रूप से उपयोगी है। वैज्ञानिक आविष्कारो तथा अनुसन्धानों के साथ-साथ भाषा मे भी अनुसन्धान के अनुगमन करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। किसी नई वस्तु के हमारी ऑखों के सामने आने के साथ ही उस के प्रतीक के रूप मे शब्द उच्चरित होने लगता है। यही कारण है कि उडनशील यन्त्रो के आविष्कार के पूर्व हेलीकोप्टर (helicopter) तथा हॉवरक्राफ्ट (hovercraft) की बात कोई नही सोच सकता था। विज्ञान के सहयोग से भौतिक जगत् में ज्यों ज्यों प्रगति के चरण आगे बढते जा रहे हैं, भाषा के नए शब्द-रूपो की रचना और विकास के नए स्तर लक्षित होने लगे है। इसलिये प्रत्येक देश के जन सामान्य मे प्रयुक्त होने वाली शब्दावली तथा उस के उच्चारण मे विशेष अन्तर आया है। यथार्थ में, वैज्ञानिक उपलब्धियों के कारण भाषा का क्षेत्र दिनोदिन विकसित होता जा रहा है।

प्रत्येक युग का साहित्यकार नए शब्दों की तलाश मे रहता है। नित नवीन भाव-भगिमाओं के साथ अपनी सवेदनाओं तथा अनुभूतियों को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले कवि और जन साधारण की भाषा में सोचने और लिखने वाले कहानीकार की भाषा में अन्तर स्पष्ट रूप से दिखलाई पडता है। जीवन के प्रत्येक क्रिया-कलाप का सम्बन्ध भाषा से जुड़ा रहता है। इसलिए उन की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति के लिए शब्दों की तलाश होना स्वाभाविक है। शब्दों की तलाश केवल साहित्यकार ही नहीं, किन्तु शिल्पी, वैज्ञानिक, यान्त्रिक और दार्शनिक भी करते हुए देखे जाते हैं। क्योंकि ज्ञान-विज्ञान के अनुभव तथा शोध-अनुसन्धान को प्रकट करने के लिए भाषा ही एक मात्र

माध्यम है। मिकेल फेराडे ने विद्युत् के द्वारा रासायनिक परिवर्तन सम्बन्धी अपने खोज –परिणामों को वर्णित करने के लिए विलियम व्हेवेल से, जो केम्ब्रिज विश्वविद्यालय म दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक थे, उपयुक्त शब्दों पर विचार करने के लिए प्रार्थना की थी। (देखिए, टी० एच० सेवोय लैंग्वेज ऑव सायन्स, पृ० ६५)

भाषा एक विज्ञान है, यह तथ्य प्रकट करने के लिए पिछले पचास वर्षों में कइ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी जा चुकी है। उन म से मुख्य उल्लेखनीय हैं—द स्टेटस् ऑव लिंग्विस्टिक्स एज ए सायन्स (एडवर्ड सेपीर), फोनेमिक्स ए टेकनीक फार रिड्यु सिंग लैग्वजेज टु राइटिंग (के० एल० पाइक), लैंग्वेज (ब्लूमफील्ड), मेथड्स इन स्ट्रक्चरल लिग्विस्टिक्स (श्रीमती जेड० एस० हेरिस), सायस एण्ड लिंग्विस्टिक्स द टेक्नालॉजी रिव्यु (बेन्जामिन ली हूर्फ), इत्यादि।

१८९० ई० के प्रारम्भ से ही, जब से विज्ञान जगत् मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हे, तब से यह समझा जाने लगा है कि अब ससार मे नये तथ्य अधिक नही रह गए ह वरन् तथ्यो को जानने के लिए नए ढग से चितन की आवश्यकता है। किन्तु नए ढग से चितन की अपक्षा है, यह कहने की बजाय नए ढग से कहने की आवश्यकता है, कहना अधिक उपयुक्त होगा। बेन्जामिन ली हूफ के ये विचार आधुनिक शोध अनुस धान के सन्दर्भ मे उचित ही प्रतीत होते है। क्योकि आज सभी क्षेत्रो म अभि व्यक्ति की शैली मे पर्याप्त अतर परिलक्षित होता है। अत पुराने तथ्य नइ भाषा म वर्णित होने पर अधिक आकर्षक और नवीन प्रतीत होते है। यह भाषा का चमत्कार है। भाषा की अभिव्यजना की दृष्टि से अत्यन्त प्राचीन काल से नवीनता और प्राचीनता को स्पष्ट रूप मे देखा परखा जा सकता है।

अध्ययन काल से ही मेरे मन म यह धारणा बन चुकी थी कि हिन्दी भाषा म भाषा विज्ञान विषयक ऐसी कोइ पुस्तक नही लिखी गइ, जिस में सभी अगो का तथा भाषातत्त्वो का विवचन किया गया हो। मै पिछले दस वर्षों स लगातार भाषाविज्ञान विषय का अध्यापन कार्य करता आ रहा हूँ। मेरे सामने हिन्दी के एम० ए० के छात्र रहे हैं। उन की कइ प्रकार की कठिनाइयो का अनुभव करने का मुझ अवसर मिला है। मेरा अनुभव है कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली सवथा भुक्तमान परम्परा के आबद्ध घेरे मे चक्कर काट रही है, जिस के पाठ्यक्रम मे लगभग चालीस वर्षों से कोई विशेष परिवर्तन नही हो रहा है। विश्व के कोने कोने मे आज नया प्रकाश और नया तेज अत्यन्त वेग से सचार कर रहा है। किन्तु हम पुरानी परम्पराओ को पुराने साचे मे ही अब तक ढाले हुए है। यह मेरी धारणा दिनादिन दृढ होती गई। आज भी इस मे कोइ परिवर्तन हो यही आकाक्षा है।

एक दिन जब मुझ से मेरे वरिष्ठ अध्यापकसाथी भाइ प्रमोद जी वर्मा ने मेरे सामने यह चर्चा की कि हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों के लिए इस भाषाविज्ञान की क्या उपयोगिता है? तो तत्काल मैने उत्तर में कहा कि उपयोगिता तो है और रहेगी, किन्तु जिस रूप मे पाठ्यक्रम मे है, वह विद्यार्थियो के लिए भार-स्वरूप ही है। हिन्दी साहित्य

का विद्यार्थी संसार की भाषाओं के परिवार रटता फिरे और हिन्दी तथा उस की बोलियों से अनभिज्ञ रहे, यह कैसी विडम्बना है ? एक तो भाषाविज्ञान उन के लिए नया विषय; फिर जर्मन की भाषाओं में लागू होने वाले ध्वनि-नियमों का अध्ययन कर अपने समय और शक्ति का ही अपव्यय करते हैं। समय-समय पर होने वाले इस प्रकार के अनुभव मेरे मन में आज भी अच्छी तरह से जमे हुए हैं—भाषाविज्ञान पढ़ कर भी एम० ए० का छात्र शुद्ध हिन्दी नहीं लिख सकता, भाषा की भूलों को नहीं समझ सकता, किसी दूसरी भाषा से हिन्दी मे अनुवाद ठीक से नही कर सकता, स्नातकोत्तर अध्ययन के उपरान्त किसी प्राचीन या हस्तलिखित ग्रन्थ का सम्पादन नहीं कर सकता, और न किसी साहित्यिक रचना की भाषा का सम्यक् अध्ययन ही कर पाता है। इतना ही नहीं, साहित्य की किसी भी प्रकार की रचना का वह भलीभाँति अनुशीलन एव समालोचन करने मे दक्ष नही बन पाता है। क्योकि साहित्य की विभिन्न रचनाओ की मीमासा तथा व्याख्या करने के लिए रचनाकार की उस मानसिक प्रक्रिया की प्रतीति आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है, जिस से कल्पना, शैली और बिम्बविधान की सयोजना सहज ही अनुबद्ध होती है। किसी कवि, नाटककार या उपन्यासकार, आदि की रचना-प्रक्रिया को समझे बिना उस की वास्तविक समीक्षा कैसे की जा सकती है ? केवल उसकी रचना से प्रभावित हो कर और अपनी मान्यताओं तथा धारणाओ के अनुसार प्रभाववादी आलोचना करना यथार्थ मे समालोचना नही कही जा सकती। भाषाविज्ञान और साहित्य के इस परिपूरक समालोचनात्मक पक्ष पर आज तक किसी ने हिन्दी भाषा में विचार नही किया था। प्रथम बार इस पुस्तक मे भाषाविज्ञान से साहित्य का क्या सम्बन्ध है और इस शास्त्र की सहायता से हम वास्तविक समालोचना कैसे कर सकते है, इस पर संक्षिप्त तथा भाषाशास्त्रीय विवेचन किया गया है। इसलिये यह पुस्तक केवल परीक्षार्थियो या विद्यार्थियो के लिए ही नही, साहित्य-समालोचक, भाषाविद् तथा अध्ययन-अनुसन्धान मे प्रवृत्त एव हिन्दी भाषा के सम्बन्ध मे समस्त जानकारी प्राप्त करने की इच्छा रखने वालो के लिए भी समान रूप से उपयोगी सिद्ध हो सकेगी।

प्रस्तुत पुस्तक मे भाषा के समालोचनात्मक अध्ययन के अतिरिक्त कई नवीन विषयो पर भी विचार किया गया है। हिन्दी भाषा में भाषाविज्ञान विषय से सम्बन्धित किसी एक पुस्तक मे आज तक हिन्दी भाषा की वर्तनी (Spelling), नए शब्दों की रचना, कोश-व्युत्पत्ति-विज्ञान, अनुवाद और पाठालोचन, आदि का विवेचन नही किया गया है। इन सब का विचार करते हुए हिन्दी भाषा की एकरूपता और व्याकरणिक रचना का भी नए सिरे से विवेचन किया गया है। वास्तव मे, वर्तनी का सम्बन्ध श्रुति एवं भाषा के रागात्मक पक्ष से है। अतएव हिन्दी-जगत् मे अब यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रायः सभी नामाख्यातक रूपों में 'य' के स्थान पर स्त्रीलिंग में 'ई' (जैसे : नई, खाई) और क्रियापदों में 'ए' (जैसे : जाएँगे, चाहिए) का प्रयोग न केवल श्रुति की दृष्टि से, वरन् भाषाशास्त्रीय ध्वनिविषयक विश्लेषण तथा विकास की परम्परा में भी उचित सिद्ध होता

है। भाषागत ध्वनियों के इन नए परिवर्तनों को पुराने व्याकरण की दूरबीन से जाँचना अथवा परम्परागत जीर्ण रूढियो के पैमाने से मापना उचित न होगा।

पुस्तक के लेखन मे रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर के भाषा-विज्ञान विभाग के अध्यक्ष डॉ० रमेशचन्द्र मेहरोत्रा से समय-समय पर जो विमर्श मिलता रहा है, उस के लिए लेखक सदा उन का आभारी रहेगा। डॉ० मुरारीलाल उप्रैति, क० मुं० हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा का भी आभार है, जिन्होंने वाक् इन्द्रियों का चित्र प्रदान कर मेरी सहायता की। केन्द्रीय हिन्दी संस्थान के निदेशक डॉ० व्रजेश्वर वर्मा ने पुस्तक के कुछ अंशों को पढ कर जो उत्साह और अभिरुचि प्रदर्शित की है, वह सर्वथा स्मरणीय रहेगी। अन्त मे उन सभी लेखकों का हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिनकी पुस्तकों व लेखो से सामग्री सकलित कर एक छोटा-मोटा रूप दे सका हूँ। इस का मुझे खेद है कि पर्याप्त सावधानी रखने पर भी कहीं-कही मुद्रण सम्बन्धी त्रुटियाँ रह गई हैं।

इस पुस्तक के प्रकाशन मे श्री मोदी जी ने जिस तत्परता और स्नेह का परिचय दिया है, वह सचमुच सराहनीय है। उन की सजगता और लगन के फलस्वरूप ही पुस्तक इस नयनाभिराम रूप मे शीघ्र ही मुद्रित हो सकी है। अतएव उन का विशेष आभार है।

—देवेन्द्रकुमार शास्त्री

२६ जनवरी, १९७२

विषयानुक्रमणिका

१
भाषाशास्त्र : परिचय

भाषाविज्ञान तथा भाषाशास्त्र

यद्यपि भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से वाक्, अक्षर, पद पदार्थ आदि भाषा के विभिन्न अगो का सूक्ष्म विवेचन होता रहा है, किन्तु भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन आधुनिक युग की देन है। केवल आन्तरिक रूप का ही नही, भाषा के बाह्य रूप का भी सम्यक् विश्लेषण, अध्ययन तथा अनुशीलन इस युग मे किया गया है। अठारहवीं शताब्दी के पूर्व भाषा के अध्ययन के क्षेत्र में यूरोप में १७१६ ई० मे डेवीज ने इसे 'ग्लासालॉजी' तथा सन् १८४१ में प्रिचर्ड ने 'ग्लाटालॉजी' नाम दिया था, किन्तु यह नाम लोकप्रिय नही हो सका। सामान्यत 'फिलालॉजी' शब्द इसके लिए प्रचलित हुआ, जो आज तक भाषा विज्ञान के पर्याय के रूप में प्रचलित है। भाषा विज्ञान के क्षेत्र मे जो अध्ययन कार्य किया गया, उसे ध्यान में रख कर 'तुलनात्मक भाषा विज्ञान' का समानार्थी 'फिलालॅजी' शब्द समझा गया। भारतवर्ष में आधुनिक युग में भाषा विज्ञान के अध्ययन का प्रारम्भ कलकत्ता विश्वविद्यालय में 'कम्पेरेटिव फिलालॉजी' विषय के रूप मे हुआ। अध्ययन के विकास के साथ ही 'फिलालॅजी' शब्द का भी अर्थ विस्तार हो गया। अब यह इग्लैण्ड मे भाषा-सम्बन्धी सभी प्रकार के अध्ययन के लिए प्रयुक्त किया जाता है। यहाँ तक कि भाषा तत्त्व (Linguistics) के लिए भी वहाँ पर 'फिलालॅजी' शब्द प्रचलित है। किन्तु भाषा विज्ञान (Philology), तुलनात्मक भाषा विज्ञान (Comparative Philology), भाषातत्त्व या भाषाशास्त्र (Linguistics) शब्दो से विभिन्न देशों मे भिन्न भिन्न अर्थ ग्रहण किया जाता है। भारतवर्ष म इसके लिए पुराना शब्द भाषाशास्त्र है, किन्तु आज इसके लिए 'भाषा तत्त्व' शब्द का प्रयोग उपयुक्त समझा जाता है। हिन्दी मे 'विज्ञान' तथा 'शास्त्र' दोनो शब्द प्राय पर्याय रूप मे प्रयुक्त होते हैं। जिस प्रकार कुछ दशको के पूर्व यूरोप मे 'फिलालाजी' और 'लिंग्विस्टिक्स' शब्दो के अर्थ मे कोई अन्तर नही माना जाता था, उसी प्रकार एक दशक पूर्व तक हमारे यहाँ भी भाषा विज्ञान और भाषाशास्त्र मे कोई भेद नहीं समझा जाता था। परन्तु डॉ० उदयनारायण तिवारी ने 'भाषाशास्त्र की रूपरेखा' लिख कर यह स्पष्ट कर दिया है कि भाषाशास्त्र भाषा विज्ञान से एक अलग विषय है। भाषाशास्त्र में मुख्य रूप से जीवित भाषा या बोली का अध्ययन एव विश्लेषण किया जाता है। आज अमेरिका मे भाषा के अध्ययन के दो मुख्य विभाग बन गये हैं—भाषा विज्ञान (Philology) और भाषाशास्त्र (Linguistics)। भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत प्राचीन लिखित सामग्री, साहित्यिक रचनाओ

तथा शिलालेखो की भाषा का अध्ययन किया जाता है। दूसरे शब्दों में, इसे सांस्कृतिक भाषा-विज्ञान भी कहा जा सकता है, जिसका कार्य कोश-निर्माण, प्राचीन ग्रन्थो का सशोधन व सम्पादन, लोक-कथाओ का विश्लेषण तथा विवेचन कर उनकी सांस्कृतिक व्याख्या प्रस्तुत करना है। इस प्रकार एक और भाषा-विज्ञान जहाँ साहित्यिक अभिलेखो के अध्ययन मे उपयोगी है वही दूसरी ओर सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक तथ्यो का विवेचन करना भी इसका कार्य माना जाता है। किन्तु भाषाशास्त्र (Linguistics) में केवल कथ्य भाषा का ही विवेचन किया जाता है। जीवित बोली का विश्लेषण करना ही इसका मुख्य कार्य है। लिखित सामग्री या साहित्य की भाषा की व्याख्या करना इसकी सीमा के बाहर का विषय है।

सामान्यतः भाषा-विज्ञान का अर्थ किसी भाषा का साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन माना जाता है। जर्मन मे इसका अर्थ साहित्य का अध्ययन प्रचलित है[1]। भाषा-विज्ञान केवल भाषा की ही व्याख्या नही करता, अपितु भाषा में निहित साहित्यिकता के साथ सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक विवेचन भी प्रस्तुत करता है। परन्तु भाषाशास्त्र केवल भाषा पर केन्द्रित रहता है। प्रसगतः सन्दर्भगत सांस्कृतिक तथा साहित्यिक मूल्यो का अधिग्रहण किया जाता है। क्योकि मुख्य रूप से बोली जाने वाली भाषा का—जो कि लिखित भाषा भी हो सकती है—विचार किया जाता है[2]। इस प्रकार भाषाशास्त्र भाषा का अध्ययन है, जिसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ होता है—भाषा वह है 'जो मानवीय वाणी से समन्वित होती है।' किसी भी भाषा का या विभिन्न भाषाओ का जिसके अन्तर्गत वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है उसे भाषाशास्त्र कहते हैं। भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन नवीन शोध और अनुसन्धानो पर आधारित है। भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन किए जाने के कारण लगभग एक शताब्दी के पूर्व इसे 'सायन्स ऑव लैंग्वेज' कहा जाता था और आज इसके लिए सर्वसाधारण प्रचलित शब्द है—लिंग्विस्टिक सायन्स। विज्ञान के अन्य विषयो की भाँति भाषा के अध्ययन की पद्धति भी एक विज्ञान है, जिसके लिए 'लिंग्विस्टिक' शब्द का प्रयोग एक विशेषण के रूप मे किया गया है[3]।

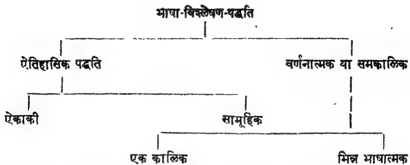
हिन्दी-जगत् मे सामान्य रूप से भाषा के अध्ययन के लिए भाषा-तत्त्व, भाषा-विचार, भाषा-मीमासा, भाषालोचन, भाषाशास्त्र, भाषा-विज्ञान तथा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान आदि अनेक शब्द प्रचलित हैं; किन्तु भाषा-विज्ञान सबसे अधिक प्रचलित शब्द है। यद्यपि 'भाषा-विज्ञान' शब्द व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त किया जाता है और इससे भाषा-अध्ययन की लगभग सभी विधाओ का बोध हो जाता है, किन्तु भाषा-विज्ञान में इसका अर्थ लिखित सामग्री का अध्ययन किया जाता है[4]। भाषाविद् इसका उपयोग पाठ शुद्धि के लिए करते हैं। हस्तलिखित ग्रन्थों तथा शिलालेखों में प्राप्त होने वाली अशुद्धियो का परिमार्जन, पाठ-निर्धारण तथा छूटे हुए अशों तथा शब्दों की पूर्ति भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन से की जाती है। ऐतिहासिक अध्ययन मे लिखित सामग्री अतीतकालिक होने के कारण भाषा-विज्ञान का आश्रय लेकर चलना पड़ता है। किन्तु

किसी भाषा का तात्त्विक अध्ययन करने के लिए अथवा विशिष्ट काल की भाषा के सर्वांगीण अध्ययन को प्रस्तुत करने के हेतु भाषाशास्त्र की उपयोगिता स्वभावसिद्ध है। भारतवर्ष में आदिवासियों की ऐसी कई बोलियाँ हैं, जिनमें कोई लिखित साहित्य उपलब्ध नहीं है। इसलिए उनका इतिहास जानना भाषा विज्ञान के लिए सम्भव नहीं है। भाषावैज्ञानिक लिखित सामग्री के बिना किसी भाषा का ऐतिहासिक अध्ययन एवं विश्लेषण नहीं कर सकता। किन्तु भाषाशास्त्री ऐतिहासिक अध्ययन के द्वारा वर्तमान जीवित बोली रूपों की तुलना कर प्राचीन रूपों का पुनर्गठन कर सकता है। इस प्रकार भाषाशास्त्र में वर्तमान से अतीत की ओर पुरस्सर होने का अध्ययन-क्रम सलक्षित होता है, किन्तु भाषा विज्ञान में अतीत से वर्तमान तक आने का भाषा-विषयक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। हिन्दी भाषा के विशेष अध्ययन के लिए हमने 'भाषाशास्त्र' शब्द उपयुक्त समझा है और भाषा-विज्ञान के आधुनिक सन्दर्भ में इस शब्द का प्रयोग किया है। भाषाशास्त्र से हमारा अभिप्राय 'लिंग्विस्टिक्स' से है।

आजकल भाषाशास्त्र के मुख्य दो उप विभाग हो गये हैं—ऐतिहासिक भाषाशास्त्र और वर्णनात्मक भाषाशास्त्र। जैसा कि नाम से स्पष्ट है कि ऐतिहासिक भाषाशास्त्र के अन्तर्गत भाषा मे होने वाले परिवर्तनों तथा मौखिक सामग्री के रूप में प्राप्त भाषा-विकास का कालक्रमानुसार अध्ययन किया जाता है। यह अध्ययन व्यक्ति बोली के अन्तर्गत किया जाता है। वस्तुत ऐतिहासिक अध्ययन भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन के कारण प्रतिफलित हुआ। सन् १७८६ मे सर विलियम जोन्स की इस घोषणा से कि संस्कृत ग्रीक से भी पूर्ण, लैटिन से भी प्रचुर तथा दोनों में पर्याप्त समानता होने पर भी (सस्कृत) अधिक सस्कारित भाषा है और इन तीनो भाषाओं का मूल उत्स एक ही है'—यूरोप के भाषाविदो का ध्यान तुलनात्मक अध्ययन की ओर अग्रसर हुआ और परिणामस्वरूप 'तुलनात्मक भाषा विज्ञान' का जन्म हुआ। जब दो या दो से अधिक भाषाओ का तुलनात्मक अध्ययन कालक्रम के अनुसार किया जाता है तथा किसी भाषा की प्राचीनता का अनुसन्धान किया जाता है तब तुलनात्मक अध्ययन होने पर भी उसे ऐतिहासिक कहना चाहिए। सम्भवत इसीलिए ऐतिहासिक भाषाशास्त्र का एक पृथक् विषय ही बन गया है। इस शास्त्र में भाषा-विकास की विभिन्न अवस्थाओं के अतिरिक्त किसी भाषा विशेष के उद्भव और विकास का ऐतिहासिक विधि से अध्ययन किया जाता है। इस सन्दर्भ में यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि अब तुलनात्मक अध्ययन समकालिक तथा कालक्रमागत भाषा सामग्री के आधार पर किया जाता है, इसलिए अलग से तुलनात्मक भाषाशास्त्र विषय मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। भाषाशास्त्र मे ऐतिहासिक भाषाशास्त्र (Historical Linguistics) के लिए पर्याय के रूप में कालक्रमिक भाषाशास्त्र (Diachronic Linguistics) शब्द का भी प्रयोग किया जाता है।

वर्णनात्मक भाषाशास्त्र (Descriptive Linguistics) के पर्यायवाची रूप में समकालिक भाषाशास्त्र (Synchronic Linguistics) शब्द का भी प्रयोग किया

जाता है। भाषा के समस्त रूप तथा उसके अंगो का विश्लेषण वर्णनात्मक रूप में प्रस्तुत किए जाने के कारण इसे वर्णनात्मक भाषाशास्त्र कहते है। ध्वनिग्राम तथा पद-ग्राम को मूल इकाई के रूप मे प्रयुक्त कर भाषावैज्ञानिक भाषा के अभिव्यक्तिपरक पक्ष को ज्ञातव्य सिद्धान्त के रूप में निर्मित करने में समर्थ हो सके है और विशिष्ट भाषाओं की अभिव्यक्ति-पद्धतियो की विस्तृत व्याख्या कर सके है। सामान्य रूप से इसे वर्णनात्मक भाषाशास्त्र कहा जाता है। यह भाषीय विज्ञान (Linguistic Science) की मूल शाखा है[६]। अन्य ऐतिहासिक भाषाशास्त्र है। ऐतिहासिक भाषाशास्त्र की पद्धति विवरणात्मक होती है। इस पद्धति मे कालक्रमानुसार भाषा-तत्त्वो की विभिन्न अवस्थाओं का उल्लेख किया जाता है। किन्तु वर्णनात्मक भाषाशास्त्र मे भाषा के विभिन्न तत्त्वो का विश्लेषणात्मक वर्णन किया जाता है। यह वर्णन तीन भागो में किया जाता है : व्याकरण (जिसमे ध्वनिविज्ञान और ध्वनितत्त्व भी सम्मिलित है), कोश-रचना और साहित्यिक शैली। इन सभी में शब्द-रूप, रूपो तथा शब्दार्थो का विचार किया जाता है[७]। वस्तुतः एक प्रकार से वर्णनात्मक भाषाशास्त्र को 'अभिनव व्याकरण' कहा जा सकता है, क्योकि व्याकरण के सभी उपादानों का विश्लेषण एवं वर्णन करने के कारण वर्णनात्मक भाषाशास्त्र ऐतिहासिक भाषाशास्त्र के लिए मूल आधार की रचना करता है। आधुनिक वर्णनात्मक भाषाशास्त्र की व्यावहारिक पद्धति मे ही लगभग ढाई हजार वर्षों के पूर्व के भारतीय व्याकरण तथा पाणिनि की रूपात्मक अध्ययन विधि का आभास मिलता है और इसी के आधार पर उनकी वैज्ञानिकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। किन्तु पाणिनीय पद्धति मूल आधार होने पर भी वर्णनात्मक भाषाशास्त्र आधुनिक युग की चरम उपलब्धि है। पाणिनीय पद्धति के विश्लेषणात्मक और सश्लेषणात्मक दोनो ही रूपो का चरम विकास इस पद्धति मे परिलक्षित होता है। व्याकरण रूढ है, किन्तु वर्णनात्मक भाषाशास्त्र जीवित। दूसरे अर्थ मे वर्णनात्मक पुराणपन्थी रीति (प्रिस्क्रिप्टिव) या प्रतिमानक (नार्मेटिव) का विरोधार्थी है[८]। भाषाशास्त्र कहता है कि क्या भाषा है, कौन-सी भाषा है, कितनी भाषाएँ है और इस अवस्था तक कैसे पहुँची हैं, इस रूप को कैसे प्राप्त हुई है। वह यह नहीं बतलाता कि ठीक क्या है और गलत क्या है[९]। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान एक ओर वर्णनात्मक भाषाशास्त्र का आधार लेता है तो दूसरी ओर ऐतिहासिक भाषाशास्त्र का। इस प्रकार भाषा-विश्लेषण की दो पद्धतियाँ मुख्य मानी जाती है—ऐतिहासिक तथा वर्णनात्मक या समकालिक। ऐतिहासिक तथा समकालिक शाखाओं की अन्य दो-दो उपशाखाएँ भी कही गई हैं—



ऐकाकी में एक व्यक्ति की बोली की विभिन्न अवस्थाओं या दो भिन्न कालों की भाषागत स्थिति का अध्ययन किया जाता है। किन्तु सामूहिक में दो या दो से अधिक भाषाओं का कालक्रमानुसार अध्ययन होता है। इसी प्रकार एक कालिक में एक भाषा की सम्पूर्ण इकाइयों का अध्ययन तथा भिन्न भाषात्मक उपशाखा मे पारस्परिक भेदो के साथ दो भिन्न बोलियो की समानताओ का अध्ययन किया जाता है। वस्तुतः यह बोली-विज्ञान का विषय है। यद्यपि अधिकतर शाखा-उपशाखाओ मे तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है, किन्तु वे सभी पद्धतियाँ किसी न किसी रूप में ऐतिहासिक और वर्णनात्मक भाषाशास्त्र में अन्तर्हित हो जाती है।

भाषाशास्त्र की अधुनातन शाखा वाक्यात्मक भाषाशास्त्र (Syntactic Linguistics) के नाम से अभिहित की गई है। इस शाखा के अन्तर्गत वाक्य-विन्यास का विशिष्ट तथा सम्पूर्ण अध्ययन किया जाता है। अन्य पद्धतियो से इसमें निश्चित एवं स्पष्ट भेद यह है कि प्रत्येक भाषाई तत्त्व (प्रायः प्रत्येक शब्द) एक या एक से अधिक समान पदों मे निर्दिष्ट किए जाते हैं, केवल एक सामान्य नियम तथाकथित गणितीय लक्षण देने की आवश्यकता नही होती, जो किसी भाषाई श्रृंखला (एक या एक से अधिक तत्त्वों का अनुक्रम) के प्रकरण में वाक्यात्मक लक्षण परिगणना करने में सहायक होते हैं[१०]। यथार्थ में किसी भी भाषा का गठन मूलतः ज्ञात होने पर यन्त्र भी उसी रूप मे संघटित कर सकता है। किन्तु 'कलम कट गई' तथा 'बतासाले' जैसे वाक्यो का अर्थ-निर्णय वाक्य-विन्यास के विश्लेषण से ही सम्भव है। वस्तुतः प्रकरण या प्रसगगत विवेचन वर्णनात्मक भाषाशास्त्र के विषय से बाह्य समझा जाता है। अतएव नोम चोम्स्की ने अपनी पुस्तक 'सिन्टेक्टिक स्ट्रक्चर' में यह भलीभाँति प्रदर्शित किया है कि इस विषय मे प्रवेश, जिसे कि वह शब्द-समूह (Phrase) गठन का व्याकरण कहता है[११], प्राचीन आधार पर निर्मित नवीन रूपो की समस्या का पूर्णतया समाधान करने में सक्षम नहीं है, दूसरे शब्दों मे वह कोई उत्पादक (जनरेटिव) व्याकरण प्रस्तुत नहीं करता, जो कि उन सभी को और केवल उन रूपो को जो भाषा में मिलते है बता सकेगा[१२]। यथार्थ मे 'उत्पादक व्याकरण' की पद्धति का वास्तविक रूप 'गठनात्मक भाषाशास्त्र' (Structural Linguistics) में संलक्षित होता है।

भाषाशास्त्र की यह शाखा जैलिग हैरिस की पुस्तक 'मेथड्स इन स्ट्रक्चरल लिंग्विस्टिक्स' से आरम्भ हुई। गणितीय आधार पर प्रस्तुत होने के कारण इसे भाषा के अध्ययन का गणित भी कहा जाता है। गणित की भाँति इसमे प्रत्येक भाषा-तत्त्व का वर्णन सूत्रों में किया जाता है। भाषाशास्त्र की इन दोनो शाखाओ का अन्तर्भाव किसी न किसी रूप मे वर्णनात्मक भाषाशास्त्र मे हो जाता है। क्योकि भाषा का वास्तविक अध्ययन—जो कि प्रत्यक्ष है—शब्दोच्चार, उच्चारण विधि, ध्वनि, ध्वनि-ग्राम, पद, पद-ग्राम आदि भाषा का गठन करने वाले अवयवों का पूर्णतया विश्लेषण तथा वर्णन इस शास्त्र मे किया जाता है। इस प्रकार भाषा के प्रत्येक उच्चरित रूप का अध्ययन वर्णनात्मक भाषाशास्त्र में किया जाता है।

भाषाशास्त्र की एक अन्य उप-शाखा वंशानुक्रमिक भाषाशास्त्र (Genealogical Linguistics) मानी जाती है, जिसमे वंशावली को ध्यान में रख कर भाषा का ऐतिहासिक अध्ययन किया जाता है। वस्तुतः यह ऐतिहासिक भाषाशास्त्र मे ही गर्भित हो जाती है। किसी भी भाषा या भाषाओं का अध्ययन कितने ही रूपो में किया जा सकता है, किन्तु उनकी अध्ययन-विधि दो ही हो सकती है—वर्णनात्मक और ऐतिहासिक। मुख्य रूप से वर्णनात्मक भाषाशास्त्र में विभिन्न रूपो का अध्ययन सन्निविष्ट होने से तथा भाषा के आन्तरिक और बाह्य रूप का विश्लेषण तथा वर्णन करने के कारण भाषाशास्त्र की मुख्य विधि मानी जाती है। दूसरी मुख्य विधि ऐतिहासिक है। अमेरिका के प्रसिद्ध भाषाशास्त्री ग्लीसन ने तुलनात्मक भाषाशास्त्र को दूसरा मुख्य स्थान दिया है[१३]। वास्तव मे 'कम्पेरेटिव' शब्द आरम्भ से ही भाषा-विज्ञान के क्षेत्र मे ऐतिहासिक अध्ययन का वाचक रहा है। लेमन ने स्पष्ट रूप से ऐतिहासिक भाषाशास्त्र के अन्तर्गत तुलनात्मक विधि का निर्देश करते हुए ऐतिहासिक तथ्यो का ही उल्लेख किया है[१४]। इसी प्रकार हॉकेट ने तुलनात्मक विधि मे पुराकालिक भाषाओं के शब्दो का विचार किया है। यथार्थ मे यह भाषाओ के ऐतिहासिक सम्बन्ध को प्रकट करने वाली होती है। समकालिक दो या दो से अधिक भाषाओ का तुलनात्मक अध्ययन वर्णनात्मक भाषाशास्त्र का विषय है। भाषाशास्त्र मे लिखित भाषाओ की अपेक्षा जीवित बोलियो तथा भाषाओ का अत्यधिक महत्त्व है, किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि मौखिक एवं लिखित भाषा का अध्ययन भाषाशास्त्र में नही किया जाता। यथार्थ मे किसी भी जीवित भाषा के मूल तथा शुद्ध रूप का परिज्ञान भाषाशास्त्र से होता है।

भाषाशास्त्र की उपयोगिता

एक भाषाशास्त्री के लिए यह आवश्यक नही है कि वह कई भाषाओ का जानकार हो। एक वैज्ञानिक की भाँति उसका विषय भाषा होता है, जिसकी वाग्ध्वनियों का विश्लेषण तथा वर्गीकरण करना मुख्य कार्य समझा जाता है। लिखित भाषा-सामग्री को वह अपने आस-पास के बोलने वालो से प्राप्त करता है। भाषा के आन्तरिक रूप का अध्ययन बिना भाषाशास्त्र के ज्ञान के सम्भव नही है। इसीलिए शैशव काल

से हम जिस भाषा का प्रयोग करते आ रहे हैं यदि उसके सम्बन्ध में कोई सामान्य-सा प्रश्न पूछ देता है कि—'तुम आगरा से आ रहे हो' यह वाक्य ठीक है अथवा 'तुम आगरे से आ रहे हो' इन दोनों में से शुद्ध क्या है तो उत्तर देना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार से जिन ध्वनियों से हम सर्वथा परिचित हैं और जिनका रात-दिन प्रयोग करते हैं उनके सम्बन्ध में कोई पूछ बैठे कि 'दश' और 'दस' में से क्या लिखना चाहिए तो हम असमंजस में पड़ जाते हैं। ध्वनियो और शब्द-रूपों की भाँति भाषा की अभिव्यक्ति-पद्धति की जानकारी के लिए भी भाषाशास्त्र का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है। मानव का सम्पूर्ण जीवन उसकी वाग्ध्वनियो में लिपटा रहता है और उनका अध्ययन करना ही भाषाशास्त्र का मुख्य कार्य है। संक्षेप मे, भाषा-शास्त्र की उपयोगिता निम्न-लिखित है :—

(१) भाषा के आन्तरिक तथा बाह्य रूप की वास्तविक जानकारी के लिए इसकी उपयोगिता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। भाषा के सम्बन्ध में सभी प्रकार की जिज्ञासाओ का समाधान भाषाशास्त्र से होता है।

(२) किसी भी भाषा के सम्यक् शिक्षण के लिए भाषाशास्त्र एक निर्देशक के समान है, जिसकी सहायता से हम किसी भी प्रकार की भाषा की शिक्षा ठीक उच्चारों के साथ सम्यक् रूप मे प्राप्त कर सकते है।

(३) जीवित बोली तथा भाषा एवं लिखित अथवा साहित्यिक भाषा के बीच का अन्तर भाषाशास्त्र के अध्ययन से विदित होता है। साधारण और शिष्ट लोगों के बीच जो अन्तर दिखलाई पडता है वही भाषा के क्षेत्र में भी लक्षित होता है।

(४) हस्तलिखित ग्रन्थ के पाठ-संशोधन मे तथा अर्थ-निर्णय में भाषा-विज्ञान और भाषाशास्त्र दोनो ही उपयोगी है। भाषाशास्त्र के नियमो को ध्यान में रख कर जो पाठ-शोध किया जाता है वह सम्यक् तथा वैज्ञानिक माना जाता है।

(५) ऐतिहासिक भाषाशास्त्र मे भाषा के विकास के साथ ही ऐतिहासिक खोजों का विवरण भी मिलता है, जिससे पुराकालिक समाज तथा संस्कृति के सम्बन्ध में कई ज्ञातव्य तथ्यो की जानकारी मिलती है। मानव के विकास की कथा के स्पष्ट सूत्र भाषा मे निहित रहते है। इसलिए कई शताब्दियों के बाद भी वे उस युग के परिचायक होते हैं।

सामान्यतः लोग भाषाशास्त्र को व्याकरण की भाँति दुरूह तथा नीरस समझते हैं। बहुत कुछ अंशों मे यह बात सच भी है। किन्तु ज्ञानार्जन मे दुरूहता और जटिलता का प्रश्न नही होता। भले ही यह सामान्य रुचि का विषय न हो, किन्तु भाषा की ठीक-ठीक जानकारी के लिए यह रुचिकर विषय अवश्य है। भाषा के सम्बन्ध में हमारी अज्ञानता और भ्रम का परिहार इस शास्त्र के अध्ययन से भलीभाँति हो जाता है। व्याकरण की अपेक्षा इस शास्त्र का विषय अधिक रोचक तथा विवरणात्मक है। इस लिए यह उतना कठिन नही है। एक साहित्य के विद्यार्थी के लिए किसी काव्य की सम्यक् व्याख्या और आलोचना एवं साहित्यशास्त्र समझने में जितना बौद्धिक श्रम

करना पड़ता है उससे अधिक इस शास्त्र को समझने के लिए आवश्यक नहीं है। इस प्रकार भाषाशास्त्र की उपयोगिता वक्ता की योग्यता तथा उसकी भाषाविषयक उपयोग पद्धति पर निर्भर है।

व्याकरण तथा भाषाशास्त्र का अन्तर

प्राचीन काल में व्याकरण के लिए कई शब्द प्रचलित थे। शब्दानुशासन, शब्द-शास्त्र, निर्वचनशास्त्र तथा शब्द मीमांसा आदि व्याकरणशास्त्र के समानार्थवाचक शब्द है। व्याकरण शब्द का अर्थ है—जिस शास्त्र से शब्दो का अर्थ-विस्तार जाना जाता है। व्याकरण के दो मुख्य कार्य है—सिद्ध शब्दो की रचना-प्रक्रिया प्रस्तुत करना और शब्दो की व्याख्या करना। शब्दों की व्याख्या या विश्लेषण करने के कारण इसे व्याकरण कहा जाता है[१४]। राजशेखर ने भी शब्दों की सिद्धि तथा व्याख्या करने वाले शास्त्र को व्याकरण कहा है[१५]। वस्तुतः शब्द का अन्वाख्यान और अर्थ की शब्दमूलक व्याख्या व्याकरण में विवेचित मिलती है। मूल मे सभी प्रकार के अर्थों की व्याख्या करने के कारण इसे व्याकरण कहा जाता है[१७]। शब्दों की शुद्धि-अशुद्धि, साधु असाधुता का ज्ञान व्याकरणशास्त्र से होता है। इसी प्रकार शब्दो की व्युत्पत्ति, निरुक्ति, कोषगत अर्थ तथा शब्द सरचना करना व्याकरण का विषय है। व्याकरण मे भाषा की रूप रचना तथा वाक्यगठन का विवेचन किया जाता है। यद्यपि भाषाशास्त्र मे भी भाषण ध्वनियो का विवेचन, रूपरचना और भाषागठन की व्याख्या की जाती है, किन्तु दोनो में बहुत बडा अन्तर है।

प्रत्येक भाषा का अपना व्याकरण होता है। कहा जाता है कि चीनी भाषा का कोई व्याकरण नहीं है और न व्याकरण के लिए उस भाषा में कोई शब्द है। किन्तु भाषा की किसी न किसी रूप मे व्यवस्था अवश्य है। हॉकेट के शब्दो मे किसी भाषा का व्याकरण या व्याकरणिक व्यवस्था है—भाषा मे प्रयुक्त होने वाले पदग्राम तथा पदग्रामो की वह व्यवस्था जिसमें उच्चार एक दूसरे से सम्बन्धित प्रकट होते है[१८]। वस्तुतः अभिव्यक्त होकर मूर्त होने वाली भाषा किसी न किसी रूप मे व्यक्त होती है। प्रत्येक भाषा मे रूप पृथक् पृथक् मिलता है। मुख्य रूप से भाषा के रूप का दो वर्गों मे विभाजित किया जाता है—(१) ध्वनिप्रक्रिया-विचार और (२) व्याकरणिक विचार। यहाँ पर व्याकरण और भाषाशास्त्र के कार्य का स्पष्ट अन्तर परिलक्षित होता है। ससार मे कुछ ऐसी भाषाएँ भी है, जिनके शब्दो मे बलाघात का स्थान बदल देने से अर्थभेद हो जाता है। किन्तु अंग्रेजी भाषा में बलाघात का स्थान बदलने से व्याकरणगत भेद हो जाता है[१९]। इस विषय का अध्ययन व्याकरण की सीमा के बाहर है। सक्षेप में, व्याकरण और भाषाशास्त्र में निम्नलिखित अन्तर है :—

(१) व्याकरण एक शास्त्रीय ज्ञान है, जिसका प्रयोग सामान्य रूप से कवि और लेखक करते है। इसे शुद्ध वाग्विज्ञान भी कह सकते है, क्योंकि व्याकरण का उद्देश्य शुद्ध भाषा की शिक्षा देना है। व्याकरण ठीक बोलना और लिखना सिखाता

है। किन्तु वास्तव में यह बात शब्दों के सम्बन्ध में लागू होती है; भाषा के सम्बन्ध में नहीं। इसलिए व्याकरण की सहायता से भले ही हम किसी भाषा को ठीक से लिखना सीख लें, किन्तु ठीक उच्चारों के साथ भाषा को सीखने के लिए भाषा-शास्त्र की शरण लेनी पड़ती है।

(२) भाषाशास्त्र प्रयोगात्मक विज्ञान है और व्याकरण सैद्धान्तिक। इसलिए व्याकरण 'क्या होना चाहिए' पर बल देता है; जबकि भाषाशास्त्र सिखलाता है कि किस रूप मे प्रयोग किया जाता है। भाषाशास्त्री कभी इस बात की चिन्ता नही करता है कि कोई बात किस रूप मे कही जानी चाहिए या अमुक व्याकरण के शब्द-रूप का किस प्रकार प्रयोग करना चाहिए अथवा शब्द विशेष का किस रूप में उच्चारण किया जाना चाहिए ? वह केवल इस बात का अध्ययन और विश्लेषण करता है कि वक्ता भाषा विशेष को किस रूप मे उच्चरित करता है। मनुष्य के उच्चारो के वास्तविक रूप का अध्ययन करना ही भाषाशास्त्र का मुख्य विषय है। इस प्रकार भाषाविषयक 'क्या' ओर 'क्यो' का समाधान हमे भाषाशास्त्र मे मिलता है।

(३) व्याकरण मे भाषा विशेष के काल-विशेष की सीमाओं में निष्पन्न होने वाले रूप तथा वाक्यगठन आदि का विवेचन किया जाता है, किन्तु भाषाशास्त्र में विभिन्न कालो तथा देशो की भाषा की ध्वनि, पद, शब्द, अर्थ, लिपि आदि का विस्तृत विवेचन किया जाता है।

(४) व्याकरण शास्त्र का विषय सीमित है; किन्तु भाषाशास्त्र का विस्तृत। क्योंकि व्याकरण मे भाषा के सिद्ध, निष्पन्न रूप का ही निर्वचन किया जाता है। परन्तु भाषाशास्त्र मे भाषा के अनगढ, विकारी, अव्युत्पन्न, अर्द्ध विकसित तथा पतनोन्मुख आदि सभी प्रकारो का अध्ययन तथा वर्णन किया जाता है। मनुष्य के मुख से निकलने वाली प्रत्येक ध्वनि का विचार भाषाशास्त्र का विषय है।

(५) भाषाशास्त्र मे कारण और कार्य के समन्वय की व्याख्या की जाती है। किन्तु व्याकरण वर्णनप्रधान है, उसमे व्यावहारिक पक्ष नही मिलता। इसलिए वह केवल सिद्ध शब्द-रूपो के अपवादिक नियमो या लोकप्रसिद्ध शब्दों अथवा रूढ शब्द-रूपो की सिद्धि बता कर विराम ले लेता है। किन्तु भाषाशास्त्र संस्कृत के 'जरा' शब्द को 'जरस्' क्यो होता है—इस कारण का पता लगाता है और खोज-बीन कर बतलाता है कि उस समय की बोली में या बोलियो में यह भी एक रूप चलता था, जिसका प्रयोग साहित्य में किया जाने लगा था।

(६) व्याकरण मे किसी एक भाषा के नियमो का वर्णन किया जाता है। किन्तु भाषा-शास्त्र में भाषा के मूल उपादानों का विश्लेषण और उनकी व्याख्या से प्रति-फलित होने वाले सामान्य रूप से सार्वभौमिक ओर सार्वकालिक होते हैं। यद्यपि भाषा में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, किन्तु परिवर्तनों के बीच कुछ ऐसे नियम या पदग्रामीय व्यवस्था लक्षित होती है, जो संसार की अधिकतर भाषाओं में

मिलती है। भाषा की इस व्यवस्था के आधार पर ही विश्व की भाषाओं को कई परिवारो तथा वर्गों मे विभाजित किया गया है।

(७) भाषाशास्त्र एक विज्ञान है और व्याकरण केवल शास्त्र। इसलिए भाषाशास्त्र मे भाषा के प्रत्येक अवयवो का विश्लेषण करने के लिए प्रत्यक्ष रूप से कई प्रकार के साधन हैं। आज यन्त्रो की सहायता से ध्वनि ही नही, ध्वनि-लहरो को भी प्रत्यक्ष कर देखा जा सकता है, उनके चित्र लिए जा सकते हैं। किन्तु व्याकरण में इसका सर्वथा अभाव है।

वाक् तथा भाषा

वाक् से हमारा अभिप्राय भाषण मात्र (Speech) से है। भाषाशास्त्र में भाषित ध्वनियो का अत्यन्त महत्त्व है। किन्तु वाक् न ध्वनि मात्र है और न उच्चारों से सर्वथा पृथक् ही। वाक् हमारे दैनिक जीवन का इतना महत्त्वपूर्ण और परिचित कार्य है कि उसकी व्याख्या करना भी कठिन है। चलने-फिरने और श्वास लेने की भाँति वह एक मानवीय स्वाभाविक क्रिया है। साधारण मनुष्य को यह क्रिया स्वाभाविक रूप से करनी ही पडती है। एक छोटा बालक जो कि भाषा नही जानता भाषण-क्रिया करता हुआ अवश्य दिखलाई पडता है। किन्तु भाषा मे यह बात नही होती। अतएव वाक् और भाषा मे अन्तर है। भाषाशास्त्र मे वाक् का अर्थ श्रोत्रग्राह्य प्रतीकात्मक उस भाषण-व्यवस्था से है, जो भाषित शब्दो के प्रवाह मे लक्षित होती है[१०]। मनुष्य की स्वाभाविक क्रियाओ का अध्ययन भाषाशास्त्र का विषय नहीं है। प्राणी स्वाभाविक क्रियाओ के द्वारा अनेक प्रकार की ध्वनियॉ उत्पन्न करता है, जिनका अध्ययन भाषाशास्त्र मे नहीं किया जाता। अतः वाक् ध्वनि से सर्वथा भिन्न है। वाक् को एक सांकेतिक क्रिया-कलाप माना गया है, किन्तु ध्वनि मे कोई सकेत निहित नही होता। प्रायः यह देखा जाता है कि केवल एक ध्वनि स्वतन्त्र रूप से सांकेतिक तत्त्व होती है, जैसे कि 'अ'—किन्तु व्यक्तिगत ध्वनि और सांकेतिक शब्द का वह साहचर्य मात्र कही जाती है। इसलिए भाषण का प्रथम तत्त्व 'शब्द' माना जाता है। शब्दों से वाक्य की निर्मिति होती है, और वाक्य भाषण की एक बहुत बड़ी इकाई है। किन्तु भाषा सस्कारगत सम्बन्ध, व्याकरणिक तत्त्व, शब्द और अर्थपूर्ण वाक्यो से संरचित होने वाली प्रक्रिया है। भाषा हमारी धारणाओ तथा विचारणाओ से सम्बद्ध रहती है। यह सच है कि भाषा भाषण से विकसित होती है, किन्तु वाक् भाषा के परिवेश में परिलक्षित होता है। इसलिए जब शिशु के मुख से वाग्ध्वनियाँ सहज प्रवाह मे निःसृत होती है तब किसी न किसी शब्द के रूप मे वह कोई न कोई भाव या अर्थ व्यक्त करना चाहता है, जो भाषा के अन्तर्गत होता है। दूसरे शब्दो में वाक् बोलने की प्रक्रिया मात्र है, जिसके दो पक्ष हैं—व्यक्तिगत और सामाजिक। ये दोनो ही पक्ष अन्योन्याश्रित हैं। एक के बिना दूसरे का विचार ही नही किया जा सकता। वाक्-क्रिया इतनी सहज और सुपरिचित है कि कभी हमारा ध्यान उसकी ओर नही जाता

कि वह किस प्रकार की व्यावहारिक क्रिया है। वह एक मानवीय क्रिया है, जिसका घनिष्ठ सम्बन्ध उच्चारों से है। गार्डिनर के अनुसार "वाक् एक संक्षिप्त शब्द है, जिसका प्रयोग आदर्श तथा व्यवहार रूप में भाषक के उन उच्चारों के लिए किया जा सकता है, जिनकी निर्मिति श्रोता के लिए भी समान होती है[१]।" वस्तुतः वाक् की उत्पत्ति भाषा के लिए होती है। वाक् ही भाषा का जन्मदाता माना जाता है। किन्तु स्पष्ट रूप से दोनों भिन्न हैं। वाक् कहते ही वर्तमान उच्चारों का बोध होने लगता है; जबकि भाषा भाषक की अतीत वाग्ध्वनियों की वाचक होती है। जिस प्रकार वाक् और भाषा में अन्तर है उसी प्रकार उच्चार तथा वाक् में भी भेद है। सामान्यतः उच्चार ध्वनि का फैलाव माना जाता है। प्रत्येक उच्चार में कम से कम एक पदग्रामीय खण्ड रहता है। कई भाषाओं मे आपेक्षिक लघु उच्चारो मे भी एक खण्डीय पदग्राम लक्षित होते हैं[२]। इस प्रकार किसी भी व्यक्ति के भाषण या बोलचाल का किंचित् फैलाव उच्चार है और प्रत्येक उच्चार का भाषा में एक जैसा गठन होता है[३]। भाषा संस्कारगत प्रवृत्तियों की वह व्यवस्था है जो भाषक के मस्तिष्क में संचित रहती है। जब भाषा बोलने वाला उच्चारण करता है तब वह वाक् होता है और जब अपने यथार्थ रूप में प्रकट होता है तब भाषातात्त्विक रूप होता है। प्रेषणीयता सिद्धान्त की पारिभाषिक शब्दावली में भाषा लाक्षणिक संकेतो की व्यवस्था है और वाक् भाषा में एक चिह्न है[४]। उदाहरण के लिए—'मै गया' यदि दो बार कहा जाय तो चिह्न दो होने पर भी लाक्षणिक संकेत एक होगा। वाक् सहज अभ्यास होने के कारण भाषा जैसी आदर्श व्यवस्था के रूप मे अभिव्यक्त नही होता, और प्रायः अन्य संस्कारो के साथ मिल कर वाक् प्रकट होता है। इस प्रकार वाक् व्यवस्थाहीन हो सकता है, किन्तु बिना व्यवस्था के भाषा सम्भव नही हो सकती। क्योकि भाषाशास्त्र मे 'भाषा' से अभिप्राय समाज के द्वारा अर्जित ऐसी सामाजिक वस्तु से है जो क्रमबद्ध सार्थक ध्वनियो की राशि होती है। प्रत्येक भाषा की अपनी स्वतन्त्र तथा भिन्न कोई न कोई व्यवस्था होती है। इसलिए सासुर ने भाषा का विचार करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है कि इसमे भ्रम नहीं होना चाहिए कि मानवीय वाक् केवल भाषा का एक निश्चित अवयव है, जो कि अनिवार्य भी है और वह सामाजिक उपज होने पर भी सामाजिक मनुष्य के द्वारा अधिग्रहीत तथा व्यक्तिगत अभ्यास के लिए मान्य है[५]। अतएव वाक् प्राकृतिक और व्यक्तिगत है, किन्तु भाषा केवल भाषक की क्रिया ही नहीं, उपज भी है; जो वैयक्तिक होने पर भी सामाजिक है। वाक् के सामाजिक पक्ष से भाषा का जन्म माना जाता है और व्यक्तिगत पक्ष में भाषण तथा शब्दोच्चार का उल्लेख किया जाता है। डॉ० तिवारी के शब्दों मे "डिसासे वाक् (स्पीच) और भाषा (लैंग्वेज) में स्पष्ट अन्तर मानता है। उसके मतानुसार वाक् व्यक्तिगत भाषण से सम्बन्धित है और भाषा सामाजिक वस्तु है। इस प्रकार वाक् प्रकृत वस्तु है और भाषा समाज द्वारा अर्जित एवं मान्य वस्तु है। वाक् सार्थक भी हो सकता है और निरर्थक भी; उसका अपना गठन भी हो सकता है और नही भी; किन्तु भाषा सदैव सार्थक ध्वनियों की क्रमबद्ध प्रणाली ही होती है। इतना अन्तर

होते हुए भी वाक् तथा भाषा मे काफी सम्बन्ध है। वाक् आधार है और भाषा विभिन्न वाकों की क्रमबद्ध उपज है[16]।" वाक् शब्द का प्रयोग प्रायः किसी न किसी सन्दर्भ मे किया जाता है कि वह कौन विद्यमान है, क्या कर रहा है, क्या कह चुका है—इस प्रसग मे सुनने वाला यही समझना चाहता है कि क्या कहा जा रहा है। इस प्रकार वाक् का उद्देश्य प्रेषणीयता है, जो सुनने और बोलने वालों पर निर्भर होती है। अतः वाक् केवल एक यान्त्रिक प्रक्रिया नहीं है, जो गतिशील किसी यन्त्र की भॉति भाषा की जन्मदात्री हो। इसलिए वाक्-प्रक्रिया मनुष्य के चिन्तन मे सन्निहित रहती है।

भाषा क्या है ?

भाषा से हमारा अभिप्राय लिखित भाषा से नहीं, जीवित बोली से है। क्योंकि विश्व मे सैकडो ऐसी भाषाएँ है जो केवल बोली जाती हैं, जिनमे लिखित साहित्य नहीं मिलता अथवा जिनका लेखन मे उपयोग नही होता। वस्तुतः बोलियों का भाषा-शास्त्र मे अत्यन्त महत्त्व है। यद्यपि यह स्पष्ट है कि एक ही बोली को बोलने वाले दो व्यक्ति कभी यथार्थ रूप मे ठीक एक जैसा नहीं बोलते। उनकी उच्चरित ध्वनियो मे कुछ न कुछ अन्तर लक्षित होता है, किन्तु भाषाशास्त्री उनके दोषो का अध्ययन न कर भाषा मे प्रतिबिम्बित उनकी अनुभूतियों, भावों तथा सवेगो आदि को वैयक्तिक तथ्यो के रूप मे देखना चाहता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वैयक्तिक भिन्नताओ के कारण अनेक भाषाएँ परिलक्षित होती हैं[17]। यथार्थ मे विभिन्न सन्दर्भों के अनुसार 'भाषा' शब्द विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त होता है। भाषातात्त्विक सन्दर्भ मे इसका प्रयोग उच्चरित भाषा के लिए किया जाता है, जिसके द्वारा वाक् का प्रभाव संचार होता है[18]। लिखित भाषा के अर्थ मे 'भाषा' शब्द का प्रयोग उचित नही है। क्योंकि लिखित भाषा का अर्थ 'लेखन व्यवस्था' किया जाता है, जो बिलकुल भिन्न है[19]। किसी एक भाषा को बोलने वाला व्यक्ति जब किसी भाषक से सुन कर अन्य भाषा को समझ नहा पाता तब कहा जाता है कि यह भिन्न भाषा है। बोली जाने वाली भाषा का लक्षण ध्वनिग्राम या ध्वनि-श्रेणियाँ है। किन्तु लिखित भाषा की मूल इकाई वर्णग्राम है[20]। भाषा यदि प्रतीक है तो लेखन प्रतीको का प्रतीक है। क्योकि लिखित भाषा बोली जाने वाली भाषा का ही प्रतिबिम्ब होती है। फिर, भाषा तो मानव के आदि काल से ही प्रचलित है, बिना भाषा के समाज का कोई काम नहीं चलता; किन्तु लेखन-कला का विकास बहुत बाद मे हुआ। मानव के आदि समाज के कार्य-कलाप बिना लेखन के ही चलते थे। इसके अतिरिक्त कई भाषाओं के बोले जाने वाले और लिखित रूप मे बहुत अन्तर परिलक्षित होता है। सामान्यतः लोगो की यह धारणा है कि लिखित शब्द मानवीय वाक् का प्रतिमान या आदर्श है, क्योंकि लेखन का प्रयोग शिक्षित तथा शिष्टो द्वारा किया जाता है। लिखते समय बहुत साज-सँवार कर लिखा जाता है। इसलिए सामान्य वाक् से पुस्तक में लिखी जाने वाली

भाषा अमूल्य होती है। किन्तु यह विचार ठीक नहीं है। क्योंकि भाषा के इतिहास में तथा व्यक्तिगत भाषिक अनुभव से यह सिद्ध है कि बोली जाने वाली भाषा प्राथमिक वस्तु है और लेखन उसी का न्यूनाधिक अपूर्ण प्रतिबिम्ब है। हम सभी लिखने के पहले बोलना और पढ़ना सीखते हैं। सामान्यतः बोली जाने वाली भाषा लिखित भाषा से अधिक लचीली होती है"। भाषा के इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव सभ्यता के विकास के साथ लेखन विभिन्न अवस्थाओं मे विकसित होता हुआ चित्रात्मक और अक्षरात्मक अवस्थाओं से अब वर्णात्मक रूप को प्राप्त हो गया है। बोलने के लिए लेखन गौण तथा वाग्ध्वनियो पर निर्भर है। किन्तु टेलीफोनी, मोर्स कोड, स्पेक्ट्रोग्राम्स, मेगनेटिक टेप और प्लास्टिक डिस्क की भाँति जो कि सभी अभिव्यक्ति की विभिन्न पद्धतियाँ है और जिनकी अपनी यान्त्रिक व्यवस्था है—लेखन गौण प्रतीकात्मक नहीं है"। क्योंकि लिखित शब्द स्थाई और नित्य होता है। भले ही पत्र, पुस्तक, शिला या दीवारो आदि पर लिखे जाने वाले शब्द स्थाई माने जाते हों, किन्तु शत-शताब्दियो तथा शत-सहस्राब्दियो से जन सामान्य मे प्रचलित शब्द आज भी किसी न किसी रूप मे समाज मे प्रयुक्त होते है। अतः यह समझना भ्रम है कि विभिन्न प्रकार के व्यक्तियो के द्वारा विविध प्रकार से उच्चरित होने के कारण भाषा में बहुत शीघ्रता से परिवर्तन होता है। लेखन मे काल विशेष की ध्वनियाँ अवश्य सुरक्षित रहती हैं, जो कि कथ्य भाषाओं में परिलक्षित होती हैं। परिवर्तन तो लिखावट मे भी होता रहता है। भाषा की परम्परा निश्चित तथा स्थिर होती है। वैदिक भाषा अपनी निश्चित और स्थिर परम्परा के कारण किञ्चित् परिवर्तित रूप में ही ज्यो की त्यों आज भी लक्षित होती है। अतएव यह स्पष्ट है कि भाषा एक परम्परागत पद्धति है, जो लेखन से सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार अब भाषा से उसका ध्वनिमय रूप ग्रहण किया जाता है; लिखित भाषा-रूप नहीं। 'लिखित भाषा' शब्दो के स्थान पर 'लिखित अभिलेख' कहना उचित होगा। यद्यपि भाषा की सर्वमान्य परिभाषा देना बहुत ही कठिन है, किन्तु निम्नलिखित परिभाषाओं के आधार पर भाषा के मुख्य गुणो तथा कार्यों की व्याख्या एव उसके स्वरूप का विवेचन किया जा सकता है।

"भाषा विशुद्ध रूप से एक मानवीय तथा अस्वाभाविक पद्धति है, जिसकी सहायता से इच्छानुसार विचारो, भावों तथा इच्छाओं को प्रेषणीय बनाने के लिए प्रतीकों की रचना की जाती है। ये प्रतीक श्रोत्रग्राह्य होते है तथा मनुष्य के उच्चारणोपयोगी अवयवों से निःसृत होते है।"—एडवर्ड सेपीर (लैंग्वेज, पृ० ८)

"भाषा अभ्यास (संस्कारगत प्रवृत्ति) की एक सश्लिष्ट पद्धति है। पद्धति को पूर्ण रूप मे पाँच मुख्य उपपद्धतियों में विभाजित कर विवेचित किया जा सकता है, जिनमे से तीन केन्द्रीय हैं और दो परिधिगत हैं। तीन केन्द्रीय उपपद्धतियां हैं—(१) व्याकरणिक पद्धति : पदग्राम-समूह और उनकी क्रमबद्ध रचना, (२) ध्वनिप्रक्रियात्मक पद्धति : ध्वनिग्रामों का समूह और उनकी क्रमबद्ध रचना, (३) पदध्वनिग्रामीय पद्धति : व्याकरणिक तथा ध्वनिप्रक्रियात्मक पद्धतियों को सम्बद्ध करने वाले संकेत।

इन्हें केन्द्रीय इसलिए कहा जाता है कि प्रत्यक्ष रूप से इनका कोई कार्य नहीं होता। अन्य दो परिधिगत उपपद्धतियाँ हैं—(४) अर्थविज्ञानीय पद्धति—जिसमें अनेक पदो का ससर्ग, सयोग तथा क्रमबद्ध रचना विभिन्न पदार्थों तथा स्थितियों पर निर्भर रहता है, (५) ध्वनिविज्ञानीय पद्धति : जिस सरणि के द्वारा भाषक के उच्चार से ध्वनिग्रामो का अनुक्रम शब्द-लहरियों में परिवर्तित होता है तथा श्रोता वाक्-संकेत के द्वारा रहस्य को उद्‌घाटित करता है।"—हॉकेट (ए कोर्स इन मॉडर्न लिंग्विस्टिक्स, पृ० १३७–३८)

"भाषा वाक्युक्त वृत्ति की वह अभ्यासगत रूढ़ पद्धति है, जिसके माध्यम से समाज के सदस्य परस्पर विचारो का आदान-प्रदान करते हैं"—युएन रेन चाओ।

"भाषा एक मौखिक प्रतीकात्मक पद्धति है।"—जोशुआ ह्वाटमो।

"भाषा चिन्हो की एक पद्धति है। चिन्हो से हमारा अभिप्राय उन प्रतीकों से है जो मानव-समाज के मध्य विचारो के आदान-प्रदान के लिए माध्यम बन सकते हैं। चिन्ह कई प्रकार के हो सकते है और आवश्यक रूप से विभिन्न भाषाओं में कई प्रकार के होते है। विभिन्न इन्द्रियो के द्वारा ग्राह्य होने के कारण भाषा इन प्रतीको की रचना कही जाती है। ये प्रतीक है—घ्राणग्राह्य, स्पर्शग्राह्य, चक्षुग्राह्य तथा श्रोत्र-ग्राह्य। श्रोत्रग्राह्य प्रतीको की पद्धति या बोली अथवा उच्चरित भाषा को भाषा कहा गया है।"—जे० वैन्ड्रीज।

"भाषा यादृच्छिक वाचिक प्रतीकों की एक पद्धति है, जिससे मनुष्य-समाज अपना काम चलाता है।"—ब्लॉख और ट्रेगर।

"मानवीय वाक् के समाजीकरण का नाम भाषा है।"

"भाषा मनुष्य की सूक्ष्म सवेदनशील अभिव्यक्ति का प्रकटीकरण है।"

इन सभी परिभाषाओ मे एक बात अत्यन्त स्पष्ट है कि भाषा एक पद्धति है। यद्यपि ससार की कई भाषाओ मे व्याकरण नाम की कोई अलग व्यवस्था नहीं है, विशेषकर चीनी, अनामी, स्यामी, बर्मी, तिब्बती तथा अफ्रीका की सूडानी भाषाएँ इसी प्रकार की मानी जाती है। चीनी भाषा मे व्याकरण के लिए कोई शब्द ही नही है। परन्तु इन सभी भाषाओं की कोई न कोई पद्धति या व्यवस्था है। बिना पद्धति या व्यवस्था के कोई भाषा नही होती।

सामान्यतः भाषा ध्वनियो का समूह है। प्रत्येक भाषा मे ध्वनियाँ मुख्य हैं। ध्वनियाँ भाषा की प्राण है। किसी भी भाषा में हम जो सुनते हैं वे सार्थक ध्वनियाँ ही होती है। भाषा का मूल रूप ध्वनिमय है। भाषा का निर्माण ध्वनियों से होता है; वर्णो से नही[१३]। इसलिए भाषा ध्वनियो की प्रतीकात्मक पद्धति मानी जाती है। संक्षेप में, भाषा के निम्नलिखित विशिष्ट गुण कहे गए है[१४] :

(१) भाषा ऐच्छिक व्यवहार है। खाँसने, छीकने, रोने या हँसने आदि से जो ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं वे शब्द नही है। क्योंकि उनका निःसरण स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार होता है। किन्तु भाषा स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है।

(२) भाषा अभ्यासों का एक समूह है। इसलिए छोटा बालक अपनी पारिवारिक या किसी अन्य भाषा को सरलता से सीख लेता है और तदनुकूल बोलने की आदत पड़ जाती है; जबकि प्रौढ़ व्यक्ति को वर्षों तक प्रयत्न करने पर भी वैसा बोलना नहीं आता।

(३) भाषा भावों और विचारों के आदान-प्रदान का एक रूप है, जो पूर्णतया यादृच्छिक होता है तथा जिसका सम्बन्ध प्रेषणीयता से होता है।

(४) भाषा एक रूढ़, परम्परागत, सामाजिक तथा जन सामान्य के बीच विकासशील रहने वाली परम्परा है।

(५) अन्य सामाजिक संस्थानों की भाँति भाषा भी पुराने विचारों का रक्षण करने वाली तथा नवीन परिवर्तनों का अवरोध करने वाली होती है।

(६) भाषा एक रेखाक्रम है। यह एक आयतन वाली है। भाषा का यह रेखा-क्रम व्याकरण और शैली में महत्त्वपूर्ण प्रभाव के रूप में परिलक्षित होता है।

(७) प्रत्येक भाषा मे चमत्कृत करने वाली अल्पसंख्यक पृथक्कृत ध्वनियाँ परिलक्षित होती हैं, जिन्हे ध्वनिग्राम या स्वनिग्राम कहते हैं। मानवीय श्रोत्रेन्द्रिय हजारो प्रकार की विभिन्न ध्वनियो को सुन कर उनमे विभेद कर सकती है, किन्तु भाषागत ध्वनियाँ बहुत कम सख्या मे होती हैं।

(८) भाषा एक क्रमबद्ध पद्धति (सिस्टेमेटिक) है ओर अक्रमबद्ध भी, नियमित है और अनियमित भी। भाषा की रचना करने वाले तत्त्वो की संख्या अल्प होने से भाषा एक नियमित तथा क्रमबद्ध पद्धति है, किन्तु भाषा की सामाजिक प्रवृत्ति तथा उसका स्वरूप कभी सरल और पूर्ण नही होता, इसलिए नियमों मे भी अपवाद और उनमें उपनियम देखे जाते हैं।

(९) भाषा सीखी जाती है, जन्म से प्राप्त नही होती। बालक समाज से भाषा अर्जित करता है। वातावरण ओर समाज के अनुसार बालक वास्तविक रूप में किसी भी भाषा को सरलता से सीख लेता है।

इस प्रकार भाषा सर्वप्रथम विचारो और भावों की प्रेषणीयता का साधन है। भाषा के माध्यम से ही मनुष्य मनुष्य मे सम्बन्ध स्थापित होता है। इसलिए भाषा सामाजिक व्यवहार का भी एक रूप है। हम कई प्रकार की भाषाएँ बोलते हैं—मातृभाषा, सहवर्ती भाषा (सिस्टर लैंग्वेज), मृत भाषा और जीवित भाषा। भाषा केवल उच्चारणोपयोगी अवयवों से निःसृत होने वाली यान्त्रिक प्रक्रिया नहीं है। वह एक प्रतीकात्मक पद्धति भी है। प्रतीक प्रतिस्थापक होता है। गणितीय प्रतीको में जैसे कि x (एक्स) का प्रयोग हम किसी संख्या के लिए करते हैं उसी प्रकार भाषिक प्रतीकों का भी व्यवहार किया जाता है, जो कि रूढ़ तथा यादृच्छिक होते हैं और चिह्न से सर्वथा भिन्न होते हैं। चिह्न प्रधान कर्म से सीधा सम्बन्ध रखते हैं, जैसे कि पानी पेड़ से चू रहा है—वर्षा का वाचक चिह्न है। निश्चित रूप से प्रतीकों की पद्धति

बोली और भाषा दोनो मे मिलती है। ये प्रतीक मौखिक होते हैं[१५]। भाषा प्रतीकात्मक पद्धति है, इसे हम दूसरे शब्दो मे यह भी कह सकते हैं कि भाषा एक क्रम (आर्डर), एक साँचा (पैटर्न) और एक सहिता (कोड) है[१६]। हम किन्ही भी शब्दो मे व्यक्त करे, यह निश्चित है कि भाषा एक पद्धति या व्यवस्था है, जो कि प्रतीकात्मक है।

भाषा की प्रकृति

'भाषा' शब्द से सभी विशिष्ट भाषाओ का बोध होता है, जिनका व्यवहार सभी प्रकार के समाज मे होता है। जब हम भाषा को याद्दच्छिक वाक्प्रतीकों की पद्धति कहते है तो हमारा अभिप्राय उसकी प्रकृति की चार महत्त्वपूर्ण बातों (आस्पेक्ट्स) से होता है[१७]।

(१) भाषा एक पद्धति है। प्रत्येक समाज की रचना भाषा की क्रिया के द्वारा होती है। जीवन के अन्य भागो की भाँति भाषा भी सास्कृतिक, धार्मिक तथा विधि-कर्तव्यों आदि के समान जीवन से भिन्न नहीं है। किन्तु भाषा की पद्धति प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर नहीं होती। यह मनुष्य समाज के व्यवहार मे परिलक्षित होती है। इसलिए भाषा समाजसापेक्ष होती है। पशु-पक्षी तथा वनेचर प्राणियों की भाषा समाज-सापेक्ष न होकर स्वाभाविक एव स्वच्छन्द होती है। किन्तु भाषा मनुष्य की अर्जित सम्पत्ति है। प्रत्येक भाषा की बनावट का एक क्रम होता है, जिसके अनुसार वाक्यो मे शब्दो का प्रयोग, स्थानापन्न उपयोग, परिवर्तन एव रचना-विधान किया जा सकता है। मनुष्य की भाषा मे ही यह सम्भव है। अतएव भाषा एक पद्धति है।

(२) भाषा प्रतीको की पद्धति है। भाषा बोलने वाला जो उच्चार करता है वे प्रतीकात्मक रूप से सम्बन्धित होते हैं और उनमे कई प्रकार के अनुभव तथा अर्थ गर्भित रहते है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि शब्द केवल प्रतीकात्मक होते हैं। इसी प्रकार भाषिक रूप का अर्थ एक शब्द, शब्द का अंश या शब्दो का सयोग होता है। हमारी इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि साधारणतया भाषक शब्द को सुन कर उसका अर्थ समझता है।

(३) जिन प्रतीको से भाषा की रचना होती है वे वाचिक होते है। मानवीय कार्य-कलापों मे अन्य महत्त्वपूर्ण प्रतीक भी सम्भव है। चित्र, साकेतिक ध्वज तथा आवागमन की सुविधा के लिए प्रयुक्त बत्तियाँ सामान्य चाक्षुष प्रतीक हैं। किन्तु प्रतीक का अर्थ यहाँ मनुष्य के उच्चारणोपयोगी अवयवों से निःसृत वाक्प्रतीक है। लेखन गौण रूप से चाक्षुष प्रतीक है, जो वाक् का प्रतिफलन है। मनुष्यकृत सभी ध्वनियाँ इसके अन्तर्गत नही आतीं। छीकना, खाँसना, गुर्राना तथा चिल्लाना आदि का कोई प्रतीकात्मक मूल्य नहीं है।

(४) भाषिक प्रतीक याद्दच्छिक होते हैं। वाक्-उच्चारों तथा उनके अर्थ मे कोई आवश्यक या दार्शनिक सम्बन्ध नही है। भले ही कोई कुत्ते के शब्द 'भों भों' या बिल्ली के 'म्याउँ म्याउँ' अथवा कौआ के 'काँव काँव' का अनुकरण करे—ये

सभी शब्द उचित है, क्योंकि सब समान रूप से यादृच्छिक है। इन यादृच्छिक प्रतीकों के प्रयोग में हम अभ्यस्त हो जाते हैं, इसलिए कोई कठिनाई नहीं होती।

इस अध्ययन से कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं। गठन की दृष्टि से भाषा सार्थक ध्वनियों का समूह है, किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भाषिक कार्य का मूल्य प्रतीकात्मक चिह्नों में सन्निहित है। इसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से मनुष्य की भाषा पशुओं से भिन्न है[३८]। दोनों के संकेतो मे भी भिन्नता परिलक्षित होती है। यद्यपि पशु-पक्षियों के कुछ संकेतो का मानवीय भाषा में भावानुवाद किया जा सकता है, किन्तु पशु अपने आप को वाक्यो मे अभिव्यक्त नही कर सकते[३९]।

मुख्य रूप से हम भाषा मे ध्वनियो को सुनते है और उनका अर्थ समझते हैं। ध्वनियो का उच्चारण वाक् की क्रिया है। किन्तु वाक्-क्रिया या उच्चार अभ्यास नहीं है, किन्तु एक ऐतिहासिक घटना है; जबकि भाषा अभ्यासो का समूह है। अन्य ऐतिहासिक घटनाओं की भाँति वाक्-क्रियाएँ प्रत्यक्ष रूप से दृश्य है, किन्तु अभ्यास प्रत्यक्ष रूप से दृश्यमान नहीं है। एक उच्चार मे ध्वनिग्रामीय और व्याकरणिक संघटना होती है और वह ध्वनिग्रामीय सघटना भाषा के ध्वनिग्रामीय साँचे को या भाषा की पद्धति को प्रतिबिम्बित करती है[४०]।

इस प्रकार सक्षेप मे, भाषा एक पद्धति या व्यवस्था है। यह पद्धति या व्यवस्था वाक्प्रतीकों की है, जो सार्थक ध्वनियो से समन्वित रहते है और जिनका सम्बन्ध एक ओर वाक्-प्रक्रिया से होता है और दूसरी ओर भाषा के साँचे से। भाषा के साँचे मे आकार ग्रहण करने वाले वाक् हमारी सस्कारगत प्रवृत्तियो या अभ्यासो से समन्वित होते है। अतएव भाषा के मुख्य उपादान—ध्वनि और अर्थ के पूर्णतया समन्वित या सश्लिष्ट होने पर भाषा का जन्म होता है। मनुष्य भाषा के रूप मे सार्थक ध्वनि-समष्टि का ही व्यवहार करता है, किन्तु भाषा का सबसे मुख्य आन्तरिक सश्लिष्ट रूप है—मस्तिष्क और वाक् का सम्बन्ध। इन दोनों के समन्वय से ही भाषा की पद्धति का निर्माण होता है, और यही कारण है कि मनुष्य वही बोलता है जो वह बोलना चाहता है। वस्तुतः भाषा के उत्पादन-पक्ष की पूर्व प्रक्रिया मानसिक होती है। मस्तिष्क में संचित विचार इच्छा उत्पन्न होते ही ध्वनियो के साँचो मे ढल कर शारीरिक क्रियाओं के द्वारा शब्दोच्चार या उच्चारों के माध्यम से भाषा का आकार ग्रहण करते हैं। इसे दूसरे शब्दों मे यह भी कह सकते हैं कि भाषा विचारों की वह प्रतीकात्मक पद्धति है, जो मनुष्य के संस्कारगत अभ्यास का परिणाम है। भाषा की पद्धति भावों या विचारों तथा ध्वनियों से सम्बद्ध होती है। इसलिए वह किसी व्यक्ति की उत्तेजनात्मक शारीरिक क्रिया न होकर ध्वनि और विचारो की समन्वयात्मक प्रक्रिया होती है। भाषा अन्योन्याश्रित सम्बन्धों की पद्धति है, जिस मे कि प्रत्येक सम्बन्ध का परिणाम पृथक् रूप से तथा अन्य सम्बन्धों के एक साथ विद्यमान रहने पर भी होता है[४१]। किसी भी भाषा-स्थिति मे प्रत्येक वस्तु सम्बन्धों पर निर्भर रहती है। वे किस प्रकार कार्य करते हैं ! भाषा की प्रकृति में शब्द क्रमबद्ध होने पर सम्बन्धों की स्थापना करते है। वाक्-

शृंखला में भाषा-सम्बन्धी तत्त्व अनुक्रम रूप में लक्षित होते हैं। उनका संयोग तथा सम्बन्ध भाषा की पद्धति को द्योतित करता है[४०]। प्रत्येक भाषा उच्चारों के रेखा-क्रमों में प्रकट होती है, जिसे भाषित शृङ्खला (Spoken Chain) कहा जाता है।

सामान्य रूप से साहित्य में वाक्यों के समूह को भाषा कहते हैं और इसी अर्थ में भाषा शब्द का प्रयोग किया जाता है। सामान्य प्रयोग में प्रचलित होने पर भी समाज के सदस्यों के द्वारा अतीत, वर्तमान और भविष्य में भी उच्चरित उच्चार भाषासंज्ञक होते हैं। वास्तव में इस प्रकार के समूह अपवाद रूप में ही भाषा कहे जाते हैं, अन्यथा उनके लिए उपयुक्त शब्द है—भाषांश (कार्पस)[४१]। इस प्रकार हम किन्हीं शब्दों में विवेचना कर, भाषा वाक्प्रतीकों की पद्धति सिद्ध होती है। भाषागत सभी वैयक्तिक प्रतीक समान आदर्श और वर्गों में निहित रहते हैं[४२]।

भाषा के विविध रूप

भाषा एक सामाजिक अर्जित तथा सांस्कृतिक परम्परा है। स्वभावतः यह परिवर्तनशील है। यदि इसमें किसी प्रकार के परिवर्तन न होते तो यह एक स्थिर पद्धति होती और तब भाषा का अध्ययन करना अत्यन्त सरल हो जाता। किन्तु यह एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में ही नहीं, एक युग से दूसरे युग में, एक स्थान से दूसरे स्थान में और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में परिवर्तित लक्षित होती है। भाषा के परिवर्तन के मुख्य दो कारण माने जाते हैं—भौगोलिक और ऐतिहासिक। इन दोनों कारणों से परिवर्तन होने के कारण प्रत्येक स्थान तथा प्रत्येक काल की भाषा में परिवर्तन होते रहते हैं। यथार्थ में समाज में भाषण-ध्वनियों में एकरूपता नहीं मिलती। उनमें सदा स्थानीय बोलियों का सम्मिश्रण रहता है। इसी प्रकार से एक वर्ग की भाषा से दूसरे वर्ग की भाषा में भिन्नता लक्षित होती है। एक ही भाषा या बोली के बोलने वाले भिन्न व्यक्तित्वों के कारण भी भाषा प्रभावित होती है और इसलिए समान वर्ग में ही नहीं, व्यक्तियों की शैलीगत भिन्नता के कारण विभिन्नता लक्षित होती है। क्षेत्रीय भिन्नताओं के कारण आज भाषा के क्षेत्र में 'बोली भूगोल' जैसे नवीन विषयों की रचना हो गई है। किसी भी क्षेत्र में भाषा-विषयक अध्ययन करने वाला विभिन्न बोलियों के जब सूचक (Informant) संकलित करता है तभी उसका ध्यान उस एक बोली की विविधता की ओर सहज ही चला जाता है। किन्तु किसी एक समय में भाषा की व्यक्तिगत भाषण-ध्वनियाँ सम्भवतः किसी क्षण की मस्तिष्क की स्नायविक प्रकृति के कारण सम्पूर्ण भाषा के लिए न्यूनाधिक प्रतीकात्मक हो सकती हैं[४३]। इस दृष्टि से भी भाषाओं में भेद लक्षित होता है कि किसी भाषा की प्रतीकात्मक पद्धति अत्यन्त समृद्ध होती है और किसी की कम। अतएव व्यक्तिगत और सामाजिक भिन्नताओं के कारण प्रत्येक देश, प्रत्येक प्रान्त और संसार के लगभग सभी आंचलिक क्षेत्रों में भाषा के विविध रूप दिखलाई पड़ते हैं। भाषाओं में प्राप्त होने वाले विविध रूपों का विचार व्यक्तित्व, शैली और बोली के विभिन्न स्तरों पर किया जा सकता है। अब आगे इनका विवेचन किया जाएगा।

सेपीर ने वाक् के पाँच तत्त्व माने हैं, जो व्यक्तित्व के अनुबन्धों से सम्बन्धित हैं : वाणी का गुण, वाणी की गत्यात्मकता, उच्चारण, शब्दावली और शैली[१६]। यह सभी जानते हैं कि किसी एक भाषा के बोलने वाले सभी व्यक्ति बिलकुल ठीक एक जैसी भाषा नहीं बोलते। इस भिन्नता का प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण कारण—व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व का सर्वप्रथम अन्तर वाणी के गुण या स्वभाव मे लक्षित होता है। प्रत्येक व्यक्ति की आवाज भिन्न होती है। वाणी की गत्यात्मकता में ध्वनि-लहर (intonation), लय, सम्बद्ध अविच्छिन्नता या विच्छिन्नता और उच्चारो की गति का समावेश हो जाता है[१७]। उदाहरण के लिए, कुछ लोग अभ्यासवश एक विस्तृत शृंखला में तान (सुर) का प्रयोग करते है तथा अन्य लघु रूप मे। सुर या तान का फैलाव स्वरतन्त्रियों के खिचाव तथा आरोह-अवरोह के क्रम पर निर्भर होता है। इसी प्रकार लय आदि वक्ता के हाव-भावों के अनुसार भी प्रतिफलित होते है, जो बोली के गठन के अग-रूप माने जाते हैं। केवल भाषाई व्यक्तित्व के रूप मे ही नहीं, समय और स्थान-भेद से भी भाषा के रूपों में अन्तर दिखलाई पड़ता है। एक ही व्यक्ति जब मन्दिर में पूजा या प्रार्थना करता है, किसी रंगमंच पर अभिनय करता है या प्रवचन अथवा भाषण देता है तो उसके बोलने के गुण मे तथा शब्दावली में कुछ-न कुछ अन्तर अवश्य होता है। यही नही, राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक भाषण करने की बोली तथा शब्दावली मे अन्तर परिलक्षित होता है। अतएव एक ही व्यक्ति की ध्वनिविषयक प्रवृत्तियों मे विभिन्न अवस्थाओ मे ही नही, भिन्न स्थानो मे (घर-बाहर, बाजार-कचहरी में) भी कालक्रमानुसार भेद उत्पन्न होते रहते हैं।

उपबोली, बोली, भाषा

सामान्य बोल-चाल के शब्दो मे किसी व्यक्ति की निर्दिष्ट समय की समष्टिगत वाक्प्रवृत्तियों से उपबोली निर्मित होती है, किन्तु इसके कुछ अपवाद भी है[१८]। उदाहरण के लिए, बुन्देलखण्ड का निवासी अध्यापक या व्यापारी जब छत्तीसगढ़ में आ कर कार्य-क्षेत्र मे संलग्न होता है तब वह अपने कार्य-क्षेत्र में छत्तीसगढ़ी का तथा घर मे बुन्देली का व्यवहार करता है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति एक समय मे दो भिन्न बोलियों का उपयोग भी कर सकता है। व्यवहार मे ग्राम और नगर की भाषा मे ही नहीं, शिष्ट एवं शिक्षित तथा अनपढ़ लोगो की बोलियो में भी अन्तर लक्षित होता है। यह अन्तर हमें तब अधिक स्पष्ट दिखलाई पड़ता है जब हरिद्वार से बम्बई या कलकत्ता से मद्रास की यात्रा करते है। एक ही भाषा उच्चारण, व्याकरण तथा शब्दावली की भिन्नता से विविध रूपों मे प्रयुक्त मिलती है। बोली उसी भाषा का पृथक्करण है, जिसे कुछ लोग बोलते हैं और जो भाषक की वास्तविक वाक् मूलक स्थिति के अधिक निकट होती है तथा बोली के वर्णन में प्रत्येक पृथक् तत्त्व वास्तविक भिन्न पदार्थ की न्यूनाधिक परंपरा मे व्याप्त रहता है[१९]। जैसा कि भलीभाँति पुष्ट हो चुका है कि भाषा कम या अधिक सदृश उपबोलियों का समूह है। और बोली इस भिन्नता के साथ वही

है कि एक बोली में उपबोलियों की समानता भाषागत समस्त उपबोलियों की अपेक्षा अधिक मानी जाती है।[५०] उपबोली को स्थानीय बोली भी कहा गया है। यह किसी क्षेत्र के सीमित भाग में बोली जाने वाली व्यक्ति-भाषाओं का सामूहिक रूप है। अतएव एक बोली के अन्तर्गत कई उपबोलियाँ मिलती हैं। किसी भी भाषा की बोलियों की संख्या निश्चित नहीं की जा सकती। फिर भी बोलियों की उनके वर्गों की संख्या अधिक कही जाती है। बोली-विभाग की निम्न सीमा में व्यक्तिगत भाषक और उस सीमा की बोली का उपबोली (किसी एक व्यक्ति की वाक्प्रवृत्तियाँ) नाम कल्पित किया गया है।[५१] प्रत्येक व्यक्ति की वाक्प्रवृत्तियाँ स्थितियों की भिन्नता के कारण समाज में विभिन्न रूपों में लक्षित होती है। इस प्रकार उपबोली शब्द भाषागत बोलियों का वाचक है। अंग्रेजी में इसके लिए सब-डायलेक्ट (Sub-dialect) तथा फ्रेंच में पैटवा (Patois) शब्द का व्यवहार होता है। यूरोप और अमेरिका के भाषा-विज्ञान-विदों ने "पैटवा" का जिस अर्थ में प्रयोग किया है, उसमें प्रायः चार बातें सम्मिलित है—(१) यह बोली से अपेक्षाकृत छोटा स्थानीय रूप है। (२) यह असाहित्यिक होता है। (३) यह असाधु होता है। (४) यह अपेक्षया निम्न सामाजिक स्तर के अशिक्षितों द्वारा प्रयुक्त किया जाता है। कहना न होगा कि इनमें केवल पहली बात उपबोली में होती है। और बातें भी हो सकती हैं, नहीं भी हो सकती है। राजस्थानी के अन्तर्गत ऐसी उपबोलियाँ हैं, जिनमें साहित्यिक रचनाएँ हुई है। ऐसी स्थिति में वे उपबोली तो हैं, किन्तु "पैटवा"[५२] नहीं। कुछ विद्वान उपबोली को बोली या उपभाषा तथा बोली को विभाषा कहते हैं। वस्तुतः जिन वाक्-रूपों की कोई लिखित पद्धति नहीं है या अशिक्षित लोगों के द्वारा प्रयुक्त होते हैं अथवा जो अनगढ एवं शिष्ट तथा शिक्षितों की भाषा के विपरीत अकृत्रिम भाषा है उसे बोली कहा जाता है। अंग्रेजी में बोली शब्द के लिए "डायलेक्ट" (Dialect) शब्द प्रयुक्त होता है। इसका प्रयोग किया जाता है—[५३]

१. वाक् के उन रूपों के लिए जो भिन्न होने पर भी परस्पर बिना किसी प्रशिक्षण के समझने योग्य होते हैं।
२. राजनीति के द्वारा एकीकृत क्षेत्र में वर्तमान वाक्-रूप तथा
३. भाषक के वे वाक्-रूप जिनमें सामान्य लेखन-पद्धति प्रचलित है एवं जो उत्तम श्रेणी के साहित्यिक ग्रन्थों का लिखित समूह है।

स्तुत्रवॉ के शब्दों में "बोली वाक्काय है, जिसमें किसी प्रकार के भेद सन्निहित नहीं है और जो प्रयोक्ता के अनुसार जन-सामान्य के द्वारा समझी जाती है।"[५४] सामान्य रूप से वक्ता का प्रत्येक उच्चार बोली है और इसलिए उनमें भेद होने पर भी समान होते है तथा जन-साधारण के द्वारा समान रूप से समझे जाते हैं। इससे पता चलता है कि बोली एक ठोस सत्य है। बोली की एकता ध्वनियों के उत्पादन पर नहीं, किन्तु ध्वनियों की बोधगम्यता पर निर्भर है। प्रचलित रूप में बोली शब्द प्रायः हीन गुण वाली भाषा के लिए प्रयुक्त किया

जाता है। बोली बोलने वाला इस अर्थ में आदर्श मानक भाषा से अपने को भिन्न समझता है, क्योंकि वह उस भिन्न अंचल का होता है जहाँ कि स्वतन्त्र रूप से बोली बोली जाती है।"[५] ऐसी ही कुछ बोलियों का समूह जिसमे निश्चित समानताएँ निहित रहती हैं भाषा कहलाता है। अतएव भाषा (विचारों का) पृथक्करण है। एक क्षणिक उच्चार पूरे समुदाय की बोलियों से अभिन्न नहीं होता। यह सम्भव है कि उसमे ऐसे गुण हो जो सामान्य रूप से कई बोलियों मे मिलते हो, किन्तु उसमे कुछ अन्य तत्त्व भी होते है जो किसी बोली के लिए विशिष्ट होते है।"[६] वस्तुतः किसी भाषा-वैज्ञानिक के लिए बोली और भाषा मे कोई तात्त्विक अन्तर नही है। भले ही दूर से वे सम्बन्धित दिखलाई पड़े, किन्तु बोली शब्द का प्रयोग वाग्ध्वनियों के उस रूप के लिए किया जाता है, जिसे कि बोली के परवर्ती रूप (भाषा) को बोलने वाले समझ नही पाते।"[७] यथार्थ मे कई दृष्टिकोणो से बोली शब्द के विभिन्न अर्थों को ग्रहण किया जाता है। किसी राजनीतिक की भाषा मे वाग्ध्वनियो के उस रूप को भाषा कहते है जो कि आधिकारिक रूप से "राष्ट्रीय भाषा" स्वीकृत होती है, किन्तु बोली को यह मान्यता प्राप्त नहीं होती। साहित्यिक दृष्टि से भाषा वाणी का वह रूप है जो साहित्य को विकसित करता है, बोली मे यह सामर्थ्य नही होती। भाषा का अस्तित्व तभी माना जाता है, जब कि वास्तव मे वह बोली जाती हो, सुनी जाती हो, लिखी जाती हो और पढ़ी जाती हो। भाषा को सभी समझते है, किन्तु बोली अन्य स्थान वालों की समझ से बाहर होती है। इस प्रकार बोली और भाषा मे अन्तर होने पर भी आन्तरिक रूप से दोनो मे कोई अन्तर नही माना जाता। अन्तर केवल इतना ही है कि बोली किसी अंचल विशेष मे बोली जाती है और भाषा व्यापक क्षेत्र मे। किन्तु जब आंचलिक बोली शासकीय मुख्यता प्राप्त कर लेती है और राज-काज मे प्रयुक्त होने लगती है तब वह भाषा का पद प्राप्त कर लेती है। भाषा सदा शिष्टो एव शिक्षितो की उच्चारण-पद्धति तथा संस्कारगत प्रवृत्तियो पर आधारित होती है। सभी भाषाओ पर यह बात समान रूप से लागू होती है। किंग्स इंग्लिश लन्दन के शिक्षित वर्गों के उच्चारणो पर आधारित है। इसी प्रकार फ्रेंच भाषा भी फ्रांसीसियो की सुसंस्कृत प्रवृत्तिगत स्तर के अनुरूप औदात्य की सूचक है।"[८] सभी भाषाओ की परिवर्तनशीलता की भाँति सघटनागत नये परिवर्तनो के कारण बोलियो मे भी प्रत्यक्ष रूप से विभिन्नता लक्षित होती है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक स्थानान्तरित होने के क्रम मे प्रत्येक स्तर पर बोलियों के विभाग विभिन्न वाक्प्रवृत्तियों की व्यापक प्रवृत्तिगत रचना के कारण देखे जा सकते हैं।"[९] आज भी ग्रामीण क्षेत्रो मे बोलियों का विशेष रूप से प्रचलन है। केवल भारत मे ही नहीं, अन्य देशों में भी नगरो की अपेक्षा गाँवों में (जहाँ आवागमन के साधन तथा गतिविधियाँ कम है) स्थानीय बोलियाँ पल्लवित-पुष्पित होती रहती है। सबसे अधिक आधुनिक कहे जाने वाले देशो मे भी ग्रामीणों की अपेक्षा नगरनिवासी अपने क्षेत्रों की बोलियों[१०] का अन्तर कम समझते हैं। भाषिक परिवर्तनों के बीच सबसे अधिक तथा सुपरिचित एवं चमत्कृत करने वाले वाणी के भौगोलिक रूप हैं।

जब इनमे अन्तर कम होता है तब बोलियाँ कही जाती है और जब अन्तर अधिक होता है तब भाषाएँ कहलाती है। किसी भी प्रकार इन दोनों की बिलकुल ठीक परिभाषा देना सम्भव नही है।[११] फिर भी, यह निश्चित है कि भाषा में कृत्रिमता लक्षित होती है, किन्तु बोली स्वाभाविक होती है। बोली की अन्य उपबोलियो मे परस्पर अत्यन्त समानता रहती है। केवल किसी विशेष स्थान के कारण उच्चारण तथा पद-रचना मे किंचित् अन्तर परिलक्षित होने लगता है, अन्यथा उनका मूल रूप लगभग समान होता है।

ग्राम्य भाषा

ग्राम्य भाषा के लिए "अपभाषा" शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। अंग्रेजी मे इसका पर्यायवाची शब्द स्लेंग (Slang) है। इसका अर्थ गॅवारू भाषा है। भाषाशास्त्र मे गॅवारू भाषा का भी उतना महत्त्व है, जितना कि आदर्श भाषा का। यथार्थ मे गॅवारू भाषा से हमारा अभिप्राय ग्राम या गॉव की भाषा से नही है, क्योंकि विभिन्न ग्रामो मे भिन्न-भिन्न बोलियॉ बोली जाती है। ग्राम्य का एक अर्थ अश्लील भी है। गॅवारूपन से जैसा मन मे आया वैसा बोला और जैसा जो कुछ बन पड़ा वैसे ही शब्दो के प्रयोग को, जिनसे अर्थ मे ही नही शब्द मे भी भोडापन आ जाता है, ग्राम्य कहते है। साहित्य-शास्त्र मे वस्तुतः अश्लीलत्व दोष ग्राम्यत्व का पर्यायवाची है। उदाहरण के लिए—अपान वायु के निःसरण के लिए यह कहा जाय कि "पाद निकल रहा है" तो यह ग्राम्य प्रयोग कहा जाएगा। जिस भाषा मे ऐसे शब्द-प्रयोगो की प्रचुरता होती है वह ग्राम्य भाषा कही जाती है। प्रायः विदेशी भाषाओ के शब्द ठीक से उच्चरित नही होते। इसलिए कोई 'सिनेमा' के लिए 'सेनेमा', 'सनेमा', 'सनीमा' तो कोई 'सिनमा', 'सेनुमा' और कोई 'सेल्मा', 'मलीमा' आदि न जाने क्या-क्या उच्चारण करता है। यद्यपि इनमे से कोई भी शब्द अशुद्ध नही है, किन्तु शिष्टों एव शिक्षितो की दृष्टि मे गलत है। जिस बोली मे सहजता तथा स्वच्छन्दता के साथ ऐसे शब्दो की भरती रहती है वह 'स्लेंग' या ग्राम्यभाषा है। वेन्द्रीज सभी ग्राम्य रूपो वाली बोलियों को "विशिष्ट भाषाओं" के नाम से अभिहित करता है।[१२] इस शब्द की इतनी अधिक दुर्दशा हुई है तथा व्यापक रूप से शब्दो मे इतनी विविधता लक्षित होती है कि कौन-सा शब्द ग्राम्य है या नहीं, यह भेदक रेखा नही खीची जा सकती। ग्राम्य और अग्राम्य के बीच का अन्तर शब्दो के अर्थ मे निहित नहीं है। क्योंकि हिन्दी मे बातूनी का जो अर्थ है वही गाल् का, सन्दूक का जो अर्थ है वही बक्सा का। किन्तु गाल् और बक्सा ग्राम्य शब्द माने जाते हैं। इसी प्रकार बातूनी के लिए बक्की, झक्की तथा बोल के लिए बक्कर, बकुर आदि ग्राम्य शब्द हैं। अतएव ग्राम्य (Slang) शब्द निश्चित अर्थ के रूप मे परिभाषित नही किया जा सकता और यदि किसी प्रकार कहा जाए तो किन्हीं शब्दो में सन्निहित अनुभूति निर्दिष्ट होने की अपेक्षा अनुमानित होती है। और जब अशिष्ट हास्य के द्वारा वह अभिव्यक्त होती है तब हम उसे ग्राम्य कहते हैं।[१३] किंचित्

अस्पष्ट उच्चार वाले शब्द प्रायः ग्राम्य कहे जाते हैं। यद्यपि "स्लैंग" का कोशगत अर्थ साधारण बोलचाल की भाषा, शब्द और प्रयोगों से युक्त—अप्रौढ़ भाषा या बोली होता है और उसे 'क्वालोकुअल' (Colloquial) का पर्यायवाची माना जाता है। किन्तु 'क्वालोकुअल' का अर्थ स्थानीय या निम्नस्तर की भाषा नहीं है, जैसा कि भ्रमवश समझा जाता है। वस्तुतः इस शब्द का प्रयोग उन शब्दों और वाक्य-विन्यास के लिए किया जाता है, जिनका प्रयोग मुख्य रूप से उन्नत मनुष्य अपने निजी पत्रों और अनौपचारिक वाणी में करते हैं तथा जो लिखित से भिन्न होते हैं।[४] इस प्रकार अपभाषा जन-साधारण के शब्दों में गँवारू बोली, वर्ग बोली या किसी समुदाय विशेष की बोली को भी कहा जाता है। इसमें कुछ ही ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है, जिनसे भाषा में भद्दापन आ जाता है तथा सुनने-समझने वाले को अर्थ की हीनता का बोध होता है। उदाहरण के लिए, ऐसे ही कुछ शब्द हैं—लगाड, धगगड, लँड़ा, लौंडा-लौंडी, लौंडा-लवडा, गल्लड़-गल्लड़, रोधा, भोंधा, भोंदू, घोंघा, चेंचू, बुग्घू, खुट्टी, खुड्डी, खुड्डी, पगुरा, बागडबिल्ला, बमना, बागड़, बहेतू, बलुचिया, खूसट, भोंचप्पा, भावड़, चोट्टा, पोट्टा, चुटियाना, चुरकना, चुधरयाना, चिरकना, अँगुरियाना, बदिया करना, बजमारा, बरबराना, बमकना, चुंधियाना, चुदउ, घोंटू, चट्टू, बट्टू, कट्टू, कटुआ, कटल्लू, बटल्लू, मटल्लू, छिनरा, छिनार, छिबरी, गू, चिज्जी, जट्टू, जडल्लू, जागल्, जागड़, मडहा, भड़ुआ, भेंटू, भिखियारी, मटियारी, छटैल, लन्द-फन्द इत्यादि।

मानक भाषा

बोलियों का समान वर्ग या कोई बोली जब शिक्षित लोगों के मुख्य नगर या अन्य शिष्ट एवं सभ्य सामाजिक वर्ग की भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो जाती है तब वह मानक भाषा (Standard Language) कही जाती है।[५] बोलियों के परिवर्तन की सहज प्रक्रिया जब सामाजिक, राजनीतिक या अन्य किसी सांस्कृतिक कारण से अधिक विकसित होकर किसी बृहत् क्षेत्र की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाती है तब उसे सामान्य रूप से भाषा कहा जाता है। भाषा अपने आदर्श रूप में या शिष्ट-जगत् की भाषा के रूप में टकसाली या मानक भाषा कही जाती है। इसे परिनिष्ठित या उच्च भाषा भी कहा जाता है। भाषा में लिखे जाने वाले सभी शास्त्र, कला, विज्ञान आदि विषयों की रचना इसी भाषा में होती है। इसका रूप एक प्रकार से स्थिर होता है और इसका अपना एक निश्चित व्याकरण होता है। हिन्दी लगभग एक शताब्दी के पूर्व एक बोली के रूप में खड़ी बोली थी, किन्तु आज विकसित होकर सांस्कृतिक एवं राजकीय सम्मान प्राप्त कर एक मानक भाषा के रूप में व्यवहृत होती है। बोली या भाषा के मूर्त रूप में जो परिवर्तन होते रहते हैं उनमें यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि किसी क्षेत्रीय या वर्ग की बोली के स्थान पर मानक भाषा प्रतिस्थापित होती है।[६] जब कोई बोली भाषा का पद ग्रहण करती है तो वह अपनी निकटवर्ती बोलियों को अत्यन्त प्रभावित करती है, जिससे उन में भी कुछ परिवर्तन लक्षित होने लगता है तथा नवीन शब्द-रूपों का व्यवहार

उनमें भी प्रचलित हो जाता है। जन-साधारण की भाषा का प्रयोग जब साहित्यिक रचनाओं के लिए होने लगता है तब वह बोलियों से श्रेष्ठ समझी जाने लगती है। कोई भी बोली जब बोलने वालो पर प्रभाव डालने लगती है तब अन्य बोलियों से भिन्न उसे मानक भाषा (Standard Language) कहा जाता है।[१७] मानक भाषा और बोलियों का अन्तर परस्पर सम्बद्ध है। फिर भी, बोली विकसित, संस्कृति का अनुशासन करने वाली और स्वदेशीय जनता की वाणी होती है। इसलिए जब देश के राज-काज मे मानक भाषा का प्रयोग होने लगता है और उसमे साहित्य लिखा जाने लगता है तब प्रायः समानान्तर रूप से जनता की भाषा के अन्य लिखित या बोली के रूप मे जनबोली का व्यवहार होता रहता है।[१८] यह कहने की आवश्यकता नही है कि बोली और उसके मानक रूप में कुछ निश्चित अन्तर परिलक्षित होने हैं। बोलियों का उदय स्वाभाविक प्रवाह के रूप मे होता है। बोलियो के आधार पर प्रायः क्षेत्रों का विभाजन तथा नामकरण होता है। इस देश के विभिन्न प्रदेश तथा क्षेत्र भाषाई भिन्नता के आधार पर अभिहित किए जाते है। बोलियाँ सामान्य और प्राकृतिक होती है। अपने स्वाभाविक विकास मे बोली भाषा नही बन पाती। प्रायः बोली से मानक भाषा बनने मे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सास्कृतिक कारण देखे जाते हैं। इस प्रकार परिस्थितिवश विकसित होकर जब श्रेष्ठ साहित्य प्रसूत करने मे बोली सक्षम हो जाती है तब वह मानक भाषा के नाम से व्यवहृत की जाती है। केवल एक भाषा से असख्य लोगों के बीच सभ्यता का प्रसार किया जा सकता है।[१९] बोली भाषा के प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित होने की प्रक्रिया में अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियो से विच्छिन्न नहीं हो जाती, क्योकि मानक भाषा न तो स्थिर भाषा होती है और न सतत विकासशील। उसमे स्थिरता और विकासशीलता के बीच एक प्रकार का साम्य तथा सदा परिवर्तन लक्षित होता है।[२०] इस प्रकार लिखित भाषा सदा मानक भाषा की अभिव्यक्ति होती है, जबकि साहित्यिक भाषा उससे बिलकुल भिन्न होती है। इसलिए हमें लिखित और साहित्यिक भाषा को एक नही मान लेना चाहिए। साहित्य की भाषा धार्मिक या विशिष्ट भाषा होती है, जिसमे विशिष्ट भाषा के सभी गुण निहित रहते है।[२१] इस प्रकार बोली, मानक भाषा तथा साहित्यिक भाषा मे पर्याप्त अन्तर है। लिखित भाषा लिखित वाणी के अतिरिक्त कुछ नहीं है, किन्तु साहित्य की भाषा मे शुद्ध एवं सास्कृतिक रूप निहित रहता है। मनुष्य के चिन्तन का विकास किसी मानक भाषा के माध्यम से ही अधिक स्पष्ट रूप में स्थाई बनाने के हेतु लिपिबद्ध किया जाता है। मानक भाषा अपने प्रान्तों मे ही नहीं, अन्तर्प्रान्तीय विचार-विनिमय मे तथा कभी-कभी राष्ट्र के विभिन्न भागों में भी व्यवहृत होती है। एक आदर्श स्थान निर्मित कर लेने पर जब मानक भाषा का व्यापक रूप से प्रचलन तथा प्रसार हो जाता है तब आगे चल कर वह राष्ट्रभाषा का आसन ग्रहण कर लेती है।

साहित्यिक भाषा

जो साहित्य-रचना के लिए प्रयुक्त की जाती है तथा जिसमें श्रेष्ठ साहित्य लिखा

गया हो उसे साहित्यिक भाषा कहते हैं। साहित्य के विविध रूपों (काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास, संस्मरण आदि) मे साहित्यिक भाषा का प्रयोग किया जाता है। यह बोलचाल की भाषा से परिनिष्ठता, प्रौढता तथा एकरूपता एवं सौन्दर्य में उससे निश्चित भिन्न होती है। साहित्य की भाषा शिष्ट एवं कलात्मक कही जाती है। साहित्य की विभिन्न विधाओं मे विविध साहित्यिक रूपों की भाँति भाषा में भी भेद संलक्षित होता है। अतएव काव्य की भाषा से नाटक की भाषा तथा नाटक की भाषा से कहानी-उपन्यास की भाषा भिन्न होती है। काव्य मे जो सौष्ठव, गम्भीरता, सघन सवेदनशीलता तथा क्लिष्ट, अप्रचलित एवं समस्त शब्दो का विन्यास वाक्य-रचना में परिलक्षित होता है वह कथा-साहित्य मे प्रायः नहीं मिलता। कहानी-उपन्यास मे बोलचाल की भाषा का प्रयोग होने पर भी एक प्रकार का लालित्य तथा सहज प्रवाह रहता है, किन्तु नाटक मे एक ओर काव्यात्मकता और दूसरी ओर जनबोलियों का माधुर्य साहचर्य रूप में सन्निवेशित होता है। इसी प्रकार गीतो तथा लोकगीतों की भाषा किंचित् भिन्न होती है, किन्तु इन सब भेदो के रहने पर भी साहित्यिक भाषा की शालीनता एव गरिमा जनबोलियो से भिन्न होती है। सामान्य रूप से जन भाषा की भाँति साहित्यिक भाषा मे भी परिवर्तन होता रहता है, किन्तु यह परिवर्तन सहज नहीं कृत्रिम होता है, और इसी कारण कालान्तर मे साहित्यिक भाषा एक कृत्रिम भाषा का रूप ग्रहण कर लेती है। हिन्दी मानक भाषा ही नही, एक साहित्यिक भाषा भी है। हिन्दी के साहित्यकार या कवि की भाषा प्रायः इतनी कृत्रिम होती है कि नाटक लिखने का प्रयन्न करते ही उसकी अपर्याप्तता प्रकट हो जाती है। वस्तुतः काव्य के सम्बन्ध मे यह धारणा बिलकुल ठीक है। हिन्दी काव्य की भाषा स्पष्ट रूप से गढ़ी गई, कृत्रिमता लिए हुए लक्षित होती है। यथार्थ मे साहित्यकारो, विशेष रूप से कवियो के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण ही किसी भाषा को साहित्यिक भाषा कहा जाता है। इस प्रकार साहित्यिक भाषा का आधार बोली होने पर भी वह किसी क्षेत्रीय या स्थानीय बोली से सर्वथा भिन्न होती है।

राष्ट्रभाषा

जो सम्पूर्ण राष्ट्र की भावात्मक एकता के लिए एक सामान्य अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप मे मान्य होती है तथा जिसमे समस्त राष्ट्र की सास्कृतिक चेतना प्रतिबिम्बित होती है उसे राष्ट्रभाषा कहा जाता है। राष्ट्रभाषा किसी भी राष्ट्र की एक गौण रूप से सयुक्त करने वाली एकात्मिका शक्ति की प्रतीक होती है। वस्तुतः राष्ट्र का अर्थ ही भावात्मक एकता की सश्लिष्ट चेतना का समूह है। यह चेतना अभिव्यक्त होकर जिससे प्रकाशित होती है, उसे राष्ट्रभाषा कहा जाता है। यह समूचे राष्ट्र की परस्पर सम्पर्क की भाषा होती है। विभिन्न प्रदेशों के निवासी भाषागत भिन्नता होने पर भी राष्ट्रभाषा के माध्यम से केवल राजनीतिक कार्यों में ही नहीं, सास्कृतिक एव साहित्यिक आदान-प्रदान में भी इसका प्रयोग करते हैं। आज हिन्दी विभिन्न प्रदेशो

के बीच संयोजक भाषा के रूप में बहुत कुछ फैल चुकी है। उसका सम्पर्क इतना अधिक बढ़ चुका है कि अन्य प्रान्तों में एक सम्पर्क भाषा के रूप में विधिवत् पठन-पाठन होने लगा है। देश के कई भागों में हिन्दी भाषा का ही नहीं, उसके साहित्य का भी सम्पर्क-सम्बन्ध स्थापित हो चुका है। इसलिए हिन्दी आज भारत की राष्ट्रभाषा है। राष्ट्रभाषा का प्रयोग सभी विषयों के लिए समान रूप से किया जाता है। यद्यपि राष्ट्रीय भाषाई एकता का प्रतिमान 'एक राष्ट्र और एक राष्ट्रभाषा है', किन्तु विश्व में कुछ ऐसे भी राष्ट्र है जिनमें एक से अधिक साहित्यिक भाषाएँ ही नहीं, राष्ट्रीय भाषाएँ भी राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत हैं।[४] परन्तु भारतवर्ष की भाषागत स्थिति सर्वथा भिन्न है। यहाँ पर हिन्दी के राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत होने पर भी सम्बद्ध प्रादेशिक भाषाओं में जो आधारभूत साम्य लक्षित होता है तथा उनमें जो साहित्य लिखा हुआ मिलता है उसके कारण उन्हें अराष्ट्रीय नहीं कहा जा सकता। फिर, मूल परम्परा का निर्वाह सभी में समान है। सांस्कृतिक दृष्टि से सभी सम्पन्न है। राष्ट्रीय जागरण के गीत भी समवेत स्वरों में सभी में ध्वनित होते है। अतएव हिन्दी में कौन-सा ऐसा तत्त्व है जो उसे राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करता है? राष्ट्रीय चेतना की ऐतिहासिक परम्परा के साथ ही भाषा की सरलता और व्यापकता उसे राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करने वाले तत्त्व है।

अन्तर्राष्ट्रीय भाषा

जब राष्ट्रभाषा किसी आदर्श रूप में प्रतिष्ठित होकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में सांस्कृतिक स्तर पर विचारों के आदान-प्रदान हेतु प्रयुक्त होने लगती है तब उसे अन्तर्राष्ट्रीय भाषा कहा जाता है। कुछ लोगों का विचार है कि किसी विशिष्ट भाषा के अतिरिक्त किसी ऐसी भाषा का निर्माण होना चाहिए, जो अन्तर्राष्ट्रों में समान रूप से वाणी-विनिमय के माध्यम के रूप में भाषा का स्थान ले सके। अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में अंग्रेजी या एस्परन्तो की चर्चा की जाती है। अंग्रेजी विश्व के विभिन्न भूभागों में बोली और समझी जाती है तथा उसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। एस्परन्तो एक कल्पित भाषा है, जिसका जन्म अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकता के अनुसार हुआ। साधारणतः यह विचार प्रतिपादित किया जाता है कि किसी भी भाषा के अन्तर्राष्ट्रीय भाषा होने के लिए यह आवश्यक है कि संसार के अधिक-से-अधिक लोग उसे समझते हों और सभी प्रकार से प्रयोग के लिए उपयुक्त हो। भाषा सरल और सक्षम होनी चाहिए। भाषाशास्त्री इस विषय में एक मत रहे है कि सामाजिक सञ्चार के लिए संसार की कोई एक सामान्य भाषा भी बननी चाहिए या किसी भाषा का अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में व्यवहार होना चाहिए। इस आवश्यकता को ध्यान में रखकर भाषाविज्ञान-जगत् में अन्तर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि को जन्म दिया गया। यद्यपि भाषा के सम्बन्ध में कई समस्याएँ है तथा कठिनाइयाँ भी। किन्तु भाषावैज्ञानिकों ने इस पर ध्यान दिया है और इससे सहमत है कि कोई-न-कोई सन्तोषजनक अन्तर्राष्ट्रीय वाणी का माध्यम निर्मित होना

चाहिए, जो बोलने वालों के लिए उच्चारण में सरल, संघटना में लचीला तथा सरल एवं अनुवाद करने में स्पष्ट अर्थ देने वाला और भाषाई प्रवृत्तियों के अनुसार तर्कपूर्ण ढंग से विकसित, लिखने की सभी प्रणालियों के लिए सरल पद्धति वाला तथा टेलीफोन (दूरभाष), रेडियो (आकाशवाणी) एवं फोनोग्राफ (स्वचालित वाद्य) के लिए उपयुक्त हो।"[२] यथार्थ में अन्तर्राष्ट्रीय भाषा संसार की जनता और भाषा के बीच एक आन्तरिक शृंखला है, जो मुख्य रूप से सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करती है"[३] और जो पूर्ण रूप से संस्कृति की स्पष्टतम अभिव्यक्ति है। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का प्रयोग सांस्कृतिक संचार के निमित्त किया जाता है, और इसीलिए इसकी आवश्यकता का निषेध नहीं किया जा सकता।

भाषा के इन रूपों के अतिरिक्त जीवित भाषा, मृत भाषा, प्रायोगिक भाषा, कल्पित भाषा तथा जाति-भाषा आदि अनेक भाषा-रूप मिलते हैं। जीवित भाषा का अर्थ बोलचाल की जन-साधारण की भाषा है। किन्तु जो आज बोलचाल की भाषा नहीं है, केवल लिपिबद्ध है उसे मृतभाषा कहा जाता है। संस्कृत अत्यन्त प्राचीन काल में जीवित तथा बोलचाल की भाषा थी। परन्तु आज दैनिक जीवन में उसका व्यवहार नहीं होता, इसलिए लिखित रूप में अस्तित्व होने पर भी मृत भाषा मानी जाती है। मृत भाषा का अर्थ सर्वथा अस्तित्वहीन नहीं है, केवल जो साधारण जनता के प्रयोग में न हो वह मृत भाषा है। मृतभाषा सर्वथा परिवर्तनहीन होती है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन या विकास सम्भव नहीं होता। वह एक अत्यन्त स्थिर और रूढ भाषा होती है, जिसका प्रयोग केवल साहित्य में किया जाता है।

प्रायोगिक भाषा का प्रयोग प्रायः तकनीकी तथा वैज्ञानिक साहित्य में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दावली से युक्त भाषा के लिए किया जाता है। ऐसी भाषा में प्रयुक्त शब्द विशिष्ट तथा निश्चित अर्थवान होते हैं। कितने ही सरल तथा प्रचलित शब्दों का प्रयोग क्यों न किया जाए, किन्तु वे जन-साधारण के शब्दार्थों से भिन्न अर्थ वाले होते हैं। इस भाषा में प्रयुक्त संकेत भी गणितीय संकेतों की भाँति साधारण शिक्षित व्यक्ति की समझ के परे होते हैं।

कल्पित भाषा की रचना प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की सुविधा या भाषाविषयक ऐतिहासिक अध्ययन के लिए की जाती है। डॉ० जमेनहॉफ द्वारा निर्मित एस्परन्तो एक ऐसी भाषा है, जिसका व्यावहारिक जगत् में कोई अस्तित्व नहीं है; किन्तु विश्व की सामान्य भाषा के रूप में उसका व्यवहार किया जा सकता है। इसी प्रकार भारतवर्ष में दरबारीलाल सत्यभक्त ने "सत्यभाषा" नामक ऐसी भाषा की रचना की है, जो संसार की माध्यम बनने के लिए उपयुक्त है।

जाति भाषा आज ही नहीं, प्राचीन काल से विविध रूपों में प्रचलित है। धीवर, मछुओं, भील तथा वनेचरों की भाषाएँ जाति-भाषा के रूप में ईसा की कई शताब्दियों के पूर्व से ही प्रसिद्ध रही हैं। आचार्य भरतमुनि ने विस्तार से इनका उल्लेख किया है। जैन तथा बौद्ध आगमों में भी इनका उल्लेख मिलता है।

डॉ० तिवारी ने गुप्त भाषा का पृथक् रूप से उल्लेख किया है।[७४] तस्कर, डाकू तथा क्रान्तिकारी आदि इस भाषा का प्रयोग करते हैं। सीमान्त प्रदेश तथा अन्य घुमन्तू पेशावर लोगों की भाषा में प्रायः ऐसे शब्दों की भरती रहती है, जिसे जन-साधारण नही समझ पाता। केवल शब्द ही नहीं, पुराने शब्दो को कुछ तोड-मरोड कर अर्थ भी नया पहना देते हैं।

भाषा के अन्य रूपो में स्त्री-भाषा, पुरुष-भाषा आदि का भी उल्लेख मिलता है।[७५] वास्तव में इसके अनेक रूप हो सकते हैं, जिन सबका विवरण देना सम्भव नहीं है, क्योंकि अभी तक सभी बोलियों और भाषाओ का सर्वांगीण अध्ययन नहीं हो सका है।

भाषा की उत्पत्ति

भाषा ध्वन्यात्मक प्रतीकों की परम्परागत पद्धति कही गई है। विभिन्न मानव-समाज में देश, काल और समाज की भिन्नता की अपेक्षा से अलग-अलग ध्वन्यात्मक प्रतीको का उपयोग किया जाता है। इन प्रतीकों का व्यवहार करने वाला मनुष्य सामाजिक प्राणी है। प्रकृति से मिली हुई अन्य वस्तुओं की भाँति भाषा भी मन और शरीर की भाँति हमारे जीवन की अभिन्न उपलब्धि है। इसलिए भाषा भी उतनी ही स्वाभाविक है, जितना कि चलना-फिरना और खाना-पीना। अन्तर केवल इतना ही है कि स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ जन्म से ही प्रकट हो जाती हैं, किन्तु बोलने की शक्ति या प्रवृत्ति जन्म से होने पर भी समाज के आलाप-कलाप से परिचित होने पर प्रकट होती है। अतएव कोई भी प्राणी जन्म लेते ही भाषा नहीं बोलने लगता। प्रत्येक बच्चे को अपनी मातृभाषा के रूप में कोई-न-कोई भाषा सीखनी पडती है, क्योंकि प्राणी बोलने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण बिना बोले नहो रह सकता। इसलिए जन्म लेने के पश्चात् शिशु चार-पाँच वर्षों के भीतर सबसे महत्त्वपूर्ण जिस उपलब्धि को प्राप्त करता है वह है—भाषा। भाषा को प्रत्येक प्राणी समाज मे सीखता है। मानव-शिशु जिस समाज के बीच में अपने बचपन के प्रारम्भिक चार-पाँच वर्षों को बिताता है उसी की भाषा का सरलता से प्रयोग करने मे अभ्यस्त हो जाता है। आप किसी भी छोटे बालक को जिस भाषा को सिखलाना चाहते है उस भाषा के सामाजिको के बीच उसे रख दीजिए वह उस भाषा को अच्छी तरह से बोलना चालू कर देगा। बालक अनुकरणप्रिय होते हैं, इसलिए बड़े लोगों की अपेक्षा किसी विदेशी भाषा को वे अच्छी तरह सीख लेते है। केवल ध्वनियों का उच्चारण ही नहीं, हाव-भावों तक का अनुसरण करने की उनमें क्षमता होती है। यह सब समाज में प्रत्यक्ष देखने के बाद भी यह सोचना और मानना कि ईश्वर, शिव या अल्लाताला आदि अवतारी महापुरुषों ने भाषा को बनाया है, इस वैज्ञानिक युग मे अपना उपहास कराना होगा। इसी प्रकार यह मानना कि किसी एक भाषा से सब भाषाएँ निकली हैं, उचित न होगा; क्योंकि सिद्धान्ततः कोई भी भाषा किसी अन्य भाषा को जन्म देने में समर्थ नहीं है। सभी

भाषाओं की अपनी अलग-अलग प्रकृति तथा अस्तित्व है। अपने स्वतन्त्र रूप और भिन्न गठन के कारण साम्य होने पर भी वे परस्पर भिन्न लक्षित होती है।

यथार्थ में मानव-भाषा की उत्पत्ति सब से महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। आज तक के आविष्कारों मे सबसे महान् भाषा का आविष्कार है, क्योंकि भाषा के बिना कोई समाज अपने सामाजिक रूप को प्रकट नही कर सकता। जीवन-व्यवहार के समस्त सम्पर्क-सूत्र भाषा से जुड़े हुए हैं। ऐसी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि का कोई इतिहास आज तक प्राप्त नहीं हो सका है। भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे आज तक जो कुछ कहा गया है वह सब अनुमान और अटकलो पर आधारित है। इसलिए इस विषय को भाषाशास्त्र की सीमा के बाहर माना जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से अनुमानित विषय का विवेचन सम्भव नहीं है। जब तक किसी भी घटना का कार्य-कारण भाव विदित नही होता तब तक उसकी ठीक से व्याख्या नहीं की जा सकती। भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे दैवी सिद्धान्त से लेकर डार्विन के विकासवाद तक कई सिद्धान्तो की स्थापना की गई, किन्तु आज तक कोई भी स्थिर विचार सामने नही आ सका। वास्तव मे भाषाशास्त्र तथा भाषाविज्ञान मे यही एक ऐसा विषय है, जिस पर आज तक मत-भेद बना हुआ है और जिस पर सभी विद्वान सहमत नहीं हो सकते, क्योंकि भाषा एक प्रतीकात्मक पद्धति है और इसलिए प्रतीक-रचना की भाँति यह अनादि-निधन है।

सस्कृत को 'देववाणी' कहा जाता है। देववाणी का यह अर्थ नहीं है कि किसी महादेव ने सस्कृत भाषा की सृष्टि की थी, किन्तु देववाणी का अर्थ है— श्रेष्ठ आर्यजनों की भाषा, शिष्टजनो की भाषा एव सस्कार की गई भाषा। अतः भाषा को उत्पन्न करने वाला कोई एक महापुरुष हो नहीं सकता, क्योंकि भाषा समाज से बनती है और सामाजिक परिवर्तन के साथ बदलती रहती है। यदि भाषा ईश्वरप्रदत्त होती तो स्थिर, तर्कसम्मत तथा अपवादरहित होती, किन्तु भाषा की प्रकृति और प्रवृत्तिगत नियमो को भलीभाँति देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उसके नियम बडे लचीले है। भाषा वीणा के तारों की भाँति ढीली और लचीली जड वस्तु है। भाषा को उत्पन्न करने वाला ईश्वर नहीं है, स्वय मनुष्य है। भाषा का प्रयोग करने वाला प्रत्येक प्राणी अपने प्रयत्न और इच्छाओ के दबाव से भाषा की ध्वनियो को उत्पन्न करता है। अपने सहज सस्कार और अभ्यास के वशीभूत हो कर मनुष्य भाषा को उत्पन्न करता है। संसार के अनेकों देशों मे व्यवहृत होने वाली भाषाएँ स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होकर विकसित हुई हैं। इसलिए यह कहना कि भाषा के संकेतों को उत्पन्न करने वाला कोई ईश्वर या दैवी शक्ति है, उचित न होगा।

इसी प्रकार प्रसिद्ध समाज-विचारक रूसो (Rousseau) भाषा की उत्पत्ति मनुष्य से हुई मानता है। आवश्यकता के अनुसार समाज मे मनुष्य ने भाषा को जन्म दिया। इसे सांकेतिक उत्पत्ति का सिद्धान्त कहा जाता है, किन्तु प्रश्न यह है कि बिना भाषा के समाज बना कैसे ? यदि समाज बाद मे बना और भाषा का जन्म पहले हो

गया तो ध्वनि-संकेतों का निर्माण किसने किया, यह प्रश्न उत्पन्न हो जाता है और समस्या ज्यों की त्यों बनी रह जाती है।

भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के परिणामस्वरूप जर्मन विद्वान् हेज और मैक्समूलर आदि विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला कि आदि मानव ने चार-पाँच सौ धातुओं का निर्माण किया होगा। उन्हीं धातुओं के आधार पर भाषा-रचना हुई। यह धातु-सिद्धान्त कहा जाता है। यह सिद्धान्त भी भ्रमपूर्ण है, क्योंकि आदि मानव ने ऐसा किया क्यों? फिर, विश्व में चीनी जैसी एकाक्षरी भाषाएँ भी है, जिनमे धातुएँ नहीं है। तीसरे, सभी शब्द धातुमूलक नही होते। अतः यह मत मान्य नही हो सकता।

शब्दानुकृति के आधार पर हर्डर ने जिस मत का प्रस्थापन किया था वह अनुकरणमूलकतावाद का सिद्धान्त कहा जाता है। किन्तु इसके अनुसार किसी भी भाषा में म्याऊँ-म्याऊँ, कॉव-कॉव, कुहू-कुहू, कॅं-कॅं जैसे शब्द परिमाण में बहुत कम होते हैं। फिर, इनसे अन्य शब्दो की रचना कैसे हो सकती है? सम्भवतः यही विचार कर स्वयं हर्डर ने कालान्तर में यह मत त्याग दिया।

डार्विन ने भावावेगों की अभिव्यंजना का विचार करते हुए भावावेगो को उत्पन्न करने वाले सहज तथा अनिवार्य शारीरिक कारणो का विवेचन किया। उनका यह सिद्धान्त मनोभावाभिव्यंजकतावाद (पूह-पूहवाद) कहा जाता है। इन आवेगमूलक भावों का न तो विश्लेषण सम्भव है और न इन्हें भाषा का आदिजनक माना जा सकता है, क्योंकि ये विशिष्ट दशा में उत्पन्न होते है। विस्मयादिबोधक ध्वनियों और शब्दो के बीच गहरा अन्तराल होता है। आवेग आकस्मिक होते हैं, किन्तु भाषा आकस्मिक नही है।

इसी प्रकार नुइरे (Noire) श्रमपरिहारमूलक ध्वनियों से भाषा की उत्पत्ति मानते है। इनका मत श्रमपरिहारमूलकतावाद (यो-हे-हो वाद) कहा गया है। यह मान्यता भी भूल से भरी हुई है। कुछ ऐसी ध्वनियां हो सकती है जो श्रम को दूर करने के क्षणों में उत्पन्न होती है, किन्तु भाषा के लिए भी यह मानना उचित नही है।

जेस्पर्सन के अनुसार भाषा की उत्पत्ति आदिम मानव की सगीतात्मक प्रवृत्ति के कारण हुई। भाषा पहले पद्यात्मक बनी, अर्थहीन ध्वनियाँ आगे अक्षर के रूप में परिणत होकर अर्थ देने लगी। यह मत कोई महत्त्व नही रखता, क्योंकि यह एक विचार है; न कि समस्या का समाधान।

अनुरणन-सिद्धान्त (डिंग-डेंग वाद) के रूप में मैक्समूलर ने अपने जिस व्यापक नियम का प्रतिपादन किया, उसके अनुसार प्रत्येक पदार्थ पर आघात होने पर एक विशिष्ट ध्वनि सुनाई पड़ती है। आदिम मानव मे वह सहजात प्रतिभा थी, जिसके कारण सहज रूप में ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति होती थी, आगे चलकर वह शक्ति नष्ट हो गई। ये विचार कल्पित और स्वाभाविक प्रवृत्ति से सम्बद्ध हैं। इनसे समस्या पर कोई प्रकाश नही पड़ता।

इसी तरह का एक अन्य सिद्धान्त है—इंगित सिद्धान्त। इसके अनुसार भाषा अभिव्यंजक इंगितों से उत्पन्न हुई। ये इंगित ध्वन्यात्मक थे और आंगिक भी। मनुष्य इनका विकास करके भाषा-निर्माण में समर्थ हुआ। लेकिन यह सिद्धान्त भी मान्य नहीं हो सका, क्योंकि व्यंजक इंगित आन्तरिक प्रवृत्ति से अभिभूत होते हैं। ये इंगित सहज रूप से सभी प्राणियों में मिलते हैं, किन्तु भाषा के संकेत इनसे सर्वथा भिन्न होते हैं, जो समाज के सम्पर्क से ही सीखे जा सकते हैं।

स्वीट ने अपने समन्वय-सिद्धान्त में उक्त सभी सिद्धान्तों को अनुकरणात्मक, मनोभावाभिव्यंजक और प्रतीकात्मक रूपों में समेट कर कल्पनाओं के आधार पर एक समन्वित कल्पना की, जो किसी भी रूप में मान्य नहीं हो सकती।

एक अन्य सिद्धान्त है—सम्पर्क-सिद्धान्त। इसके प्रतिपादक जी० रेवेज हैं। वे मनोवैज्ञानिक आधार पर भाषा को मानव-मस्तिष्क की सबसे आश्चर्यजनक सृष्टि मानते हैं। इस सिद्धान्त को उन्होंने मनोविज्ञान के त्रिक्रियात्मक रूप से सम्बद्ध किया है, जिसके अनुसार मानवीय भाषा में आदेश, कथन और प्रश्न तीनों का समावेश है। भाषा का आदिम रूप उन सहज प्रवृत्ति और आवश्यकताओं से निर्मित हुआ था, जिसमें भावात्मक और बौद्धिक दोनों प्रकार के सम्पर्क का क्रियात्मक योग था। मनुष्य की सहज प्रवृत्ति का विकास भावात्मक सम्पर्क के रूप में हुआ और इसलिए सम्पर्क की दृष्टि से भाषा के तीन रूप हो सकते है—अभाषात्मक चिल्लाहट, उद्देश्यपूर्ण पुकार और शब्द। इसे भाषा की पूर्वावस्था कहा गया है। इस सिद्धान्त में समाज-सम्पर्क को अधिक महत्त्व दिया गया है, किन्तु इससे भी समस्या नहीं सुलझती।

मेरियो पेइ (Mario Pei) ने ठीक ही कहा है कि भाषाविद् जिस एक बात पर सहमत हैं वह है— मानव-भाषा की उत्पत्ति की समस्या अभी तक नहीं सुलझ पाई है। इस दिशा में आज तक जो भी प्रयत्न किए गए है उनमें से अधिकतर डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त को ध्यान में रख कर सामाजिक विकास की चिन्तना से किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध हैं। क्योंकि अमुक वस्तु के लिए अमुक शब्द का व्यवहार क्यों हुआ, मनुष्य को मनुष्य शब्द से अभिहित क्यों किया गया, इस पर कोई विचार नहीं किया गया। डॉ० बाबूराम सक्सेना के शब्दों में[१] "भाषा और विचार के आविर्भाव का प्रश्न मनुष्य समाज के विकास की समस्या के साथ अनिवार्य रूप से उलझा हुआ है। और जब तक विकासवाद के उपस्थापक डार्विन आदि विद्वानों के खोए हुए पूर्वजों का पता नहीं चलता और विकासवाद की शृंखला की टूटी हुई कड़ी नहीं मिलती तब तक भाषावैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, भाषा और विचार के आदि स्रोत तक पहुँचने में नितान्त असमर्थ हैं, और रहेंगे।"

विज्ञान के क्षेत्र में समय और अन्तरिक्ष के सिद्धान्त के रूप में आर० ए० विल्सन ने जो मत स्थापित किया है उससे भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में नया विचार करने में बहुत कुछ सहायता मिलती है। क्योंकि उनके इस सिद्धान्त से डार्विन के विकासवाद

की वह धारा खण्डित हो जाती है, जिस में यह मान लिया गया था कि मनुष्य की भाँति पशु की भी अपनी भाषा-प्रवृत्ति होती है। दोनों की भाषा में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है।

आर० ए० विल्सन के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि दो मूल तत्त्वों पर आधारित है—समय और अन्तरिक्ष। मानव समय और अन्तरिक्ष के बाह्य जगत् को भाषा के ध्वनि-सकेतों के माध्यम से अन्तर्जगत् में निर्मित करता है। अतएव अन्तर्जगत् बाह्यजगत् का ही प्रतिरूप है। प्रत्येक वस्तु के लिए मनुष्य को इसी कारण मानसिक प्रतीक अथवा सकेतों को ग्रहण करना पड़ता है, और इनके कारण ही मनुष्य तथा पशु की भाषा में मौलिक अन्तर विश्लेषित किया जा सकता है। यह अन्तर निम्नलिखित रूपों में लक्षित होता है :

(१) पशु-पक्षियों की ध्वनियाँ स्वाभाविक होने के कारण न तो स्पष्ट है और न कोई उनका निश्चित अर्थ है। उनकी ध्वनियाँ वाद्ययन्त्र की भाँति स्पन्दनशील होती है।

(२) मानव उनकी वाणी का अनुकरण मानवीय प्रयत्नों द्वारा सरलता से कर लेता है, किन्तु पशु-पक्षी मानवीय वाणी का पूर्ण अनुकरण नहीं कर पाते है।

(३) यद्यपि डार्विन मानव और पशु-पक्षी की भाषा मे प्रकार का अन्तर मानता है, किन्तु यह प्रकार का अन्तर न होकर मात्रा का अन्तर है।

(४) मानव की स्वतन्त्र चेतना-शक्ति का विकास आज तक पशु-पक्षी जगत् में नहीं हो सका है। मानव इस दिशा में सतत विकासशील है।

(५) मानव और पशु की मानसिक शक्तियों में बहुत अन्तर है। यही कारण है कि वनमानुष वर्षों तक नगर में रहने पर भी सभ्य नही बन पाता।

(६) पशु-पक्षियों के मानसिक विकास में सबसे बडी बाधा समय और अन्तरिक्ष की मानी गई है। पशु-पक्षियों में स्मृति तो है, किन्तु समय का ज्ञान नहीं है। वे जितने स्थान तक घूम-फिर पाते है उन्हें उतने तक का ज्ञान होता है। किन्तु मनुष्य बहुत दूर-दूर तक के स्थानों से भी मानसिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इसी प्रकार मानव-मन अपनी इन्द्रियों की सीमा में बँध कर नहीं रह पाता, जो उसे पशु-पक्षी से नितान्त भिन्न सिद्ध करता है। परन्तु अब प्रश्न यह है कि इस अन्तर से भाषा की समस्या को किस प्रकार सुलझाया जा सकता है?

मनुष्य का सम्बन्ध आन्तरिक तथा बाह्य-भौतिक जगत् दोनों से है। भौतिक जगत् की विभिन्न रूपात्मक वस्तुओं को वह मानसिक रूप प्रदान करता है। अतएव उस मानसिक सृष्टि के विभिन्न पदार्थों को अभिव्यजित करने के हेतु मानसिक प्रतीकों या सकेतों की आवश्यकता का अनुभव कर मनुष्य ने भाषा की सृष्टि की। पशु-पक्षियों को इस प्रकार के प्रतीकों की आवश्यकता नहीं पड़ती। मानव ने इन प्रतीकों का आविष्कार भौतिक जगत् की रूपात्मक रचना को ध्यान में रख कर किया। अतः

अन्तरिक्ष की स्वाभाविक अभिव्यक्ति आकृति है और समय की स्वाभाविक अभिव्यक्ति ध्वनि है। दोनों का संयोग पूर्वापरापेक्षी है, जो चिन्तनपूर्वक प्रकट होता है। चिन्तन स्वतः एक समय-पद्धति है। ध्वनियों को चाक्षुष बनाने के लिए और स्थायित्व प्रदान करने के लिए ध्वनि-संकेतों का आविष्कार लिपि के रूप में किया गया, जो परवर्ती विकास है। भाषा पहले बनी और लिपि उस के विकसित होने पर बहुत बाद में उत्पन्न हुई।

निष्कर्ष

भाषा मूल मे यादृच्छिक वाक्प्रतीकों की एक ऐसी पद्धति है, जिस के माध्यम से वक्ता और श्रोता के बीच भावों तथा विचारो का आदान-प्रदान होता है। भाषा प्रतीकात्मक होने से सदा सार्थक ध्वनियों से निर्मित होती है। सार्थक ध्वनियाँ मनुष्य के उच्चारणोपयोगी अवयवो से निःसृत होती हैं। ये ध्वनियाँ ऐच्छिक होती हैं। भाषा प्रतीकात्मक पद्धति होने से पशु-पक्षियो की बोली से भिन्न होती है। पशु-पक्षी वाक्यो मे नहीं बोलते; जब कि मनुष्य वाक्यो मे भाषा का व्यवहार करता है। मनुष्य मात्र से उच्चरित अनायास या सहसा निःसृत ध्वनियाँ तब तक भाषा का रूप नहीं लेतीं जब तक वे ऐच्छिक एव नियत स्थान और निश्चित प्रयत्न द्वारा उत्पन्न नहीं होती। वस्तुपरक रूप मे भाषा के स्वरूप की निम्नलिखित संरचनात्मक कोटियाँ मानी जाती हैं[७] :

०. आधार (Matrix)	मानवीय वाक्-तन्त्रीय, मानसिक, सास्कृतिक, सामाजिक आदि
१. स्वन (Phonation)	स्वनिम-व्यवस्था
२. सहस्वन (Allophonic)	तद् अध्ययन
३. स्वनिम (Phonemics)	स्वनिम विज्ञान (Phonology)
४. रूप स्वनिम (Morphophonentics)	भाषा मे घटित आन्तरिक रूप स्वन-विकार, तद् अध्ययन, सन्धि-विज्ञान
५. पद (Morphology)	स्वनिम, पद (शब्द), पदबंध एवं वाक्यो और उनके तत्त्वों में आन्तरिक सम्बन्धगत अध्ययन
६. वाक्य (Syntax)	व्याकरण
७. संनिवेशन (Collocation)	अर्थ
८. सकेत (Notation)	तद् अध्ययन
९. सन्दर्भ (Reference)	अर्थ-विज्ञान (Semantics)
१०. पदार्थ सर्वस्व (Malter)	भाषा में प्रतिबिम्बित या अभिव्यक्त सर्वस्व

इन रूपों मे भाषा का अध्ययन तथा विश्लेषण किया जाता है।

व्यापक रूप से भाषा की परिभाषाएँ विभिन्न धारणाओं तथा दृष्टिकोणों पर आधारित है। इसलिए विचारों में वैविध्य लक्षित होता है। भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से भाषा के सम्बन्ध में विभिन्न ऋषि-महर्षि तत्त्वचिन्तन करते रहे हैं। वेदों का ऋषि-द्रष्टा ज्ञान-राशि के सचित भण्डार के रूप में वाणी (भाषा) का उद्‌घोष करता है कि विद्वानों ने प्रत्येक शब्द को सत्तू की भाँति चलनी से छान कर तथा परस्पर विमर्श कर भाषा का निर्माण किया है। अतएव उन की वाणी में ज्ञानराशि का सचित भण्डार निहित है।[७८] किन्तु प्रातिशाख्यों में शारीरिक प्रक्रिया की स्वाभाविक परिणति के द्वारा प्राणवायु की विभिन्न स्थितियों से भाषा-रचना का उल्लेख मिलता है।[७९] वस्तुतः जिस समय वाक्-योग के द्वारा कहा जाने वाला विषय उच्चरित होता है उसी समय भाषा है। भाषित व्यापार सम्पन्न होने पर भाषा अभाषा ही है।[८०] दूसरे शब्दों में, भाषित (वाग् ध्वनियों के उच्चरित) होने के पूर्व भाषा नहीं है और भाषित होने के अनन्तर भाषा की अवस्थिति नहीं है। केवल भाषित होने के समय में ही भाषा भाषा कही जाती है, अन्य समय में उसे अभाषा ही समझना चाहिए। और इसीलिए भाषा एक द्वन्द्व है। तीर्थंकर महावीर का यह चिन्तन जैन-दर्शन के नय तथा प्रमाणवाद को प्रतिफलित करता है। इसी प्रकार भाषा शरीर तथा मानसिक प्रक्रिया से प्रकट होती है। दो समय में भाषारूप परिणमन करने वाले पुद्गल (वर्गणाओं) को भाषा कहते हैं।[८१] भाषा को पर्याप्तिसंज्ञक भी कहा गया है। संक्षेप में, भाववाक् रूप शक्ति से युक्त क्रियावान् आत्मा के द्वारा प्रेरित पुद्गल ही वचनरूप परिणमन करते हैं। किन्तु वैदिक विचारधारा के अनुसार "जगत् का चिन्मय प्रकाशन भाषा है।" भाषा सम्पूर्ण चिन्तन और नाम-रूप तथा दृश्यमान जगत् की पूर्व स्थिति है। अतएव वह नित्य है। औपनिषदिक विचार-धारा के अनुसार आत्मा देहव्यापी है। जब वह श्वास लेता है तो प्राण कहते हैं और जब वह बोलता है तो भाषा (वाक्) कहते हैं।[८२] मीमांसकों के मत में विधि-निषेधात्मक वाक्य को भाषा कहते हैं। वाक्य अर्थमूलक होता है और अर्थ अदृष्ट तथा अदृष्ट अपूर्व कहा गया है। नैयायिकों को यह मत इष्ट नहीं है। वस्तु-रूप में भाषा सार्थक होती है, शेष अनुमान है। ऐतिहासिक या समाजशास्त्री के लिए "भाषा एक सामाजिक धर्म है।" हर्मन पाल का स्पष्ट कथन है कि भाषा को ऐतिहासिक सन्दर्भ से भिन्न किसी अन्य सन्दर्भ में देखा ही नहीं जा सकता। यहाँ तक कि भाषा का भौतिक और मानसिक पक्ष भी इस के अधीन होकर चलता है। वेदान्त के अनुसार भाषा एक द्वैतमूलक स्थिति की अभिव्यक्ति है। सोसुर, ह्रोखाइन और मेइये ने भाषा-के सामाजिक रूप को स्वीकार करते हुए इस पर भी बल दिया कि भाषा एक-दूसरे से अलग तथ्यों की राशि मात्र नहीं है, वह एक अपने में पूर्ण संघटना है और भाषा में जो मूलभूत द्वैत है, सामान्य और विशेष के बीच, सन्देश और सन्देशवाहक के बीच तथा भाषा के प्रतिरूप और भाषा के तथ्य के बीच, उस द्वैत के कारण ही भाषा भाषा है।[८३] किन्तु भाषा के सम्बन्ध में साहित्यकार और विशेष कर कवि की मान्यता भिन्न होती है। उस की भाषाविषयक प्रवृत्ति सृजन-प्रक्रिया से सम्बद्ध रहती

है। अतएव कवि के शब्दों में "भाषा एक जीवित परम्परा है। शब्दों में एक स्पन्दन है। शब्दों मे जो अर्थ-स्पन्दन है वह फैण्टेसी (कल्पना) के द्वारा उद्‌बुद्ध होकर नई भावधाराएँ बहा देता है। ये भावधाराएँ फैण्टेसी की सभी परवर्ती भावधाराएँ है[४]।" कवि भावप्रवणता तथा कल्पनानुषग से कल्पना की शब्दबद्ध प्रक्रिया से लेकर भाव और भाषा के मूल द्वन्द्व का सम्बन्ध सृजन-प्रक्रिया से जोड़ सकता है, किन्तु नाटककार की भाषा उस से निश्चित भिन्न होती है। "श्रेष्ठ नाटक की भाषा ऐसी होती है कि उस में भाव, विचार और चित्र तीनो को वहन करने का सामर्थ्य तो हो, पर वह बोलचाल की भाषा से बहुत दूर न हो। यही कारण है कि नाटक-रचना से भाषा को नया संस्कार, नई गति और जीवंतता मिलती है[५]।" इसी प्रकार एक उपन्यासकार या कथा-कहानीकार के लिए भाषा एक ऐसी परम्परा है, जो सहज प्रवाह के साथ भावों के अनुरूप शब्दो मे ढलती जाती है। अपने भावो को अभिव्यक्ति का मूर्त्त रूप देने के लिए उसे कोई आयास या प्रयत्न नही करना पड़ता। भाषा अभ्यासवश सहज सस्कारो के साथ लिपिरूप में चित्रित हो जाती है। इस प्रकार विभिन्न साहित्यकारो के लिए ही नहीं, मनोवैज्ञानिकों के लिए भी भाषा अवचेतन मन के सचित रूपों का प्रकाशन, चेतनता का प्रतिबिम्ब तथा यथार्थ मूर्त रूपो का अभिव्यक्तिकरण है। भाषा के द्वारा ही मानव-मन का विकास किया जा सकता है। किन्तु अठारहवी शताब्दी के जर्मन दार्शनिक हेम्मन (जिन का गेटे पर बहुत प्रभाव था) का विचार है कि भाषा समस्त विचारो की नीव ही नहीं, वह केन्द्रबिन्दु भी है, जिस से भ्रान्ति की ओर बढ सकती है और जिस के कारण स्वय उसमे विद्यमान हैं।[६] यथार्थ मे भाषा विचारो की वाहिनी है। विचारो की अभिव्यक्ति मे भाषागत चिह्न अनिवार्यरूप से सहायक होते है। यथार्थ मे भाषा का महत्त्व इस मे निहित है कि हम अपने कथन को देखे कि किस प्रकार से विचार करते हैं। क्योकि भाषा एक चिर प्रवाह है और उसे बिना देखे-समझे हम अपने विचारो को वास्तविक रूप से नही समझ सकते। साहित्यकार के लिए भले ही भाषा शब्दावली की कमी के कारण अड़चन उत्पन्न कर सकती है, किन्तु वैज्ञानिकों, चित्रकारों और सगीतज्ञो को प्रायः अपने विचारो को मौखिक पद्धति का मूर्त रूप देने मे कठिनाई उत्पन्न होती है। वैज्ञानिक के लिए भाषा एक भिन्न प्रकृति की वस्तु है। भाषा की प्रकृति से वह सर्वथा अनभिज्ञ रहता है। इसलिए मौखिक रूप देने की अपेक्षा ठीक यथार्थ अभिव्यक्ति तथा रहस्यगत अनुबन्धो को प्रकट करने मे कठिनाई होती है।[७] उदाहरण के लिए, ध्वनि, काल तथा धर्म एव प्रकृति शब्द सामान्यरूप मे प्रचलित होने पर भी दर्शन, विज्ञान और समाजशास्त्र में भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते है। लेखक कभी भी ऐसे शब्दों को ओझल कर नए शब्दों की सृष्टि नहीं करता, वरन् इन शब्दों को ही विभिन्न सन्दर्भो मे नया अर्थ पहना देता है। साहित्यकार की भाँति वैज्ञानिक का सम्बन्ध चिन्तन की सृजन-प्रक्रिया से नही होता। इस युग के महान् तथा प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन का कथन है—लिखित या बोले जाने वाले शब्द या भाषा मेरे चिन्तन की सृजन-प्रक्रिया में सक्रिय लक्षित नहीं होती।

विचारों के तत्त्वों के रूप मे जो प्रतीत होता है उस की भौतिक सत्ता है और निश्चित प्रतीक तथा कम या अधिक स्पष्ट बिम्ब है, जो ऐच्छिक रूप से पुनः उत्पन्न तथा सयुक्त किए जा सकते हैं। भाषा बिम्बप्रधान होती है, किन्तु विषय के अनुकूल बिम्बों का चित्रण किया जाता है। साहित्यकार के बिम्बो से वैज्ञानिकों की भाषा मे प्रयुक्त बिम्ब तथा वैज्ञानिको से गणितज्ञो के बिम्बो की रचना भिन्न होती है। गणित-शास्त्री सदा निश्चित प्रतीकों का प्रयोग करते हैं, जिनमे बिम्ब अस्थिर तथा मानस-चित्रात्मक एव प्रायः दृश्यात्मक होते है। दूसरे शब्दो मे, गणित की भाषा मानसिक चित्रों की भाषा कही जा सकती है। इस प्रकार सभी तरह से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा एक प्रतीकात्मक पद्धति है। मानव-जीवन की वह ऐसी जीती-जागती प्रक्रिया है कि उसमे जितनी सवेदनशीलता सन्निहित है उतनी ही सामाजिक चेतना भी। समाज का सम्पूर्ण परिस्पन्दन भाषा के द्वारा अभिव्यजित होता है। और यही कारण है कि वर्तमान जीवन मे सामाजिक जटिलताओं के साथ भाषा के स्तर और भाषिक रूप भी दिनोदिन जटिल होते जा रहे है। इसी प्रकार जीवन का दुहरापन भी आज भाषा मे प्रतिबिम्बित लक्षित होता है। इसलिए परिवार मे या सीमित कुटुम्ब मे हम जिस मातृभाषा या बोली का व्यवहार करते है, सामाजिक परिवेश की भाषा निश्चित ही किसी न किसी रूप मे यत्किंचित् उससे भिन्न होती है।

सन्दर्भ-संकेत :

१ पी० डी० गुणे (अनु०—डॉ० भोलानाथ तिवारी) : तुलनात्मक भाषाविज्ञान की भूमिका, पृ० १।
२ मेरियो पेइ इन्विटेशन टु लिंग्विस्टिक्स, १९६५, पृ० १।
३. ई० एच० स्तुत्रवॉं · एन इन्ट्रोडक्शन टु लिंग्विस्टिक सायन्स, पृ० १।
४ वही, पृ० ७।
५. आइ० जे० एस० तारापुरवाला · एलीमेन्ट्स ऑव द सायन्स ऑव लेंग्वेज, तृतीय सस्करण, १९६२, पृ० ४४८।
६ एच० ए० ग्लीसन . एन इन्ट्रोडक्शन टु डिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक्स, १९६१, पृ० ११।
७ ई० एच० स्तुत्रवॉं एन इन्ट्रोडक्शन टु लिंग्विस्टिक सायन्स, पृ० ५२।
८ युएन रेन चाउ · लेंग्वेज एण्ड सिम्बोलिक सिस्टम्स, केम्ब्रिज, १९६८, पृ० ६।
९ वही, पृ० ६।
१०. येहोशुआ बार-हिलेल · लेंग्वेज एण्ड इन्फर्मेशन, जेरुसलम, १९६४, पृ० ६१।
११ चार्ल्स एफ० हॉकेट ए कोर्स इन मॉडर्न लिंग्विस्टिक्स. १९६५, पृ० १२९।
"A form consisting of two or more words is a phrase."
१२ युएन रेन चाउ लेंग्वेज एण्ड सिम्बोलिक सिस्टम्स, १९६८, पृ० ६४।
"A syntactic construct is a construct of words; a construct is a recurring same of order—language (what)." p. 145 ff.
१३. एच० ए० ग्लीसन : एन इन्ट्रोडक्शन टु डिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक, १९६१, पृ० ४४९।

१४. विन्फ्रेड पी० लेमन : हिस्टारिकल लिंग्विस्टिक्स : एन इन्ट्रोडक्शन, १९६६, पृ० ८३–९८।
१५. "व्याक्रियन्ते शब्दाः अनेन इति।" पतञ्जलिकृत महाभाष्य, पस्पशाह्निक।
१६. "शब्दानामन्वाख्यान व्याकरणम्।" काव्यमीमांसा (राजशेखर), अ० ८।
१७. महाभारत, उद्योगपर्व, ४३, ६१।

सर्वार्थानां व्याकरणात् वैयाकरणमुच्यते।
तन्मूलं तु व्याकरण व्याकरोतीति तत्तथा॥

१८ चार्ल्स एफ० हॉकेट : ए कोर्स इन माडर्न लिंग्विस्टिक्स, १९६५, पृ० १२९।
१९. गोलोक विहारी धल : ध्वनिविज्ञान, १९५८, पृ० २१७ से उद्धृत।
२० एडवर्ड सेपीर : लेंग्वेज, १९४९, पृ० २४।
२१. सर एलैन गार्डिनर : द थ्योरी ऑव स्पीच एण्ड लैंग्वेज, द्वितीय संस्करण, ऑक्सफोर्ड, १९६०, पृ० ८७।
२२. जेलिग एस० हेरिस : स्ट्रक्चरल लिंग्विस्टिक्स, चतुर्थ संस्करण, १९६०, पृ० १५८।
२३. वहीं, पृ० १४।
२४. युएन रेन चाउ : लेंग्वेज एण्ड सिम्बोलिक सिस्टम्स, केम्ब्रिज, १९६८, पृ० ११।
२५ फर्दिनाद डिसासे : कोर्स इन जनरल लिंग्विस्टिक्स, अनूदित, लन्दन, द्वितीय संस्करण, १९६४, पृ० ९।
२६. डॉ० उदयनारायण तिवारी : भाषाशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ३४ से उद्धृत।
२७. जे० वान्द्रिएज : लेंग्वेज, लन्दन, पञ्चम संस्करण, १९५९, पृ० २३३।
२८ एच० ए० ग्लासन : एन इन्ट्रोडक्शन टु डिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक्स, १९६१, पृ० ४०८।
२९ वहीं, पृ० ४०८।
३०. वहीं, पृ० १०।
३१. ई० एच० स्तुवर्ट, लिंग्विस्टिक चेन्ज, १९६१, पृ० १।
३२. जोशुआ हाटमो : लेंग्वेज, १९५६, पृ० ११८।
३३. ए० एच० मैस : इन्ट्रोडक्शन टु द सायन्स ऑव लेंग्वेज, जिल्द २, १९००, पृ० ३३९।
३४. युएन रेन चाउ : लेंग्वेज एण्ड सिम्बोलिक सिस्टम्स, १९६८, पृ० १–३।
३५ जोशुआ हाटमो : लेंग्वेज, १९५६, पृ० ८–१२।
३६ वहीं, पृ० ११।
३७. बर्नार्ड ब्लाख एण्ड जार्ज एल० ट्रेगर : आउट लाइन ऑव लिंग्विस्टिक एनेलेसिस, १९४२, पृ० ५–६।
३८. जे० वान्द्रिएज : लेंग्वेज, १९५९, पृ० ११।
३९. वहीं, पृ० १२।
४० चार्ल्स एफ० हॉकेट : ए कोर्स इन मॉडर्न लिंग्विस्टिक्स, १९६५, पृ० १४१–४२।
४१. फर्दिनांद डिसासे : कोर्स इन जनरल लिंग्विस्टिक्स, १९६४, पृ० ११४।
४२. वहीं, पृ० १२३।
४३. येहोशुआ बार-हिलेल : लेंग्वेज एण्ड इन्फर्मेशन, १९६४, पृ० २०६।
४४. वहीं, पृ० ३०।
४५. युएन रेन चाउ : लेंग्वेज एण्ड सिम्बोलिक सिस्टम्स, पृ० १२३।
४६. वहीं, पृ० १२४।
४७. वहीं, पृ० १२५।
४८. चार्ल्स एफ० हॉकेट : ए कोर्स इन मॉडर्न लिंग्विस्टिक्स, पृ० ३२१।

४९ आर० एच० रॉबिन्स : जनरल लिंग्विस्टिक्स एन इन्ट्रोडक्टरी सर्वे, लन्दन, १९६७, पृ० ५१।
५० चार्ल्स एफ० हॉकेट : ए कोर्स इन मॉडर्न लिंग्विस्टिक्स, पृ० ३२२।
५१ आर० एच० रॉबिन्स : जनरल लिंग्विस्टिक्स एन इन्ट्रोडक्टरी सर्वे, पृ० ५१।
५२ डॉ० भोलानाथ तिवारी : भाषा विज्ञान-कोश, प्रथम संस्करण, पृ० ४५९।
५३ आर० एच० रॉबिन्स : जनरल लिंग्विस्टिक्स एन इन्ट्रोडक्टरी सर्वे, पृ० ५८।
५४ ई० एच० स्तुत्रवा : लिंग्विस्टिक चेन्ज, १९६१, पृ० १४६।
५५ युएन रेन चाउ : लैंग्वेज एण्ड सिम्बोलिक सिस्टम्स, पृ० १३०।
५६ ई० एच० स्तुत्रवो : लिंग्विस्टिक चेन्ज, पृ० १४७।
५७ एडवर्ड सेपीर : सेलेक्टेड राइटिंग्स, इन लैंग्वेज, कल्चर एण्ड पर्सनालिटी, पृ० ८३।
५८ मेरियो पेइ : द स्टोरी ऑव लैंग्वेज, लन्दन, १९५७, पृ० ४९।
५९. आर० एच० रॉबिन्स : जनरल लिंग्विस्टिक्स एन इन्ट्रोडक्टरी सर्वे, पृ० ६०।
६० वहीं, पृ० ६२।
६१ एच० ए० ग्लीसन : एन इन्ट्रोडक्शन टु डिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक्स, परिवर्धित संस्करण, पृ० ३९८।
६२ जे० वान्द्रिएज : लेंग्वेज, लन्दन, १९५९, पृ० २४९।
६३ डीन एण्ड विल्सन (स०) : एसेज आन लेंग्वेज एण्ड यूसेज, द्वि० स०, १९६३, पृ० २७६।
६४ वहीं, पृ० २७६–७७।
६५ आर० एच० रॉबिन्स : जनरल लिंग्विस्टिक्स एन इन्ट्रोडक्टरी सर्वे, पृ० ५७।
६६ ई० एच० स्तुत्रवा : लिंग्विस्टिक चेन्ज, पृ० ८१।
६७ वहीं, पृ० १५७।
६८. युएन रेन चाउ : लेंग्वेज एण्ड सिम्बोलिक सिस्टम्स, पृ० १३३।
६९ जे० वान्द्रिएज : लेंग्वेज, लन्दन, १९५९, पृ० २६१।
७० वहीं, पृ० २७१।
७१ वहीं, पृ० २७२।
७२ जोशुआ ह्वाटमो : लेंग्वेज ए मॉडर्न सिन्थीसिस, १९५६, पृ० ५९।
७३ मेरियो पेइ : वाइसेस ऑव मेन, लन्दन, १९६४।
७४ डॉ० भोलानाथ तिवारी : भाषा-विज्ञान-कोश, पृ० ४६३।
७५ वहीं, पृ० ४६४।
७६ डॉ० बाबूराम सक्सेना : सामान्य भाषाविज्ञान, सातवाँ संस्करण, १९६५, पृ० ३१।
७७ अनुवाद पत्रिका अंक २१–२२, पृ० १९–२० से उद्धृत।
७८ ऋग्वेद, १०, ७१, २

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥

७९ ऋक्० प्रातिशाख्य, १३–१।

वायुः प्राणः कोष्ठमनुप्रदानं कण्ठस्य खे विवृते संवृते वा।
आपद्यते श्वासतां नादतां वा वक्त्रीहायाम्॥

८० भगवतीसूत्र, १३ श०, ७ उ०।

"भासा भासिज्जमाणी भासा, भासासमयवीइक्कंता भासा? गोयमा।
णो पुव्विं भासा भासिज्जमाणी भासा, णो भासासमयवीक्कंता भासा।"

८१ पन्नवणासूत्र, ११, २४।

"सरीरप्पभवा भासा, दोहिय समएहिं मासइभासं भासा चउ पगारा, दोन्निय भासा अणुमयाओ।"

८२. बृहत् उपनिषद्, १—४।

८३. भाषा पत्रिका, वर्ष ५, अंक १ के पृ० १३ से उद्धृत।

८४. गजानन-माधव-मुक्तिबोध : एक साहित्यिक की डायरी, १९६४, पृ० २६ से उद्धृत।

८५. नेमिचन्द्र जैन : रंग-दर्शन, १९६७, पृ० ३८ से उद्धृत।

८६ आर्थर कोइस्टलर : द एक्ट ऑव क्रिएशन, १९६४, पृ० १७३।

८७. वहीं, पृ० १७४।

८८. वहीं, पृ० १७१।

८९. वहीं, पृ० १७२।

अध्ययन व विमर्श के लिए पठनीय पुस्तकें :

(१) फर्दिनाद डिसासे : कोर्स इन जनरल लिंग्विस्टिक्स।
(२) एडवर्ड सेपीर : लेंग्वेज।
(३) जे० वान्द्रिएज : लेंग्वेज।
(४) सर एलन गार्डिनर : द थ्योरी ऑव स्पीच एण्ड लेंग्वेज।
(५) आर० एच० रॉबिन्स : जनरल लिंग्विस्टिक्स एन इन्ट्रोडक्टरी सर्वे।
(६) ए० एच० सैम : इन्ट्रोडक्शन टु द सायन्स ऑव लेंग्वेज।
(७) लियोनार्ड ब्लूमफील्ड : लेंग्वेज।
(८) ऑटो जेस्पर्सन : लेंग्वेज : इट्स नेचर, डेवलपमेन्ट एण्ड ओरिजिन।
(९) मेरियो पेइ : ऑल् अबाउट लेंग्वेज।
(१०) ई० एच० स्तुत्रवों : एन इन्ट्रोडक्शन टु लिंग्विस्टिक सायन्स।
(११) डॉ० उदयनारायण तिवारी : भाषाशास्त्र की रूपरेखा।
(१२) डॉ० बाबूराम सक्सेना : सामान्य भाषाविज्ञान।
(१३) डॉ० हरीश शर्मा : भाषा-विज्ञान की रूप-रेखा।
(१४) रॉबर्ट ए० हॉल जे० : इन्ट्रोडक्टरी लिंग्विस्टिक्स।
(१५) डॉ० भोलानाथ तिवारी : भाषा-विज्ञान।

२

भाषा के तत्त्व

ध्वनि और ध्वनितत्त्व

यह पहले ही कहा जा चुका है कि भाषा ध्वनियों का समूह है, जिस में ध्वनियो की श्रेणी अन्वित रहती है। ध्वनि भाषा का मूल रूप है। हम जो भी उच्चरित करते है वह सब ध्वनिमय है। इसलिए भाषा की रचना वर्णों से नही, ध्वनियों से होती है।[1] मानव-जीवन के लिए ध्वनि की शक्ति अपरिमित है। मन्त्र-तन्त्र, यन्त्र, सगीत, साहित्य तथा विज्ञान आदि में इस की विशिष्ट शक्तियों का उल्लेख निहित है। सम्पूर्ण वायुमण्डल मे ध्वनि अव्यक्त रूप से व्याप्त रहती है। केवल बाह्य जगत् मे ही नहीं, आन्तरिक लोक मे भी एव तीनो लोक में ध्वनि का अस्तित्व किसी न किसी रूप मे पाया जाता है। सामान्यतः ध्वनि शरीर-व्यापार की वह क्रिया है, जिसे श्वासोच्छ्वास लेने की क्रिया कहा जाता है। ससार की लगभग सभी भाषाओं (अफ्रीकी तथा वहाँ की आदिवासी लोगो की भाषाओ को छोड़ कर) मे फेफड़े से निःसृत होने वाली वायु ध्वनि का निर्माण करती है। प्रसिद्ध ध्वनिविद् पाइक के अनुसार एक ध्वनि या तो भाषण-ध्वनि, एक स्वन हो सकती है अथवा एक ध्वन्यात्मक अश; यह शब्द अस्पष्ट है, पर सुविधाजनक।[2] यथार्थ मे ध्वनि विभिन्न प्रसगो में भिन्न-भिन्न अर्थ की वाचक है। यदि कोई ध्वनि की परिभाषा बुद्धि द्वारा उत्पन्न तथा श्रोत्र-गृहीत सवेदन शीलता के रूप मे करे तो वहाँ कोई ध्वनि नही होगी। किन्तु यदि उस की परिभाषा सवेदनशीलता को उत्पन्न करने मे सक्षम के रूप मे की जाती है तो वहाँ ध्वनि होगी, किन्तु यह सत्य है कि वहाँ सुनने के लिए कान नही होगे। भौतिकशास्त्र के अनुसार द्रव्य गति मे ध्वनियो को उत्पन्न करता है। इसलिए घण्टा या किसी वाद्य के ध्वनित होने के पूर्व उस पर टोका या आघात किया जाना आवश्यक होता है। जिस स्थान से ध्वनि उत्पन्न होती है, यदि उस का स्पर्श किया जाए तो हम उस की गति का अनुभव कर सकते हैं, जिसे कम्पन कहते हैं। ध्वनि कम्पनशील गति के अतिरिक्त कुछ नही है।[3] इसे हम जब किसी माध्यम के द्वारा निर्दिष्ट करना चाहे तो कह सकते है कि यह वायु के सक्षोभ तथा श्रोत्र इन्द्रिय के मध्य एक माध्यम है। ध्वनि कहीं से भी और किसी भी रूप मे उत्पन्न हो सकती है। वह मन्त्रात्मक हो सकती है, सगीतात्मक तथा प्राकृतिक भी। किन्तु हमारा यहाँ अभिप्राय भाषण-ध्वनि (Speech sound or Phon) से है। यथार्थ में भाषण मे परिलक्षित होने वाली कई ध्वनियाँ भाषा मे नही मिलती। स्फुट होने पर भी भाषा मे स्वच्छन्दता से उन की उपेक्षा की जाती है। सामान्य कथन के लिए भाषण-ध्वनि वाक् (Speech) का वह पृथक्कृत

उच्चारात्मक अंश है, जो कम से कम एक और अधिक से अधिक दो खण्डों से निर्मित होता है तथा एक ध्वनि-ग्राम के रूप में संश्लिष्ट हो सकता है।[४] जब कभी दो खण्ड, चाहे वे सासर्गिक हों या चाहे असासर्गिक, उसी उच्चारणात्मक विधि से उत्पन्न किए जाते हैं और भौतिक श्रौत-सृष्टि मे समान होते हैं तब उन्हें ध्वन्यात्मक इकाई या स्वन कहा जाता है।[५] भाषाशास्त्री को इस प्रकार के मानवीय व्यवहार का अध्ययन करना पड़ता है—विशेषरूप से ध्वनि सज्ञापकों की पद्धति का, जो ऐच्छिक रूप से प्रयुक्त होकर ग्रहण की जाती है। इस प्रकार के ध्वनि-संज्ञापकों को वैयक्तिक ध्वनियों या अकेले उत्पन्न स्वीकार्य पुनरावृत्त अथवा मूर्त रूपों मे दर्शाया जा सकता है। एक ध्वनिविद् का तात्त्विक तथा मुख्य कार्य यही होता है कि इन पुनरावृत्त भाषण-ध्वनियों की पहचान कर वर्णन करे। ध्वनि-विज्ञान के अन्तर्गत इन भाषण-ध्वनियों का विशेष रूप से अध्ययन किया जाता है।[६]

भाषाशास्त्र मे भाषिक तत्त्वों का सम्बन्ध मुख्य रूप से वाक्-व्यवहार-रूपों से है। प्रत्येक भाषा के तत्त्वों की व्याख्या करते समय भाषाशास्त्री उन का सम्बन्ध शरीर-व्यापार की क्रियाओं से या वाक् की ध्वनि-तरंगों से विस्तार रूप मे नहीं, वरन् कुछ विलक्षणता के साथ यान्त्रिक ढग से स्थापित करता है। प्रत्येक तत्त्व भाषा मे प्रश्नवाचक रूप मे कुछ वाक्-रूपों के साथ पहचाना जाता है।[७] ध्वनिविज्ञानी इससे सहमत हैं कि वाक् की रचना श्वासोच्छ्वास के वर्गों में सतत ध्वनि-प्रवाहों से होती है, और ध्वनि इन का पृथक्कृत रूप है।[८]

भौतिक-विज्ञान के अनुसार ध्वनि मात्र प्रकम्पन की प्रक्रिया है। बिना कम्पन की क्रिया के ध्वनि उत्पन्न नहीं हो सकती, किन्तु ध्वनि वायु तरग मात्र नहीं है। यथार्थ में ध्वनियाँ केवल कम्पन से सम्बन्धित नहीं हैं, किन्तु प्रायः प्रत्येक ध्वनि या तो कम्पन से उत्पन्न होती है अथवा किसी प्रकार की आकस्मिक क्रिया से।[९] इसका उत्पादन-पक्ष श्रवण-पक्ष से संयुक्त है। ध्वनियाँ तो अनन्त उत्पन्न होती हैं और क्षण भर मे अनन्त आकाश मे विलीन हो जाती हैं, किन्तु भाषाशास्त्र में श्रोत्रगृहीत ध्वनि ही वास्तविक ध्वनि है। ध्वनि सुनाई कैसे पड़ती है? इस का भी सिद्धान्त है। जिस श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा हम ध्वनि सुनते है उसमे अवस्थित झिल्ली की अधिकतम उत्तेजना तथा 'काल-रूप' (Time pattern) जो वहन कर उस उत्तेजना को नाडियों के द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचाता है—की स्थिति पर बहुत कुछ निर्भर है।[१०] जब ध्वनि कर्ण मे स्थित नली के द्वारा झिल्ली में पहुँच कर टकराती है तब मस्तिष्क में फैले हुए ज्ञानतन्तु उसे ग्रहण कर लेते है। किसी कारणवश यदि कान का पर्दा फट जाए तो मनुष्य बहरा हो जाता है। उस दशा में ज्ञानतन्तुओ के रक्षित होने पर भी ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती। इसी प्रकार ध्यान या उपयोग के विकेन्द्रित होने पर अथवा उसके अभाव मे भी सुनाई नही पड़ता। जैन-दर्शन के अनुसार सुनने मे भी एक क्रम रहता है। इन्द्रियाँ प्रथम स्थूल रूप को पकडती हैं, फिर क्रमशः सूक्ष्म रूप को। ध्वनि को पौद्गलिक कहा गया है। प्रकम्पनशील शरीर पौद्गलिक वर्गणाओं को अपनी ओर आकर्षित करता है, जिससे

ध्वनि-सृष्टि होती है। ध्वनियों के सुनाई पडने वाले क्रम को अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के संकेतों में स्पष्ट किया गया है। इन्द्रिय और पदार्थ का संयोग दर्शन है। इसे बौद्धदर्शन में "सामीप्य" तथा नैयायिक दर्शन में "सन्निकर्ष" कहा जाता है। ध्वनि हमारे कानों तक कैसे पहुँचती है, इस का भी सिद्धान्त है। जीवाणुविषयक सिद्धान्त (Corpuscular theory) के अनुसार ध्वनि-उत्पादक स्थान से छोटे-छोटे टुकडे निकलते है, जो इन ऑखों से नही दिखलाई पडते, लेकिन हमारे कानों को छू कर ध्वनि का अनुभव कराते है। किन्तु लहर का सिद्धान्त (Wave theory) है—ध्वनि उत्पादक शक्ति केन्द्र के समान कार्य करता है। वह वायु में लहरे उत्पन्न करता है, लहरें कानों में टकरा कर ध्वनि का अनुभव कराती हैं। ध्वनि में आवर्तन, परावर्तन (प्रतिध्वनि) और विवर्तन (लहरों के मोड) की सृष्टि होती है। ध्वनियाँ उत्पन्न होते समय चारों ओर लहरें बनती है। ये वायु की तहों में कम्पन करती हुई आगे बढती हैं। इन लहरों से कम्पित वायु की तहें जब कान के परदों से टकराती है तब उनमें कम्पन होता है और ध्वनि सुनाई पडती है। ध्वनि की स्थूलता और सूक्ष्मता कम्पनकाल, कम्पनांक तथा कम्पनविस्तार पर निर्भर है। स्वस्थ मनुष्य के कान प्रति सेकेण्ड २० कम्पन की ध्वनि सुन सकते हैं। कुछ १६ कम्पन की ध्वनि सुन पाते है। इस की अधिकतम सीमा ४० हजार कम्पन तक प्रति सेकेण्ड है। इस प्रकार ध्वनि तरंगात्मक होने के साथ ही श्रोत्र-ग्राह्य कम्पनात्मक अनुभूति है।

विज्ञान की दृष्टि में प्रकाश से ध्वनि की गति अत्यन्त मन्द है। अतएव भाषक के द्वारा उच्चरित मूल रूप हमे कभी सुनाई नहीं पडता। हम मिश्रित और वासित शब्दों को ही सुनते है। ये सभी दिशाओं में फैलते हुए सम श्रेणी में गतिमान होते है।[११] फिर, स्वर-ध्वनियाँ एक-दूसरे से भिन्न क्यों होती है? इसका भी एक सिद्धान्त है। स्थिर सुर-सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक स्वर प्रतिबन्धित सुर-क्षेत्रों की अपेक्षा एक या एक से अधिक गुण-दोषदर्शक लक्षण माना जाता है, जो कि मूलतः स्वर-तान के रूप में स्वतन्त्र होते है। सापेक्षित सुर-सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक स्वर के गुण-दोषदर्शक लक्षण तानों की विशेष श्रेणियों पर आधारित है, जिनकी क्षिप्रता निश्चित एवं नियत मौलिक सम्बन्ध पर निर्भर है।[१] इस प्रकार स्वर-ध्वनियों की भिन्नता का कारण निश्चित एवं नियत और कम अधिक सुर तथा तानों से सम्बन्धित है। इन का विशेष विवरण इसी अध्याय में आगे दिया गया है।

ध्वनि कैसे उत्पन्न होती है?

यह ऊपर कहा जा चुका है कि ध्वनि तरंगात्मक होती है। तरंग वायु के आश्रित रहती है। वायु की क्रिया या प्रतिक्रिया तरंग को उत्पन्न करती है। मुख्य रूप से वायु दो प्रकार की कही गई है—शरीरस्थ और लोकगत। शरीरस्थ प्राण, उदान, समान, व्यान तथा अपान के भेद से पाँच प्रकार की है। सृष्टि में प्रवाहित होने वाली लोकगत वायु सात प्रकार की मानी गई है[१२]—प्रवह, आवह, उद्वह, संवह, विवह, परिवह तथा परावह। इन वायु-भेदों में से प्राण-वायु प्राणी मात्र के अस्तित्व का

कारण है। प्राणवायु ही जीवन का प्राण है और भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी कुछ प्राण के आश्रित हैं। महाभारत में प्राणवायु के समान, अपान, उदान और व्यान ये चार भेद कहे गए हैं।[१४] शरीरस्थ वायु से ही प्राणी मात्र की चेष्टा होती है। वायु शरीर की प्रत्येक क्रिया में प्रेरक है। वायु की क्षीणता तथा अभाव में शरीर निष्क्रिय एवं जड हो जाता है। प्राचीनो के अनुसार प्राणवायु ही मूल मे ध्वनि को उत्पन्न करने वाली है। शारीरिक क्रिया के पूर्व ध्वनि को उत्पन्न करने वाला व्यापार मानसिक कहा गया है। जब आत्मा बुद्धि के साथ कुछ कहने की इच्छा से मन से संयुक्त होता है तब मन शरीरस्थित जठराग्नि को उद्दीप्त करता है, जिस से वायु का सचरण होता है। वायु श्वसन-संस्थान मे सचरित होता हुआ वर्ण या ध्वनि को उत्पन्न करता है।[१५] शरीर-विज्ञान के अनुसार ध्वनियो का उत्पादन श्वसन-क्रिया की नियमितता से सम्बन्धित है। श्वासोच्छ्वास दो प्रकार के कहे गए हैं—शान्त और सशक्त। शान्त श्वासोच्छ्वास जीवन के लिए सतत एव अनिवार्य है। किन्तु सशक्त और ध्वन्यात्मक श्वासोच्छ्वास गौण व्यापार है, जिस का विकास अभिव्यक्ति के संचार के लिए हुआ है। अतएव ध्वन्यात्मक श्वासोच्छ्वास सहज ही भावात्मक प्रभावों से संक्षुब्ध हो जाता है।[१६] मनोविज्ञान के अनुसार उत्तेजना तथा प्रतिक्रिया के द्वारा ध्वनि उत्पन्न होती है। भौतिक-विज्ञान के अनुभव के अनुसार ध्वनि वायु के दबाव से उत्पन्न होने वाली विविध आकाशीय तरगो का आवर्तन-विवर्तन है। प्रयोगात्मक व्यवहार के लिए मानवीय उच्चारण—उपयोगी अवयवो से उत्पन्न ध्वनि को ग्रहण किया जाता है। जो ध्वनियाँ पर्याप्त श्रोत्रग्राह्य तथा शारीरिक प्रक्रिया से स्वेच्छा से नाम-रूप ग्रहण करती हैं उन्हे ध्वनि-विज्ञान के अन्तर्गत तीन वर्गों में कहा गया है – स्पर्शी, कम्पित तथा सघर्षी। भौतिकीय दृष्टि से उनके वर्ग है—नाडीय, सामयिक एव आकस्मिक। सामान्यरूप से ये ध्वनियाँ उच्चारण-गुहाओ के बाहर गतिशील वायु से निर्गत होकर या उच्चारण-गुहाओ मे प्रविष्ट होकर सचरण करती हुई वायु से उत्पन्न होती है।[१७] अधुनातन अमेरिकन हस्किन की प्रयोगशाला मे प्रायोगिको के एक दल ने यह प्रयोग किया है कि उच्चारणगत सन्दर्भ में वाक् (Speech) इन्द्रियगोचर होता है। वस्तुतः वह उच्चारणिक क्रियाओ तथा मस्तिष्क सम्बन्धी प्रभावो का श्रौतगत उत्तेजन एव वृत्त (event) के बीच मध्यवर्ती है, जिसे हम इन्द्रियविषय कहते हैं।[१८] इस प्रकार ध्वनि एक भौतिक घटना है। हमारे विभिन्न उच्चारणोपयोगी अवयवो तथा श्वासोच्छ्वास की क्रियाओं से वायु संचरणशील हो संक्षुब्ध होता है, जिस से ध्वनि-तरगें निकलती हैं; जो कि श्रोत्रग्राह्य होती है। ध्वनि-तरगे पदार्थ की भौतिक क्रियाएँ हैं। प्रायः ये वायु कण होते हैं, जिन का अस्तित्व शून्य मे नहीं होता।[१९] इन ध्वनि-तरगो के कम्पन से ही ध्वनि उत्पन्न होती है।

भाषा-ध्वनि

ध्वनियाँ वे कम्पन हैं जो क्षिप्रता, तीव्रता तथा समय-परिमाण मे कर्णेन्द्रिय से टकरा कर अपने गुणो के साथ श्रोत्रग्राह्य होते हैं तथा निश्चित इन्द्रियजनित अनुभव

प्रत्यक्ष करते हैं। ध्वनि-तरगें भी इसी प्रकार की एक पद्धति है।[१०] किसी भी वाक्-प्रवाह मे ऐसी ध्वनि को सुनते हैं। ध्वनिविज्ञानियो के अनुसार वाक् (स्पीच) ध्वनियों के उस सतत प्रवाह से निर्मित होता है, जो श्वास-प्रश्वासों का परिकर होता है तथा जिस से न तो ध्वनियों को और न शब्दों को पृथक् किया जा सकता है।[११] भाषा-ध्वनियॉ किसी भाषा मे पाई जाने वाली वे ध्वनियाँ हैं, जिन का उच्चारण एक विदेशी ठीक से नही कर पाता। उस की उच्चारणात्मक अभ्यस्त क्रिया से वे भिन्न होती हैं। इसलिए उस के लिए वे सर्वथा नवीन ध्वनियॉ होती हैं। किसी नौसिखिए अन्य भाषाभाषी को जब हम अपनी भाषा बोलते हुए सुनते हैं तब इसीलिए हम हँस पडते है कि उस के उच्चार ठीक नही होते। ससार की सभी भाषाओं मे कुछ-न-कुछ निजी विशिष्ट ध्वनियॉ होती है। सामान्य ध्वनियो की भी उच्चारण-पद्धति परस्पर भिन्न लक्षित होती है, क्योकि भाषा-ध्वनियॉ सदा सार्थक होती हैं। उन के उच्चारण मे भाषणोपयोगी अवयवों को निश्चित, ऐच्छिक एवं विशिष्ट रूप धारण करना पडता है।

भाषण-ध्वनि

सामान्यरूप से भाषा के सन्दर्भ मे जिन उच्चरित ध्वनियों का व्यवहार होता है, वे भाषण-ध्वनि (Speech-sound) कही जाती हैं। श्री डेनियल जोन्स ने इस शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट प्रकार के ध्वनिग्राम के लिए किया है, जो कि एक निश्चित आवयविक स्थिति एवं नियत श्रोत्रिक गुण है, और जो भिन्नता प्रकट करने मे असमर्थ है। इस प्रकार कीप (Keep), कूल (Cool), काल (Call) की प्राथमिक ध्वनियाँ 'क' अक्षर वाली होने पर भी तीनो भिन्न भाषण-ध्वनियाँ हैं।[१२]

भाषण-ध्वनि एक ध्वन्यात्मक इकाई है, किन्तु ध्वनिग्राम एक परिवार है। इसे वाग्ध्वनि भी कहा गया है। भाषण-ध्वनि वाक् इन्द्रिय के द्वारा उत्पन्न तथा श्रौतगुणो से युक्त होने के कारण वाग्ध्वनि के नाम से अभिहित की गई है। यथार्थ मे भाषा मे प्रमुख रुप मे ध्वनि गतिशील लक्षित होती है। उच्चारों के रूप मे प्रयुक्त होने वाली ध्वनियॉ किस प्रकार से व्यवहृत होती है, भाषण-ध्वनियो के रूपो मे इन का विश्लेषण किया जाता है। यद्यपि किसी एक भाषा के बोलने वालों के उच्चार समान प्रतीत होते है, किन्तु उनमे कुछ-न कुछ अन्तर अवश्य रहता है। इसी प्रकार जब बोलने वाला किसी विशिष्ट ध्वनि का एक से अधिक बार उच्चारण करता है तो उस के प्रत्येक बार मे उच्चारण मे कुछ न-कुछ अन्तर अवश्य आ जाता है। उदाहरण के लिए— परिवार, तडप, आतप, पान, तापना आदि शब्दो मे अभिहित 'प्' ध्वनि का उच्चारण सभी मे यत्किंचित् भिन्न है। यही नहीं, केवल 'गॉव' शब्द मे पॉच बार उच्चरित 'ग्' ध्वनि पॉचो बार भिन्न होती है। यद्यपि साधारणतया यह अन्तर सहज ग्राह्य नहीं है, किन्तु आधुनिक आविष्कारो ने ऐसे ध्वनियन्त्रों को उपलब्ध कर दिया है, जिन की सहायता से किसी भी ध्वनि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदो प्रभेदो को जाना जा सकता है। यदि हम

ध्यानपूर्वक विचार करें तो मनुष्य प्रतिदिन अपरिमित स्वनों (ध्वनितत्त्वों) का उच्चारण करता है। इन मे से सभी स्वन महत्त्वपूर्ण नहीं होते है, इसीलिए स्वनशास्त्री मानव-मुख से निःसृत अनेक स्वनों को साम्य एव वैषम्य के आधार पर कतिपय समूहों मे वर्गीकृत करता है, जिस के प्रत्येक सदस्य को 'स्वन-प्रकार' अथवा 'ध्वनि' की संज्ञा से अभिहित कर सकते हैं।'[३]

बोली जाने वाली भाषा ध्वनि श्रेणियो से समन्वित होती है, जिसे ध्वनियाँ या रैखिक अथवा खण्डीय वाग्रूप भी कहते हैं। ये ध्वनि-श्रेणियाँ मुख्यरूप से भाषण-ध्वनियों एवं श्रुतियो के द्वारा निर्मित होती हैं। भाषण-ध्वनियाँ निश्चित भौतिकीय प्रयत्नों के द्वारा ऐच्छिक रूप से उच्चारणोपयोगी अवयवो द्वारा उत्पन्न की गई नियत एव निश्चित क्रियाओ का परिणाम है। श्रुति आकस्मिक रूप से संक्रमणशील होने वाली ध्वनि है— जब भाषणावयव एक भाषण-ध्वनि दूसरी भाषण-ध्वनि की स्थिति के लिए प्रत्यक्षतः सक्रिय होते है।'[४] इस प्रकार भाषण-ध्वनियाँ ऐच्छिक होती हैं। ध्वनि-विज्ञान के अन्तर्गत इन्ही भाषण-ध्वनियो का अध्ययन किया जाता है। ध्वनियों का अध्ययन तीन दृष्टियों से किया जाता है—

(१) शरीर-रचनाविज्ञानात्मक या उच्चरित ध्वनि के रूप मे। यह ध्वनिविज्ञान का परम्परागत प्रकार है। (२) भौतिकविज्ञानात्मक या वाक् रूप मे उच्चरित शब्द-लहरियों के अध्ययन के रूप मे। यह ध्वनितत्त्वविज्ञान की नवीन प्रणाली है। (३) मनोविज्ञानात्मक या भाषण-ध्वनियो की सवेदनीयता की मीमासा के रूप मे।

उच्चार शारीरिक शक्ति का स्नायविक प्रयत्नों के द्वारा प्रकट होने वाला फैलाव कहा गया है, जो कि दैहिक क्रियाओं के साथ सुना जा सकता है। यथार्थ मे मनुष्य की सजीव वाणी का अध्ययन करना एक बहुत बड़ा कार्य है। एक व्यवस्थित क्रम मे विचार करने के लिए हमे सम्पूर्ण सामाजिक व्यवहार के साँचे का अध्ययन करना पड़ता है, जिसे वाक् कहा जाता है। इस के वर्णन की विशिष्ट विधि तथा वर्गीकरण को वाक्-तत्त्व कहा गया है, जो विश्लेषण मे पृथक् है।'[५] वैज्ञानिक उपकरणो के द्वारा किए गए अप्रत्यक्ष अनुसन्धानों को छोड़ कर हमें अपनी वाक्-क्रियाओं के सम्बन्ध में मुख्य रूप से तीन प्रकार की सूचना मिलती है।

(१) बाहरी ओर से सुनाई पड़ने वाली अपनी वाणी, एव यथार्थ मे अनुभूत होने वाली कण्ठगत वायवीय क्रियाएँ तथा दर्पण में दिखाई पड़ने वाली मुख की क्रियाएँ।

(२) वास्तव मे अन्तरग में सक्रिय रहने वाली मास-पेशियो की क्रिया तथा उन की स्थिति।

(३) अन्तर के अनिश्चित प्रभाव।

इस प्रकार मास-पेशियों के कारण उत्पन्न होने वाली वाणी और वायु के सहारे हमारे पास तक आने वाली वाणी या वाक् में अन्तर है।'[६]

आज हम ध्वनि-विज्ञान का अध्ययन स्पष्टरूप से तीन विभिन्न शाखाओं के अन्तर्गत कर सकते है। पिछले एक दशक मे इन शाखाओ मे पर्याप्त विकास हो चुका है। ये इस प्रकार है—

(१) स्वन-विज्ञान या ध्वनि-विज्ञान (Phonetics) इसके अन्तर्गत भाषण-ध्वनियों का पृथक्-पृथक् विश्लेषण कर अध्ययन किया जाता है।

(२) स्वनिम-विज्ञान या ध्वनिग्राम-विज्ञान (Phonemics) इसमे विभिन्न ध्वनियों के परस्पर के अन्तर को निर्दिष्ट कर स्वनिम या सस्वन का अध्ययन किया जाता है।

(३) रूपस्वनिम-विज्ञान या पद-ध्वनिग्रामीयविज्ञान (Morphology) यह रूपगत ध्वनियों के अध्ययन की विधा है।

सभी प्रकार के वैयक्तिक रंगीन वाक्—व्यक्तिगत रूप से दबाकर उच्चार करना, गति, व्यक्तिगत लय तथा अतात्त्विक भाषिक है, ठीक उसी प्रकार से जैसे कि इच्छा और भाव की आकस्मिक अभिव्यक्ति। इस के अतिरिक्त ध्वनि का भौतिक गुण उच्चारण पर निर्भर है। भाषातत्त्व मे गुण मुख्य वस्तु है, गौण नहीं। गुण से यहाँ अभिप्राय स्वाभाविक प्रकृति और ध्वनि की प्रतिध्वनि से है।* किसी भी निर्दिष्ट भाषा की ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति की परिभाषा नहीं दी जा सकती—विशेषकर यह बताते हुए कि ये ध्वनियाँ सभी ध्वनियो में विशिष्ट हैं। इस में महत्वपूर्ण तथ्य इन ध्वन्यात्मक तत्त्वो की सचरणशीलता का है, क्योकि किन्हीं दो भाषाओ की रचना स्वर और व्यजनो की समान श्रेणियों में होने पर भी उच्चारगत भिन्नता मे परिलक्षित होती है। किन्तु उनमें से किसी एक के ध्वन्यात्मक परिमाण की भिन्नता पहचानी नहीं जा सकती।[२८]

ध्वनि तथा ध्वनिग्राम

ध्वन्यात्मक विवेचन मे भाषण-ध्वनियों के अन्तर्गत एक ही भाषा में प्राप्त होने वाली सभी ध्वनियो का विचार किया जाता है, जो एक परिवार की होती हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि भाषण-ध्वनि एक ध्वन्यात्मक इकाई है। इस मे किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है। अतः ध्वनि से हमारा अभिप्राय भाषण-ध्वनि या भाषा-तात्त्विक ध्वनि से होता है, जो अपने आपमें स्वतन्त्र होती है। वाग्ध्वनियो के विशाल परिवार में ध्वनि एक लघुतम इकाई है। शब्द मे ध्वनियों का प्रयोग पृथक्-पृथक् न होकर सयोगरूप मे होता है। विभिन्न सयोगों के कारण एक ही ध्वनि अन्य ध्वनियो से सश्लिष्ट होकर वहाँ भिन्न स्थान से उच्चरित होने के कारण पृथक् नाम से अभिहित की जाती है। उदाहरण के लिए हिन्दी के 'नदी' तथा 'दिन' शब्द के उच्चारण मे 'द्' दन्त्य-नासिक्य ध्वनि है, किन्तु 'दल' और 'दम' मे सघोष-अल्पप्राण, कण्ठ्य-स्पर्श-ध्वनि है। डॉ० धल के शब्दो में हिन्दी भाषा के 'किया' और 'कुआँ' इन दो शब्दो मे पाई जाने वाली कण्ठ्य-ध्वनि, जिसे हम साधारणतया । क । (आई० पी० ए० [K])

कहते हैं, समान प्रतीत होने पर भी भिन्न है।"[९] ऐसी न जाने कितनी ध्वनियों का उच्चारण हम प्रतिदिन के व्यवहार मे करते है। यथार्थ में यह भिन्नता इतनी सूक्ष्म और अल्प होती है कि सामान्य रूप से हम उसे समझ नहीं पाते। इतना ही नही, किन्हीं दो व्यक्तियों के द्वारा उच्चरित ध्वनियाँ कभी पूर्णतः समान नहीं होतीं; किन्तु उन्हें हम साधारणरूप से कभी लक्ष्य नही कर पाते। वास्तव मे उच्चरित ध्वनियाँ इतनी गतिशील और सवेदनीय होती है कि हम उनसे अभिप्राय जान कर तुरन्त विरत हो जाते हैं, किन्तु वे ध्वनियाँ परस्पर सम्बद्ध रहती है। इन ध्वनियों के परिवार को ध्वनिग्राम कहा जाता है। ये ध्वनियाँ किसी एक परिधि या परिवेश तक उच्चारगत अर्थ की दृष्टि से भिन्न प्रतीत नही होती। इसलिए सुनने वाला परिचित ध्वनि के रूप मे ही उसे सुनता है। कहा जाता है कि उच्चारण का विस्तृत क्षेत्र एक परिधिगत होता है। उसमे असंख्य बिन्दु होते हैं, जो उस से सम्बद्ध रहते हैं। किन्तु डॉ० द्विवेदी मिलती-जुलती ऐसी ध्वनियों या ध्वनिगुणों के भावानयन को स्वनिम या ध्वनिग्राम मानते है।[१०] कार्य की दृष्टि से नेल्सन फ्रान्सिस की यह परिभाषा अधिक महत्त्वपूर्ण है कि "ध्वनिग्राम ऐसे स्वनप्रकारो का समूह है जो ध्वन्यात्मक दृष्टि से समान तथा 'परिपूरक वितरण' या 'मुक्त परिवर्तन' मे होते है[११]।"

प्राचीनो के अनुसार वाणी के चार रूप माने गये है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। परा और पश्यन्ती वाणी योगियो की समाधि की दशा में क्रमशः निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ज्ञान के रूप मे प्रकट होती है। मध्यमा इन दोनो तथा वैखरी के बीच की स्थिति का नाम है। वैखरी 'विखर' अर्थात् मुख मे उत्पन्न होने के कारण वैखरी कही जाती है। परावाक् को परमतत्त्व या शब्दब्रह्म अथवा साक्षात् ब्रह्म माना गया है। ध्वनि से हमारा अभिप्राय वैखरी से होता है। परावाणी की सर्वोत्कृष्ट, सूक्ष्म तथा नित्य स्थिति है। जब शब्द उत्पन्न होता है तब वैखरी की स्थिति होती है। जब शब्द श्रुतिगोचर हो जाता है तब मध्यमा होती है और जब शब्द से अर्थ द्योतित होने लगता है तब पश्यन्ती की स्थिति कही जाती है।[१२] वाक् तत्त्व उतना ही व्यापक माना गया है, जितना कि ब्रह्म।

वैयाकरणो के मत मे ध्वनि स्फोटमूलक है। स्फोट शब्द है, क्योकि उस से अर्थ स्फुटित होता है और ध्वनि शब्द का गुण है। दोनो मे व्यग्य-व्यजक सम्बन्ध है। ध्वनि व्यंजक है और शब्द व्यग्य। शब्द कर्ण से उपलब्ध होने वाला, बुद्धि से ग्राह्य, ध्वनि से प्रकाशित होने वाला और आकाश मे व्याप्त रहने वाला है।[१३] आचार्य पतंजलि के अनुसार लोक-व्यवहार में ध्वनि शब्द से भिन्न नहीं है। जिस के उच्चारण से गलकंबल, पूँछ, ककुद, खुर और सीग वाले प्राणी का ज्ञान होता है उसे शब्द कहते है। अथवा व्यवहार मे पदार्थों का ज्ञान कराने वाली जो ध्वनि है, उसे लोक मे शब्द कहा जाता है। जैसे कि—शब्दोच्चार करो। शब्दों का उच्चारण मत करो। यह बालक शब्दोच्चार करने वाला है इत्यादि वाक्यों में ध्वनि करने के सम्बन्ध मे

कहा गया है। इसलिए ध्वनि या वर्णोच्चार शब्द है।[३७] वैयाकरण शब्द को नित्य मानते है और इसी अपेक्षा से शब्द को ब्रह्म कहते है। शब्द में स्फोट और ध्वनि दोनो तत्त्व निहित रहते है। जिन ध्वनिरूप शब्दो का उच्चारण किया जाता है, वे वैखरी वाणी के अग होते है।

वैयाकरण और मीमासको के अतिरिक्त जैनदर्शन भी शब्द को ध्वनिरूप मानता है, किन्तु वह ध्वनियो को क्षणिक, स्फोटमूलक और नित्य नही मानता। उस के अनुसार—जैसे मूर्त और क्रियावान् दीपक के द्वारा मूर्त और सक्रिय घट आदि अभिव्यक्त होते है वैसे न तो ध्वनियाँ मूर्त और क्रियाशील है और न स्फोटमूलक ही। अतः शब्द ध्वनिरूप ही है। वह नित्यानित्यात्मक है। वस्तु की दृष्टि से ध्वनि पुद्गलरूप है, इसलिए नित्य है। किन्तु ध्वनि कानो से ग्रहण की जाती है, जिस क्षण ग्रहण की जाती है उस क्षण ध्वनि है, शेष समय मे ध्वनि नही है। अतः पर्याय की अपेक्षा से वह क्षणिक है।[३९]

इस प्रकार प्राचीनो का विचार ध्वनिग्राम के अधिक निकट है, क्योकि उन के अनुसार स्फोट अर्थमूलक होता है। ध्वनि से उनका आशय 'वर्णस्फोट' प्रतीत होता है। अतः उस मे ध्वनि और अर्थ दोनों गर्भित रहते है। किसी शब्द को सुनकर प्रकृतरूप मे हमारे मानस मे जो नित्य रूप वर्तमान रहता है, वह वर्ण-समूह को सुन कर उद्बुद्ध हो जाता है। इसे वर्णस्फोट कहा जाता है। अतः प्राचीन वैयाकरण जिसे वर्ण-स्फोट कहते हैं, उसे आधुनिक भाषातत्त्वज्ञ 'ध्वनिग्राम' नाम से पुकारते है।[३१] किन्तु भाषाशास्त्र मे ध्वनि से तात्पर्य वाकृतत्त्व या भाषण-ध्वनि से है; न कि वर्ण या शब्द से। वर्ण लिखित ध्वनि का प्रतीकात्मक रूप है। ध्वनि मे अर्थतत्त्व प्रधान नही होता, किन्तु ध्वनिग्राम मे अर्थ की भेदकता स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। इसलिए शाक और शाक, *मन और मान एव धन और धान आदि युग्मो मे ध्वनियाँ समान* होने पर भी ध्वनिग्राम भिन्न-भिन्न हैं।

वैयाकरण की भाँति साहित्यशास्त्री भी ध्वनि को भाषातत्त्वज्ञ से भिन्न मानता है। जहाँ पर शब्द तथा उसका अर्थ व्यजक होता है, उसे ध्वनि कहते हैं। काव्यशास्त्र मे ध्वनि से अभिप्राय व्यग्य मे है।[३०] अतएव ध्वनिमूलक काव्य व्यग्यार्थ या उत्तम काव्य (Suggestive poetry) कहलाता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन का समर्थन किया है। उन का यह भी कथन है कि जिन शब्दो से या अर्थो से अन्य अर्थ ध्वनित होते है, वे व्यजक अर्थ सामान्य रूप से साधारण होते हैं। इसलिए लक्षणा से बाध्य अर्थ व्यग्य नही कहलाता, किन्तु गम्यमान अर्थ व्यग्य कहा जाता है।[३८] ध्वनिवादियो ने रस, गुण, अलकार तथा वाच्य आदि सभी के मूल मे व्यग्य की अवस्थिति मानी है। इस प्रकार काव्य की अर्थवत्ता तथा रसात्मकता के मूल मे व्यग्य की चारुता तथा उत्कृष्टता को स्वीकार कर साहित्यशास्त्रियों ने भाषा के मूल तत्त्व ध्वनि को सर्वमान्यता प्रदान की है। यद्यपि दार्शनिक, वैयाकरण तथा काव्यशास्त्री ध्वनियों को सार्थक मानते है, किन्तु वे भाषा का मूल ध्वनि को

किसी-न-किसी रूप में अवश्य मानते हैं। आज की भाषा मे हम उसे 'ध्वनिग्राम' कह सकते हैं।

अक्षर

'अक्षर' शब्द प्राचीन तथा पारिभाषिक है। वेदो में कई स्थलों पर यह दृष्टिगत होता है। अक्षर का सामान्य अर्थ अकारादि वर्ण है।[३९] प्राचीनतम वैयाकरणों ने वर्ण को अक्षर कहा है। अक्षर का शब्दार्थ है—जो घटता नही है अथवा नष्ट नहीं होता है।[४०] अक्षर को अविनाशी मान कर जहाँ उसका स्वतन्त्र अस्तित्व दर्शाया गया है वही लिखित रूप मे वर्ण एव व्यापक रूप मे स्फोटरूप माना गया है।

आधुनिक भाषा-तत्त्वज्ञो के अनुसार अंग्रेजी मे जिसे 'सिलेबिल' कहते हैं उसके लिए ही 'अक्षर' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'सिलेबिल' ग्रीक शब्द 'सिलेब' (Syllabē) से विकसित हुआ है। उसका अर्थ है—जो एक मे बाँधा या रखा गया हो। उच्चारण की दृष्टि से एक या एक से अधिक ध्वनियो की वह अव्यवहित इकाई, जिसका उच्चारण एक झटके मे किया जा सके, अक्षर कहलाती है। इस लक्षण के अनुसार एक ध्वनि एक अक्षर भी हो सकती है। किन्तु ऐसा तभी होता है जबकि वह ध्वनि स्वर या स्वरवत् आक्षरिक ध्वनि हो। उदाहरण के लिए—'आ' एक ध्वनि है, 'जा' दो ध्वनि है, 'काम्' तीन ध्वनि है, 'क्रम' चार ध्वनि है, 'प्रश्न' पाँच और 'स्वास्थ्य' छह ध्वनियाँ है। कभी-कभी ध्वनियाँ और अक्षर बराबर भी हो सकते हैं; जैसे कि—अ, ओ मे दो ध्वनि और दो अक्षर हैं तथा आ, इ, ए मे तीन ध्वनि, तीन अक्षर है।[४१]

देवनागरी लिपि आक्षरिक है। क, ख, ग आदि अक्षर है और क्, ख्, ग् आदि व्यजन है। कुछ विद्वानो के अनुसार 'अक्षर' स्वाभाविक लघुतम ध्वनि-इकाई या गह्वर (Coda) से संयुक्त अथवा रहित मुखर शीर्ष हैं। ब्लूम फील्ड ने अक्षर मे मुखरता शीर्ष (Crest of Sonority) को अनिवार्य रूप से माना है और उसी को उन्होंने आक्षरिक कहा है। स्टेट्सन की मान्यता है कि अक्षर एक गत्यात्मक इकाई (Motor Unit) है। साधारण रूप से हम अक्षर से यह समझते हैं कि 'यह ध्वनि अथवा ध्वनि-सयोगमूलक इकाई है। इसका उच्चारण बिना किसी व्यवधान के एक झटके मे होता है।[४२] हेफनर ने कार्य-कलाप की दृष्टि से भाषण-ध्वनियों को दो वर्गों मे विभाजित किया है। प्रथम भाषण-ध्वनियाँ आक्षरिक हैं और द्वितीय अनाक्षरिक। आर० एच० स्टेट्सन की मान्यता को दुहराते हुए वे उसे वास्तविक और गतिमूलक मानते हैं।[४३] मुखरशीर्षता ध्वनि का एक गुण है, जिसके आधार पर उसकी पूर्णता, दीर्घता आदि लक्षित होती है। मुखरता सापेक्षिक सत्य है। इसके कारण ही अक्षर में किसी एक स्वर का होना अनिवार्य माना जाता है। निरुक्त के प्रसिद्ध व्याख्याकार श्री दुर्गाचार्य के अनुसार अक्षर का अर्थ स्वर है। ऋक्प्रातिशाख्य मे भी 'स्वरो अक्षरम्' अर्थात् स्वर को अक्षर कहा गया है। वस्तुतः स्वर अक्षर का एक अनिवार्य तत्त्व है। दूसरे शब्दों मे स्वर ही अक्षर का आधार है। भारतीय

४

वैयाकरणों ने अक्षर का उच्चारगत आधार सम्पूर्ण ध्वनि को माना है। इसलिए यदि व्यजन का पूर्ण प्रबलता के साथ उच्चारण किया जाए तो वह भी एक स्वतंत्र अक्षर हो सकता है। सामान्यतया 'स्वयं राजन्तेति स्वराः' अर्थात् जो अपना शासन स्वयं करते हैं उन्हे स्वर कहा जाता है। नारदशिक्षा मे स्वर को अत्यन्त सबल और व्यजन को दुर्बल कहा गया है।[४४] अक्षर का मूलाधार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। उसकी महत्ता केवल मुखरता मे न होकर दीर्घता, श्वास के वेग और मुखरता मे निहित है। व्यजन मे स्वर की अपेक्षा मुखरता कम होती है। स्वर स्वतन्त्र होता है और व्यजन स्वर पर आश्रित।[४५] यथार्थ मे वैयाकरणो के विचारो के अनुसार अक्षर से अभिप्राय आक्षरिक ध्वनि से है, न कि उच्चरित ध्वनि से।[४६] स्वर और व्यजन का भेद निम्नलिखित रूपो मे उल्लिखित किया गया है :[४७]—

अक्षर की रचना स्वर से होती है :

स्वर व्यजन के साथ अथवा कभी-कभी अकेले भी अक्षर की सृष्टि करता है; अक्षर की सरचना स्वर से होती है, जो कि आदि के व्यजन या व्यजनो के साथ अन्वित होते है,

व्यजन स्वर के आश्रित रहता है :

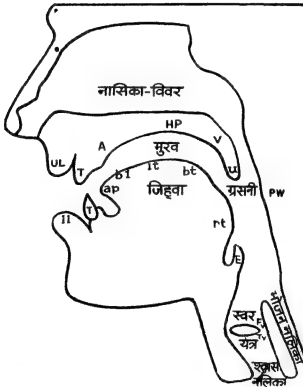
व्यजन स्वतन्त्र रूप से अवस्थित नही रहता, किन्तु स्वर स्वतन्त्र रहता है। तैत्तिरीयप्रातिशाख्य मे व्यजन को सापेक्ष और स्वर को निरपेक्ष कहा गया है। उसमे व्यजन की यह व्युत्पत्ति की गई है कि जो स्वर के द्वारा गतिशील होता है उसे व्यजन कहते है।[४८] व्यजन की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गई है। उव्वट के अनुसार 'वि' पूर्वक 'अज्' धातु से यह शब्द बना है, जिसका अर्थ है—प्रकट करना।[४९] प्रत्येक भाषा की शिक्षा प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम उस भाषा के स्वर और व्यजनो को सीखना पड़ता है। स्वर भाषा के मूल हैं, प्राणशक्ति के समान है और व्यजन प्राणो के आश्रित रहने वाले शरीर के समान है। अतः व्यजन की स्थिति सयोगमूलक है। स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष केवल स्वर हैं।

आधुनिक भाषातत्त्वज्ञो की विचारणा मे तथा प्रयोग की वैज्ञानिक विधि मे वस्तुतः अक्षर का सम्बन्ध गति से है। प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक पाइक के अनुसार अक्षर श्वसन-संस्थान की क्रिया आरम्भ करने वाले की स्पन्दनशील वह पृथक् इकाई है जो गति के किसी एक उच्च शीर्ष पर लक्षित होती है।[५०] शरीर विज्ञान के अनुसार कहा जा सकता है कि अक्षर वक्षस्थल की नाडियॉ है। किन्तु भाषाशास्त्र में वास्तविक अक्षर कहे जाते हैं, जिनमे श्रवणेन्द्रिय के द्वारा अन्तर निर्दिष्ट किया जा सकता है। केवल शारीरिक क्रिया के द्वारा ही नही, मानसिक प्रक्रिया मे भी ध्यान की स्थिति मे अक्षर की सृष्टि हो सकती है।[५१] किन्तु व्यवहार मे.हमारा उनसे कोई मतलब नहीं है।

ध्वनियन्त्र

भाषण-ध्वनियो का मूल आधार वायु है। श्वास के रूप में निकलने वाली वायु से भाषा की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। किन्हीं ध्वनियों के उत्पादन में फुफ्फुस से

मुखरन्ध्र में से होकर बाहर निकलने वाली वायु स्वाभाविक रूप से और किन्हीं ध्वनियों मे विकृत होकर तथा संघर्ष करती हुई बाहर निकलती है। वायु की इन विभिन्न क्रिया-प्रतिक्रियाओं के द्वारा विभिन्न ध्वनियों की सृष्टि होती है। शरीर के जिन अंगों में वायु सक्रिय होकर ध्वनियों का सर्जन करती है उनका वर्णन ध्वनियन्त्र के अन्तर्गत किया जाता है। मनुष्य और पशु-पक्षियों की भाषा मे बड़ा अन्तर है। इस अन्तर का मूल ध्वनियों में लक्षित होता है। इन ध्वनियों की भिन्नता का कारण ध्वनियन्त्र की भिन्नता है। ध्वनियन्त्र की भिन्नता में भी मुख्य रूप से जिह्वा की आकृति तथा



उसकी अवस्थिति है। मनुष्य का ध्वनियन्त्र एक अल्प परिधि मे सीमित है—मुख, नासिकाविवर तथा स्वरयन्त्र। यह ध्वनियन्त्र श्वास के भीतर जाने और फुफ्फुस से श्वास के बाहर निकलने पर संचालित होता है।[५२] वायु ध्वनियन्त्र के किस स्थान से किस प्रकार निकलती है और किस प्रकार विभिन्न ध्वनियों की सृष्टि करती है, यह जानने के लिए ध्वनियन्त्र के विभिन्न विभागों का परिचय पाना आवश्यक है। ध्वनियन्त्र के विभागों का परिचय निम्नलिखित है :—

वाक्-इन्द्रियाँ

(Organs of Speech)

स्थान : उच्चारण बिन्दु : POINTS OF ARTICULATION

उत्तरोष्ठ : ऊपर का होठ	:	–UL–	Upper Lip
दन्त	:	–TT–	Teeth
वर्स्व या वर्त्स	:	–A–	Alveolum (tooth ridge)
तालु : कठोर	:	–HP–	(hard) Palate
कोमल तालु	:	–V–	Velum (soft palate)
ग्रसनी का पिछला पृष्ठ	:	–PW–	Pharyngal Back Wall

करण : उच्चारण सहायक अवयव : ARTICULATORS

अधरोष्ठ : नीचे का होठ	:	–ll–	lower lip
जिह्वा की नोक	:	–ap–	apex
जिह्वाफलक	:	–bl–	blade
जिह्वाग्र	:	–ft–	front of tongue
जिह्वा-पश्च	:	–bt–	back of tongue
जिह्वा-मूल	:	–rt–	root of tongue
अलिजिह्वा	:	–u–	uvula
स्वरतन्त्री	:	–tv–	true vocal fold*

अन्य : अवयव : OTHERS.

स्वरयन्त्रावरण	:	–E–	Epiglottis
मिथ्या स्वरतन्त्री	:	–FV–	False Vocal Fold *

चित्र में प्रदर्शित अन्य अवयव

नासिका-विवर	–	Nasal Cavity
मुख-विवर	–	Mouth
जिह्वा	–	Tongue
ग्रसनी	–	Pharynx
भोजन-नालिका	–	Food-pipe
श्वास-नालिका	–	Wind-pipe
स्वर-यन्त्र	–	Larynx
मुख मार्ग	–	Faucal Passage

* केवल दायीं तन्त्री दिखाई दे रही है – Only the right hand fold is shown.

(१) ओंठ

वाग्ध्वनियों के उत्पादन में सबसे बाहरी अग ओंठ हैं। ओठ के दो विभाग है—ऊपर का ओंठ और नीचे का ओंठ। ओंठ से हमारा यहाँ अभिप्राय नीचे के ओंठ से है, जिसे संस्कृत मे अधर कहते हैं। ध्वनियों के उत्पादन मे नीचे का ओठ ही विशेष कार्य करता है। ओष्ठ तो केवल आच्छादन एव आवरण के लिए है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ऊपर का ओंठ बेकार है। अधर की क्रियाशीलता एवं निष्क्रियता मे उसका भी योग रहता है। क्योकि ओठों के खुलने और बन्द होने में दोनों क्रियाशील रहते हैं। परन्तु ध्वनियो को उत्पन्न करने में ओष्ठ की अपेक्षा अधर अधिक क्रियाशील परिलक्षित होता है। इसलिए भाषाशास्त्र में 'ओंठ' से अभिप्राय नीचे का ओंठ तथा 'दाँत' से आशय ऊपर की दन्तपंक्ति माना जाता है।[५३] वाग्ध्वनियो के उत्पादन मे ओंट का व्यवहार मुख्य रूप से निम्नलिखित परिलक्षित होता है :—

(क) पहली स्थिति वह है, जिसमें दोनो ओठ पूरी तरह से खुले हुए रहते हैं। यह संस्कृत वैयाकरणो के अनुसार ओष्ठ की विवृत (पूर्ण उन्मुक्त) स्थिति कही जाती है। हिन्दी 'आ' के उच्चारण मे ओंठ की यह स्थिति देखी जा सकती है।

(ख) दूसरी स्थिति मे ओठ पूरी तरह से बन्द रहते हैं। यह सवृत (संकुचित या बन्द) की स्थिति कही जाती है। इसमे दोनों ओठ पूरी तरह से मिले रहते हैं तथा स्फोट के साथ ध्वनि उत्पन्न करने मे सक्रिय होते है। हिन्दी मे 'प' का उच्चारण इसी स्थिति मे होता है।

(ग) तीसरी स्थिति मे ओठ सकुचित रहते हैं। यह अर्द्ध सवृत की स्थिति मानी जाती है। सस्कृत 'इ' के उच्चारण मे यही स्थिति कही जाती है।[५४] किन्तु हिन्दी मे इस स्थिति मे 'ए' का उच्चारण होता है। आधुनिक भाषाशास्त्री 'ए' को अग्र सवृत स्वर कहते हैं।

(घ) चौथी स्थिति मे ओठ कुछ खुले रहते हैं। यह ओठों की अर्द्ध-उन्मुक्त स्थिति कही जाती है। इसमे ह्रस्व 'ए' का उच्चारण होता है।

इनके अतिरिक्त ओठो की गोलाई तथा विस्तार की दृष्टि से तीन भागों मे विभक्त किया जाता है। स्वर विभाजन के प्रकरण में आगे चलकर इसका विवरण दिया गया है।

(२) दाँत

यह पहले ही कहा जा चुका है कि वाग्ध्वनियों को उत्पन्न करने मे नीचे की दंतपंक्तियों की अपेक्षा ऊपर की दतपंक्ति अधिक कार्य करती है। ऊपर की दतावलि में सामने वाले दाँत ही विशेष रूप से क्रियाशील लक्षित होते हैं। ये दाँत नीचे के ओंठ और जीभ की नोक के साथ मिलकर ध्वनि उत्पन्न करते हैं।

(३) वर्त्स

ऊपर के दाँतों के मूल से लेकर कठोर तालु के प्रारम्भिक तक फैला हुआ खुरदरा भाग वर्त्स कहा जाता है। यह स्थान विषम और जड़ कहा जाता है। क्योंकि यह स्वय क्रियाशील होकर ध्वनियो को उत्पन्न करने मे सहायक नहीं है। जीभ इसके विभिन्न भागों का स्पर्श कर तथा इसकी ओर अभिमुख होकर ध्वनि उत्पन्न करती है।

(४) कठोरतालु

वर्त्स या जबड़े के अन्तिम भाग से कोमलतालु के आरम्भ तक फैले हुए मुखरन्ध्र के ऊपरी भाग को कठोर तालु कहा गया है। यह एक कडा भाग है और मुखरन्ध्र मे एक मेहराब के समान स्थित है। वर्त्स की भाँति यह भी एक स्थिर तथा निष्क्रिय अंग माना जाता है।

(५) कोमलतालु

कठोरतालु के अन्तिम भाग मे कोमलतालु स्थित है। यह भाग कोमल मासखण्ड से व्याप्त होने के कारण कोमलतालु कहा जाता है। यह ध्वनियन्त्र का महत्त्वपूर्ण तथा क्रियाशील अवयव माना जाता है। कोमलतालु मुखविवर और नासिकाविवर के बीच मे किवाड के समान द्वार को बन्द करने और खोलने का कार्य करता है। जागते समय कोमलतालु पर नियन्त्रण रहता है, परन्तु सुप्त अवस्था मे इस पर से नियन्त्रण हट जाने के कारण साँस लेते समय यह फड़कने लगता है, जिससे खर्राटे की आवाज सुनाई देती है। ध्वनिशास्त्र मे यह एक प्रकार की कुण्ठित ध्वनि मानी जाती है।[५५]

(६) अलिजिह्वा या कौवा

अलिजिह्वा या कौवा कोमलतालु के अन्तिम भाग मे स्थित है। यह एक लटकता हुआ छोटा सा गोलाकार मासपिण्ड है। यह जीभ के साथ मिलकर तथा अन्य स्थितियो मे अरबी तथा फ्रासीसी ध्वनियो को विशेष रूप से उत्पन्न करता है।

(७) जीभ

भाषा के उच्चारणोपयोगी अवयवो मे जीभ का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। उच्चारण-क्रिया मे जीभ का प्रमुख योग होने से ध्वनियन्त्र का यह प्रमुख अंग माना जाता है। बिना जीभ के उच्चारण-क्रिया सम्भव नहीं है। जिन शिशुओ की जीभ में किसी प्रकार की खराबी होती है वे स्फुट रूप मे बोल नही पाते। जो बच्चे देर से बोलना प्रारम्भ करते है उनकी जीभ प्रायः अशक्त रहती है अथवा किसी नस या झिल्ली से जुडी रहने के कारण वे बोल नहीं पाते। अतः डॉक्टर शल्य-क्रिया से उस आवरण को दूर कर देते हैं, जिससे बच्चा बोलने लगता है। इससे स्पष्ट है कि बोलने मे जीभ सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। सम्भवतः इसी कारण भाषाशास्त्र में भाषातत्त्व के

बोधक 'लैंग्वेज' या 'लिंगुआ' अथवा 'लिंग्विस्टिक्स' आदि जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है वे मूल में जीभ से सम्बन्धित हैं। संस्कृत में वाक्, वाणी आदि शब्द जो बोलने के अर्थ में प्रचलित हैं वे जीभ से सम्बन्ध रखते हैं। अंग्रेजी मे मातृभाषा को 'मदर टंग' कहते हैं। इसमे 'टंग' जीभ का परिचायक है। बोलते समय अन्य उच्चारणोपयोगी अवयवो की अपेक्षा जीभ सबसे अधिक क्रियाशील रहती है। समझने के लिए यह कहा जा सकता है कि जीभ मुखरूपी घर की मालकिन है। इसलिए घर का पूरा काम नीचे-ऊपर, आगे-पीछे, दाँये-बाँये घूम कर सब कुछ उसे करना पड़ता है। वह जीभ से लेकर कठोर तालु के अन्त तक प्रत्येक स्थान पर अपना कार्य सम्पन्न करती है। जीभ सुकुमार और लचकदार है। वह अपने घर में से बाहर की ओर दो इंच निकल सकती है और पीछे एक या डेढ़ इंच तक हट सकती है।[५९] जीभ स्वरों को ही नही, अधिकाश व्यंजनो को भी उत्पन्न करने में सबसे अधिक कार्य करती है।

जीभ के कई भाग हैं। वे सभी ध्वनियों के उत्पादन मे क्रियाशील रहते हैं। जीभ का सबसे पहला भाग उसकी नोक है, जिसे जिह्वा का अग्रबिन्दु या जिह्वानीक कहा जाता है। जीभ का दूसरा भाग जिह्वाफलक है, जो सहज रूप से कभी-कभी बाहर निकला हुआ देखा जा सकता है। इसके बाद का भाग जिह्वाग्र कहा गया है। वास्तव मे जीभ का मध्य भाग जिह्वाग्र है, किन्तु जीभ के पिछले भाग की अपेक्षा से अग्रस्थित होने के कारण जिह्वाग्र कहा जाता है और इनकी दृष्टि मे जिह्वामध्य जिह्वाग्र से कुछ भिन्न है।[६०] जिह्वाफलक के अन्त से लेकर लगभग डेढ इंच लम्बा भाग *जिह्वाग्र कहलाता है। इसके बाद का डेढ इच लम्बा शेष भाग जिह्वापश्च* कहा गया है। अन्त में जिह्वामूल है।

उपालिजिह्वा या गलबिल

जिह्वामूल के पीछे और नासाविवर तथा स्वरयन्त्रावरण के बीच में जो खाली स्थान है उसे उपालिजिह्वा या गलबिल कहते हैं। यह वह स्थान है, जहाँ पर भीतर से श्वास के रूप मे बाहर आने वाली वायु मुख या नासिका किसी भी मार्ग से बाहर निकल सकती है। इसकी विभिन्न अवस्थाओं से ध्वनियों पर प्रभाव पड़ता है।

स्वरयन्त्रावरण

जिह्वामूल के नीचे एक पेड के पत्ते के समान उठा हुआ मासल भाग स्वरयन्त्रावरण है। सामान्यतया इसका कार्य भोजन-नली मे जाते हुए पदार्थों को श्वासनली में जाने से रोकना है। यह ऐसे स्थान पर स्थित है, जहाँ पर श्वास और भोजन-नली दोनों का एक केन्द्रीय तथा निकटतम स्थल है। जब कभी असावधानी से खाद्य वस्तु श्वासनली मे चली जाती है तो स्वरयन्त्र उसे तत्काल ऊपर फेंक देता है, जो मुख या नाक के मार्ग से बाहर निकल आता है। कभी-कभी भोजन मे असावधानी से पिया

हुआ पानी ठसके के साथ नासिका-मार्ग से बाहर निकल आता है। जब तक वह बाहर नही निकलता चैन नही पडती। अतः शरीररक्षा की दृष्टि से इसका कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि यह अवयव किसी कारण से इस क्रिया को ठीक से करने मे असमर्थ रहे और श्वासनली मे भोजन का एक कण भी रह जाए तो तुरन्त मृत्यु हो सकती है। यद्यपि यह अग ध्वनि के उत्पादन मे प्रत्यक्ष रूप से सहायक नही है, किन्तु स्वरयन्त्र की रक्षा करने के कारण ध्वनि-प्रक्रिया को अक्षत बनाए रखने मे सहायक है। इसका किसी मासल अवयव से प्रत्यक्ष अनुबन्ध नहीं है, इसलिए निकटवर्ती अवयवो से प्रेरित होने पर ही यह गतिशील होता है। यह स्वयं गतिशील नहीं है। इससे भाषण-ध्वनियो की गुणात्मकता पर कुछ प्रभाव पडता ही है।[५८]

स्वरतन्त्री

ध्वनियो के उच्चारण मे सर्वाधिक क्रियाशील अवयव स्वरतन्त्री कहा जा सकता है। इसकी इस विशेषता को ध्यान मे रखकर उस्कार रसेल ने इसे मानवीय ध्वनिप्रसारक केन्द्र कहा है। यह गलग्रन्थिस्थित वह मासपेशी है जो तन्त्री के रूप मे श्वासनली के अन्तिम भाग मे अवस्थित है। स्वरतन्त्री का एक पतला युगल है जो शिखर रूप मे विस्तृत है। प्रत्येक उच्च तथा निम्न दो भागों मे विभक्त है। ये दोनो तन्त्रियाँ श्वासनली को ढँकने या खोलने का कार्य करती है। इनके बीच के भाग को भाषाशास्त्र मे कण्ठ कहा जाता है। साधारण भाषा मे इसे टेंटुआ कहते है। यह दुर्बल व्यक्तियो मे अधिक उभरा हुआ दिखलाई पडता है। कण्ठ के पिछले भाग मे यह एक छोटी पेटी के समान है। इसमे आगे से पीछे तक विस्तृत दो तन्त्रियाँ है। ये दोनो तन्त्रियाँ श्वासनलिका के ढक्कन का काम करती है। इनको रगमच के दो परदो के समान समझना चाहिए। जिस प्रकार परदे सकुचित होकर रगमच के भीतरी दृश्य को आवृत कर देते है और फिर खुल जाने पर उसे प्रदर्शित कर देते है उसी प्रकार ये स्वरतन्त्रियाँ विस्तृत होकर श्वासमार्ग को रोक देती है और सकुचित होकर उसे उन्मुक्त कर देती है।[५९] ये स्वरतन्त्रियाँ मकडी के जाले की भाँति बहुत महीन तथा लचीली होती है। इनका ऊपरी भाग भाषण की दृष्टि से गौण तथा महत्त्वहीन है। इसका मुख्य कार्य शरीर मे शक्ति बनाए रखना है। स्वरतन्त्रियो का निम्न भाग स्वरात्मक ध्वनियो के उच्चारण मे महत्त्वपूर्ण क्रिया सम्पन्न करता है।

स्वरतन्त्रियो के मध्य के भाग को काकल या कण्ठबिल (गलबिल) कहते हैं। इसे भी दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है।[६०] सामान्य रूप से श्वास लेते समय यह भाग पूरी तरह से खुला रहता है और काम करते समय पूरा बन्द हो जाता है।

साहित्यिक हिन्दी (खड़ी बोली) की मूल ध्वनियाँ

स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, ऑ।

व्यंजन—क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, क़्, ख़्, ग़्।
च्, छ्, ज्, झ्, ञ्।
ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, ड़्, ढ़्।
त्, थ्, द्, ध्, न्, न्ह्।
प्, फ्, ब्, भ्, म्, म्ह्, फ़्।
य्, र्, ल्, व्, (व़्)।
श्, स्, ह्, ः।

इस प्रकार वर्तमान मे जो हिन्दी-ध्वनियाँ प्रचलित है उनकी सख्या है—११ स्वर और ४१ व्यजन, कुल ५२ ध्वनियाँ है। सस्कृत की ऋ, ॠ, ऌ, ष्, ञ् ध्वनियो का प्रयोग पूर्णतया समाप्त हो चुका है। स्वरो मे 'ऑ' ध्वनि अग्रेजी से हिन्दी में आगत है और अै (ऐ), औ नये विकसित स्वर है। व्यजनों में क़्, ख़्, ग़्, ध्वनियाँ अरबी से और ज़्, फ़् ध्वनियाँ फारसी से आई हुई है। हिन्दी की अपनी नई विकसित ध्वनियाँ है—ड़्, ढ़्, व़्, न्ह्, म्ह।

डॉ० सुमन के शब्दों मे व्, व़् (दन्त्योष्ठ्य और द्वयोष्ठ्य) को हम एक ध्वनिग्राम के दो सहस्वन मान सकते है।[१] जब गुच्छक के द्वितीय सदस्य के रूप मे 'व' आता है तब द्वयोष्ठ्य (व़्) हो जाता है, जैसे कि—क्वार, ग्वाला, ग्वारफली आदि। अतः 'व़्' को हिन्दी की नई विकसित व्यजन ध्वनि मानना उचित है।

हिन्दी-ध्वनियों का वर्गीकरण

ध्वनियों का वर्गीकरण उनके उच्चारण स्थान और प्रयत्न के आधार पर किया जाता है। पहले बताया जा चुका है कि भाषणोपयोगी अवयवो से भाषण-ध्वनियाँ निर्मित होती है। बोलने वाला जब अपनी इच्छा से किसी प्रकार का प्रयत्न उन भाषणावयवो के स्थान पर करता है तब ध्वनियाँ उत्पन्न होती है। सर्वप्रथम ध्वनियो का वर्गीकरण भीतर से बाहर की ओर निकलने वाली श्वास के आधार पर किया जाता है। जिन ध्वनियो के उच्चारण मे निकलती हुई श्वास जब बिना किसी रुकावट के मुख के बाहर आती है तब वे स्वर ध्वनियाँ कहलाती है। स्वरो की भिन्नता का कारण जीभ का कई प्रकार से ऊपर-नीचे की ओर उठना है। इसलिए स्वर-ध्वनियो का वर्गीकरण जीभ के भागो की दृष्टि से किया जाता है।

जिन ध्वनियो के उच्चारण मे निकलती हुई श्वास मे जब रुकावट होती है तब वे व्यंजन ध्वनियाँ कहलाती हैं। जिस दशा मे निकलती हुई श्वास मे बहुत कम रुकावट होती है उसमे अर्द्धस्वर (य्, ब्) ध्वनियाँ या अर्द्धव्यजन ध्वनियाँ उत्पन्न होती है। य् और व् व्यंजन की अपेक्षा स्वर के अधिक निकट होते है, इसलिए इन्हे अर्द्धस्वर कहा जाता है। सम्प्रसारण (फैलाव) की अवस्था मे ये स्वर मे 'इ' और 'उ' मे परिवर्तित हो

जाते हैं। स्वर और व्यंजन का मुख्य अन्तर उनकी मुखरता मे निहित है। हिन्दी में य्, व् व्यंजन इसलिए हैं कि इनकी कार्यकारिता हिन्दी के अन्य व्यंजनो की भाँति है; स्वरो जैसी नही है; जैसे कि—यार, वार, दया, दवा, चाय, चाव, इत्यादि में। य्, व् को हिन्दी के अन्य 'व्यंजनों' से परिवर्तित कर हम सरलता से कितने ही शब्द बना सकते है; जैसे—दया, दवा; चाट, चार, इत्यादि। परन्तु य्, व् के स्थान पर यदि 'स्वर' रख कर शब्द बनाना चाहेगे तो बडी कठिनाई होगी; जैसे—चाउ, इआर आदि। इससे स्पष्ट है कि य्, व् व्यजनो की-सी प्रवृत्ति और व्यवहार दिखाते हैं।

स्वरध्वनियों का वर्गीकरण

स्वरध्वनियों का वर्गीकरण मुख्य रूप से तीन आधारो पर किया जाता है—(१) जिह्वा के विभागों की दृष्टि से, (२) जिह्वा की ऊँचाई की दृष्टि से और (३) ओठों की आकृति की दृष्टि से।

१. जिह्वा के विभागों की दृष्टि से

स्वरध्वनि के उच्चारण के समय ध्यानपूर्वक यह देखा जाता है कि जीभ का अगला, बीच का या पिछला कौन सा भाग किस ऊँचाई तक उठता है। उसकी इस क्रिया के आधार पर स्वरो को वर्गीकृत किया जाता है; जैसे कि—

(१) जीभ के अग्रभाग द्वारा निर्मित होने वाले अग्रस्वर—इ, ई, ए, ऐ।

(२) जीभ के पिछले भाग द्वारा निर्मित होने वाले पश्चस्वर—ऑ, आ, उ, ऊ, ओ, औ।

(३) जीभ के मध्य भाग द्वारा निर्मित होनेवाले केन्द्रीयस्वर—अ।

२. जिह्वा की ऊँचाई की दृष्टि से

स्वरों की एक सीमा मानी गई है। जीभ के जिन विभिन्न भागो तक उठने मे निकलती हुई श्वास मे कही रोक-टोक नही होती वह स्वर-सीमा कहलाती है। उस से अधिक ऊँचे उठने पर श्वास मे अवरोध उत्पन्न हो जाता है। इसलिए जीभ स्वरों के उच्चारण मे सीमा विशेष तक ही उठ सकती है। इस दृष्टि से स्वरो को चार भागों मे विभाजित किया गया है।

(१) संवृत स्वर—जब जीभ के ऊपर उठने पर जीभ और स्वरसीमा के बीच कम से कम स्थान खाली रहता है तब सवृत स्वर उत्पन्न होता है।

अग्र सवृत—इ, ई

पश्च सवृत—उ, ऊ

(२) अर्द्ध संवृत—जब जीभ के ऊपर उठने पर स्वरसीमा के बीच सवृत की अपेक्षा स्थान कुछ अधिक खाली रहता है तब अर्द्ध सवृत स्वर उत्पन्न होता है।

अग्र अर्द्ध सवृत—ए

पश्च अर्द्ध सवृत—ओ

(३) अर्द्ध विवृत—जब जीभ और स्वरसीमा के बीच में खुले हुए की अपेक्षा कुछ कम स्थान खाली रहता है तब अर्द्ध विवृत स्वर उत्पन्न होता है।

अग्र अर्द्ध विवृत—ऐ

पश्च अर्द्ध विवृत—औ

(४) विवृत—जब जीभ और स्वरसीमा के बीच मे अधिक से अधिक स्थान खाली रहता है तब विवृत स्वर उत्पन्न होता है।

पश्च विवृत—आ। अग्र विवृत हिन्दी मे नहीं है।

३. ओठों की आकृति की दृष्टि से

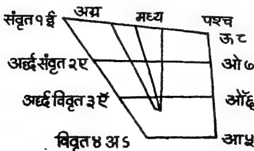
ओठों की आकृति की दृष्टि से स्वरों को दो वर्गों मे विभाजित किया जाता है—वृत्ताकार तथा अवृत्ताकार।

(१) वृत्ताकार स्वर—जिन स्वरो के उच्चारण करने मे ओंठ गोलाकार हो जाते हो उस स्थिति मे उत्पन्न स्वरो को वृत्ताकार स्वर कहते है; जैसे कि—उ, ऊ, ओ, औ, ऑ।

(२) अवृत्ताकार स्वर—जिन स्वरों के उच्चारण करते समय ओठ गोल न होकर मुख के दोनो कोणो मे कुछ विस्तृत हो जाते हैं वे अवृत्ताकार स्वर कहे जाते हैं; जैसे कि—इ, ई, ए, ऐ।

मानस्वर

किसी भी विदेशी भाषा को सीखने के लिए उस भाषा के स्वरो के उच्चारणस्थानों की जानकारी आवश्यक होती है। यदि उच्चारणस्थान का ज्ञान न हो तो हम भाषा की ध्वनियों का ठीक से उच्चारण करने मे सक्षम नही हो सकते। इसलिए मानस्वर के अध्ययन की आवश्यकता पडती है। मानस्वर मापे हुए स्वर है, जो विभिन्न भाषाओ के स्वरस्थानों को निर्धारित करने मे मानदण्ड स्वरूप है। अतः इन्हे मापित स्वर भी कहा जा सकता है। इनकी सख्या आठ कही गई है। इनके अनुसन्धान करने वाले प्रो० डेनियल जोन्स तथा उनके सहयोगी विद्वान् कहे जाते है। इसे रेखा-चित्र मे इस प्रकार प्रदर्शित किया जाता है—



मध्य या केन्द्रीय स्वर

जिह्वा के मध्य भाग के द्वारा जो स्वरध्वनियाँ उत्पन्न होती है उन्हे मध्य या केन्द्रीय स्वर कहा जाता है। प्रसिद्ध भाषाविद् जेस्परसन ने इनको यथार्थतः (mittelzungen Vokale) कहा है। ये कई प्रकार की होती है और ससार की अनेक भाषाओं मे मिलती है। हिन्दी मे केवल 'अ' की स्थिति मध्यस्वर मे मानी जाती है।

मूलस्वर

मध्य या केन्द्रीय स्वरो से भिन्न मूलस्वर नही पहचाने जाते। उन्हे भिन्न करना बहुत कठिन है। अतः एक सामान्य वर्ग के अन्तर्गत (जिसे डेनियल जोन्स ने प्योर वावेल— शुद्ध स्वर कहा है) इनको मूल स्वर कहा जा सकता है।[१२] ये मूल स्वर इसलिए कहे जाते है कि इनके उच्चारण मे जिह्वा की स्थिति आदि से अन्त तक एक-सी बनी रहती है। इसमे प्रायः प्रयत्न भी एक-सा रहता है। ये बोलने की स्थिति पर भी निर्भर रहते है। हिन्दी मे मूल स्वर आठ माने गए है। ये है—अ, अऽ, आ, इ, उ, ऊ, ए, ओ।

संयुक्तस्वर

सयुक्त का अर्थ दो मिले हुए होता है। किन्तु यहाँ सयुक्त स्वर से अभिप्राय उन स्वरध्वनियो से है, जिनके उच्चारण मे जिह्वा को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना पडता है। अतएव सयुक्त स्वर केवल एक स्वरध्वनि है जो अक्षराधार के रूप मे उच्चरित होती है। इसके उच्चारण मे केवल श्वास का एक आघात पडता है। उदाहरण के लिए, हिन्दी की बोलियो मे 'ए' का उच्चारण एक श्वासाघात के साथ किया जाता है। वास्तव मे सयुक्त स्वर को श्रुति कहा जा सकता है, जिसके उच्चारण मे जिह्वा एक स्वरस्थिति से दूसरी स्वरस्थिति तक सरलता से बढती है।[१३]

संयुक्त ध्वनि

दो ध्वनियो के मेल को सयुक्त ध्वनि कहते है, जैसे कि--कच्चा, पक्का इत्यादि। यह मेल समान और असमान दोनो प्रकार की स्वर-व्यजन ध्वनियो का हो सकता है।

ध्वनि-संयोग

इसमे दो ध्वनियो का मेल नही होता, किन्तु सयोग होता है; जैसे कि—कमल (क् + अ + म + अ + ल् + अ)।

ध्वनि-नियम

यदि किसी श्वासध्वनि के आगे नादध्वनि हो तो सयुक्त ध्वनि नही बन सकती। क्योकि यह ध्वनि-नियम है कि इन दोनो में मेल नहीं होता। उदाहरण के लिए—वाक् + जाल। इन दोनो मे यदि हम मेल करना चाहते है तो श्वास (क्) ध्वनि के आगे नाद (जा) ध्वनि होने के कारण श्वास 'क्' को भी नाद ध्वनि 'ग्' बना देगे,

जिससे 'वाग्जाल' शब्द बन जाएगा। किन्तु यदि श्वासध्वनि के आगे श्वासध्वनि होगी तब भी यह मेल नहीं होगा। भारतीय आर्यभाषा के विकास के अनुसार प्राचीन प्राकृत भाषा-बोलियों मे व्यजन के बाद व्यंजन नहीं आता। यह एक प्राकृत भाषा का नियम है। किन्तु किसी भी स्वर के बाद स्वर आ सकता है; जैसे कि—पाउ (प् + आ + उ)। 'पाउ' पाद या पॉव का वाचक है।

परवर्ती प्राकृतों मे व्यजन के पश्चात् व्यंजन का और स्वर के पश्चात् स्वर का प्रयोग लक्षित होता है। उदाहरण के लिए—अग्घ (अर्घ), विज्जुय (विद्युत्), राउल (राजकुल), रिच्छ (रीछ), उक्का (उल्का), सद्द (शब्द), इत्यादि। परन्तु सस्कृत भाषा में स्वर के पश्चात् स्वर का प्रयोग नही होता। हिन्दी मे अवश्य स्वर के बाद स्वरसयोग मिलता है; यथा—ओइ (वहो), कउआ (कौवा), बुआ, कुआ, नाई, माई, कोई, इत्यादि।

व्यंजन-ध्वनियों का वर्गीकरण

व्यजन-ध्वनियो का वर्गीकरण मुख्य रूप से तीन प्रकार से किया जा सकता है—

(१) घोषत्व की दृष्टि से, (२) उच्चारण-प्रयत्न की दृष्टि से और (३) उच्चारण स्थान की दृष्टि से।

घोषत्व की दृष्टि से व्यजन-ध्वनियॉ 'अघोष' तथा घोष या 'सघोष' इन दो वर्गों मे विभाजित की गई है।

(क) अघोष—जिन व्यजन-ध्वनियो के उच्चारण करने के समय मे स्वरतन्त्री मे कम्पन नही होता वे अघोष कही जाती है।

(ख) घोष या सघोष—जिन व्यजन-ध्वनियो के उच्चारण करने मे स्वरतन्त्री मे कम्पन होता है वे घोष या सघोष कही जाती हैं।

उच्चारण-प्रयत्न की दृष्टि से व्यजनो के उच्चारण करने मे ध्वनियन्त्र के विभिन्न भागों मे कई प्रकार के प्रयत्न किए जाते है, जिनसे किंचित् तथा पूर्ण अवरोध की स्थितियॉ उत्पन्न होती है। इनका विवरण निम्नलिखित है—

(१) पूर्णतः अवरोधी—निकलने वाली श्वास जब पूरी तरह से किसी भाषणावयव के स्थान पर रुक जाती है और उस दशा में जो ध्वनियॉ उत्पन्न होती हैं, उन्हे पूर्णतः अवरोधी कहा जाता है। उच्चारण-प्रयत्न की दृष्टि से इन ध्वनियों को भी दो वर्गों में विभक्त किया गया है—स्पर्श और स्पर्शसंघर्षी। जब निकलने वाली श्वास एक स्फोट के साथ बाहर निकलती है तब स्पर्शध्वनियाँ उत्पन्न होती है। स्पर्शसंघर्षी ध्वनियों के उच्चारण मे निकलने वाली श्वास क्षण भर के लिए किसी भी स्थान पर पूरी तरह रुक कर रगड़ खाती हुई बाहर निकलती है।

(२) आंशिक अवरोधी—इन व्यंजन-ध्वनियों के उत्पन्न होने मे निकलने वाली श्वास को थोड़ा रुकना पड़ता है, इसलिए इन्हे आंशिक अवरोधी कहा जाता है। इनके कई वर्ग हैं—संघर्षी, पार्श्विक, लुण्ठित, नासिक्य, उत्क्षिप्त, अर्द्धस्वर।

संघर्षी ध्वनि—संघर्षी ध्वनि के उत्पन्न होने के समय मुख-द्वार इतना संकीर्ण हो जाता है कि निकलने वाली श्वास को रगड खाकर निकलना पडता है; जैसे कि—फ़, व, स, ज, श, ख, ग, ह तथा ः (विसर्ग)। संघर्षी ध्वनि तथा स्पर्शसंघर्षी ध्वनि में अन्तर यह है कि संघर्षी मे श्वास निकलने का मार्ग किंचित् खुला रहता है, किन्तु स्पर्शसंघर्षी मे वह बन्द हो जाता है। ऐसी दशा मे श्वास धक्का दे कर रगड़ के साथ बाहर निकलती है जैसे कि—च, छ, ज, झ।

पार्श्विक—इस मे जिह्वा का अग्र भाग तालु से लग जाने के कारण श्वास जीभ के अगल-बगल से हो कर मुख के बाहर निकल जाती है। इसका उदाहरण है—ल।

लुण्ठित—जब जिह्वा की नोक वर्तुल हो कर तालु को छूती है और उससे लिपटती है तब लुण्ठित 'र' ध्वनि उच्चरित होती है।

नासिक्य—निकलने वाली श्वास जब कौवा के नीचे झुक जाने पर नासिकाविवर से हो कर बाहर निकलती है तब नासिक्य या अनुनासिक ध्वनियाँ उत्पन्न होती है; जैसे कि—ङ, ञ, ण, न, म, ।

उत्क्षिप्त—जब जिह्वा की नोक उलट कर झटके के साथ तालु को छू कर हट जाती है तब 'ड' और 'ढ' उत्क्षिप्त ध्वनियाँ उच्चरित होती है।

अर्द्धस्वर—जिन ध्वनियो के उच्चारण मे मुख-द्वार के संकीर्ण होने पर भी किंचित् स्पर्श कर वायु बिना रगड के बाहर निकल जाती है तब 'य' और 'व' अर्द्धस्वर उत्पन्न होते है। संस्कृत के वैयाकरणो के अनुसार अर्द्धस्वर अन्तस्थ माने जाते है। किन्तु वे इस मे य, र, ल और व चारो को अन्तस्थ मानते है। वस्तुतः इनकी प्रकृति व्यजनात्मक होती है। स्वर होने पर भी व्यजनात्मक प्रकृति के कारण य् और व् को अर्द्धस्वर माना जाता है। उच्चारण की दृष्टि से भी ये स्वरो की भॉति मुखर नही है, बल्कि व्यजनो की भॉति स्वल्पमुखर है। यह पहले ही बता चुके है कि आधुनिक भाषाशास्त्रियो के अनुसार विशिष्ट मुखरता ही स्वर की मूल प्रकृति है। इसी प्रकार इन मे स्वरो की भॉति बलाघात वहन करने की शक्ति नही है। ये बलाघातहीन होते है।

उच्चारण स्थान की दृष्टि से निकलने वाली श्वास जिस स्थान पर रुक जाती है और ध्वनियाँ उत्पन्न कर देती है उनके नाम हैं—काकल्य, अलिजिह्वीय, कोमल तालव्य, तालव्य, मूर्धन्य, वर्त्स्य, दन्त्य और ओष्ठ्य।

काकल्य—इस प्रकार की ध्वनियो के उच्चारण मे निकलने वाली श्वास रगड़ खाती हुई मुख के बाहर निकलती है। इस मे मुख-द्वार खुला रहता है।

अलिजिह्वीय—इन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा के पिछले भाग का अलिजिह्वा के पार्श्व प्रदेश से संस्पर्श होता है।

कोमल तालव्य—जिन ध्वनियो के उच्चारण मे जिह्वा का पिछला भाग कोमल

तालु के स्थान पर बाहर निकलने वाली श्वास को रोक कर निःसरण करता है, उस स्थिति में उच्चरित ध्वनियाँ कोमल तालव्य या कण्ठ्य कहलाती हैं।

तालव्य—जिस समय जिह्वा का अग्र भाग कठोर तालु को स्पर्श कर श्वास को रोक देता है उस दशा में उच्चरित ध्वनि तालव्य कही जाती है।

मूर्द्धन्य—जिन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा की नोक उलट कर मूर्द्धा को स्पर्श कर निकलने वाली श्वास को रोक देती है उस दशा में उच्चरित ध्वनि मूर्द्धन्य कहलाती है।

वर्त्स्य—जब ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा की नोक मसूढ़ों से सम्बद्ध हो कर निकलने वाली श्वास को रोक देती है तब उच्चरित ध्वनि वर्त्स्य कही जाती है।

दन्त्य—जब ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा की नोक ऊपरी दन्तपंक्ति से सम्बद्ध हो कर निकलने वाली श्वास को रोक देती है तब उच्चरित ध्वनि दन्त्य कहलाती है।

ओष्ठ्य—जिन ध्वनियों के उच्चारण में नीचे का ओठ ऊपरी दन्तपंक्ति के सामने वाले दाँत से सम्बद्ध हो निकलने वाली श्वास को रोक देता है उस दशा में उच्चरित ध्वनि दन्त्योष्ठ्य तथा अधर ओष्ठ से सम्बद्ध हो निकलने वाली श्वास को रोकने की दशा में द्वयोष्ठ्य ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं।*

ध्वनिगुण

ध्वनि के मुख्य तीन गुण माने जाते है—मात्रा, सुर (लय) और बलाघात। प्रत्येक भाषा की ध्वनियों में ये तीन गुण प्राप्त होते हैं।

(क) मात्रा—ध्वनि के उच्चारण में जो समय लगता है उसे समय का परिमाण या मात्रा कहते है। यह तीन रूपों में पाई जाती है—ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। ह्रस्व के लिए अंग्रेजी में कोई चिह्न नहीं है। अर्द्ध दीर्घ स्वर के लिए अंग्रेजी में (—) चिह्न है। दीर्घ स्वर के लिए (=) चिह्न है। हिन्दी में केवल ह्रस्व और दीर्घ ध्वनियों का प्रचलन है। वास्तव में बोली जाने वाली भाषा के सभी लक्षण लिखित रूप में नहीं मिलते। अतः कई लक्षण अप्रकाशित ही रह जाते है। ध्वनियों की वास्तविक दीर्घता, बलाघात तथा स्वरलहर कभी लिखित रूप में सामने नहीं आते। सम्भवतः इसीलिए अंग्रेज-ध्वनिविद् इन सब को राग तत्त्व (Prosody) और अमेरिकी ध्वनिविद् खण्डेतर ध्वनिग्राम या खण्डेतर स्वनग्राम मानते है। इनको खण्डेतर मानने का मुख्य कारण अर्थ-भेद है। संसार में ऐसी अनेक भाषाएँ हैं, जिन में अर्थ-भेद प्रकट करने के लिए केवल दीर्घता का उपयोग किया जाता है। जिस ध्वनि के उच्चारण में समय की जितनी मात्रा लगती है वही उस ध्वनि की दीर्घता कही जाती है। यथार्थ में दीर्घता, स्वरलहर तथा बलाघात के रूप को देख कर किसी भाषा के बोलने वाले के स्वाभाविक या विदेशी होने का पता चलता है। भाषागत ध्वनियों का ठीक से उच्चारण करते

* ध्वनियों के वर्गीकरण का प्रकरण अधिकांश में डॉ० उदयनारायण तिवारी की पुस्तक 'भाषाशास्त्र की रूपरेखा' की सहायता से लिखा गया है।

रहने पर भी केवल स्वरलहर से व्यक्ति पहचाना जा सकता है कि किस देश के किस अचल का है। भाषा पर क्षेत्रीय प्रभाव कुछ ध्वनियों के साथ बोलने के स्वरलहर के रूप में अधिक स्पष्ट लक्षित होता है। भारतीय प्राचीन भाषाविशारदों के अनुसार ध्वनि शब्द का गुण माना गया है और उसके दो भेद कहे गए हैं—प्राकृत तथा वैकृत।

(ख) सुर (लय) या स्वरलहर—स्वरयन्त्र में उत्पन्न घोष के आरोह-अवरोह के क्रम को स्वरलहर कहते हैं। इसका सम्बन्ध स्वरतन्त्री से है। स्वरतन्त्री में कम्पन होने के कारण सगीतात्मक उतार-चढाव को सुर या स्वरलहर कहा गया है। विदेशी भाषा की शिक्षा प्राप्त करने के लिए इसका ज्ञान होना अनिवार्य है। इसके बिना भाषागत ध्वनियों का अध्ययन व उच्चारण भलीभाँति सम्पन्न नहीं हो सकता। हिन्दी की बोलियों में जो भिन्नता दिखलाई पड़ती है वह मूल रूप में स्वरलहरों की भिन्नता है। इस भिन्नता के कारण ही भोज, अवध और ब्रज के निवासी हिन्दी को अलग अलग ढग से बोलते हैं। संसार की प्रत्येक भाषा में अपने विशेष प्रकार के स्वरलहर मिलते हैं। इनके सम्यक् प्रयोग से ही हम अपनी भाषा में उनकी भाषा की भिन्नता का बोध करते हैं।

यद्यपि ध्वनियों के अन्य लक्षणों की अपेक्षा स्वरलहर का भलीभाँति उच्चारण करना बहुत कठिन है, किन्तु ध्वनियों की प्रकृति के अनुसार अपनी ओर से परिवर्तन न कर ज्यों का त्यों अभ्यास करने से कठिनाई दूर हो सकती है। शिशु अपने घर में माता-पिता के द्वारा उच्चरित ध्वनियों का ही नहीं, वरन् क्रियाओं का भी ज्यों का त्यों अनुकरण करने का प्रयत्न करता है। प्राचीन भाषाशास्त्रियों ने उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का तथा सगीतविशारदों ने आरोह, अवरोह और सम का जो सूक्ष्म विचार किया है, वह वास्तव में एक प्रकार से स्वरलहर का सामान्य अध्ययन है। इसके दो भेद किए जाते हैं—शब्दस्वरलहर तथा वाक्यस्वरलहर। शब्द या वाक्य में आरोह-अवरोह क्रम के अनुसार यह भेद किया गया है। किन्तु अर्थ के आधार पर सार्थक और निरर्थक तथा चल-अचल स्थिति के आधार पर चलतान और अचलतान भेद किए जाते हैं। तान भाषाओं में शब्द तथा वाक्य दोनों सार्थक होते हैं, किन्तु अतान भाषाओं में केवल वाक्य ही सार्थक होता है। भाषाशास्त्र की पुस्तकों में कई प्रकार की बिन्दु रेखाओं के द्वारा स्वरलहर को सकेतित किया जाता है। प्रायः सभी अमेरिकन ध्वनिविद् अटूट रेखा के द्वारा स्वरलहर के उतार-चढाव को प्रदर्शित करते हैं।[१४] इसी प्रकार सामान्य रूप से दीर्घ ध्वनियों के लिए दो बिन्दु (:) और अर्द्ध दीर्घ ध्वनियों के लिए एक बिन्दु (˙) का प्रयोग किया जाता है। भाषागत ह्रस्व से भी ह्रस्व ध्वनि को द्योतित करने के लिए (˘) चिह्न से सकेतित किया जाता है। किन्तु ह्रस्व-ध्वनि को प्रदर्शित करने के लिए किसी सकेत की आवश्यकता नहीं पड़ती। दीर्घ, अर्द्धदीर्घ और अतिह्रस्व ध्वनि को अवश्य क्रमशः (।:), (।) और (।) सकेतों से चिह्नित किया जाता है।[१५]

बलाघात (Stress)—बोलते समय किसी ध्वनि या अक्षर का बलपूर्वक उच्चारण करने को बलाघात कहा जाता है। इसका सम्बन्ध निकलने वाली श्वास से है। श्वास को झटका देने से इसके कई रूप देखे जाते हैं। सामान्यतः भाषा मे आघात (Accent) दो प्रकार के मिलते है—स्वराघात (Pitch) तथा बलाघात (Stress)। स्वराघात को ही लयात्मक या गीतात्मक स्वराघात कहते हैं। काकल के उतार-चढाव से जो आरोह-अवरोह तथा कम्पन होता है उसे गीतात्मक स्वराघात कहा जाता है। किन्तु जिस स्वर के उच्चारण मे श्वास धक्का दे कर बाहर निकलती है उसे बलात्मक स्वरसचार कहते हैं। ससार के अधिकतर लोग अपनी बात को बलपूर्वक कहते समय प्रतिदिन की भाषा मे इसका व्यवहार करते है। यही नही, भावावेश के समय लोग सिर ऊँचा करते है, हाथ हिलाते हैं, ऑखे तरेरते है या नचाते हैं और अँगुलियॉ चटकाते हुए या पाँव पटकते हुए तरह-तरह की भाव-भगिमाओं के साथ बलाघात वाली ध्वनियो का उच्चारण करते है। भाषागत इन संकेतो का सीधा सम्बन्ध बलाघात या बलात्मक स्वराघात से होता है।

बलाघात या स्वराघात दो प्रकार का होता है"—प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष बलाघात मे जिन ध्वनियो पर बलाघात का प्रयोग किया जाता है वे अन्य पार्श्ववर्ती ध्वनियो की अपेक्षा अधिक मुखर सुनाई पडती है। हिन्दी, उडिया, भोजपुरी आदि के शब्दो की अपेक्षा अग्रेजी शब्दो मे यह आपेक्षिक मुखरता अधिक स्पष्ट मालूम पड़ती है, क्योकि अग्रेजी एक बलाघातप्रधान भाषा है। भाषा मे मुखरता कई कारणों से प्राप्त होती है। ऊपर कहे गए ध्वनि-गुण (दीर्घता, स्वरलहर) तथा एक ही अक्षर के बार-बार उच्चारण करने पर भी जो मुखरता लक्षित होती है वह सदा बलाघात का परिणाम नही होती। हिन्दी बलाघातहीन भाषा कही जाती है। कुछ भाषाओ मे बलात्मक स्वराघात और कुछ भाषाओ मे वाक्य-बलाघात भी पाया जाता है। वास्तव मे प्रत्येक भाषा मे बलाघात का प्रयोग अपनी प्रकृति और प्रयोग के अनुसार भिन्न-भिन्न है।

हिन्दी में बलाघात

हिन्दी मे बलाघात की विशेष स्थिति है। यद्यपि अग्रेजी, रूसी या ग्रीक की भाँति हिन्दी में इसका प्रयोग लक्षित नही होता, किन्तु किसी भी ध्वनि पर जोर देने के लिए या भेद प्रकट करने के लिए इसका व्यवहार किया जाता है। हिन्दी मे यह केवल स्वराघात के रूप मे मिलता है। यह स्वराघात ध्वनि, अक्षर, शब्द, पद, उपवाक्य तथा वाक्य इन सभी रूपों मे प्रयुक्त देखा जाता है। किन्तु हिन्दी में इसके व्यवहार से न तो अर्थ में परिवर्तन होता है और न स्वर ही बदलता है। अर्थ या ध्वनि-ग्रामिकता की दृष्टि से हिन्दी मे बलात्मक स्वराघात दो प्रकार का कहा गया है" — निरर्थक या अध्वनिग्रामिक और सार्थक या ध्वनिग्रामिक। अक्षरगत बलात्मक स्वराघात का एक उदाहरण है—

ए रुक जा, सज्ञा को मत खा। देखा जाएगा।
इसी प्रकार—मुझे तो ऐसा करना ही पड़ेगा।

कई स्थानो पर हिन्दी में बलाघात के कारण सामान्य अर्थ विशेष अर्थ मे परिवर्तित हो जाता है। उदाहरण के लिए—हूँ मैं। हूँ। मैं। कभी-कभी वाक्य मे केवल एक ही शब्द बलाघात से अन्वित होता है; जैसे कि—वह। बहुत। सुन्दर। है। इसमे केवल बहुत पर बल दिया गया है। किन्तु कभी-कभी एक वाक्य मे एक से अधिक शब्दो मे बलाघात का प्रयोग देखा जाता है; यथा—तुम। कभी। पास। नही। हो। सकते। तथा—मैं। नहीं। था। सामान्यतः स्वराघात दीर्घ शब्दों मे लक्षित होता है, किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि ह्रस्व या उपान्त्य शब्द पर बल नही दिया जाता। वस्तुतः हिन्दी मे अग्रेजी, रूसी भाषाओ की भाँति बलाघात न तो बहुत महत्त्वपूर्ण है और न सर्वत्र बहुत स्पष्ट। इसी कारण इस पर लोग विशेष ध्यान नहीं देते और न इसके प्रति विशेष सतर्क ही रहते है।[६८] अतः इसके सामान्य नियमो की चर्चा करनी भी उचित नही होगी, क्योकि प्रयोक्ता के भाव और प्रयोग पर ही हिन्दी का बलाघात निर्भर है, जो एक विशेष स्थिति मे स्पष्ट परिलक्षित होता है।

स्वरावस्थान (Vowel-gradation)

एक स्वर का अन्य स्वर के रूप मे परिवर्तित होने को स्वरावस्थान कहते है। स्वर की दो श्रेणियाँ मानी गई हैं—इ और उ।

इ श्रेणी—इ, ई, ए, ऐ, य

उ श्रेणी—उ, ऊ, ओ, औ, व

इन दोनो श्रेणियो के स्वरों मे पारस्परिक परिवर्तन को गुणात्मक स्वरावस्थान (Qualitative Vowel-gradation) कहते है। परन्तु एक ही श्रेणी के स्वरो का दूसरी श्रेणी के स्वरों मे परस्पर परिवर्तन परिमाणात्मक स्वरावस्थान (Quantitative gradation) कहा जाता है। हिन्दी मे परिमाणात्मक स्वरावस्थान ही अधिक पाया जाता है। सस्कृत भाषा मे दोनो प्रकार का स्वरावस्थान मिलता है। उदाहरण के लिए—'नी' धातु से बनने वाले शब्द—नायक, नेता, नीति, नेत्र, इत्यादि। इसी प्रकार—'जी' धातु से सम्पन्न होने वाले जेता, जय, जैत्र, आदि। और—'बुध्' धातु से बनने वाले शब्द—बुद्धि, बोध तथा बौद्ध, आदि। हिन्दी मे इसके उदाहरण हैं—खिलना, खुलना और खोलना। सस्कृत की 'खोल' धातु से इन तीनो का विकास हुआ है। इसी प्रकार सस्कृत—'पिच्छिल' से फिसलना, फिसलाना, और फुसलाना का विकास-क्रम देखा जा सकता है। इसे श्रेणीगत परिवर्तन भी कहते हैं। डॉ० तारापुरवाला ने भारोपीय भाषा मे उपलब्ध इस स्वरावस्थान को एक विशिष्ट प्रवृत्ति के रूप मे माना है।[६९] उनके अनुसार ह्रस्व तथा दीर्घ स्वरो की कई श्रेणियाँ है और उनके भी कई प्रकार हैं।[७०]

अपश्रुति (Ablaut)—सामान्य रूप से स्वरध्वनि के परिवर्तन को अपश्रुति

कहा जाता है; इसके उदाहरण श्रेणीगत परिवर्तन वाली भाषाओं में अधिक मिलते हैं; जैसे कि—अरबी भाषा में—कितब्, किताब, कुतुब आदि। अंग्रेजी और हिन्दी में भी यह प्रवृत्ति भलीभाँति मिलती है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी इसे ह्रस्वता-दीर्घात्मक अपश्रुति कहते हैं। वस्तुतः प्राचीनों ने जिसे गुण-वृद्धि कहा है उसे आधुनिक भाषाशास्त्री स्वर-परिवर्तन के सन्दर्भ मे अपश्रुति मानते हैं। यह अपश्रुति मात्रिक और गुणिक दोनों प्रकार की कही गई है। स्वर की मात्रा बदल जाने से मात्रिक अपश्रुति और गुण की दृष्टि से होने वाले परिवर्तन को गुणीय अपश्रुति कहते हैं। हिन्दी मे मात्रिक अपश्रुति के उदाहरण है—चलना, चलाना; लिखना, लिखाना; गूदना, गुदाना, गोदना; खुलना, खोलना आदि। गुणीय अपश्रुति के उदाहरण हैं—खिलना, खुलना; फिसलना, फुसलाना; टिकना, टोकना, इत्यादि।

अपिनिहिति (Epenthesis)

यह एक प्रकार का स्वरागम है। कभी-कभी शब्दोच्चार की सुविधा से किसी शब्द के मध्य मे स्वर के आगम को स्वरागम कहा गया है; जैसे कि—छत्तीसगढ़ी बोली मे 'बैल' (बइल) को 'बइला' कहते हैं। हिन्दी मे 'क्रिया' को 'किरिया' बोलते हैं। ग्रे और पेइ आदि कुछ भाषाशास्त्री अपिनिहिति शब्द का प्रयोग केवल 'आगम' के अर्थ मे करते हैं और उस के व्यजन तथा स्वरअपिनिहिति ये दो भेद मानते हैं।[1] वस्तुतः यह एक तरह से आदि और मध्य स्वरागम है। आदि स्वरागम के उदाहरण हैं—उपुरोहित (रामचरितमानस), इस्कूल-उस्कूल, इस्त्री-अस्त्री, अस्तबल-इस्तबल, इत्यादि। अपिनिहिति अवेस्ता भाषा की मुख्य विशेषता मानी जाती है। अवेस्ता मे 'र' से आरम्भ होने वाले शब्दो मे सर्वत्र अपिनिहिति दिखलाई पड़ती है; जैसे कि—इरिनहिति (रिणक्ति), इरिस्यति (रिष्यति), उरोपएति (रोपयति), आदि।

स्वरभक्ति (Anaptyxis)

दो संयुक्त व्यजनो के मध्य स्वरागम को स्वरभक्ति कहते हैं; जैसे कि—मर्म का मरम (तोर मरम न जाना), धर्म का धरम, भक्त का भगत, पंक्ति का पंगत, शक्ति का सकत, तथा कीर्ति का कीरत, इत्यादि। प्राकृत वैयाकरणो के अनुसार स्वरभक्ति या विप्रकर्ष का मुख्य कार्य दो संयुक्त ध्वनियों को अलग कर देना है। ग्रीक, लेटिन, सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश भाषाओं में ये ध्वनियाँ अधिक हैं। संस्कृत व्याकरण मे स्वरभक्ति का प्रयोग कई अर्थों में मिलता है। महर्षि पाणिनि ने इसे 'अज्भक्ति' (अच्-स्वर) कहा है। इसे मध्य स्वरागम भी कहा गया है। वास्तव में प्राचीनों और नवीनों की मान्यता में कोई भेद नहीं है, केवल कहने के शब्द या शब्दों मे अन्तर हो सकता है—दोनों की बात एक है।

कुछ विद्वानों के अनुसार स्वरभक्ति और अपिनिहिति में अन्तर यह है कि स्वरभक्ति संयुक्त व्यंजनों में होती है और अपिनिहिति असंयुक्त व्यंजनों में। परन्तु इन दोनों में मूल

अन्तर यह है कि मध्य मे स्वरागम होना स्वरभक्ति है और इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों के पूर्व स्वरागम होना अपिनिहिति है।

अभिश्रुति (Umlaut)

अपिनिहिति के कारण जो स्वर-परिवर्तन होता है उसे अभिश्रुति कहते हैं। यह एक प्रकार का स्वर का फैलाव है। इसे अग्रेजी मे उम्लाउट (Umlaut) कहते है। उम्लाउट नाम प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक ग्रिम का दिया हुआ है। इसका अर्थ है—शब्द के किसी आन्तरिक स्वर मे बाद के किसी अन्य अक्षर के स्वर (गुणीय) के कारण होने वाला परिवर्तन। ब्लूमफील्ड इसे पश्चगामी समीकरण मानते है। हिन्दी मे इसके उदाहरण है—सन्धि से सेध, चचु से चोंच, लुच से लोच और शुण्ठी से सोठ।

अभिनिहिति

इसका शब्दार्थ है—पार्श्ववर्ती। जब सन्धि-स्थान मे कोई ध्वनि निकटवर्ती ध्वनि मे समाहित हो जाती है तब अभिनिहिति कहलाती है। यह विशेष रूप से सस्कृत भाषा मे मिलती है। आ० पाणिनि के अनुसार सन्धि के अन्तर्गत अच्सन्धि मे एकादेश का जो विधान किया गया है, उस मे पूर्व तथा पर के स्थान मे एकादेश होना अभिनिहिति कहा जाता है। उसे स्पष्ट करने के लिए ऽ चिह्न का प्रयोग किया जाता है, जैसे कि—पुरुषोअत्र—पुरुषोऽत्र। सूर्योअनिल—सूर्योऽनिल।

श्रुति (glide)

जिह्वा के एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के मध्य काल मे जो फुसफुसाहट के रूप मे ध्वनि सुनाई दे जाती है उसे श्रुति कहते है, जैसे कि—प्राकृत मे गत से गअ और हिन्दी मे कलक्टर से कलट्टर सुन कर बोला जाता है। इसी प्रकार 'मेक्सम्युलर' का उच्चारण 'मेक्समुइलर' किया जाता है। वस्तुतः यह श्रुति दोष का परिणाम है, जिसे श्रुति कहते है।

हिन्दी के स्वर-ध्वनिग्राम तथा संध्वनियाँ

हिन्दी मे कुछ ऐसी ध्वनियो का भी व्यवहार होता है, जो केवल जनसामान्य के प्रयोग मे है और रात-दिन जिन्हे हम सुनते है, पर जो साहित्य मे प्रयुक्त नहीं होतीं। वस्तुतः हिन्दी मे ऐसी ध्वनियाँ अधिकतर परम्परा से चली आ रही हैं, जिन का अभी तक ठीक से विचार नहीं किया गया। सामान्य रूप से ह्रस्व ए और ओ हिन्दी में और उसकी बोलियो मे प्रयुक्त होते है, किन्तु साहित्य मे उनका व्यवहार नहीं है और इसलिए साहित्य के विद्यार्थी नही जानते कि इस तरह की भी कोई ध्वनियाँ हैं। हिन्दी की स्वरध्वनियों के उच्चारण मे 'ऐ' को सदा 'अइ' कहा जाता है। इसका उच्चारण किन्ही विशिष्ट ध्वनियो के सयोग मे केवल य् और ह् के पूर्व कहा जाता है; जैसे कि—तैयार और नैहर मे। इसी प्रकार 'औ' को सदा 'अउ' कहा जाता है। किन्तु यह उच्चारण केवल 'व' (अर्द्धस्वर) के पूर्व सयोगी शब्द मे होता है; यथा—चौवन,

चौवर (चौअर), भौवा (भौआ) इत्यादि। अपभ्रंश में तथा पुरानी हिन्दी में इसके प्रयोग विरल नहीं हैं। यदि ध्वनियों के विकास के इतिहास की दृष्टि से विचार किया जाए तो यह एक प्रकार का 'ओ' का ह्रस्वीकरण 'उ' है, जो ध्वनियों की विकासगत जटिलता से सरलता की ओर की प्रवृत्ति की सूचक है। अतः ऋग्वेद मे प्राप्त होने वाला 'एषो' (१, ४६, १) प्राकृत काल मे 'एहो' हो गया और परवर्ती विकास में एहु, इह होता हुआ हिन्दी मे 'यह' हो गया। हिन्दी मे बोलने और लिखने की पद्धति मे अन्तर है। बोलने मे और बोलियो मे आज भी परम्परागत ध्वनि-प्रवृत्तियों का व्यवहार प्रचलित है, किन्तु लेखन-पद्धति का विकास सस्कृत-वर्णमाला को ध्यान में रख कर उसके अनुकरण पर होने के कारण अनेक ऐसी ध्वनियों का उच्चार हम कर लेते है; किन्तु लिखते समय हम बचा जाते है। उदाहरण के लिए हिन्दी मे 'वह' के लिए 'ओ' शब्द भलीभॉति प्रचलित है। इसी प्रकार से प्रायः 'वही' के लिए हम 'ओही, ओइ' बोल जाते है, किन्तु लिखते 'वही' है। अपभ्रश मे 'ओइ' प्रचलित रहा है। यथा—

तो वड्डा घर ओइ। अर्थात् तो बडा घर वही है।

वास्तव में अपभ्रंश भाषा भी साहित्य के रूप मे देखने को मिलती है। उसमे भाषा का ठेठ बोली का रूप नही है। किन्तु हिन्दी की बोली मे आज तक वह सुरक्षित है। इसीलिए 'अउ' (अरु, और), हइ (है), कइ (कही), नइ (नहीं) और दओ (दियो, बुन्देली), आदि मे यह प्रवृत्ति भलीभॉति लक्षित होती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि अपभ्रंश की अपेक्षा हिन्दी मे कई प्रकार की ध्वनियो का उद्योतन तथा विकास हुआ है। क्योकि प्रत्येक भाषा की भिन्नता उसकी ध्वनियों के आधार पर परिलक्षित होती है। ध्वनियों के विकास-प्रवाह मे सस्कृत की ऋ और ऌ ध्वनियों का व्यवहार वैदिक युग मे ही अधिक प्रचलित था। सस्कृत में इसके प्रयोग साहित्य मे कम मिलते हैं। प्राकृतो मे इनका व्यवहार नहीं है। किन्तु हिन्दी मे इनका ही नहीं, ऋ और ऌ का भी अभाव है। किन्तु देवनागरी वर्णमाला मे आज भी 'ऋ' को हिन्दी स्वर समझ कर विद्यार्थियों को पढाया जाता है। भाषाशास्त्र की दृष्टि में इसके लिए हिन्दी मे कोई ध्वनि-चिह्न नही है। हो भी कैसे सकता है ? क्योंकि यह एक स्वर और एक व्यजन का सयोगी रूप है। ऋ की भाँति हिन्दी के स्वरों मे अं और अः को भी नही बताना चाहिए। क्योकि ये स्वर नही हैं; बल्कि नासिक्य व्यंजन ध्वनियों के बदले विशेष स्थितियो में प्रयुक्त होने वाले लिपि-चिह्न मात्र है।[७२] इनका प्रयोग स्वर के लिए न हो कर केवल व्यंजनों के लिए होता है। विशेष स्थिति से हमारा अभिप्राय यह है कि स्वर के पश्चात् इनका व्यवहार किया जाता है; जैसेकि—अंक, कंघा, आकांक्षा, आलिंगन, चोंच, सेंध, भोंगा, भोंपू, ईंट, ऊंट, छींट, इत्यादि। इसी प्रकार विसर्ग का प्रयोग भी स्वर के अनन्तर होता है। स्वयं विसर्ग स्वर नहीं है। यह तो व्यजन की विशिष्ट स्थिति को द्योतित करने वाला ध्वनि-चिह्न है। इसे अघोष काकल्य

संघर्षी ध्वनि कहा गया है, जो अघोष 'ह' का रूपान्तर है। अतः यह व्यंजन है; स्वर नहीं। क्योंकि स्वर संघर्षी नही होते। फिर, स्वर जैसी मुखरता भी इसमें नहीं है। इसके अतिरिक्त विसर्ग 'ह' (पूर्व 'स' ध्वनि) या 'स' (परवर्ती 'ह' ध्वनि) के लिए प्रयुक्त होता है, जो व्यंजन है। व्यंजन के स्थान पर प्रयुक्त होने से इसे भी व्यंजन का स्थानापन्न व्यजन ही कहा जाएगा। इस प्रकार ऋ, अं और अः ये तीनों ही स्वर नहीं हैं। अतएव हिन्दी के स्वरों के साथ इनको गिनाना उचित नही है। वर्ण-माला में भी इनको स्वर का स्थान नही मिलना चाहिए।

हिन्दी मे अनुनासिकता (ँ) एक ऐसा ध्वनि-गुण है, जो प्रत्येक स्वर-ध्वनि के साथ मिल कर स्वरो की संख्या दस से बीस कर देता है।[९२] उदाहरण के लिए अ और अँ पूर्णतः भिन्न-भिन्न दो स्वर है। हिन्दी मे स्वरो की सख्या दस ही है। स्वर है—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ। ग्यारहवी अनुनासिकता है, जो अ के साथ सयुक्त हो कर आँकड़ा, आँसू, आँच, हँसी, खूँटी और रहँट, आदि में प्रयुक्त परिलक्षित होती है। इस प्रकार अ और अँ (ँ) ये दोनो पृथक् इकाइयाँ है। मूलस्वरों की भाँति सभी अनुनासिक स्वरों का व्यवहार शब्दो मे सर्वत्र नही मिलता। यथार्थ मे अनुनासिक स्वर को निरनुनासिक स्वर से बिल्कुल भिन्न मानना चाहिए,[९४] क्योकि अनुस्वार और अनुनासिक के भेद से शब्द-भेद ही नही अर्थ-भेद भी हो जाता है। उदाहरण के लिए कुछ शब्द हैं—नीद (निद्रा), नीँद (निन्दा), हसी—हँसी, हडा—हँडा, कास—(कस पात्र, ताबे और जस्ते को मिला कर बनाई हुई धातु)—काँस (शरद् ऋतु मे फूलने वाली लम्बी घास, कास), उंचास (उनचास, ४९), उँचास (ऊँचाई), अधेर (अन्याय), अँधेर (अन्धकार), अटा (बडी गोली), अँटा (पूरा पडा, समाया), इत्यादि।

हिन्दी मे ए और ओ सन्ध्यक्षर नही है, किन्तु मूल स्वर है। सस्कृत मे ये दोनों सन्धिस्वर (diphthong) है। परन्तु हिन्दी ये दोनो स्वतन्त्र मूल ध्वनियाँ है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि अपभ्रंश मे ह्रस्व ए, ओ का व्यवहार मिलता है। आधुनिक साहित्यिक हिन्दी मे ये ध्वनियाँ अधिक शब्दों मे व्यवहृत नहीं होतीं। किन्तु हिन्दी की कुछ बोलियो मे इनका व्यवहार बराबर मिलता है।[९५] प्रायः उच्चारण की दृष्टि से कौलिज, हॉल और औरत की 'ओ' ध्वनियो मे कोई अन्तर नहीं है। किन्तु 'चैन' और 'पैन' के ऐ मे दीर्घता और ह्रस्वता का भेद है। इसलिए हिन्दी मे निम्नांकित स्वर ध्वनिग्राम माने जा सकते है :—

ई (ईट)				ऊ (ऊन)
	इ (इस)		उ (उस)	
ए (एक)		अ (अब)		औ (और)
	अ (चक)			
	ऐ (ऐब)		औ (और)	
		आ (आस)		

इनके अन्तर्गत संध्वनियाँ या उपध्वनियाँ इस प्रकार हैं—

इ की दो—एक अग्र (ऋषि में) और दूसरी मध्य (वृद्ध में)

ए की दो—एक दीर्घ (बैल में) और दूसरी ह्रस्व (नेहरू में)

ओ की दो—एक दीर्घ (मोह मे) और दूसरी ह्रस्व (मोहरा में)

औ की दो—एक दीर्घ (और में) और दूसरी ह्रस्व (जौहरी में)

अ की चार—एक ह्रस्व ए (यह में), दूसरी ह्रस्व ओ (वह में), तीसरी ह्रस्व ऐ (बहन में) और चौथी संध्वनि अ (व में) है।

अन्य ई, ॲ, ऐ, आ, उ और ऊ ध्वनिग्रामो में एक-एक सध्वनि मानना पर्याप्त है। जो लोग 'भइया' और 'कउवा' में अ इ तथा अ उ के सयोग न बोल कर (भइआ और कउआ में) अइ और अउ को सन्ध्यक्षरवत् बोलते हैं—भैया और कौआ। उनके ऐ मे एक मूल (ऐसा में) और दूसरी सन्ध्यक्षर (तैयार और नैहर में) तथा औ में एक मूल (औरत मे) और अगली सन्ध्यक्षर (चौवन में) सध्वनियाँ भी कही जा सकती है। क्योंकि ये स्वरों के भेदो के अतिरिक्त मुख्य उपध्वनियाँ हैं।

हिन्दी में ध्वनिग्रामो की सूची को देखने से पता लगता है कि स्वरध्वनिग्रामों में सब से अधिक क्षिप्रता है। इस क्षिप्रता का कारण यह है कि वे स्वयमेव व्यजनों की सहायता से अथवा बिना किसी सहायता के अक्षरो की रचना कर सकते हैं। इस के अतिरिक्त देवनागरी वर्णमाला मे वर्णिक लिपि होने से व्यंजनो की अपेक्षा स्वरों को मूर्द्धन्यता प्राप्त है। स्वरो मे भी अ, आ और ए मूर्द्धन्य हैं।

हिन्दी भाषा के उच्चार और वर्तनी

यह पहले ही कह चुके है कि भाषा की अपनी पद्धति और व्यवस्था होती है। प्रत्येक भाषा का निर्माण ध्वनियों से होता है। ध्वनियो का व्यवहार करने वाले लाखों और करोडो लोग भिन्न-भिन्न प्रकृति, व्यवहार और रुचि के होते है। उनमे कुछ गँवार, शिक्षित, सभ्य और चोटी के विद्वान् भी होते है। उनके अपने-अपने ढंग के उच्चारण होते हैं। एक 'टिकिट' शब्द का उच्चारण टिक्ट, टिकट, टिकस और टिक्कस आदि कई रूपो मे सुनने को मिलता है। यही हाल सिनेमा, स्कूल, साइकिल, रेस्टोरेन्ट, लाइब्रेरी और होटल (हॉटल) आदि का है। जनता सामान्य रूप से अपना काम चलाने के लिए सभी प्रकार के प्रचलित शब्दों का व्यवहार करती है और प्रत्येक स्थिति मे अपने भावों को प्रकट कर लेती है। सुनने वाला भी अस्पष्ट और पूरी तरह से प्रकट नहीं होने पर भी व्यक्त ध्वनियो से संकेत प्राप्त कर लेता है। अतः भाषा व्यवहार मे काम चलाने के लिए एक माध्यम है। यह माध्यम ध्वनियों के उच्चारों से स्थापित होता है। शिक्षित और शिष्ट लोग भाषा की अभिव्यंजकता के प्रति सजग और सतर्क रहते हैं। इसलिए वे अपने उच्चारों को भलीभाँति प्रकट करने के लिए सचेष्ट रहते हैं। किन्तु साधारण जन इस ओर से उदासीन रहते हैं। वे इसकी आवश्यकता का अनुभव नहीं करते। किन्तु साहित्य का अध्ययन करने वाले भाषा की संवेदनात्मकता के साथ उच्चारों के

प्रति भी सतर्क रहते हैं। अमेरिका के प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक ह्विटनी का यह कथन कि उच्चारण पृथक्-पृथक् ध्वनियों को उत्पन्न करने वाली नहीं, वरन् भाषा की पूर्ण पद्धति है—भाषा और उसके उच्चारो के सन्दर्भ मे बिल्कुल ठीक व्याख्या है। बिना उच्चारण के हम किसी भाषा को उसके ठीक रूप मे तभी समझ पाते है, जबकि ध्वनि-विश्लेषण की प्रक्रिया हमे ज्ञात हो। किन्तु इस झझट मे पडे बिना और बिना अधिक समय दिए हम सरलता से किसी भाषा के उच्चारो को सुन कर उसे अपने निकट या दूर पा लेते हैं। अतएव व्यवहार में उच्चारण की बहुत उपयोगिता है। लेखन मे भी आज से लगभग पचास वर्षों के पूर्व हिन्दी-जगत् मे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सामने--सरस्वती के सम्पादक के रूप मे यह चिन्तनीय समस्या उत्पन्न हुई थी कि हिन्दी मे 'गये', 'हुवे' मे य और व श्रुति का प्रयोग किया जाए अथवा प्रचलन के अनुसार गए, हुए लिखना उचित होगा ? जो गए और हुए लिखना उचित समझते थे उनका तर्क था कि हिन्दी की यह विशेषता है कि जैसा इसमे बोला जाता है वैसा ही लिखा जाता है, इसलिए बोल-चाल को ध्यान मे रख कर ऐसा लिखना उचित होगा। उस समय आचार्य द्विवेदी जी के प्रभाव से प्रायः गए, हुए रूप ही हिन्दी मे मान्य हो गए, जो तब से आज तक भलीभाँति प्रचलित हैं। जिस प्रकार विभक्तियो को ले कर हिन्दी में एक बार बहुत विवाद चला था और फलस्वरूप दो खेमे ही बन गये थे—एक कलकत्ता वालो का और एक बनारस वालो का, लगभग वही स्थिति क्रियापदो की भी कही-कही बनी हुई है। इसलिए जब एक ही लेखक एक अनुच्छेद मे कही 'जाएगा', कही 'जायेगा', किसी स्थल पर 'जायगा' और वही कहीं पर जब 'जावेगा' लिख देता है तो एक हास्यास्पद असगति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कई प्रकार के विद्वान हमसे पूछते है कि आपकी हिन्दी क्या यही है ? उस समय यह कह कर बचा नहीं जा सकता है कि उच्चारण की भिन्नता के कारण ऐसा होता है, इसलिए सभी तरह से लिखना ठीक है। वास्तव मे जब तक बोलने वाले का भाव विशिष्ट न हो तब तक सामान्य उच्चारण और उसके अर्थ मे एकरूपता होनी चाहिए। कम से कम साहित्य में तो इस प्रकार के विकल्प की अवस्थिति नहीं है, क्योंकि बोलियो मे या बोलने वालों की रुचि और प्रवृत्ति मे यदि भेद है तो उच्चारणगत भेद साहित्य मे भी ग्रहण किया जाना चाहिए। उच्चारण मे जब तक स्वराघात, रागात्मकता, अक्षमता या विशिष्ट भावप्रवर्तन की रुचि न हो तब तक उच्चारण और वर्तनी मे एकरूपता रहनी ही चाहिए। यहाँ पर हम भाषाशास्त्र के नियमों के अनुसार इस सम्बन्ध मे भलीभाँति विचार करेंगे। इस विषय मे विचार करने के पहले हमे भाषा के रागात्मक तत्त्व का परिचय प्राप्त कर लेना बहुत आवश्यक है। 'रागात्मक तत्त्व' का अर्थ है—ध्वनिगुण और सध्वन्यात्मक रूप। व्यापक अर्थ मे यह सभी ध्वनिगुणो और सभी सध्वन्यात्मक अतरों को अपने मे समेट कर चलता है। इनके सयोगपरक अंतरों के कारण रागात्मक तत्व अनेक होते हैं, किन्तु सयोगपरक अन्तरो की विविधता न तो लिखी जाती है और न सुनी पढी जाती है।

भाषा के रागात्मक तत्त्व

भाषा और उसके उच्चारण केवल ध्वनियो का समूह मात्र नही है। उच्चारों के रूप मे जो भी प्रकाशित होता है उससे संवलित अर्थ या भाव भी भाषा तथा उच्चारण के अन्तर्गत निहित है। किसी भी बोली जाने वाली भाषा के सभी लक्षण उसके लिखित रूप में लक्षित नही होते। प्रायः बहुत कुछ अप्रकाशित ही रह जाता है। केवल बोलते समय कुछ ध्वनियों की ह्रस्वता और दीर्घता भलीभाँति परिलक्षित होती है, शेष वास्तविक मात्रा, बलाघात और स्वरलहर अप्रकट ही रहते है। लेखन मे उनके सकेत-चिह्नो का कही प्रयोग नहीं किया जाता। इससे भी अधिक भाषा का वह रागात्मक या छान्दस् पक्ष है, जिसके अन्तर्गत स्वरों के आरोह-अवरोह, सन्धियॉ तथा विरामादि (बलाघात, मात्राएँ) का लक्षण निहित रहता है। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से किसी भी नई भाषा को सीखने के लिए सब से पहले इन रागो को ध्यान मे रख कर सीखना पडता है। बालक स्कूल मे जाने के पहले घर मे, परिवार मे राग सीखते है, स्वर और व्यजन की शिक्षा उसके बाद ही ग्रहण कर पाते है। इसी प्रकार सगीत सीखने वाले को सगीतज्ञ पहले आरोह-अवरोहमूलक राग सिखाता है, सरगम की शिक्षा बाद में देता है। किसी भी भाषा को पकडने और सीखने के लिए उसके रागतत्त्व का ज्ञान होना आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है। प्रायः बलाघात से अर्थ मे भेद हो जाता है; जैसे कि—

मै। आप से यह पूछना चाहता हूँ।
आप से। मै यह पूछना चाहता हूँ।
आप से मै। यह पूछना चाहता हूँ।
आप से मै यह। पूछना चाहता हूँ।

इन सभी वाक्यो मे उच्चारण की भिन्नता के कारण अर्थ-भेद निहित है। इसी प्रकार स्वरो के आरोह और अवरोहो से सगीत की ध्वनि-लहरी में ही नही, भावों मे भी अन्तर लक्षित किया जाता है। कभी-कभी दो ध्वनियों के मिलने (सयोग) से एक तीसरा ही ध्वनि राग उत्पन्न हो जाता है। सम्भवतः इसीलिए अनुस्वार को शिक्षा-ग्रन्थो मे रग माना गया है। रग राग का जनक होता है। मात्राओ की कमी और बढोतरी से जनसाधारण भी अर्थ-भेद को अच्छी तरह जानता है। किन्तु प्रयोगगत भूलो का कारण असावधानी, उच्चारण की पूर्ण क्षमता न होना, प्रमाद तथा अज्ञान कहा जा सकता है। अधिकतर अज्ञानता के कारण भूलें होती है। कभी-कभी भ्रम के कारण भी भूल हो जाती है, पर उसे अज्ञानमूलक ही समझना चाहिए।

हिन्दी भाषा में उच्चारण और वर्तनी की एकरूपता

यद्यपि 'अन्श, कन्श और चण्ट' आदि शब्द-रूपो को लिखने से उच्चारण में कोई अन्तर नहीं पडता है, किन्तु वर्तनी की दृष्टि से इन्हे 'अश, कंश और चंट' लिखना

ठीक होगा। इसी प्रकार बोलते हैं—पोंहचना, नोकरी, ओरत, बहोत, वो, बइसा और लिखते हैं—पहुँचना, नौकरी, औरत, बहुत, वह और वैसा। अतएव समस्या न उच्चारण की है और न वर्तनी की। किन्तु समस्या है—इन दोनों के निश्चित सम्बन्ध की। क्योंकि बोलने वाले अपने ढंग से बोलते रहेंगे और लिखने वाले अपने प्रयोग और लेखन अभ्यास के अनुसार लिखने मे बहुत कम परिवर्तन करना चाहेंगे। किन्तु व्याकरण, कोश और साहित्य में उच्चरित शब्दो के निश्चित हिज्जे होने चाहिए और उनका एक निश्चित उच्चारण। प्रत्येक भाषा के लिए यह आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी माना जाता है कि उसके शब्दो के उच्चारण और वर्तनी मे एकरूपता हो। भाषा का ठीक तथा शुद्ध ज्ञान बहुत कुछ उच्चारण और वर्तनी के प्रयोग पर निर्भर है। कभी-कभी एक मात्रा या अक्षर के इधर से उधर हो जाने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है। उदाहरण के लिए, 'बेडी' बोला गया था—वेणी के लिए, किन्तु सुनने वाले ने समझ लिया 'बेडी' (हथकडी)। इसी प्रकार बोलने वाले ने 'सुबह' के लिए 'सुभा' शब्द का उच्चारण किया था, पर सुनने वाले ने उसे 'सन्देह' समझ लिया। यही नही, अनुस्वार के अभाव मे 'हस' हंस, 'डाक' डांक, 'भाग' भांग, 'रग' रंग, 'भग' भंग और 'चोगा' चोंगा हो जाता है। इससे अर्थ का ही अनर्थ नही हो जाता है, वरन् भाषा का लक्षण खण्डित हो जाता है और अव्यवस्था फैल जाती है।

हिन्दी मे उच्चारण और वर्तनी की एकरूपता का प्रश्न श्रुति, स्वराघात और भाषा के रागात्मक तत्त्वों से सम्बद्ध है। वास्तव मे उच्चारण महत्त्वपूर्ण तभी माना जाता है जब वह श्रवणीय या श्रवणगत होता है। उच्चारण की अनेकरूपता मे किसी प्रकार का सन्देह नही किया जा सकता; क्योंकि जीवित बोली का यह स्वभाव होता है। इसलिए वर्तनी की एकरूपता के लिए हमे श्रुति और साहित्य मे प्रयुक्त या अधिकतम प्रचलित रूप को मान्य करना होगा। उदाहरण के लिए—गिरस्थी, जबरजस्ती, इस्थिति, सुबेरा, अस्नान, बिप्र, स्वसुर आदि के स्थान पर गृहस्थी, जबरदस्ती, स्थिति सबेरा, स्नान, विप्र और श्वशुर जैसे सर्वाधिक प्रचलित प्रयोग ठीक माने जाएँगे। यद्यपि 'पिंजडा' और 'पिंजरा', टोकडी-टोकरी, बूढा-बूढा और सोडा-सोडा कहने मे अर्थ मे कोई भेद नही होता, किन्तु लिखते समय इनका प्रयोग पिंजरा, टोकरी, बूढा, और सोडा रूप मे ही करना चाहिए। इसी प्रकार लायी, लाई, लाओी आदि मे से 'लाई' लिखना उचित होगा। क्योंकि उच्चारणगत 'लाई' शब्द प्रायः श्रवणीय होता है; लायी नहो। इस का कारण यह है कि 'लायी' शब्द मे स्वराघात न होने के कारण उसका उच्चारण प्रायः ह्रस्व होता है।

वर्तनी के सामान्य नियम

हिन्दी मे उच्चारण और वर्तनी की एकरूपता के प्रकरण मे यह कहा जा चुका है कि सब से अधिक अन्तर हमे अर्धस्वरो के प्रयोग मे दिखलाई पडता है। हिन्दी और उर्दू मे आद्यस्थानो को छोड कर अन्यत्र अर्धस्वरों का उच्चारण इतना क्षीण होता है

कि किसी भी वाक्य की सम्बद्ध ध्वनियों के बीच उसे ठीक से पकड पाना प्रायः कठिन होता है। इसलिए कुछ विद्वानों ने 'य' और 'व' को ध्वनिग्रामीय रूप माना है।' जॉर्ज एल० ट्रेगर ने इन्हे कुछ संवृत स्वरों का संस्वन (Allophone) या विभिन्न परिस्थितियों मे उच्चरित स्वतन्त्र स्वनग्राम स्वीकार किया है।" यथार्थ मे प्राकृत अपभ्रंश तथा हिन्दी मे 'य' और 'व' श्रुतिरूप रहे हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने इनका श्रुतिरूप विधान किया है।" उनके अनुसार लघु प्रयत्न वाले 'य' का उच्चारण तभी होता है; जबकि वह अ या आ के पूर्व या पर से सयुक्त हो कर प्रयुक्त होता है। आधुनिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से ये सभी प्रयोग अर्धस्वरों की तरल रागात्मकता के कहे जा सकते हैं। हिन्दी के उच्चारण का प्रश्न वस्तुतः भाषा के रागात्मक तत्वों से सम्बद्ध है, इसलिए उच्चारण और वर्तनी की एकरूपता मे इन का ध्यान रखना आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी होगा।

दूसरे, हिन्दी के स्वनिक (Phonemic) मे उच्चारणगत सन्धिरूपो को भी समझ लेना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, हिन्दी मे 'हट जाओ' के ध्वन्यात्मक रूप को देखा जाए तो 'हड् जाओ' मे 'ड्' हलन्त है और 'ज' सन्धि रूप है, जो संस्कृत शब्दों या तत्सम रूपों को छोड कर अन्यत्र कम मिलता है। अतः यहाँ पर 'ड्' और 'ज्' ध्वनियो का सगम भाषा की रागात्मकता के अन्तर्गत माना जाएगा। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण हैं—बतासा ले, धुस जाओ, जल जा री, चुक जाने दो, इत्यादि।

तीसरे, उच्चारो के अनुसार उच्चारण और वर्तनी का सम्बन्ध निश्चित किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, हिन्दी के कुछ प्रचलित शब्द हैं—बिना, चन्द, चिह्न, महान, विस्तार, कगन, एकाकी, पण्डित, सगम, कुज, दस, शुदि, वदि, सुख-दुःख, बिल्कुल, इतमीनान, तुम्हे, हमे, भगवान, आवश्यकता, मृण्मय, त्रोटक, सतरह, ब्राह्मण, सीरा, राष्ट्रीय, राजनैतिक, घटा, चौधरी और आधीन आदि शब्दो के स्थान पर विना, चन्द्र, चिह्न, महान्, विस्तर, कङ्कन, एकाङ्की, पण्डित, सङ्गम, कुञ्ज, दश, सुदी, वदी, सुख-दुःख, बिलकुल, इत्तमीनान, तुम को, हम को, भगवान्, आवश्यकीय, मृन्मय, त्रूटक, सत्रह, ब्राह्मण, शीरा, राष्ट्रिय, राजनीतिक, घण्टा, चौधुरी तथा अधीन शब्दों को ही शुद्ध मानना हिन्दी की रागात्मकता के साथ अन्याय करना होगा। यह ठीक है कि सस्कृत के शब्दों और उसके व्याकरण की दृष्टि से गगा, कचन, कंठ, शंख, दण्ड आदि मे अनुनासिक्य (वर्ग का पचम) वर्ण का प्रयोग किया जाना चाहिए, किन्तु हिन्दी में जो शब्द वर्षों के प्रयोग से सिद्ध हो चुके हैं—क्या उन शब्द-प्रयोगों को आज संस्कृत-व्याकरण की दूरबीन से जाँचना उचित होगा? प्रत्येक भाषा की निजी प्रकृति तथा प्रवृत्ति होती है। उस पर ध्यान दिए बिना यदि हम हजार वर्षो पुरानी भाषा और उसकी पद्धति के प्रतिमानो के आधार पर आज किसी अन्य भाषा की जाँच-पड़ताल करने बैठें तो क्या वह सगत होगा? हिन्दी भाषा संस्कृति तथा संस्कृत की

अग हो सकती है, किन्तु उसकी अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति ही नहीं, अभिव्यंजकता भी सर्वथा भिन्न है।

हिन्दी की प्रकृति तथा प्रवृत्ति

व्यवहार में प्रवृत्ति के साधन शब्द ही है। भर्तृहरि के वचन हैं :

'अर्थप्रवृत्तितत्त्वाना शब्दा एव निबन्धनम्।' (वाक्यपदीय)

शब्द सिक्के की तरह चलते हैं। वे ढलते हैं और बिगडते है तथा परिष्कृत होते हुए विकसित हो जाते है। प्रत्येक भाषा की अपनी टकसाल होती है, जहाँ ये सिक्के पुराने और नए दोनो रुपो में मिलते हैं। प्रायः प्रत्येक इतिहास के युग में कुछ न कुछ अभिव्यक्ति के साधन नए शब्दों की आवश्यकता होती है। अधिकतर नए शब्द पुराने शब्दो को चलन से बाहर कर देते है। जो शब्द घिस जाते है, जिन की अर्थ-बोधकता क्षीण हो जाती है और जो ढले हुए सिक्कों से दब जाते है वे अपना अस्तित्व अधिक समय तक बनाए रखने में समर्थ नहीं होते। किन्तु जो कुछ परिवर्तन के साथ अपने सामर्थ्य को बढा लेते हैं वे युग की धारा मे सबसे अधिक गतिशील हो जाते हैं। भाषा की इस गतिशील प्रकृति तथा प्रवृत्ति को नही समझने के कारण सस्कृत को हिन्दी की माता समझने वाले न जाने किस उमग में आकर 'लगन' को 'लग्न' लिख बैठते है और 'कथा बाँचने' को सस्कृत के प्रभाव मे आकर 'कथा वाचने' गये थे, कह उठते है। इसी प्रकार उनके लिखने मे ब्रजभाषा का रूप 'व्रजभाषा' बन जाता है और 'षष्ठ' को 'षष्ठम' होते देर नही लगती। यही नही, 'अगरबत्ती' उनके पास पहुँच कर 'अग्रवत्ती' बन जाती है और 'वचना जी' की बात तो पूछो ही नही, सीधे वह 'वचना जी' बन जाते हैं। इसी प्रकार 'हँसी' की 'हसी' उडने लगती है और 'सिगार' एकदम 'शृगार' बन जाता है। कहाँ तक कहे 'माँस' का दम घुट कर 'मास' रह जाता है और भोजपाल का बसाया हुआ 'भोपाल' अपने 'भूपाल'पन पर रोता हुआ नजर आता है। किन्तु देखते ही देखते 'बनारस' अतीत की नगरी 'वाराणसी' की भेट हो गया, भले ही भारत के अन्य नगरों की भाँति वहाँ भी अब पुरानी सभ्यता भेटने के लिए न मिले।

हिन्दी की एकरूपता का प्रश्न

यह अब भलीभाँति प्रकट हो गया है कि हिन्दी का दिनोदिन प्रचार, प्रसार तथा विकास होता जा रहा है। केवल भाषा और साहित्य में ही नही, विभिन्न विज्ञान तथा तकनीकी एव अन्य व्यवहार मे उपयोगी विषयो पर प्रतिदिन बहुत कुछ लिखा जा रहा है। इस विकास को देखते हुए यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि हिन्दी भाषा का अभी तक पर्याप्त विचार नही हुआ। इस छोटी-सी पुस्तक में जो कि छात्रो को ध्यान मे रख कर लिखी गई है, सभी प्रकार से विचार करना सम्भव नहीं है। फिर भी, हिन्दी की वर्तमान अनेकरूपताओ को देखते हुए प्रमुख रूप से तीन प्रकार से चिन्तन किया जा सकता है। क्योकि मुख्यतः लेखन, शब्द-रूप और प्रयोग सम्बन्धी विषमताएँ परिलक्षित होती है। अतः इन तीनो पर सक्षिप्त विचार करना आवश्यक है।

(१) **लेखनसम्बन्धी एकरूपता**—लेखनसम्बन्धी विचार का प्रश्न मूलतः देवनागरी लिपि से सम्बद्ध है। लिपि के अनेक रूप आज प्रचलित हैं। कोई शिरोरेखाविहीन लिखता है तो कोई शिरोरेखासहित। कोई मात्राओं का प्रयोग वर्णसहित करता है तो कोई वर्णरहित अर्थात् कुछ लोग वर्णों से मात्राओं का काम चलाते हैं और कुछ मात्राओं का नियत प्रयोग करते हैं; जैसेकि—कोई अि, अु, अे आदि लिखता है तो कोई इ, उ, ए, आदि। इसी प्रकार कुछ दो तरह के समान वर्ण लिखे जाते हैं—ण-ण, ल ल, क्ष-च, ल-त्र, आदि। इसी तरह कोई भगवान्, महान्, विद्वान्, श्रीमत्, श्रीमान् आदि मे हलन्त का प्रयोग करता है तो कोई उन्हे स्वरान्त बना कर बिना हलन्त किए लिखता है। अनुनासिक्य और अनुस्वार सम्बन्धी प्रयोगो मे तो और भी अधिक गडबडी है। जिसके जो समझ मे आता है लिख देता है। यह प्रयोग करने वाले को सदा ध्यान में रखना चाहिए कि भले ही हमारे आप के नियम वैज्ञानिक प्रभाव के कारण टूट गए हो, किन्तु भाषा के नियम टूटने मे भी नए बन जाते हैं। बिना नियम की कोई भाषा नही होती। इन नियमो का समझना और उसके अनुसार भाषा का प्रयोग करना, हमारे लिए आवश्यक हो जाता है। कुछ सामान्य नियमों की चर्चा किए बिना केवल अनेकरूपता का राग आलापने से एकरूपता स्थापित नही हो सकती। बड़े से बडा वैयाकरण या भाषाशास्त्री भाषा के नियमो पर अपना अनुशासन नहीं चला सकता। भाषा अपनी प्रकृति से स्वय अनुशासित है। उस अनुशासन को देखना-समझना हमारा काम है। हमें केवल उसकी चाल को देख कर चलना है। अपनी ओर से किसी प्रकार की कार्यवाही नहीं करनी है।

भाषा की चाल को समझने के लिए परम्परा ही नहीं, आज के अधिकतर प्रयोग और भाषाशास्त्र विशेष सहायक सिद्ध होते है। कई वर्षों के पूर्व ही हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० बाबूराम सकसेना ने अपने प्रबन्ध मे यह तथ्य भाषा-जगत् के सामने रखा था कि हिन्दी तथा अवधी मे सज्ञाएँ व्यजनान्त भी होती हैं; जैसे कि—नोक्, नीद्, कान्, लाज् इत्यादि। क्या ये व्यजनान्त सज्ञाएँ इस रहस्य को प्रकट नही करती कि हिन्दी मे अभी तक कही-कही हलन्त प्रयोग अवशिष्ट है। फिर, हिन्दी मे हम जिन सस्कृत शब्दों का प्रयोग करते है उनका यदि हिन्दी मे हिन्दीकरण नही किया गया है तो वे अपने साधु रूप में ही लिखे जाने चाहिए। इस पर आगे विचार किया जाएगा। यहाँ पर पहले परम्परा का सन्दर्भ-सूत्र खोजना है। अपभ्रंश की यह व्यवस्था—क्या हिन्दी में परम्परागत नही चली आ रही है कि सज्ञा का अन्त्य स्वर प्रायः दीर्घ से ह्रस्व और ह्रस्व से दीर्घ हो जाता है।[*] उदाहरण के लिए—श्यामल से सॉवला, गौर से गोरा, परशु से फरसा, शय्या से सेज, आषाढ से असाढ़, भगिनी से बहिन, गोधा से गोह और वाराणसी से बनारस इत्यादि। हिन्दी की चाल मे ढली हुई दो प्रवृत्तियाँ मुख्य रूप से दिखलाई पड़ती है। पहली हैं—संस्कृत के तत्सम शब्दों की भरती की प्रवृत्ति, और दूसरी है—ह्रस्वादेश की प्रवृत्ति। ये दोनों प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न

हैं। हिन्दी के शब्द-भण्डार का विचार किया जाए तो सब से अधिक शब्द संस्कृत के तत्सम शब्द मिलेंगे। उनकी सख्या लगभग पचास प्रतिशत होगी। उन शब्दों की प्रचुरता के कारण सामान्य रूप से जब भाषा का विचार किया जाता है तो सस्कृत के व्याकरण के आधार पर हिन्दी के शुद्धाशुद्ध का निर्णय दिया जाता है। वर्तनी की समस्या भी इससे सम्बद्ध है। उदाहरण के लिए—स्थायी और स्थाई, लायी और लाई, जायी और जाई, खायी और खाई, गयी और गई तथा सोयी और सोई, आदि क्रियापदों मे कौन-सा रूप ठीक है—यह विचार करने के लिए एक ओर परम्परागत तथा श्रुतिरूप ध्वनियों का रूप है और दूसरी ओर सस्कृत-व्याकरण के नियम हैं। सस्कृत मे 'स्था' धातु है, जिसका अर्थ 'ठहरना' है। हिन्दी मे केवल 'था' धातु का प्रयोग कहीं-कहीं किया जाता है, जिसका क्रियापद रूप है—थापना (गोबर थापना, मूर्तिथापना आदि)। स्था धातु मे य मिला देने से वह टिकने का भाव देने लगती है। 'स्थायी' के लिए हिन्दी मे 'टिकाऊ' शब्द है। किन्तु आज उसका प्रयोग बहुत ही कम होता है। क्योकि हिन्दी मे तत्सम शब्दों को अपनाने की प्रवृत्ति चली आ रही है।

भाषा मे जाने-अनजाने सादृश्य की प्रवृत्ति बहुत कार्य करती है। सादृश्य (analogy) रचना के आधार पर अनेक शब्दो की सृष्टि देखी जाती है। हिन्दी के भूतकालिक कृदन्तो की रचना 'या' जुड कर होती है, इसलिए खाया, पिया, लिया, दिया, सोया, रोया, आदि रूप बनते हैं। सज्ञा रूपो मे भी लिखाई, छपाई, सिलाई, कटाई, बुनाई, चुनाई, मिठाई, दिखाई, सिखाई, हसाई, रुलाई, जगाई, पढाई, बढाई, ढिठाई, सिधाई तथा टिढाई, आदि भी समान रचना के द्योतक हैं। इनके अन्त में 'ई' प्रत्यय लगता है। अतएव 'यी' (मिटायी, दिखायी, बुनायी) जोड कर नहीं लिखना चाहिए। केवल रचना के आधार पर ही नही, श्रुति के अनुसार भी हिन्दी मे इनके उच्चारण मे शब्द के अन्त मे 'ई' सुनाई पडता है। इसलिए भी शब्द के अन्त मे 'यी' के बजाय 'ई' लिखना ठीक होगा।

वास्तव मे हिन्दी मे वर्तनी की अनेकरूपता क्रियापदो मे विशेष रूप से देखी जाती है। रूसी विद्वान् डॉ० दीमशित्स ने 'हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा' मे (पृ० १६१) सम्भावनार्थक क्रियारूपो मे एक ही रूप के लिए (जाएँ) कई रूप (जावें, जायें, जायँ) लिखे है। यह पहले ही बता चुके है कि व्याकरण के नियम के अनुसार यदि किसी धातु के अन्त मे 'आ', 'ई', 'ऊ' और 'ए', मे से कोई स्वर हो तो सामान्य भविष्यत्काल के अन्य पुरुष में भविष्यत्कालबोधक 'गा' प्रत्यय के पूर्व 'य' व्यजन का आगम हो जाता है। किन्तु भाषाशास्त्र के अनुसार यहाँ 'य' व्यजन का आगम न हो कर 'ए' स्वरागम होता है। इसलिए जाएगा, जाएगी, जाएँगे, जाएँगी, लाएगा, लाएगी, लाएँगी, लाएँगे, छुएगा, छुएगी, पिएगा, पिएगी, सिएगा, सिएगी और होएगा, होएगी, आदि रूप बनेगे।

सामान्य रूप से जिन क्रियापदों के अन्त में 'आ' स्वर होता है, स्त्रीलिंग में उन क्रियापदों के अन्त में 'य' से सहित 'आ' के (या के) स्थान पर 'ई' का प्रयोग किया जाता है; जैसेकि—आई, पाई, दिखाई, लाई, बनाई, गई, मिटाई, सिलाई, जताई, जुताई, बुवाई, सुघराई, सिंचाई, सफाई और निराई, इत्यादि। किन्तु किया, लिया, दिया, आदि इसके अपवाद हैं। उनके स्त्रीलिंग में रूप बनते हैं—की, ली, दी। इसी प्रकार चला से चली, खेला से खेली, ठना से ठनी, धुना से धुनी, छना से छनी तथा रमा से रमी, आदि में स्त्रीलिंग का वाचक 'ई' प्रत्यय सादृश्य-रचना से ही सम्बन्धित है। अतएव इनके लेखन में किसी प्रकार का भ्रम नहीं होना चाहिए।

हिन्दी में लेखनसम्बन्धी एकरूपता की दृष्टि से अन्य भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद करते समय मूल पाठ की वर्तनी के सम्बन्ध में भी कुछ आवश्यक बातें ध्यान में रखने योग्य है। हिन्दी में संस्कृत पाठ के लिए जिस वर्तनी को प्रयोगार्ह माना जाता है, प्राकृत और अपभ्रंश पाठों के लिए वह वांछनीय नहीं होगी। इसी प्रकार से हिन्दी पाठ की अपनी वर्तनी होगी। वर्णविन्यास की एकरूपता के लिए सबसे पहले संस्कृत शब्दावली तथा संस्कृत पाठ के लिए वर्तनी के सामान्य नियमों का निर्देश किया जाता है।

(१) समासरहित शब्द के मध्य में तथा अन्त में दन्त्य न् के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग न कर पञ्चमाक्षर लिखना चाहिए। जैसेकि—अङ्क, दण्ड, अनन्त, अञ्जन, कम्पन, चम्पक तथा गच्छन्, सम्मिलन्त, इत्यादि। परन्तु, किंतु, किंचित्, आदि रूप इसके अपवाद है। इन में अनुस्वार का प्रयोग करना उचित होगा।

(२) यदि वाक्य या पद्य के अन्त में जब तक अन्त्य 'म्' के पश्चात् कोई स्वर या व्यंजन न हो तब तक उसके स्थान पर अनुस्वार नहीं होता। यथा—व्रतागमन-कारणम्।

(३) यदि किसी उपसर्ग या पद के अन्त में 'म्' का प्रयोग किया जाता है तो उसके स्थान पर पंचमाक्षर न लिख कर अनुस्वार लिखना उचित होगा। उदाहरण के लिए—'सम्पद्, सङ्गच्छते' के स्थान पर 'संपद्, संगच्छते' तथा 'त्वङ्करोषि' के स्थान पर 'त्वं करोषि' लिखना चाहिए।

(४) सवर्ण सन्धि में 'अ' या 'आ' के लोप के हेतु एक या दो अवग्रह चिह्नों का प्रयोग करना उचित नहीं होगा। केवल 'ए' या 'ओ' के पश्चात् 'अ' के लोप के सूचक अवग्रह चिह्न का प्रयोग करना उचित होगा। जैसेकि—संगच्छतेऽधुना, आगतो ऽनन्तः में; न कि विद्याधिवास में अवग्रह चिह्न होगा।

(५) रोमन लिपि के प्रश्नवाचक (?), आश्चर्यवाचक (!) तथा अर्द्धविराम (;) का प्रयोग करना उचित नहीं होगा। पूर्णविराम और अल्पविराम के लिए क्रमशः।, , इन दोनों चिह्नों का प्रयोग किया जा सकता है। इसी प्रकार ग्रन्थ की समाप्ति की सूचना के लिए दो खड़ी पाई (॥) का प्रयोग करना उचित होगा। परन्तु समस्त पदों के बीच किसी रेखा या अर्द्धविराम का प्रयोग उचित नहीं होगा।

(६) किसी वाक्य या समस्त पद को वहीं तक एक रेखा के नीचे लिखना चाहिए, जहाँ तक कि शिरोरेखा के नीचे लिखे गये शब्द सन्धि के नियमों के अनुकूल है। यथा—श्रीपतिर्भगवान्पुष्याद्भक्ताना वः समीहितम्। अथवा 'भगवान् पु०' इस रूप मे भी।

(७) सस्कृत गद्य मे किसी के कहे हुए वचनो को लिखने के लिए रेखा (–) या विरामो अथवा दोनो का प्रयोग करना चाहिए। अन्त मे 'इति' शब्द के द्वारा निर्देश करना आवश्यक होगा। किन्तु कथित वचन-सन्धि के असामान्य नियमो के अनुसार उद्धरण के अन्तिम शब्द के साथ नहीं जोडना चाहिए। उद्धरण का समझने के लिए सकेत तथा स्पष्टता आवश्यक है। किसी प्रकार यह भ्रम नही होना चाहिए कि कथित प्रवाह मे ही यह वाक्य लिखा जा रहा है, किसी अन्य का कहा हुआ नहीं है।

(८) पद्य के सभी चरणों को एक समान स्थान दिया जाना चाहिए। ऐसा न हो कि कोई चरण लेखन मे छोटा हो और कोई बडा। सभी पक्तियॉ सुन्दरता की दृष्टि से बराबर होनी चाहिए। बीच की बराबरी को बनाने के लिए रेखा (–) का प्रयोग करना उचित नही होगा।

(९) सस्कृत को रोमन लिपि मे प्रकट करने के लिए निम्नलिखित ध्वनिचिह्नों का प्रयोग करना अपेक्षित होगा :—

a	ā	i	ī	u	ū	r	r	lr
अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	ॠ	ऌ
e	ai	o	au	aṃ	ah			
ए	ऐ	ओ	औ	अ	अः			
k	kh	g	gh	n				
क्	ख्	ग्	घ्	ङ्				
c	ch	j	jh	ñ				
च्	छ्	ज्	झ्	ञ्				
t	th	d	dh	ṇ				
ट्	ठ्	ड्	ढ्	ण्				
t	th	d	dh	n				
त्	थ्	द्	ध्	न्				
p	ph	b	bh	m				
प्	फ्	ब्	भ्	म्				
y	r	l	v					
य्	र्	ल्	व्					
ś	ṣ	s	h	l	kṣ	gñ		
श्	ष्	स्	ह्	ल्	क्ष्	ज्ञ्		

प्राकृत तथा अपभ्रंश में निम्न ध्वनिचिह्नों का विशेष रूप से प्रयोग करना उचित होगा।

ŏ	aï	ŏ	aü
ए [ऍ]	अइ	ओ [ओॅ]	अउ

प्राकृत तथा अपभ्रंश में ही नहीं, हिन्दी की बोलियों में भी ह्रस्व ए, ओ मिलता है। इसलिए उनको भी उक्त रूप से व्यवहार करने पर लिखा जा सकता है। हिन्दी में देवनागरी लिपि में उन्हें कैसे लिखना चाहिए, यह आगे कहा जाएगा।

प्राकृत तथा अपभ्रंश पाठों के लिए वर्तनी सम्बन्धी कुछ नियम इस प्रकार हैं—

(१) नियमानुसार प्राकृत तथा अपभ्रंश के शब्दों में सर्वत्र अनुस्वार का प्रयोग करना चाहिए; यथा—वंक, अंक, बिंब, चंचु, रंकु, कंडु, दंड, इत्यादि।

(२) प्राकृत तथा अपभ्रंश में प्रयुक्त संयुक्त व्यंजनों को ज्यों का त्यों एक शिरोरेखा के नीचे लिखना चाहिए; जैसे कि—कण्ण, कण्ह, कन्न, कम्म, छम्म, णण्ह, ठेक्क, उण्णाह, इत्यादि।

(३) प्राकृत में स्वररहित व्यंजन का प्रयोग नहीं होता, इसलिए 'धम्मं' लिखना चाहिए; धम्मम् नहीं। इसी प्रकार प्राकृत तथा अपभ्रंश में पिम्म, जं, तं, णं, णेत्तं, छत्त, पवित्त, विचित्तं, पत्तं, सत्थ, केसं, आदि में अनुस्वार का प्रयोग करना उचित होगा।

(४) सामान्य रूप से प्राकृत और अपभ्रंश में सर्वत्र 'ण' का प्रयोग होता है।

(५) ह्रस्व 'ए' के लिए—(˘) तथा ह्रस्व 'ओ' के लिए—(˘) ध्वनि-चिह्नों का प्रयोग करना चाहिए; जैसेकि—वे˘ल्लि, वे˘ल्लु, मो˘ल्लु, तो˘ल्लु।

(६) छन्द-रचना की दृष्टि से लघु मात्रा को सूचित करने के लिए अर्धचन्द्र चिह्न (ँ) का प्रयोग करना उचित होगा; यथा—तिहिँ, जहिँ, एहिँ, एत्तहिँ, आदि।

(७) संयुक्त व्यंजनों को इस प्रकार लिखना चाहिए—पक्ख, वग्घ, कच्छ, बुज्झ, गढड्, वड्ढ, आदि। इनको पख्ख, वघ्घ, कछ्छ, बुझ्झ, गढ्ढ, वढ्ढ, लिखना गलत होगा। इसी प्रकार अत्थ, सत्थ, सवच्छर, गिम्ह, बम्ह, गिण्ह, चिण्ह, रूप में ही लिखना उचित है।

(८) शब्द के बीच उद्वृत्त स्वर अ और आ के साथ 'य' श्रुति का प्रयोग बिना किसी पूर्ववर्ती स्वर के विचार किए करना चाहिए। क्योंकि कहीं-कहीं संस्कृत का 'य' भी मध्य में प्रयुक्त हो सकता है; जैसेकि—पयोयण (पयोहण)। 'च' के स्थान पर 'य' का प्रयोग केवल स्वर के पश्चात् होता है। अनुस्वार के पश्चात् 'च' ज्यों का त्यों रह सकता है; यथा—सचिय, लंचिय, अंचिय, आदि।

(९) हस्तलिखित पाण्डुलिपियों में अनुस्वार और अनुनासिक दोनों के लिए केवल एक ही अनुस्वार-चिह्न (ं) का प्रयोग मिलता है। इसलिए अपभ्रंश ग्रन्थों का

सम्पादन करते समय आवश्यकता के अनुसार लिपिगत अनुनासिक चिह्न का (ँ) भी प्रयोग करना उचित कहा जा सकता है।

(१०) प्राकृत मे सस्कृत के 'खलु' शब्द के लिए तीन रूप प्रयुक्त मिलते हैं—खु, क्खु और हु। इनमे से हु और क्खु का प्रयोग स्वर के पश्चात् किया जाना चाहिए। किन्तु खु का प्रयोग सदा अनुस्वार के पश्चात् होना चाहिए। छन्दगत मात्रा की दृष्टि से क्खु के पूर्व का स्वर ह्रस्व होता है।

(११) अपभ्रंश मे हु और हो के प्रयोग बहुत मिलते हैं। शब्द के अन्त में जुड़ने वाले इन हु और हो के प्रयोग है—णयरहु, नयरहो,हसहो, आयहो, दियहो (द्विजस्य), आदि। 'हो' प्रत्यय षष्ठी विभक्ति के एकवचन का है। कही-कही काव्य मे छन्द के अनुरोध से हो का ह्रस्व रूप 'हु' भी मिलता है। अतः छन्द का लक्षण ध्यान मे रख कर हु या हो का प्रयोग करना चाहिए।

(१२) प्राकृत मे सस्कृत 'अपि' के कई रूप मिलते है—पि, मि, वि, अवि। पि और मि के पूर्व निश्चय से अनुस्वार होता है। उदाहरण के लिए—खण पि, खण मि। किन्तु तह वि, किमवि, अवि, तथा किसी वाक्य या पक्ति के आरम्भ में णाम, कि वि, का प्रयोग उचित नहीं है। अपभ्रंश मे भी पि, मि, वि, अवि, के प्रयोग मिलते हैं।

(१३) सस्कृत के इव के भी कई रूप मिलते है—व, व्व, विव, पिव, मिव, इव। इन मे से कहीं-कहीं पर पिव और मिव अनुस्वार के पश्चात् प्रयुक्त होते है; शेष नही। पक्ति या वाक्य के आरम्भ मे इनका प्रयोग उचित नहीं है। इन को किसी शब्द से सयुक्त न कर अलग से लिखा जाना चाहिए।

(१४) सस्कृत के इति शब्द के भी कई रूप देखे जाते है—इय, इ, इदि, ति, त्ति, इत्ति। इन मे से 'ति' का प्रयोग अनुस्वार के पश्चात् होता है और 'इ' का स्वर के पश्चात् 'त्ति' के पूर्व प्रायः 'इ' आता है। कभी-कभी 'इत्ति' का प्रयोग सन्धि मे भी होता है; जैसे कि—तहेत्ति तथा किमिदि।

(१५) प्राकृतो मे सामान्य रूप से किसी शब्द के आरम्भ में अथवा अनुस्वार के पश्चात् सयुक्त व्यजन का प्रयोग नही होता। इसलिए वाक्य का प्रारम्भ 'य्येव' से न हो कर 'एव' से होना चाहिए। इसी प्रकार अनुस्वार के पश्चात् 'त चेव' लिखना चाहिए; न कि त च्चेव।

(१६) पि, ति, क्खु, व्व, आदि अव्ययों को पूर्व शब्द से सयुक्त न कर अलग लिखना चाहिए।

हिन्दी मे प्राचीन पाठ के सम्पादन में प्रायः अपभ्रंशसम्बन्धी उक्त नियमो को ध्यान में रखना चाहिए। अन्य वर्तनीसम्बन्धी कुछ नियम निम्नलिखित है—

(१) ढोला मारू रा दूहा, कुतबशतक, आदि रचनाओं मे प्रयुक्त मइ और मइं, इन दोनों मे से 'मइं' का प्रयोग करना उचित होगा। क्योंकि अपभ्रंश तथा पुरानी दक्खिनी में आज तक 'मइं' का प्रयोग बना हुआ है। इस 'मइ' को फारसी लिपि

में लिख कर पढ़ा जाए तो 'मैं' पढ़ने में आता है। अतः इसी से हिन्दी में 'मैं' प्रचलित हो गया।

(२) हिन्दी में परसर्गों कुं, को, के, का, आदि को किसी शब्द से संयुक्त न कर सर्वथा अलग लिखना चाहिए।

(३) हिन्दी के पुराने गद्य मे तथा अन्यत्र मिलने वाले में, मै, मै, रूपों मे से 'मैं' का प्रयोग करना उचित है। किन्तु मैं और कौं प्रयोग उचित ही हैं। इसी प्रकार 'सौं' का प्रयोग उचित मान्य होगा। परन्तु कैं, कै और के, मे से पाठानुसार सन्धान कर लिखना चाहिए।

(४) हिन्दी मे पुरानी हिन्दी तथा राजस्थानी मे समान रूप से प्रयुक्त स्वार्थिक प्रत्यय 'रा' और 'डा' दोनो का प्रयोग होता है। किन्तु यदि 'जिय' से जियरा और 'हिय' से हियरा बनता है तो जियडा और हियडा लिखा जाना चाहिए। राजस्थानी की भाँति हिन्दी मे जिवडा और हिवडा लिखना उचित नही होगा।

(५) ब्रजभाषा के क्रियारूपो मे हस्तलिखित ग्रन्थों मे 'ओ' और 'औ' दोनों रूप मिलते है। इन मे से 'ओ' लिखना उचित होगा; जैसे कि—सुन्यो, रह्यो, धर्‌यो, लिख्यो आदि।

(६) अपभ्रंश की भाँति हिन्दी मे भी पचम वर्णा के लिए सामान्य रूप से अनुस्वार (ं) का प्रयोग किया जाना चाहिए।

(७) हिन्दी मे शुक्लपक्ष के लिए 'शुदि' और कृष्णपक्ष के लिए 'वदि' शब्द लिखना उचित होगा। क्योंकि सस्कृत के शुक्लपक्ष शब्द का सक्षिप्त 'शु' और 'दिवस' का सक्षिप्त 'दि' से मिल कर शुदि बना है। इसी प्रकार बहुलदिवस का संक्षिप्त 'वदि' है। हिन्दी मे और विशेषकर उत्तर भारत मे 'श' का उच्चारण प्रायः 'स' होता है, इसलिए शुदि को सुदि लिखना तो उचित कहा जा सकता है; किन्तु सुदी, वदी लिखना उचित नही होगा।

(८) अन्य भाषाओ से ग्रहण किए गए शब्दो को हिन्दी प्रकृति के अनुसार प्रयुक्त कर उन के एकवचन, बहुवचन आदि रूप बनाए जा सकते हैं; जैसेकि—मेजें, मेजो पर, लालटेनें, चिमनियो से, हेलीकाप्टरों मे, बुशर्टों पर, इत्यादि। किन्तु भ्रम व अज्ञान के कारण अपनी भाषा के शब्द जब अंग्रेजी उच्चारो के साथ उच्चरित होते है तब वे तागा से टागा, किधर से किडर, इक्का से एक्का, घोडी से घोडी और धोती से दोटी एवं सन्त से सट बन जाते है। ऐसी स्थिति मे हमे तागा, किधर, इक्का, घोड़ी, धोती तथा सन्त शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए।

वर्तनी की दृष्टि से हिन्दी के शुद्धाशुद्ध शब्दो की सूची इस प्रकार है—

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
ग्रसित	ग्रस्त	सन्मान	सम्मान
स्त्रियोपयोगी	स्त्र्युपयोगी	स्त्रियोचित	स्त्र्युचित

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
सृजन	सर्जन	एकत्रित	एकत्र
महत्व	महत्त्व	उज्वल	उज्ज्वल
स्वादिष्ट	स्वादिष्ठ	बलिष्ट	बलिष्ठ
घनिष्ट	घनिष्ठ	गरिष्ट	गरिष्ठ
जैनी	जैन	सुशोभित	शोभित
आवश्यकीय	आवश्यक	सन्मुख	सम्मुख
प्रगट	प्रकट	पृष्ट	पृष्ठ
गृहस्थी	गृहस्थ	वानप्रस्थी	वानप्रस्थ
उपरोक्त	उपर्युक्त	सुश्रुषा, सुश्रूषा	शुश्रूषा
वैसे ही	वैसे	उसी प्रकार	उस प्रकार
जागृत	जाग्रत	आधीन	अधीन
सराहनीय	श्लाघ्य, श्लाघनीय	निर्भर	अवलम्बित
औषधि	औषध, ओषधि	सिंचित	सिक्त
उपरान्त	अनन्तर, पश्चात्	महानता	महत्ता
अनुवादित	अनूदित	अहर्निश	अहर्निशि
अंताक्षरी	अन्त्याक्षरी	रोचात्मक	रोचक
क्रपाण	कृपाण	अहिल्या	अहल्या
अतर्ध्यान	अन्तर्धान	अंतरप्रातीय	अन्तःप्रान्तीय
खीज	खीझ	अधोपतन	अधःपतन
क्षत्र	छत्र	उपहार-गृह	उपाहार-गृह
घन्टा	घण्टा	क्रोधित	क्रुद्ध
धैर्यता	धीरता, धैर्य	सौन्दर्यता	सुन्दरता, सौन्दर्य
वैमनस्यता	वैमनस्य	स्थाई	स्थायी
निरोगी	नीरोग	श्रृंगार	शृंगार
फिजूल	फजूल	बारात	बरात
मनोकामना	मनःकामना	पूज्यनीय	पूज्य, पूजनीय
ऐक्यता	एकता, ऐक्य	अनुग्रहीत	अनुगृहीत
रसायण	रसायन	पाण्डे	पाण्डेय
बाजपेयी	वाजपेयी	प्रदर्शिनी	प्रदर्शनी
सुस्वागत	स्वागत	व्याहार	व्यवहार
लुडकना	लुढकना	ठढा	ठढा
आधृत	आधारित	राजनयिक	राजनैतिक
सत्व	सत्त्व	तत्व	तत्त्व
लड़ायी	लडाई	नयी	नई

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
अभी ही	अब ही, अभी	जभी ही	जब ही, जभी
खाइये, दीजिये	खाइए, दीजिए	सोइये, उठिये	सोइए, उठिए
छात्रायें	छात्राएँ	उपनिषद	उपनिषद्
सन्यासी	संन्यासी	उऋण	अनृण
क्रिप्या	कृपया	शब्दकोष	शब्दकोश

(९) हिन्दी मे सयुक्त व्यंजनों का प्रयोग सयुक्त रूप में ही करना चाहिए। संयुक्त व्यंजन के स्थान में अनुस्वार (˙) का प्रयोग करना उचित नही होगा। अतएव नन्हा, कन्हैया, चिह्नित आदि शब्दो को नंहा, कंहैया, चिंहित आदि रूपों में लिखना ठीक नही है।

(१०) संस्कृत के शब्दों को उनके रूपों में ही लिखना चाहिए; जैसेकि—स्थायी, विषपायी, सदाशायी, शेषशायी, अनुदायी, जन्मदायी, विधायी, इत्यादि। इन शब्दों के अन्त मे 'यी' लिखना चाहिए, न कि 'ई'।

(११) सस्कृत के चिह्न, ब्रह्म, कर्ता, शुद्ध, प्रवृत्ति, उत्तर, पद्धति, आदि शब्दों को चिन्ह, ब्रम्ह, कर्ता शुध्ध, प्रवृत्ति, उत्तर, उत्तर, पध्धति आदि रूपों मे लिखना उचित नहीं होगा।

(१२) विराम-चिह्नों के प्रयोग मे कुछ लोग हिन्दी के पूर्णविराम '।' के स्थान पर अंग्रेजी के पूर्णविराम '.' का प्रयोग करते हैं, जो उचित नही है। इसी प्रकार उर्दू के पूर्णविराम '–' का प्रयोग भी उचित नहीं कहा जा सकता।

(१३) हिन्दी मे विभक्तियाँ तथा परसर्ग शब्दो से हटाकर ही लिखना चाहिए, क्योंकि वे स्वतन्त्र कारक-चिह्न हैं। सर्वनामो में भी परसर्गों का प्रयोग अलग से लिखा जाना चाहिए, जैसेकि—उस में, उस ने, उस का, आदि। मैंने, मुझे, हमे आदि इस के अपवाद हैं।

(१४) मुद्रण की दृष्टि से अब 'अ—अ' मे से 'अ' को अपनाना उचित होगा। किन्तु 'ल—ल' में से 'ल' का लिखना ही ठीक होगा। परन्तु 'ण—ण' मे से 'ण' का प्रयोग उचित कहा जा सकता है। क्योंकि 'ण' के लिखने से कभी-कभी 'र' का भ्रम हो जाता है। फिर, टंकन तथा मुद्रण की दृष्टि से 'ण' सरल है। इसी प्रकार 'श—श' में से 'श' लिखना चाहिए।

(१५) मुद्रण तथा टकन (टाइपराइटर) में निम्नलिखित चिह्नों को सम्मिलित करना आवश्यक होगा। क्योंकि अनुनासिक चिह्न कुंजीपटल में नहीं होने से कहीं-कहीं अर्थ का बडा अनर्थ हो जाता है; जैसेकि—साँचे को साचा, माँग को माग, हँसी को हंसी आदि। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ने भी इन चिह्नों को मानक देवनागरी में सम्मिलित करने का निदेश दिया है। ये चिह्न हैं—

( ), + × ÷ * = ˇ % " " ˜ ˙ .

(२) शब्दरूप सम्बन्धी एकरूपता

उच्चारण के भेद के कारण हिन्दी-शब्दों के कई रूप लेखन में भी प्रचलित दिखाई पड़ते हैं। एक अस्पताल शब्द को कोई हॉस्पिटल लिखता है तो कोई हस्पताल। दिल्ली का 'हस्पताल' बनारस तक पहुँचते-पहुँचते 'अस्पताल' हो जाता है। वास्तव में अस्पताल हिन्दी का शब्द बन गया है। आगरा का हास्पिटल रोड अथवा दिल्ली का हस्पताल 'होस्पिटल' शब्द का अन्धानुकरण मात्र है। इसे समझने के लिए कुछ अन्य शब्दों के उदाहरण है—बम को बूम, अल्मारी को एलमिरा, स्पूतनिक को स्पूटनिक और लालटेन को लेन्टर्न कहना जिस प्रकार ठीक न होगा, उसी प्रकार अस्पताल को हस्पताल। इसी प्रकार स्तुर्त्वा को स्टुर्टावेन्ट, रोजर्स को रोगर्स, ह्विटमेन को व्हाइटमेन, लेमन को ल्हेमन तथा चटर्जी को चाटुर्ज्या लिखना उच्चारण की दृष्टि से ठीक नहीं है। इस प्रकार की सब से अधिक गड़बड़ी सख्यावाचक शब्दो मे देखी जाती है। भिन्न-भिन्न प्रान्तो के क्षेत्रीय अचलो मे बोली-भेद के कारण पचहत्तर को पिचत्तर, पिचहत्तर, पचोत्तर, पिचोत्तर, तथा पचहत्तर, आदि अनेक रूपो मे बोला-लिखा जाता है। इसी प्रकार उनचालीस को गुनचालीस, गुणचालीस तथा सतत्तर, सतहत्तर, सतहतर, सतोत्तर, आदि रूपो मे लिखा हुआ मिलता है। अकेले मध्यप्रदेश मे मालवी, निमाडी, बुन्देली, छत्तीसगढी, हलबी, आदि बोलियो का उच्चारणगत पूरा प्रभाव इन सख्यावाचक शब्दो पर परिलक्षित होता है।

सस्कृत की भाँति हिन्दी के शब्दो मे भी मात्रा तथा ध्वनि-भेद से अर्थ मे बहुविध परिवर्तन देखा जाता है। इसलिए प्रत्येक शब्द को अपने ठीक रूप मे लिखना चाहिए; जैसेकि— पैठ और पैट, पैंड और पैड, पग और पैग, गडना और गढना, नसीला और नशीला, गठीला ओर गटीला, गसीला और गसीला, गधीला और गधीला, त्रसित और तृषित, सेट और सेट, पेट और पेट, सेक और सेक, इत्यादि।

हिन्दी मे जो शब्द अग्रेजी से अपनाए गए है, उन मे नुक्ते का प्रयोग बेंजीन, बेज़ोल, सिज़ोल आदि मे हिन्दी मे 'जेड' (Z) ध्वनि न होने के कारण किया जा रहा है। इसी प्रकार से फारसी ध्वनियो के प्रचलन मे अभी तक कही-कही हिन्दी मे नुक्ते का प्रयोग होता है। प्रायः अन्य भाषाओ के शब्दो को उधार लेते समय उन की ध्वनि के सम्यक् उच्चारण के लिए ऐसा करना आवश्यक होता है। हिन्दी मे डॉक्टर, ऑफर, कॉलेज, शॉर्ट और कॉटेज आदि मे शिरोरेखा के ऊपर एक चन्द्र चिह्न (ॅ) का प्रयोग इसीलिए किया जाता है कि वह ध्वनि अन्य भाषा की है और उसका उच्चारण 'आ' से किंचित् भिन्न है। अतएव इन नई ध्वनियो के लिए ध्वनिविषयक सकेत-चिह्नो का प्रयोग उचित ही कहा जाएगा।

(३) प्रयोगसम्बन्धी एकरूपता

प्रयोगविषयक अनेकरूपता का कारण जहाँ क्षेत्रीय प्रभाव बतलाया जाता है, वही भ्रम और अज्ञान भी है। हिन्दी मे सस्कृत के अनेक प्रचलित शब्द-प्रयोग अशुद्ध मिलते

हैं। वर्तनी के कारण नहीं, शब्द-रचना की दृष्टि से भी देखा-देखी कई शब्दों के एक बार चलन में आ जाने पर आज उनका बोलबाला हो गया है। यही नहीं, आजकल परिभाषा करने, धन्यवाद करने, आशीर्वाद करने और मंगल करने की प्रथा बढ़ती जा रही है। दरअस्ल के लिए दरअसल मे, दर हकीकत के लिए दर हकीकत में और सचमुच के लिए सचमुच मे बोलना, लिखना साधारण-सी बात हो गई है। इसी प्रकार लोग खालिस को निखालिस बोलते हैं और अरमूद को अमरूद। महानता और याञ्चा की तो बात ही मत पूछिए। सम्भव है कि संस्कृत वाले भी भविष्य मे कभी हिन्दी की 'महानता' से प्रेरित हो कर 'महत्ता' और 'याञ्चा' का परित्याग कर दे। यही नहीं, हिन्दी के अच्छे विद्वान् भी जब 'छठा' के लिए छठवॉ और संस्कृत मे 'षष्ठ' की बजाय 'षष्ठम' लिख देते है तो देख कर आश्चर्य होता है। यही हाल जागरित, सगृहीत, सौदामिनी, द्रष्टव्य, सर्जन, स्रष्टा और छन्दोविधान का है। इन के स्थान पर हिन्दी मे धडल्ले से जागृत, सग्रहीत, सौदामिनी, दृष्टव्य, सृजन, सृष्टा और छन्दविधान शब्द-प्रयोग चलते है। यथार्थ मे ये संस्कृत के शब्द-प्रयोग हैं।

हिन्दी में संस्कृत के प्रचलित शब्द-प्रयोग

हिन्दी में सस्कृत के प्रचलित शब्द-प्रयोगो पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि अनेक शब्द-प्रयोग शुद्ध रूप मे प्रयुक्त नही होते। इसीलिए जब तथाकथित विद्वान् भी 'महत्तम' की चाल पर 'लधुत्तम' और 'बृहत्तर' के सादृश्य पर 'लघुत्तर' जैसे अशुद्ध प्रयोग करते है तो आश्चर्य नही होता। यही नही, अब 'लब्धप्रतिष्ठित' विद्वानो को आमन्त्रित किया जाने लगा है और उनकी उपस्थिति 'प्रार्थनीय' लिखी जाती है। सस्कृत मे मूल शब्द है—महत्। उस के साथ 'तम' प्रत्यय जोड कर (महत् + तम) महत्तम शब्द बनता है। किन्तु 'लघुत्तम' मे मूल शब्द है—लघु। 'तम' जोडने से (लघु + तम) 'लघुतम' बनेगा; न कि लघुत्तम और इसी तरह लघुतर होगा। इसी प्रकार शुद्ध शब्द-प्रयोग है—लब्धप्रतिष्ठ। इस का अर्थ है—प्रतिष्ठित, प्रतिष्ठा प्राप्त। 'प्रार्थनीय' के स्थान पर 'प्रार्थित' लिखना उचित होगा। क्योकि प्रार्थनीय का अर्थ है—प्रार्थना के योग्य।

हिन्दी मे प्रचलित सस्कृत शब्द-रूपो मे सन्धि सम्बन्धी गडबड़ी विशेष रूप से पाई जाती है। उदाहरण के लिए—सस्कृत का एक शब्द 'पुनर्विवेचन' है। संस्कृत के व्याकरण की दृष्टि से यह शुद्ध शब्द है। हिन्दी में इसी के ढर्रे पर कुछ लोग 'पुनसंशोधन' और 'पुनर्शोध' लिखने लगे हैं; जो कि अशुद्ध हैं। इस सम्बन्ध मे व्याकरण का सामान्य नियम यह है—यदि पहले शब्द के अन्त मे 'अ' और 'आ' हो तो उन्हे छोड कर शेष स्वरो से आगे विसर्ग तथा अन्य शब्द मे व्यजन हो तो विसर्ग को रेफ हो कर ऊर्ध्वगामी होती है, उदाहरणार्थ—पुनर्जन्म। पुनः + जन्म मे पुनः के अन्त मे 'अ' और विसर्ग हैं और जन्म शब्द का पहला अक्षर व्यजन है, इसलिए विसर्ग को रेफ हो गया। परन्तु पुनः + सम्भव मे 'अ' के पश्चात् विसर्ग होने पर भी उसे रेफ नहीं होता। क्योकि विसर्ग सम्बन्धी विशेष नियम यह है कि स,

श, ष तथा वर्गों के प्रथम, द्वितीय वर्णों के (क, ख, प, फ) आगे विसर्गों की सन्धि या उन में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। अतएव पुनःसम्भव, यशःकीर्तन रूप ही शुद्ध माने जाते हैं। इसी प्रकार अन्तःसाक्ष्य लिखना चाहिए; न कि अन्तर्साक्ष्य।

मूल शब्दों का ज्ञान न होने से प्रायः गडबडी देखी जाती है। 'सुस्वागतम्' का प्रयोग इसी प्रकार का है। यह शब्द 'गम्' धातु मे 'आ' उपसर्ग जोड कर कृदन्त रूप 'आगत' के प्रारम्भ मे 'सु' प्रत्यय लगा कर 'सु + आगत' से मिल कर बना है। 'सु' का अर्थ है—अच्छा, भला। आगत का अर्थ है—आए। स्वागत का अर्थ है—भले पधारे। 'स्वागत' का 'सु' सन्धि के कारण 'स्व' हो जाता है। अतः जब एक सु पहले से विद्यमान है तब दूसरे 'सु' को जोडने की क्या आवश्यकता है? ये प्रयोग भले ही जनता की ज़ुबान पर चढ गए हो, किन्तु भाषा की दृष्टि से अशुद्ध ही कहे जाएँगे। यही हाल अभी भी, सभी भी आदि का है। कुछ लोग कह सकते हैं कि किसी शब्द पर बल देने के लिए ऐसा बोला, लिखा जाता है। परन्तु क्या अब भी, सभी मे बलपूर्वक कहने की सामर्थ्य नहीं है? ये शब्द-प्रयोग ऐसे ही समझने चाहिए, जैसेकि—रामगिरि पहाड, विन्ध्याचल पर्वत, मलयगिरि आदि। इन सब मे पुनरुक्ति स्पष्ट है।

हिन्दी मे सस्कृत से आए हुए शब्दो मे भाववाचक सज्ञा की भी गडबड़ी बहुत मिलती है; जैसेकि—सुन्दर शब्द से भाववाचक संज्ञा बनती है—सौन्दर्य। किन्तु कुछ लोग उस मे 'ता' प्रत्यय जोड कर शायद विशेष 'सौन्दर्यता' निहारते हैं। सुन्दर की सुन्दरता तो ठीक है, पर सौन्दर्यता कहाँ से आ गई सो समझ मे नहीं आती। इसी प्रकार 'चतुर' से 'चातुर्य' और 'उदार' से 'औदार्य' भाववाचक सज्ञा शब्द बनते है, किन्तु हम 'चातुर्यता' और 'औदार्यता' से काम चलाने लगे हैं। तब क्या यह समझा जाए कि चतुरता और उदारता मे चतुराई तथा उदात्तता नही रह गई है? हिन्दी मे नैपुण्यता, दाक्षिणात्यता, कार्माण्यता, कार्पण्यता और श्रामिकता आदि ऐसे ही शब्द हैं, जिन मे 'ता' प्रत्यय केवल हिन्दीपन बताने के लिए जोड़ दिया है। सही रूप मे ये शब्द हैं—निपुणता या नैपुण्य, दाक्षिणात्य, कार्मण्य, कृपणता या कार्पण्य, श्रामिक आदि।

हिन्दी मे 'भवत्' शब्द से बना हुआ 'भवदीय' का जैसा चलन है वैसे 'यावदीय' प्रयोग भी देखने मे आया है। वास्तव में सस्कृत व्याकरण के अनुसार 'यावतीय' बनता है; यावदीय नहीं।

आजकल स्पन्द और निष्पन्द जैसे प्रयोग बहुत चल रहे हैं, किन्तु व्याकरण के अनुसार 'नि + स्पन्द' से निस्पन्द शब्द सम्पन्न होता है। अतः निस्पन्द शब्द का ही प्रयोग करना चाहिए। उसके स्थान पर निष्पन्द या स्पन्द लिखना उचित नहीं होगा।

संस्कृत के मूल शब्द की अनभिज्ञता के कारण होने वाली भूलें इस प्रकार हैं—मूल शब्द है—पृथक्। किन्तु भस्मीभूत, पिण्डीभूत, अग्नीभूत आदि की बनावट पर पृथकीभूत, अन्तरीभूत और यशोभूत आदि अशुद्ध शब्दों का भी प्रचलन हो गया है। व्याकरण के अनुसार 'पृथक्' से 'पृथग्भूत', 'अन्तः' से 'अन्तर्भूत' और 'यशः' से 'यशःभूत' बनेगा। इसी प्रकार कुछ लोग 'बाह्येन्द्रिय' की चाल पर 'अन्तरेन्द्रिय' का प्रयोग करने लगे है। किन्तु अन्तः + इन्द्रिय इन दोनों शब्दों को संयुक्त करने पर 'अन्तरिन्द्रिय' बनता है; न कि अन्तरेन्द्रिय। इसी तरह से 'अन्तर्प्रान्तीय' शब्द भी भ्रामक है। अन्तः + प्रान्तीय का सयुक्त रूप 'अन्तःप्रान्तीय' ही बनेगा। हाँ, अन्तर्देशीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय लिखना तो ठीक है, परन्तु अन्तःप्रान्तीय अर्थ की दृष्टि से लिखना उचित न होगा।

हिन्दी मे सस्कृत के शब्दों के अपनाने की अन्धानुकरण प्रवृत्ति तथा मिथ्या सादृश्य के कारण इस प्रकार के असाधु प्रयोग प्रचलित हो गए हैं। कम से कम इन शब्दों को अपनाने मे मूल शब्द का ज्ञान तो होना ही चाहिए। यद्यपि किसी भी समृद्ध भाषा से शब्दों को ग्रहण कर अपनी प्रकृति के अनुसार ढालना बुरा नहीं है, किन्तु अधानुकरण व मिथ्यासादृश्य की प्रवृत्ति उचित नही होगी। उदाहरण के लिए—सस्कृत मे 'पक' शब्द से 'इलच्' प्रत्यय का मेल होने से 'पकिल' शब्द निष्पन्न होता है। इसी प्रकार फेनिल और धूमिल भी बनाए जा सकते है, किन्तु रोमिल नहीं बनता है। क्योकि मूल शब्द 'रोमन्' है, 'रोम' नही। हिन्दी मे हलन्त शब्द नही हैं; किन्तु संस्कृत मे है और इनकी विशेष व्यवस्था है। हिन्दी वालों को इस का ज्ञान नहीं है, इसलिए प्रायः ऐसी भूलें होती हैं।

इसी प्रकार सस्कृत शब्द-रचना मे एक मात्रा का भी अन्तर आ जाने से अर्थ-भेद हो जाता है; जैसेकि—पिगल—पिगला। यहाँ पर 'पिगला', पिगल शब्द का स्त्रीलिंग रूप नहीं है। उसका अर्थ दिग्गज की स्त्री है। इसी तरह का सिध्मल और सिध्मला है। 'सिध्मल' सेहुए रोग को कहते हैं, और 'सिध्मला' सूखे मास का वाचक है। हिन्दी मे भी कुछ इस प्रकार के शब्द प्रचलित है—गद-गदा, फन-फना, मन-मना, घन-घना, नाम-नामा, जन-जना, कम-कमा, इत्यादि।

हिन्दी में सस्कृत के अशुद्ध प्रयोग केवल कहानी-उपन्यासों मे ही नहीं, कविताओं और काव्यों में भी सरलता से मिलते हैं। उन सब की चर्चा करना उचित नही होगा। यहाँ केवल हरिऔधजी के प्रिय-प्रवास की एक पंक्ति है—

आके पूरा सदन उसने सौरभीला बनाया।

संस्कृत में 'सुरभि' शब्द से भाववाचक संज्ञा शब्द निष्पन्न होता है—सौरभ। किन्तु उक्त पंक्ति में 'सुरभि' से 'सुरभिला' (पनीला, लचीला, गँठीला की भाँति) न होकर 'सौरभीला' का प्रयोग हुआ है, जो अशुद्ध है। इसी प्रकार 'वातुल' शब्द का प्रयोग है। संस्कृत का शुद्ध शब्द 'वातूल' है। 'वातूल' का अर्थ बवंडर या वायु

सहने वाला है। हिन्दी में यह सकुल, अनुकूल, अभिमूल आदि के अनुकरण पर प्रचलित जान पडता है। ऐसे और भी कई शब्द प्रयुक्त मिलते हैं, जो सस्कृत के व्याकरण के अनुसार हिन्दी मे अशुद्ध रूप मे प्रचलित हैं।

भाषागत भूलों के प्रयोग

पत्रिका मे प्रकाशित एक वाक्य है—

'हमें विश्वास है डॉ० कोठिया के मंत्रीत्व मे ग्रन्थमाला इसी तरह के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन करेगी।' इस मे लेखक का भाव यह है कि उन के मन्त्री बने रहने के समय मे ग्रन्थमाला से महत्त्वपूर्ण पुस्तके प्रकाशित होगी। किन्तु समयवाचक शब्द न होने से वाक्य मे अधूरापन है।

एक पुस्तक मे प्रकाशित वाक्य है—

'मगर देवीजी मर जाना जितना आसान समझती थी और लोग न समझते थे।' इस वाक्य मे लेखक के भाव के अनुसार 'जितना आसान समझती थीं उतना और लोग न समझते थे' होना चाहिए। क्योंकि जितना का सम्बन्ध उतना से है। वाक्य मे दोनो का प्रयोग आवश्यक रूप से होता है। यदि ऊपर के वाक्य मे 'उतना' शब्द न जोडा जाए तो अर्थ यह निकलता है कि और लोग मरना ही नही समझते थे। 'जितना' शब्द सख्यावाचक विशेषण है और इसका सम्बन्ध आसान से है, इसलिए उतना आसान नही समझते थे, यह भाव प्रकट होना चाहिए।

इसी प्रकार एक वाक्य यह भी देखने मे आया—'मैने जाना है।' वास्तव मे 'मुझे जाना है' लिखना चाहिए। क्योंकि हिन्दी मे जाना, आना, ले जाना, ले आना इत्यादि एव अकर्मक क्रियाओ के सामान्य भूत काल मे 'ने' का प्रयोग नही होता। इसलिए वह गया, मैं आया लिखा जाता है; न कि उसने गया, मैंने आया। जानने के अर्थ मे 'मैंने जान लिया है'—होगा।

कही-कही भ्रमपूर्ण वाक्य भी लिखे हुए मिलते है; जैसेकि—'इस पुस्तक के बीच-बीच मे सतो के जीवन के मानवीय प्रसग भी दिये गये हैं।' इसका मतलब यह निकला कि सतो के जीवन मे कुछ अमानवीय प्रसग भी थे, किन्तु उन को छोड कर और बातो के साथ मानवीय प्रसग भी दिए गए है। 'मानवीय' और 'प्रसग' दोनो ही शब्द भ्रम उत्पन्न करने वाले हैं।

इसी प्रकार 'वे हिन्दी आलोचना के धूमकेतु है। उनकी विशाल हृदयता के अनर्घ्य को हम लोग कभी नही भुला पायेगे।' धूमकेतु का अर्थ है—पुच्छल तारा। यह शब्द अमगल का सूचक है। अतः धूमकेतु कहना ठीक नही है। 'विशाल हृदयता' भी चिन्त्य प्रयोग है। क्योंकि हृदय का विशेषण 'विशाल' लिखना पर्याप्त है। और फिर, 'अनर्घ्य' का पूछना ही क्या—मूल्यहीन अर्थ का वाचक है। पूरा वाक्य ही भ्रमपूर्ण है।

हिन्दी के विद्वान् का एक वाक्य है—'हाँ, स्मर के बाण—गुलमुहर, मल्लिका, शिरीष, अमलतास और जूही, चमेली, बेला से गुँथी अलकों में से बराबर तूणीरित दिखायी पड़ते थे।' इसमें 'तूणीरित' प्रयोग चिन्त्य है। तूणीर का अर्थ है—तरकश। जिसमें बाण भरा जाता है उसे तूणीर कहते हैं। तूणीर से विशेषण तूणीरित नहीं बनता। फिर, तूणीरित कहने का अभिप्राय क्या ? तरकश जैसे दिखलाई पड रहे थे। समान अर्थ मे 'इतच्' प्रत्यय का प्रयोग नहीं होता है यह तो शब्द से शब्दित जैसा बनाया गया कोई प्रयोग है; जैसे कि—पुरवैया से दखिनैया।

भाषा-अशक्ति के कई उदाहरण पुस्तकों मे मिलते हैं। ऐसा ही एक प्रयोग है—वे करोड पर करोड़ है और दूर-दूर देशों में फैले हुए हैं। 'क्या करोडों पर करोड' कहने से ही भाव निकलता है—केवल करोडो कह देने से बात स्पष्ट नही हो जाती है। इसी प्रकार का एक वाक्य है—'नील मसृण पत्तियाँ और सूच्यग्र शिखान्त।' वाक्य मे न कोई क्रियापद है और न शिखान्त को बतलाने वाला कोई उपमानवाचक शब्द। अतः यह वाक्य कविता की कोई पंक्ति बन कर रह गया है। इसी प्रकार का एक वाक्य और है—'जब मनुष्य के हृदय और बुद्धि की परिधि परिवार ही था तब उसी के सुसाधन सरक्षण तक उसकी आस्था सीमित थी।' यहाँ पर 'परिवार ही थी' के स्थान पर 'परिवार तक थी' और 'तक' के स्थान पर 'मे' होना चाहिए। इसी तरह का एक अन्य वाक्य है—'अनेकों परम प्रचलित शब्दो के रूप भी स्थिर नही है।' इस मे 'अनेको' शब्द टीक नही है। हिन्दी मे 'अनेक' शब्द बहुवचन है। अतः बहुवचन सूचक विभक्ति-चिह्न जोडना उचित नही है। आजकल कुछ लोग 'अनेकानेकों' भी लिखने लग गए है, जो बिल्कुल अशुद्ध है। क्या अनेक लिखने से काम नहीं चल सकता है ?

कभी-कभी भाषा मे अनावश्यक शब्द-प्रयोगो से भी कई प्रकार की भूलें हो जाती हैं। उदाहरण के लिए—'इस पुस्तक मे अन्दर लिखा है।' इस वाक्य मे अन्दर शब्द का प्रयोग निरर्थक है। मे का अर्थ है—अन्दर, भीतर। इसी प्रकार—'मेरे विचारो के अन्दर फर्क है' के स्थान पर शुद्ध वाक्य होगा—'मेरे विचारो मे फर्क है।' तथा—'इस गली पर कूडे का ढेर है' की बजाय होना चाहिए—'इस गली मे कूड़े का ढेर है, अथवा इस गली के नुक्कड पर कूड़े का ढेर है।'

यद्यपि हिन्दी मे 'कलकत्ते' और 'आगरे' की बात पुरानी पड गई है, पर मालवे की बात नई है। इसलिए जब यह कहा जाता है कि 'यह मालवे का प्रसिद्ध गेहूँ है' तो इसका अर्थ होता है कि मालवे की भूमि मे उत्पन्न गेहूँ है इस वाक्य मे सम्बन्ध कारक नही है, किन्तु षष्ठी विभक्ति अवश्य है। इसी प्रकार के प्रयोग 'मालवा' जैसे आकारान्त शब्दो के देखे जाते है और सामान्य रूप से उन शब्दो के अन्त का 'आ' विभक्ति के कारण (न कि सम्बन्ध कारक से) 'ए' मे परिवर्तित हो जाता है। अतएव यदि यह कहा जाए कि 'पटने मे बाढ आई है' तो क्या अनर्थ हो जाएगा ?

इसी प्रकार 'आगरे की दालमोठ' कहने का अभिप्राय होता है—आगरा मे बनी

हुई दालमोंठ। वास्तव मे ये सविभक्तिक प्रयोग है। हिन्दी मे कर्त्ता कारक मे प्रायः निर्विभक्तिक प्रयोग होते हैं। इसलिए 'पटना एक औद्योगिक नगर है' मे पटना शब्द का व्यवहार होता है। हिन्दी में लगभग सभी आकारान्त पुल्लिंग शब्दों की यही स्थिति है। अतएव यह कहना कि 'कलकत्ते' कहना ठीक है; पर 'आगरे का पेठा' और 'मालवे का गेहूँ' कहना उचित नहीं है, केवल बुद्धि-भ्रम का परिचय देना होगा। भाषा के चलते हुए प्रयोगो को कोई नकार नही सकता। हॉ, कारण की छान-बीन अवश्य करनी चाहिए। 'दतिए की मिठाई' और 'खजुराहे की मूर्तियाँ' तथा 'देलवारे के प्रसिद्ध मन्दिर' जैसे प्रयोग हम वर्षों से सुनते आ रहे है। तो क्या ये सब गलत हो जाएँगे? भाषा को हम अपनी चाह से नही चला सकते? यह तो स्वाभाविक रूप से गतिशील है।

हिन्दी में एक विभक्ति या परसर्ग के बाद दूसरा परसर्ग आ सकता है। इसलिए यह सोचना उचित नही है कि इस प्रकार के प्रयोग कैसे बन सकते है? उदाहरण के लिए—'मैं अभी भीड़ में से आया हूँ।' इसका मतलब है कि मै इसी समय भीड के भीतर से आया हूँ। इसी प्रकार 'ऊपर जाने के लिए इस कमरे के भीतरी भाग मे से हो कर जाइये। इत्यादि।

'किसी उन्नतशील राष्ट्र की पहिचान है—सास्कृतिक चेतना का प्रसार।' यहाँ समास की भूल है। 'उन्नतशील' के स्थान पर 'उन्नतिशील' होना चाहिए। इसी प्रकार 'मानव, तुम सब से सुन्दरतम हो।' इस वाक्य मे 'सब से सुन्दरतम' के स्थान पर सब से सुन्दर या सुन्दरतम होना चाहिए। तथा—'वे बडे अच्छे अध्यापक हैं'—इस मे 'बड़े' के स्थान पर 'बहुत' का प्रयोग ठीक होगा। एव—'मैंने उसे दौड में जीत लिया' कहने की बजाय पराजित कर दिया, या पछाड दिया, कहना ठीक होगा। इसी तरह—'ऐसा करने पर कोई हानि नहीं है।' 'पर' परसर्ग के स्थान पर 'मे' का प्रयोग उचित होगा।

'मैं प्रातःकाल के समय उसके साथ घूमने जाता हूँ।' मे 'समय' शब्द के लिखने की कोई आवश्यकता नही है। इसी प्रकार के प्रयोग है—कृपया उत्तर शीघ्र देने की कृपा करे। यही कारण है कि देश की भाषा एक न होने के कारण भावात्मक एकता नही लक्षित होती। वे उपाधिवितरणोत्सव के समारोह मे नही पहुँच सके। आज की वर्तमान स्थिति मे अनुशासनहीनता दिनोदिन बढती जा रही है। केवल इसीलिए वह नही आया।

वाक्य-योजना मे भी कई प्रकार की भूले मिलती हैं; जैसेकि—'उन के आसन ग्रहण करने पर उसने एक फूल की माला पहिनाई।' इस मे 'एक फूल की माला' न कह कर 'फूल की एक माला' कहना चाहिए था। इसी प्रकार—'एक वसन्त की बात सुनाता हूँ।' वाक्य यों होना चाहिए—'वसन्त की बात सुनाता हूँ।' 'अजी! विदेशी सिलाई के धागे लेते आना।' कहने की बजाय 'सिलाई के

विदेशी धागा लाना जी' कहना उचित होगा। इसी प्रकार 'स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत को जिस इतिहास की आवश्यकता थी, वह बीस वर्ष बीत जाने पर भी हमें नहीं मिल सका।' 'इतिहास' शब्द के स्थान पर 'इतिहास-लेखन' तथा 'बीस वर्ष' के स्थान पर 'बीस वर्षों' होना चाहिए। पूरा वाक्य ही लचर है। इस तरह के अनेक वाक्य पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओ मे पढ़ने को मिलते हैं।

कुछ पुस्तकों में विषयगत शीर्षकों मे अर्थ की अशक्तता लक्षित होती है। उन नाम से पूर्ण अर्थ अभिव्यक्त नही होता। उदाहरण के लिए—'भीली और भाषाई अपदस्थीकरण', 'हिन्दी समास और व्याकरण के चिह्न', 'भारत और कोरिया की सन्धि-वार्ता', 'पारिवारिक वर्गीकरण और हिन्दी', 'काया : उसकी नश्वरता', यहाँ 'और' शब्द के स्थान पर विसर्गात्मक या समानसूचक चिह्न (:) का प्रयोग उचित नही है। इसी प्रकार 'प्रतिशाख्यों मे प्राप्त भाषावैज्ञानिक कार्य', 'भाषावैज्ञानिक कार्य' के स्थान पर 'भाषाविषयक अध्ययन' उचित होगा। इसी तरह से 'पाणिनि के उपरान्त वैयाकरण' मे 'उपरान्त' के स्थान पर 'पश्चात्' होना चाहिए।

कुछ शिथिल और अपूर्ण वाक्य भी देखने को मिलते हैं; जैसेकि—शिक्षा की जितनी दुर्दशा हो रही है पहले कभी नही हुई। उन्होने विश्वास दिलाया कि पहले भी यह प्राप्त हुआ था और आगे होता रहेगा। राजनीति मे पडने वाले आलोचना के पात्र होते हैं। समय से लाभ उठाकर देशवादी भक्त कहलाते है। बगला का सर्वनाश याह्या खॉ के वक्तव्यो का परिणाम है। सूचना और शक्ति के भाषा के रूप में हिन्दी अग्रेजी के सामने टिक नही सकती। हिन्दी साम्राज्यवाद, भाषावाद और उसका राष्ट्रीयता-विरोधी प्रभाव, आदि।

हिन्दी के विशिष्ट ध्वनि-नियम

(१) प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं से हिन्दी मे आगत संस्कृत शब्दो का आद्य सयुक्त 'अ' स्वर हिन्दी मे दीर्घ 'आ' हो जाता है। जैसेकि—आग, आख, आसू, आत, आग, आक, आकना, आंगन, आगुल, आगुरी, आचल, आजन, आखर, आधरा, आब (अम्र, आम्र), आतरा आदि।

यह नियम केवल सयुक्त स्वरों मे लागू होता है। इसके कुछ अपवाद भी हैं; यथा—अश, अम्बर, अन्त, इत्यादि। इनका कारण अज्ञात है।

उक्त स्वर अधिकतर अनुनासिक होते हैं। इनकी अनुनासिकता का कारण पूर्व व्यंजन की सत्ता का सर्वथा अभाव होना है। अतः हिन्दी में ये स्वरूप स्थिति को प्राप्त कर चुके है। इस नियम से यह भी पता चलता है कि उक्त शब्द संस्कृत से हिन्दी में अपनाए गए हैं। मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं की ध्वनियो से इनकी ध्वनियाँ भिन्न हैं। इसे दीर्घीकरण का नियम कहा जा सकता है।

(२) अनुनासिकीकरण का नियम

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार हिन्दी मे प्रायः प्रत्येक स्वर अननुनासिक और

अनुनासिक (काटा, काटा, छीट छींट आदि) दोनो रूपों मे व्यवहृत होता है। अनुनासिक स्वर प्रायः उन शब्दो मे पाए जाते है, जिन के तत्सम रूपो में कोई अनुनासिक व्यजन रहा हो और उसका लोप हो गया हो; जैसेकि—सस्कृत कम्पन से हिन्दी मे कापना, कटक से कॉटा आदि। इसके अपवाद भी मिलते हैं—भण्टाक से भटा या भाटा, वचक से बच्चू और लुचक से लुचा, आदि। इस अपवाद का कारण यही है कि यह देशी शब्दो और प्रत्ययो से निष्पन्न शब्दो मे लागू नहीं होता है। यह सस्कृत के तत्सम रूपो से सम्बन्धित है।

यद्यपि यह अनुनासिकीकरण का नियम है, किन्तु भाषागत प्रवृत्ति एव कार्य की दृष्टि से इसे क्षतिपूर्ति का नियम मानना चाहिए। क्योकि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ के अनेक शब्दो मे पाई जाने वाली अनुनासिकता के रूप प्राचीन भारतीय आर्य भाषा मे नही हैं, जैसेकि—सर्प, उष्ट्र, भ्रमर, यूक (जू), भ्रू (भौंह), सत्य (साच), कास (खासी), हास्य (हसी), धूजनी (धौंकनी), इत्यादि। किन्तु ऐसे शब्दो की सख्या शब्द-समूह की हजारों की सख्या में लगभग एक शतक होगी। अतः यह कोई कारण नहीं है, जिस से भाषाविषयक प्रवृत्ति पर प्रभाव पडता हो। अनुनासिकता स्वयं एक प्रवृत्ति है, जिसका कारण निर्दिष्ट है और जिसके कारण हिन्दी मे अनेक शब्द सस्कृत से अप्रत्यक्ष अपना लिए गए है। उक्त नियम के अनुसार 'सर्प' से 'सॉप' और 'उष्ट्र' से 'ऊँट' बनने मे समीकरण की वह प्रक्रिया कार्य करती है, जिससे पहले सस्कृत के शब्द प्राकृत आदि मे सावर्ण्यभाव को प्राप्त हुए, फिर हिन्दी में सयुक्त व्यजन में से एक का लोप हो जाने के कारण क्षति को पूरा करने के लिए अनुनासिक या दीर्घ कर देना एक प्रवृत्ति मात्र है। वास्तव मे यहाँ यह नियम तद्भव शब्दो में लागू होता है। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि हिन्दी में अनुनासिक स्वरों के कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलते है जो अकारण ही अनुनासिक हो गये है, और जिनके तत्सम रूपो मे कोई अनुनासिक ध्वनि नही पाई जाती।[60] उदाहरण के लिए, ऑसू (अश्रु), सॉस (श्वास) और भौं (भ्रू), आदि ऊपर कहे गए कारण के प्रतीक है, जिन्हे अकारण अनुनासिक ध्वनि नहीं कह सकते। इन का कारण ध्वनि का क्षतिपूरण है। अतएव इस नियम को क्षतिपूर्ति का नियम भी कह सकते है।

भाषाशास्त्र मे ध्वन्यात्मक परिवर्तनो की व्याख्या करने के लिए भाषाविशेष के नियमो का उल्लेख करना महत्वपूर्ण माना जाने लगा है। क्योकि इन से न केवल ध्वनियों का इतिहास कुछ नियमो मे आबद्ध हो जाता है, वरन् परिवर्तन विषयक सूत्र भी ज्ञात हो जाते है। ये सूत्र अतीत के इतिहास से सम्बद्ध होते है। इसलिए इन्हे नियम कहते है। ये ध्वनिसम्बन्धी अनिर्दिष्ट कारणो पर प्रकाश डालते है। ये युग तथा काल की सीमा मे नियत एव निश्चित होते है। ये देश, काल की सीमा मे होने वाले किसी भाषा अथवा सम्बद्ध किन्ही भाषाओ मे होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या के सम्बन्ध मे कार्य-कारण भाव को प्रकट करने वाले होते है।

ध्वनिपरिवर्तन दो प्रकार के कहे गए हैं[१]—आदेशात्मक (Substitutive) और विकासात्मक (evolutive)। भाषा में जब स्वाभाविक गति और प्रवृत्ति के कारण ध्वनियों का विकास युग-युगों में प्रवाहशील होता हुआ कोई निश्चित रूप ग्रहण कर लेता है तब वह विकासात्मक कहा जाता है। उदाहरण के लिए, वैदिक काल की मूर्धन्य ध्वनियाँ मध्यकाल मे घर्ष भाव को प्राप्त हो कर आधुनिक युग मे विलुप्त हो गईं। ध्वनियों के इस इतिहास को हम विकास क्रम के आधार पर समझ सकते हैं; संस्कृत का 'लवण' शब्द प्राकृत मे 'लोण' तथा अपभ्रंश मे 'लोन' होता हुआ हिन्दी में 'नोन' हो गया। ध्वनियो के इस विकास-क्रम की व्याख्या जिस नियम के अनुसार की जाती है वह विकासात्मक कहा जाता है। आदेशात्मक बुद्धिगत होता है; जैसेकि—फारसी और अंग्रेजी ध्वनियो के सूचक चिह्न हमारे यहाँ न होने से हम समान ध्वनि-चिह्नो का प्रयोग करने लगते हैं। ये परिवर्तन स्वाभाविक अथवा स्वतःप्रवर्तित नही होते। ऐसे ही परिवर्तनो के लिए सम्भवतः वैयाकरणो ने 'आदेश' और विकासात्मक के लिए 'आगम और लोप' के नाम निर्दिष्ट किए थे।

हिन्दी मे सामान्य रूप से शब्द के आदि के व्यजन मे परिवर्तन नही होता। किन्तु मध्य व्यजन का लोप एक साधारण प्रवृत्ति है। मध्यग व्यजन का लोप भाषाशास्त्र में स्वरीभवन (Vocalization) कहा जाता है। इसके कारण नियत कहे जा सकते हैं, इसलिए यह स्वरीभवन का नियम कहा जा सकता है। संस्कृत-काल में जिन व्यजनो का पूर्ण उच्चारण होता था प्राकृत-काल मे उन मे शिथिलता आ गई थी। इस शिथिलता की या सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण परवर्ती काल मे दो स्वरो के मध्यवर्ती ख, घ, थ, ध, फ और भ को सामान्य रूप से 'ह' हो जाता था। इस परिवर्तन का कारण विभिन्न जातियो का सगम तथा सघर्ष कहा जा सकता है। मध्यकालीन घर्ष भाव की प्रवृत्ति आगे चल कर क्षय भाव को प्राप्त हो गई। इस प्रकार विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया मे 'मदकल' से 'मयगल' तथा 'मयगल' से हिन्दी मे 'मैगल' स्थिति को प्राप्त हुआ। प्राकृत मे मध्य के 'क, ग, च, ज, त, द, प, य और व' के लोप की सामान्य प्रवृत्ति थी। हिन्दी में 'कोकिल' से 'कोइल', 'नकुल' से 'नेवला', 'राजकुल' से 'रावल' (बप्पा रावल), 'राजपुत्र' से 'राउत व रावत', 'धन्याक' से 'धनिया', 'कृत' से 'किया', 'नयन' से 'नैन', 'रजनी' से 'रैन', 'अमृत' से 'अमिय', 'हृदय' से 'हिया', 'दीपक' से 'दिया', 'उपाध्याय' से 'ओझा', 'कुम्भकार' से 'कुम्हार', 'अन्धकार' से 'अंधेरा', 'कटकारी' से 'कटेरी', इत्यादि।

(३) घोषीकरण का नियम

इस नियम के अनुसार सस्कृत की अघोष ध्वनियाँ हिन्दी मे घोष हो जाती हैं। आ० हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण मे इस का उल्लेख किया है। ध्वनियों के घोषीकरण से उन के उच्चारण और प्रयोग में सरलता आ जाती है। प्रयत्न-लाघव तथा मुख-सुविधा इस के मूल में निहित है। अतएव सस्कृत के एकादश, मकर,

आकार, शाक, प्रकाश, विकाश, आदि क्रमशः हिन्दी मे ग्यारह, मगर, आगार, साग, परगास, विगास हो जाते हैं। उसी प्रकार 'घूक' से 'घुग्घू', 'नेक' से 'नेग' और 'काक' से 'कागा' शब्दो का विकास हुआ है।

(४) महाप्राणीकरण का नियम

उच्चारण के क्रम मे कभी-कभी वर्णों का परस्पर ऐसा विनिमय हो जाता है कि उन मे सहज परिवर्तन हो जाता है, जैसे कि—'स्कम्भ' से 'खम्भा', 'स्कन्द' से 'खन्द या खन्धा', 'परुष' से 'फाल्सा', 'कील' से 'खील', 'पाश' से 'फास', 'स्तन' से 'थन', 'ज्वाला' से 'झाल', आदि।

(५) ऊष्मीकरण का नियम

इस नियम के अनुसार ख, घ, थ, ध और भ वर्णों को प्रायः 'ह' हो जाता है। संस्कृत के निम्नलिखित शब्दो—मेघ, मुख, साधु, नाथ, कुम्भकार, चिकुर और पतिगृह—के स्थान पर हिन्दी मे क्रमशः मेघ, मुंह, साहू, नाह, कुम्हार, चिहुर और पीहर हो जाते है। ऊष्मीकरण की प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन जान पडती है, जो लगभग सभी भारतीय आर्यभाषाओ मे प्रत्येक युग मे देखने को मिलती है।

इसी प्रकार कुछ अन्य ध्वनि-नियम भी प्रतिपादित किए जा सकते है, जिनका प्राकृत, अपभ्रंश-विकास-धारा से सीधा सम्बन्ध है; किन्तु विस्तार के भय से उन की चर्चा करना उचित न होगा। इस प्रकार के नियमो मे वर्ण-आगम, वर्ण-विपर्यय, वर्ण-लोप, वर्ण-विनिमय आदि से लेकर समीकरण (पुरोगामी, पश्चगामी), विषमीकरण (पुरोगामी, पश्चगामी), स्वरागम, व्यजनागम आदि एव घोषी-अघोषीकरण, तथा अल्पप्राणीकरण, महाप्राणीकरण आदि का विचार किया जा सकता है।

ध्वनिपरिवर्तन का स्वरूप और उसके कारण

भाषा का स्वभाव है—परिवर्तन। भाषागत रूप, शब्द-गठन, पद-पदाश विषयक जो भी परिवर्तन होते है उन सब के मूल मे ध्वनि परिवर्तन परिलक्षित होता है। यथार्थ मे भाषा की गतिशीलता का महत्त्वपूर्ण कारण ध्वनि-परिवर्तन है। प्रत्येक भाषा मे ध्वनि-परिवर्तन नियत, सतत और अप्रत्यक्ष रूप से होते रहते है। अप्रत्यक्ष कहने का अर्थ यह है कि ये परिवर्तन समय की लम्बी सीमा मे लक्षित होते हैं। ये द्रुतगामी परिवर्तन नहीं होते। और ये परिवर्तन तभी प्रतीत होते हैं, जबकि वे भाषा की ध्वनि-रचना पर प्रभाव डालते है। अतएव कोई दो भाषाएँ समान स्वर-व्यजनो की श्रेणियों से निर्मित हो सकती हैं, किन्तु वर्णमाला समान होने पर भी उच्चारण करते समय भौतिकी प्रभाव मे वे दोनो भिन्न लक्षित होगी। दोनों की ध्वन्यात्मक प्रवृत्तियाँ अलग-अलग होंगी। मात्रा, सुर, बलाघात और रागात्मक तत्त्वों के कारण ध्वन्यात्मक तत्त्वो मे प्रायः गतिशीलता परिलक्षित होती है। इन मे होने वाले परिवर्तनो के कारण भाषा-गत परिवर्तन के अन्तर्गत निर्दिष्ट किये जाते है।

ब्लूमफील्ड ने ठीक कहा है कि इस प्रकार के ध्वनिविषयक परिवर्तन तब तक महत्त्वपूर्ण नहीं माने जाते हैं, जब तक कि वे लम्बे समय मे ध्वन्यात्मक पद्धति को प्रभावित नहीं कर देते। भाषाशास्त्र के इतिहास में ध्वनि-परिवर्तन एक महत्त्वपूर्ण अग है। किसी भी भाषा के इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि जो ध्वनिग्राम शताब्दियो पूर्व उन में प्रचलित थे, वे ही वर्तमान में किस प्रकार विभिन्न रूपों में या शब्दो में विकसित हो गए। केवल शब्दों में ही नहीं, यह परिवर्तन ध्वनियों में भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उन्नीसवी शताब्दी के पूर्व तक यह विचार प्रस्थापित नहीं हो सका था कि इन ध्वनि-परिवर्तन विषयक कारणों का व्यवस्थित रूप से विश्लेषण किया जा सकता है। किन्तु ध्वनि सम्बन्धी होने वाला कोई भी परिवर्तन अब ऐसा नहीं है, जिस का कारण नहीं बताया जा सकता है। ध्वनिविषयक प्रत्येक परिवर्तन का कोई न कोई वैज्ञानिक कारण अवश्य है। उन कारणो का पता लगाना और उन की सम्यक् विवेचना करना भाषाशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है।

ध्वनिप्रक्रियात्मक विकास दो अगो मे विभक्त किया जाता है : ध्वन्यात्मक परिवर्तन और ध्वनिग्रामीय परिवर्तन। प्रथम परिवर्तन वक्ता की उच्चारणगत प्रवृत्तियों पर निर्भर करता है। वाक्ध्वनियो का प्रयोग करने वाला अपने उच्चारों के अभ्यास के अनुरूप ही उच्चारण करता है। दूसरा परिवर्तन ध्वनि की सघटनात्मक इकाइयो मे परस्पर संयोग-सम्बन्धो मे लक्षित होता है। ये दोनो ही प्रकार के परिवर्तन भाषा की ध्वनिग्रामीय सघटना को प्रभावित करते रहते है। इन से अर्थ मे कोई विशेष अन्तर परिलक्षित नही होता। ये केवल ध्वनिप्रक्रिया से सम्बन्धित हैं।[८]

अधुनातन भाषावैज्ञानिक निष्पत्तियो से यह सिद्ध हो चुका है कि ध्वन्यात्मक और ध्वनिग्रामीय परिवर्तन परस्पर सम्बद्ध है। ध्वनिग्रामीय परिवर्तन किसी अनुक्रम के बदलने से, उच्चारणगत नही, किन्तु क्रियाशील ध्वनियो मे लक्षित होता है; जबकि ध्वन्यात्मक परिवर्तन उन ध्वनिग्रामीय परिवर्तनो से आगे अनभिव्यजनात्मक, अक्रियाशील च्युति से सम्बद्ध होते है जो वक्ता के अभ्यासजन्य उच्चारो की प्रवृत्तियों में सलक्षित होते हैं। डब्ल्यू० एफ० टॉडेल का कथन उचित ही है कि प्रत्येक परिवर्तन चाहे वह उच्चारणगत हो और चाहे सघटनात्मक, स्थिर रहता है। संस्वनों के विकासशील होने पर उच्चारणगत परिवर्तन तो हो जाते है, किन्तु ध्वनिग्रामीय सघटना ज्यों की त्यो बनी रहती है। सस्वनो के कारण उच्चारण मे भी किंचित् परिवर्तन आता है। इस परिवर्तन के पश्चात् उच्चारण भी स्थिर हो जाता है।[९] इस प्रकार यह परिवर्तन एक ओर भाषा के आन्तरिक रूप से जुडा हुआ है, जो सतत एक-सा बना रहता है और दूसरी ओर उस की बाह्य पर्याय (परिवर्तनशील) से तादात्म्य है, जिस में किसी स्थिति विशेष में परिवर्तन घटित होते है और कुछ समय के लिए वे स्थिर हो जाते हैं।

भाषा में ध्वनि-परिवर्तन मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं—स्वयम्भू (Unconditional) और परोद्भूत (Conditional)। भाषा एक सतत प्रवाह-

शील धारा है। इस में किसी स्थिति या अवस्था अथवा घटना की अपेक्षा किए बिना सहज ही परिवर्तन घटित हो जाते हैं। इन मे कार्य-कारण भाव अवश्य होता है। भाषाशास्त्रियों ने ऐसे सभी कारणों को खोज लिया है, जिन्हें अज्ञात कारण कहा जाता था। परोद्भूत परिवर्तन में भाषागत ध्वनियो मे दिखलाई पडने वाले स्वर और व्यजनो के लोप, आगम, समीकरण और घोष-अघोषीकरण आदि अनेक बाह्य सहेतुक परिवर्तन लक्षित होते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन दो प्रकार की सम्भावनाओ के कारण माने गए हैं—(१) एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक वैयक्तिक रूप से भाषा के पहुँचने के कारण होने वाले परिवर्तन, (२) स्वतन्त्र रूप से घटित होने वाले ऐसे भाषा विषयक स्थानान्तरण के कारण होने वाले परिवर्तन। ये दोनो ही प्रकार के परिवर्तन के कारण भाषा की संक्रमणशीलता के द्योतक हैं।

यथार्थ मे ध्वनि-परिवर्तन का सम्बन्ध भाषा के नित्य और अनित्य स्वरूप से बहुत कुछ सयुक्त है। इसलिए यह कथन उचित होगा कि ध्वनि-परिवर्तन का कारण उस के स्वरूप मे निहित है। यह स्वरूप आन्तरिक भी हो सकता है और बाह्य भी। दोनो ही रूपो मे परिवर्तन का सूत्र अन्तर्निहित है। आन्तरिक स्वरूप से हमारा अभिप्राय ध्वनि-उत्पादन के साधनो, ध्वनितत्त्वो और ध्वन्यात्मक प्रक्रिया से है। किन्तु बाह्य स्वरूप का सम्बन्ध ध्वनियो के अनुकरण और उन की प्रेषणीयता से है। आन्तरिक रूप मानसिक, जटिल और भावात्मक होता है। परन्तु बाह्य रूप स्थान और प्रयत्न तथा भौतिकीय साधनो से सम्बन्धित होता है।

भाषाशास्त्रियो ने ध्वनि-परिवर्तन के कारणो की खोज मे जो तथ्य एकत्र किए है, वे शाश्वत नही कहे जा सकते। क्योकि वे देशविशेष तथा युगविशेष मे प्रभावशील किसी भाषाविशेष की गतिशीलता को ध्यान मे रख कर खोजे गए है। अतएव ध्वनि-परिवर्तन की उस मूल प्रवृत्ति को खोजना उचित होगा, जो सब ओर क्रियाशील लक्षित होती है। दूसरे शब्दो में, हमे सार्वदेशिक, सार्वकालिक ऐसी शाश्वत प्रवृत्तियों को ढूँढना चाहिए, जो सभी भाषाओ मे समान रूप से कार्य करती है। वास्तव मे परिवर्तन की ऐसी मूल प्रवृत्तियॉ सर्वत्र व्याप्त होती है। ये प्रवृत्तियॉ है—प्रयत्न-लाघव (Economy of efforts) और श्रुतिमधुरता (Euphoney)। इन प्रवृत्तियों का सम्बन्ध मुख्य रूप से ध्वनियो की उच्चारण-प्रक्रिया से है। इसलिए परिवर्तन का सूत्र उसके हाथ मे है; जैसेकि—अन्धकार से अँधेरा, उपवास से उपास और रामेण, रामेन राम ने, इत्यादि। भाषा-परिवर्तन का मूल भी यही ध्वनि-परिवर्तन है। वास्तव मे इन प्रवृत्तियो का सम्बन्ध सुविधा से है। सुविधाओ मे भी मानसिक सुविधा प्रमुख है। सब से बडा आलस्य मानसिक होता है। मन का आलस्य ही सब तरह के आलस्यों को जन्म देने वाला होता है। यही कारण है कि मनुष्य शारीरिक कष्ट की अपेक्षा मानसिक परेशानी से बचने मे अधिक सुख का अनुभव करता है। और इसीलिए किसी से बार-बार पूछे जाने पर हम उत्तर मे छटाँक भर जीभ न हिला कर सेर भर का सिर हिला कर 'हॉ' या 'ना' कह देते हैं। लेकिन यह परिवर्तन किसी एक सीमा

तक होता है; जहाँ तक भाषा के तत्त्व संश्लिष्ट या सम्बद्ध रहते हैं। और इसलिए ये परिवर्तन मूलतः मूलगामी नहीं होते। किसी घटना या परिस्थिति से प्रभावित होने वाले ये आशिक परिवर्तन भाषा के मूल रूप को कभी नहीं बदलते। किन्तु भाषा के ज्यों के त्यों बने रहने पर भी इस में किंचित् परिवर्तन होता ही रहता है। इस प्रकार के परिवर्तन भाषा की अशाश्वत या अनित्य दशा स सम्बद्ध होते हैं। जगत् की दृष्टि से भाषा अपनी क्रिया पूर्ण कर समाप्त हो जाती है। यह भाषिक रूप मे अधिक समय तक हमारे बीच नहीं रह पाती। अतएव भाषा अनित्य जान पडती है। किन्तु सामाजिक दृष्टि से विचार करने पर भाषा नित्य और स्थिर दिखलाई पडती है। क्योंकि भाषा ही एक ऐसा प्रमुख तत्त्व हमारे जीवन मे है, जिससे हम सामाजिक हैं। यदि भाषा न होती तो हम गूँगे और क्रियाहीन होते। मनुष्य की सामाजिक अभिव्यक्ति का एक मात्र सर्वोत्तम साधन भाषा है। अतएव जब किसी ने डेनिस दार्शनिक से पूछा था कि मनुष्य अपने जीवन मे सब से महत्त्वपूर्ण क्या सीखता है तो उस का उत्तर था कि मनुष्य अपने जीवन मे सब से महान् और आश्चर्यपूर्ण जो उपलब्धि प्राप्त करता है—वह है बोलना। डार्विन ने भी यही बतलाया था कि मनुष्य अपने बचपन के प्रारम्भिक तीन वर्षो मे सब से महत्त्वपूर्ण 'बात करना' सीखता है। अतएव यह भाषा समाज में सतत बनी रहती है, जिसे शिशु अपने माता-पिता और परिवार से सीखता है। इस प्रकार सामाजिक सन्दर्भ मे भाषा नित्य है।

मानसिक सुविधा के अतिरिक्त प्रयत्न-लाघव के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं:– (१) प्रमाद या आलस्य, (२) शिथिलता, (३) शक्तिहीनता और (४) रोग-ग्रस्तता, आदि। इसी प्रकार मुख-सुख के कारण हमारी कोमल जीभरानी कठिन शब्दों के उच्चारण मे अथवा व्यजन-गुच्छो के उच्चारण मे सुख-सुविधा बरतती हैं। अतएव हम 'पर्व' को 'परब्', 'जन्म' को 'जनम्', 'कौआ' को 'कउआ' और 'मिश्री' को 'मिसरी' बोलते हैं। इसी प्रकार पैसा, रजिस्टर्ड पार्सल, रेल्वे स्टेशन, बाइसिकिल, पोस्टकार्ड और रजिस्ट्रेशन फी, को क्रमशः पइसा, रजिस्ट्री, इस्टेसन, साइकिल, पोस्कार्ड या कारड और रजिस्ट्री फीस, कहते हैं। इस प्रकार परिवर्तनो मे ध्वनिविषयक आगम और लोप, आदि की प्रचुरता लक्षित होती है।

बोलने मे शीघ्रता के कारण भी सघटना के अन्तर्गत ध्वनियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करती है, जिस से परिवर्तन होना स्वाभाविक है। यह परिवर्तन सन्धिमूलक तथा समीकरणात्मक होता है, जिस में ध्वनियाँ एक आवेग के साथ उच्चरित होने के कारण फैल जाती है; जैसेकि—'लेता जा' से 'लेज्जा', 'बता साले' से 'बताम्साले', 'कल आना' से 'कलाना', 'लिख कर आ' से 'लिक्खर आ', इत्यादि।

भावावेग के कारण भी प्रायः ध्वनियों मे परिवर्तन हो जाता है। मनुष्य जाने-अनजाने किसी भी भाव के आवेग में आ कर कुछ ऐसे शब्दों का सहज प्रयोग करता रहता है, जो ध्वनियो में समान होने पर भी किंचित् भिन्न होते हैं; यथा—पेम्मा

(प्रेमा), बिट्टी (बेटी), चाबाछ (शाबास), भौत (बहुत), आछी है (अच्छी है)।

अति सजगता के कारण भी बौद्धिक वर्ग के लोग जान-बूझ कर जब बन कर बोलते है अथवा विशुद्धता के अभिमान मे आ कर बोलना चालू करते है तो प्रायः ध्वनियो में कुछ न कुछ परिवर्तन कर देते हैं। इन मे से कुछ लोग शास्त्रीय परम्परा की झोक मे आ कर करते है और कुछ लोग अज्ञानता के कारण। उदाहरण के लिए 'दस' को 'दश', 'असाड' को 'आषाढ़' और 'बिना' को 'विना' और 'भोपाल' को 'भूपाल' सस्कृत के अतिशय प्रेम के कारण शिष्ट विद्वान् बोलते हुए देखे जाते हैं। महाराष्ट्र के पण्डित-घरानो मे आज भी 'सस्कृत' को 'सन्स्कुरुत' बोलते हैं। इसी प्रकार 'खालिस' को 'निखालिस', 'रोटी' को 'पावरोटी' और 'सज्जन' को 'सज्जनपुरुष' कहते है। शुद्धता के आवेश मे आकर बड़ से बडे विद्वान् भी 'स्वच्छ' को 'स्वक्ष' और 'इच्छा' को 'इक्षा' कह बैठते है। इसी प्रकार 'कमी' का उच्चारण 'कवी' और 'कवि' भी 'कबि' हो जाता है। अज्ञानता के साथ कभी-कभी असावधानी भी लक्षित होती है। कभी तो इतनी अधिक सजगता कि शास्त्रीय शब्दो के प्रयोग से ही भाषा को शुद्ध समझना और कभी-कभी अज्ञानता व शिथिलता के कारण ऐसी असावधानी से ('उद्‌घाटन' के लिए उद्‌धाटन करना) शब्दो के प्रयोग के कारण ध्वनियो मे प्रायः कई प्रकार के परिवर्तन परिलक्षित होते है। ये सभी प्रकार की परिवर्तनमूलक प्रवृत्तियॉ ध्वनि परिवर्तन की अन्तरग कारण कही जाती है।

ध्वनि-परिवर्तन के बाह्य कारणो मे भौगोलिक, ऐतिहासिक और विभिन्न जातियो का सगम कहा जाता है। ये भाषा-परिवर्तन के कारण भी कहे जाते है। किन्तु भाषा मे इन से जो परिवर्तन होता है, वह ध्वनि-परिवर्तन के माध्यम से होता है। ये बाह्य कारण पहले वातावरण पर प्रभाव डालते है, फिर उनका प्रभाव ध्वनियो के उच्चारण तथा अनुकरण पर पडता है। कभी कभी प्रयोग की अतिशयता और स्वर-संचार से भी ध्वनियो मे परिवर्तन देखा जाता है। परन्तु इन परिवर्तनो की दिशा सदा एक समान नहीं रहती। इसलिए प्रत्येक स्थिति मे उनकी व्याख्या करना सम्भव नहीं है। कुछ विद्वानो ने ध्वनि-परिवर्तन के कारणो मे (१) उच्चारण की अशुद्धता, (२) वाग्यन्त्र की भिन्नता, (३) अपूर्ण अनुकरण और (४) केवल अज्ञान, को भी माना है, किन्तु ये ध्वनि परिवर्तन के कारण तभी माने जा सकते है; जबकि ये किसी भाषा मे स्पष्ट रूप धारण कर लेते है और इन के कारण अलग ध्वनिग्राम का निर्माण हो जाता है। यदि ऐसा नहीं है तो व्यक्तिगत सकेत या भिन्नता के कारण होने वाले किसी सामाजिक परिवेश मे ध्वनिविषयक परिवर्तन क्षणिक होगे, जो किसी भाषा की आन्तरिक सघटना से कालान्तर मे सम्बद्ध नही हो सकते। अतएव ऐसे परिवर्तन अधिक महत्त्व नहीं रखते। यही कारण है कि ध्वनि-परिवर्तन के सन्दर्भ मे इस प्रकार की जो व्याख्या की गई है, वह उसी रूप मे मान्य नही हो सकती। ऑटो जेस्पर्सन ने इन कारणो का विशेष रूप से विचार किया है। जेस्पर्सन उच्चारणो-

पयोगी अवयवों की शारीरिक रचना की भिन्नता के कारण माने जाने वाले परिवर्तन को ध्वनि-परिवर्तन का कारण नहीं मानते; क्योंकि इस प्रकार के परिवर्तन किंचित् प्रभावकारी होते हैं। इन से भाषा की पद्धति पर या उस में घटित होने वाले उच्चारों में विशेष अन्तर लक्षित नहीं होता। अतएव ये बहुत ही साधारण तरह के परिवर्तन होते हैं। इन से भाषा में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।

दूसरा कारण भौगोलिक माना गया है। कुछ विद्वानो के अनुसार जर्मन की बोलियों में घटित होने वाला ग्रिम नियम (वर्ण-परिवर्तन का नियम) पहाडी प्रदेश से सम्बन्ध रखता है। द्वितीय वर्ण-परिवर्तन के अनुसार लगभग सातवीं शताब्दी में उच्च जर्मनी निम्न जर्मन बोलियो से अलग हो रही थी। अलग होने का कारण अपने मूल निवासस्थान को छोड़ कर अन्यत्र जा कर लोगों का बसना था। जर्मन दो भागों में विभक्त है—पूर्व जर्मन और पश्चिम जर्मन। द्वितीय वर्ण-परिवर्तन पश्चिम जर्मनी की बोलियो से सम्बन्धित है। जो लोग पहाडी प्रदेश में रह गए और जो लोग उतर कर नीचे चले आए, उन की भाषा मे कालान्तर मे अन्तर दिखलाई पडने लगा। इसलिए उच्च जर्मन में जो शक्ति महाप्राण-ध्वनि के उच्चारण मे देखी जाती है, वह निम्न पर्वतवासियो मे कुण्ठित होती जाती है। लेकिन इसे मुख्य कारण नही मानना चाहिए; क्योंकि महाप्राण ध्वनि का सम्बन्ध फेफड़े से नही, काकल से है। श्वास लेने से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव इस प्रकार के परिवर्तन पर्वतवासियों मे ही नही, मैदानो मे रहनेवालों की भाषा मे भी मिलते हैं। ग्रिम महोदय ने इसे भौगोलिक कारण से न मान कर राष्ट्रीय मनोविज्ञान के कारण माना है। उन का कथन है कि जर्मन की बोलियो मे जो ध्वनि-परिवर्तन हुए, वे जर्मन-जनता की प्रगतिशील मनोवृत्ति और स्वतन्त्रता की तीव्र इच्छा के परिणाम हैं। ये उन के उत्साह और गौरव को व्यक्त करते है। 'क, त, प' को 'ख, थ, फ' इसी मनोवृत्ति के कारण परिवर्तनशील एव प्रचलित हुआ। लेकिन ये दोनो ही सर्वमान्य कारण नहीं कहे जा सकते। भले ही पजाब और राजस्थान के अधिकतर व्यक्ति भौगोलिक प्रभाव के कारण 'स' का 'ह' उच्चारण करते हो और 'सात' को 'हात' तथा 'असाड़' को 'हाड़' बोलते हो; किन्तु उनके उच्चारण से भाषा मे किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। इसी प्रकार राष्ट्रीय मनोवृत्ति में किन्ही विशिष्ट शब्दों का प्रचलन या प्रयोग विशेष भावो की अभिव्यक्ति के लिए हो सकता है, किन्तु भाषा की सघटना मे उन से कोई अन्तर नही पड़ता। फिर, इस प्रकार के परिवर्तन भारतीय आर्यभाषाओं मे भी देखे जाते हैं, जिन मे कोई राष्ट्रीय मनोवृत्ति कार्य नही करती (हिन्दी मे कई लोग 'कील' को 'खील' तथा 'पोशाक' को 'पोसाख' या 'पोषाख' कहते है—विशेषकर मारवाडी)।

इसी प्रकार युग की संक्रमणशीलता के कारण भी ध्वनि-परिवर्तन सम्भव है। किन्तु कभी-कभी युग के युग बदल जाते हैं और उस अन्तराल मे ध्वनियो मे किंचित्, अत्यल्प या नही के बराबर परिवर्तन हो पाता है। कुछ शब्द तो शत-सहस्राब्दियों से

ज्यों के त्यों चले आ रहे हैं। उन के लिखने और उच्चारण में आज तक कोई परिवर्तन हुआ, प्रतीत नहीं होता। उदाहरण के लिए, ऐसे कई वैदिक शब्दों (चरु, जूर्ण, मुसल, मेह, शूर्प, आदि) को गिनाया जा सकता है। अतएव ये उतने वैज्ञानिक कारण नहीं हैं। यथार्थ मे, महत्त्वपूर्ण ध्वनि-परिवर्तन न हो कर यह आश्चर्य की बात है कि ध्वनि सतत स्थिर क्यो नहीं रहती, ध्वनियो मे परिवर्तन क्यों होता है ? प्रश्न करना सरल है, किन्तु उत्तर देना कठिन है। ससार की प्रत्येक वस्तु की भाँति भाषा का स्वभाव भी परिवर्तनशील है। भाषा का स्वाभाविक परिवर्तन भी कभी-कभी ध्वनि-परिवर्तन मे लक्षित होता है। यह तो वस्तु की बात हुई। किन्तु समाज के सन्दर्भ मे यदि विचार करें तो हमे इस मे दो मुख्य कारण दिखलाई पडते हैं — (१) अभिभावको या सयानो, गुरु-शिक्षको का प्रभाव, और (२) सामाजिक उत्क्रान्ति। अभिभावको, शिष्ट जनो, सयाने लोगों और गुरु-शिक्षकों का प्रभाव समाज में बहुत कार्य करता है, जिस से ध्वनियों मे परिवर्तन हो जाया करता है। कभी कभी समाज मूल परम्परा को बनाए रह कर भी सामान्य प्रतिबन्धो को भग कर देना चाहता है। यह इसलिए भी आवश्यक होता है, क्योकि सामाजिक क्रान्ति किसी चौराहे पर खडी होती है अथवा युवा-आक्रोश इतना उग्र तथा प्रबल होता है कि बाहरी ढाँचे मे परिवर्तन करना आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी हो जाता है। अतएव ऐसी परिस्थितियो में ध्वनि-परिवर्तन पर भी प्रभाव पडता है। हमारे देश मे चौदहवी-पन्द्रहवी शताब्दी मे इस प्रकार के अनेक परिवर्तन हुए। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ के उदय-काल मे भी यही भारतीय सामाजिक मनोवृत्ति क्रियाशील थी। इस मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप एक बार पुनः आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं पर प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओ का प्रभाव लक्षित हुआ। अतएव हिन्दी पर भी सस्कृत का प्रभाव पडा और अप्रत्यक्ष रूप से भाषा मे कुछ न कुछ परिवर्तन होते रहे, जो सदियों के पश्चात् मान्य हो गए। प्रत्येक भाषा मे घटित होने वाले ध्वनि-परिवर्तन मे मुख्य रूप से दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ कार्यशील परिलक्षित होती है : प्रेरक शक्ति (Moving power) और अवरोधक शक्ति (Curving power)। भाषा के विकास मे प्रेरक शक्ति सहायक होती है। अनेक प्रकार के परिवर्ननो के मूल मे यही शक्ति कार्य करती है। किन्तु अवरोधक शक्ति शब्दो को काट-छाँट कर रूप देती रहती है। काटते रहना ही इस प्रवृत्ति के मूल मे है। यह एक प्रकार से भाषा के स्वाभाविक विकास मे अवरोधक होती है। इस प्रकार भाषा का पूर्ण इतिहास इन्हीं दो प्रवृत्तियों के मध्य गतिशील परिलक्षित होता है।

भाषा-विज्ञान की पुस्तको मे कुछ अन्य कारण भी गिनाए गए है। ध्वनि-परिवर्तन के इन बाह्य कारणो मे शब्दो की तोड-मरोड, सादृश्य, विदेशी ध्वनियों का प्रभाव, बलाघात और अन्धविश्वास, आदि है। इन का कोई विशेष महत्त्व नही है। शब्दो में तोड-मरोड कविता मे प्रायः छन्द के अनुरोध से की जाती है, जो सख्या मे अत्यल्प होते हैं। इसी प्रकार सादृश्य एक प्रकार का समीकरण है, जिस का मूल प्रयत्नलाघव

में गर्भित है। विदेशी ध्वनियों का प्रभाव सदा विभिन्न जातियों के समागम के अनन्तर ही प्रभावशील होता है। अतएव ये कारण किसी न किसी रूप में उक्त कारणों में अन्तर्हित हो जाते हैं।

वास्तव में, मानव-जीवन के कई रूपों से सम्बद्ध होने के कारण भाषा का कई दृष्टिकोणों से अध्ययन किया जाना चाहिए। किसी भाषाशास्त्री ने ठीक ही कहा है कि सब से अधिक कठिन बात यह है कि भाषा मे घटित होने वाले ये नियत परिवर्तन पूरी तरह से स्वचालित होते है। इस स्वचालित प्रक्रिया के कारण ध्वनि-परिवर्तन सरल और स्वाभाविक होते है।

सन्दर्भ-संकेत :

१. सैस : इन्ट्रोडक्शन टु द सायन्स ऑव लैंग्वेज, पृ० ३३९, श्री गोलोकविहारी धल : ध्वनि-विज्ञान, पृ० ४ से उद्धृत।
२. के० एल० पाइक : फोनेटिक्स, १९६६, पृ० ११६।
३. जे० एल० ग्लाथर्ट : फोलीज कॉलेज फिजिक्स, चतुर्थ सस्करण, १९४७, पृ० १८३।
४. के० एल० पाइक : फोनेटिक्स, १९६६, पृ० ११६।
५. वहीं, पृ० ११५।
६. आर-एम० एस० हेफनर : जनरल फोनेटिक्स, १९६०, पृ० १।
७. जेलिग एस० हेरिस : स्ट्रक्चरल लिंग्विस्टिक्स, चतुर्थ सस्करण, १९६०, पृ० १६।
८ के० एल० पाइक : फोनेटिक्स, १९६६, पृ० ४२।
९. ए० टी० जोन्स . साउण्ड, १९४२, पृ० ५।
१०. वहीं, पृ० २७८।
११ विशेष आवश्यक निर्युक्ति भाष्य, ५।३५१-५४।
१२. ए० टी० जोन्स : साउण्ड, १९४२, पृ० ३६२।
१३ चरक, सूत्रस्थान, अ० १२।
१४. महाभारत, शान्तिपर्व, २१३।७-१४।
१५. पाणिनिशिक्षा—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।

१६. एल० कैसर : मैन्युअल ऑव् फोनेटिक्स १९५७, पृ० ३५।
१७ वहीं, पृ० १५७।
१८. आर्थर कोइस्टलर : द एक्ट ऑव् क्रिएशन, १९६४, पृ० ५३४।
१९. आर-एम० एस० हेफनर : जनरल फोनेटिक्स, १९६०, पृ० ४२।
२०. के० एल० पाइक : फोनेटिक्स, १९६६, पृ० ८५।
२१. वहीं, पृ० ४२।
२२. वहीं, पृ० ४२-४३।
२३. डॉ० उदयनारायण तिवारी : भाषाशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १०० से उद्धृत।
२४. डेनियल जोन्स : एन आउट लाइन ऑव इंग्लिश फोनेटिक्स, केम्ब्रिज, १९६४, पृ० १।
२५. जे० आर० फर्थ : द टंग्स ऑव मेन एण्ड स्पीच, लन्दन, १९६६, पृ० २९।

२६. वहीं, पृ० २८-२९।
२७. एडवर्ड सेपीर : लैंग्वेज, १९४९, पृ० ४६, ४७।
२८. वही, पृ० ५३।
२९. गोलोक बिहारी धल : ध्वनिविज्ञान, आगरा, १९५८, पृ० ३४।
३०. डॉ० देवीशंकर द्विवेदी : भाषा और भाषिकी, आगरा, १९६४, पृ० ४८।
३१. डॉ० उदयनारायण तिवारी : भाषाशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १०३ से उद्धृत।
३२. कुमारसम्भव (कालिदास) २, १७ की मल्लिनाथ कृत टीका, तथा—"यद् वै प्रजापतेः परमस्ति वागेव तन्।" शतपथ ब्राह्मण ५।१।१।२८
३३. महाभाष्य (पतंजलि), अ० १, पा० १, आह्निक २। 'श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्य प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्द एक च पुनराकाशम्।'
३४. वहीं, अ० १, पा० १, आ० १।
३५. प० महेन्द्रकुमार जैन (स०) : भट्टाकलंकदेव विरचित तत्त्वार्थवार्तिक, द्वितीय भाग, अ० ५, सू० २४।
३६. डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन' : हिन्दी-भाषा (अतीत और वर्तमान), आगरा, १९६५, पृ० १६ से उद्धृत।
३७. इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः। काव्यप्रकाश (मम्मट)।
वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्। साहित्यदर्पण (विश्वनाथ)।
यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ ध्वन्यालोक १, १३ (आनन्दवर्धन)।
३८. पण्डितराज जगन्नाथ : रसगंगाधर, काव्यभेद, प्रथम आनन।
३९. अक्षराणा ख अच्छा जानती गात्। यजुर्वेद, ३३, ५९।
४०. महाभाष्य (पतंजलि), अ० १, पा० १, आ० २।
'अक्षरं न क्षरं विद्यात्। अश्नोतेर्वा सरो क्षरम्। वर्णं वाहुः पूर्वसूत्रे।
अथवा पूर्वसूत्रे वर्णस्याक्षरमिति सञ्ज्ञा क्रियते।'
४१. हिन्दुस्तानी, भाग २८, अंक १–४, जन०-दिस०, १९६७ में प्रकाशित डॉ० भाटिया के लेख में, पृ० ५८ से उद्धृत।
४२. डॉ० हरीश शर्मा : भाषाविज्ञान की रूप-रेखा, गाजियाबाद, १९६८, पृ० ९३ से उद्धृत।
४३. आर-एम० एस० हेफनर : जनरल फोनेटिक्स, १९६०, पृ० ७४।
४४ दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान् नृपः,
दुर्बलं व्यंजनं तद्वत् हरते बलवान् स्वरः।
४५. अन्वक भवतीति व्यंजनम्।
४६. डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा क्रिटिकल स्टडीज इन द फोनेटिक आब्जर्वेशन्स ऑव इण्डियन ग्रैमेरियन्स, दिल्ली, १९६१, पृ० ५८।
४७. डब्ल्यू० सिडनी एलन फोनेटिक्स इन एन्शियेन्ट इण्डिया, लन्दन, १९६५, पृ० ८० से उद्धृत।
४८. वहीं, पृ० ८१।
४९. 'व्यजयन्ति प्रकटम् कुर्वन्ति अर्थान् इति व्यंजनानि।' वही से उद्धृत।
५०. के० एल० पाइक : फोनेटिक्स, १९६६, पृ० ११६ से उद्धृत।
५१. वहीं से उद्धृत।

५२. ईराक जहाँगीर सोराबजी तारापुरवाला : एलीमेण्ट्स ऑव द सायन्स ऑव लैंग्वेज, १९६२, पृ० १०८।
५३. एच० ए० ग्लीसन : एन इन्ट्रोडक्शन टु डिस्क्रिप्टिव लिग्विस्टिक्स, परिवर्धित सं०, १९६६, पृ० २४।
५४. डॉ० मंगलदेव शास्त्री : तुलनात्मक भाषाशास्त्र अथवा भाषा-विज्ञान, प्रयाग, १९५६, पृ०२२३।
५५. श्रीगोलोकविहारी धल : ध्वनिविज्ञान, पृ० ५१ से उद्धृत।
५६. वहीं, पृ० ५२।
५७. वहीं, पृ० ५४।
५८. आर-एम० एस० हेफनर : जनरल फोनेटिक्स, तृतीय संस्करण, १९६०, पृ० १९।
५९. श्री गोलोकविहारी धल : ध्वनिविज्ञान, पृ० ५८ से उद्धृत।
६०. आर-एम० एस० हेफनर : जनरल फोनेटिक्स, १९६०, पृ० १८।
६१. डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन' हिन्दी भाषा (अतीत और वर्तमान), पृ० २८।
६२. श्री गोलोकविहारी धल : ध्वनिविज्ञान, १९५८, पृ० ११६।
६३. वहीं, पृ० ११७ से उद्धृत।
६४. वहीं, पृ० २४२।
६५. वहीं, पृ० २१९।
६६. वहीं, पृ० २३२ से उद्धृत।
६७. डॉ० भोलानाथ तिवारी : हिन्दी भाषा, इलाहाबाद, १९६६, पृ० ११२।
६८. वहीं, पृ० ११५।
६९. डॉ० आइ० जे० सोराबजी तारापुरवाला : एलीमेन्ट्स ऑव द सायन्स ऑव लैंग्वेज, तृतीय संस्करण, कलकत्ता, १९६२, पृ० १७४।
७०. विशेष विवरण की जानकारी के लिए वहीं द्रष्टव्य है।
७१. डॉ० भोलानाथ तिवारी : भाषा-विज्ञान, षष्ठ संस्करण, १९६७, पृ० ४२२।
७२. डॉ० रमेशचन्द्र मेहरोत्रा का लेख 'हिन्दी के स्वर-ध्वनिग्राम और संध्वनियाँ', प्रकाशित 'मध्यभारती', वर्ष ४, अंक ४, पृ० १५।
७३. वहीं, पृ० १६।
७४. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, तृ० सं०, १९४९, पृ० १०८ से उद्धृत।
७५. वहीं, पृ० १४१।
७६. मध्यभारती, वर्ष ४, अंक ४, पृ० १९-२० से उद्धृत।
७७. जॉर्ज एल० ट्रेगर : द फोनेटिक ट्रीटमेन्ट ऑव सेमी वावेल्स, लैंग्वेज, जिल्द १८, सं० ३, सितम्बर, १९४२, पृ० २२०-२३।
७८. अवर्णात्परो लघुप्रयत्नतर यकारश्रुतिर्भवति। सिद्धहेमशब्दानुशासन, १, १५०।
७९. स्यादौ दीर्घह्रस्वौ। सिद्धहेमगत अपभ्रंश व्याकरण, अ० ८, पा० ४, सू० ३३०।
८०. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० १४० से उद्धृत।
८१. जे० वान्द्रिएज : भाषा (अनु० जगवंश किशोर बलवीर), पृ० ५५।
८२. राबर्ट ए० हॉल : इन्ट्रोडक्टरी लिग्विस्टिक्स, पृ० २९५।
८३. वहीं, पृ० २९७।

अध्ययन व विमर्श के लिए पठनीय पुस्तकें :

(१) के० एल० पाइक : फोनेटिक्स।
(२) डेनियल जोन्स : एन आउट लाइन ऑव इंग्लिश फोनेटिक्स।

(३) आर०एम० एस० हेफनर : जनरल फोनेटिक्स।
(४) एच० ए० ग्लीसन : एन इन्ट्रोडक्शन टु डिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक्स।
(५) डब्ल्यू० सिडनी एलन : फोनेटिक्स इन एन्शियेन्ट इण्डिया।
(६) श्री गोलोकबिहारी धल : ध्वनिविज्ञान।
(७) डॉ० उदयनारायण तिवारी : भाषाशास्त्र की रूपरेखा।
(८) डॉ० हरीश शर्मा : भाषाविज्ञान की रूपरेखा।
(९) डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन' : हिन्दी भाषा (अतीत और वर्तमान)।
(१०) डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास
(११) डॉ० भोलानाथ तिवारी : भाषा-विज्ञान।
(१२) ,, ,, ,, : हिन्दी भाषा

३

हिन्दी की रूप-रचना एवं वाक्य-विन्यास

भाषा-संघटना

ध्वनिप्रक्रियात्मक दृष्टि से भाषा का विश्लेषण करते समय उन मूलभूत उपादानों का वर्णन किया जाता है, जिन में ध्वनितत्त्व संश्लिष्ट रहते हैं। हम प्रतिदिन असंख्य स्वनों (ध्वनितत्त्वो) का उच्चारण करते है। किन्तु वे ही महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं, जो व्यतिरेकी साँचो मे वर्गीकृत किए जा सकते है। इन व्यतिरेकी स्वनरूपों को 'क्रियात्मक इकाइयों' (Functional Units) के नाम से अभिहित किया जाता है। इन के अन्तर्गत स्वनो का वर्गीकरण किया जाता है। वर्गीकरण के निर्णय के तीन सिद्धान्त माने गए हैं—वितरण (distribution), सादृश्य (Similarity) और क्रियासाम्य (identity of function)। वितरण से हमारा अभिप्राय उस स्थिति से है, जिस के अन्तर्गत विभिन्न तत्त्व घटित होते है। वास्तव मे यह वह स्थिति है, जिसमे सस्वन (allophones) तथा सहपद (allomorphs), आदि परस्पर मिलते हैं। इन के अध्ययन के आधार पर भाषा के गठन का विचार किया जाता है। किसी भी भाषा की क्रियात्मक इकाई के तत्त्व की जानकारी के लिए उक्त तीन सिद्धान्तों के आधार पर एक तत्त्व से दूसरे तत्त्व की भिन्नता का पता लगाया जा सकता है। यदि समान स्थिति मे रहने वाले दो तत्त्व परस्पर भिन्न क्रिया या अर्थ वाले होते हैं तो वे परस्पर व्यतिरेकी (Contrast) कहे जाते हैं। उदाहरण के लिए, हिन्दी मे 'पल्' और 'फल्' समान स्थिति मे होने पर भी पदरूपो में भिन्न हैं। इसी प्रकार 'छाला' और 'जाला' में, 'आला' दोनों मे समान है; किन्तु ये 'छ' और 'ज' की भिन्नता के कारण समान ध्वनिग्रामीय नही हैं। इस प्रकार परस्पर व्यतिरेकी होने के कारण ये ध्वनिग्रामीय रूप-रचना मे समान नहीं होते। इस प्रकार जब कभी ये परस्पर इस पद्धति मे घटित होते हैं तब इन्हें व्यतिरेकी वितरण वाला कहा जाता है।

जब दो या दो से अधिक तत्त्व परस्पर अव्यतिरेकी दशा मे घटित होते हैं तब हम उन्हें अव्यतिरेकी वितरण (Noncontrastive distribution) कहते हैं। अंग्रेजी मे 'ए' और 'एन' का प्रयोग इसी प्रकार का है। हिन्दी मे इसे यों समझाया जा सकता है—'मुझे जाना तो है' और 'मुझे तो जाना है' इन दोनों वाक्यों मे 'तो' समान है, उसमें रूपगत भिन्नता नहीं है। अतः दोनों स्थानों पर 'तो' की स्थिति परस्पर अविरुद्ध होने के कारण अव्यतिरेकी वितरण कहा जाएगा। वास्तव में, इसका सम्बन्ध भाषा के उस आन्तरिक गठन से है, जिस मे इस प्रकार के उच्चार घटित होते

हैं। अव्यतिरेकी वितरण एक प्रकार से तत्त्वों के वर्गीकरण करने की वह पूर्वावश्यकता है, जिस से वे समान क्रियात्मक इकाई के परस्पर सदस्य निर्धारित किए जाते हैं।

यदि कोई तत्त्व जिस स्थिति में घटित होता है, उस स्थिति में या उससे विपरीत दशा में भिन्न घटित होता है तो वे परिपूरक वितरण (Complementary distribution) वाले कहे जाते है। कभी-कभी हम यह भी पाते हैं कि वे व्यतिरेकी स्थिति में नही हैं और इसलिए वे पूर्णतया परिपूरक वितरण नही होते। प्रायः तत्त्वो मे परस्पर मुक्त परिवर्तन होता है, जैसे कि—'छत्तीसगढ़ी' बोली मे 'जन' को 'झन' कहते है। यह परिवर्तन बलाघात के कारण लक्षित होता है। यह उच्चारणगत होता है। इस से अर्थ मे किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। इस के कुछ अन्य उदाहरण है—सडक्। सरक्, प्राण्। प्रान्, वाणी। बानी, धणी। धनी, नन्ही। नन्नी, गुड। गुल्, इत्यादि। इन मे से 'नन्ही' और 'नन्नी' बुन्देली मे तथा 'गुड' और 'गुल्' राजस्थानी बोलियो के प्रयोग हैं। डॉ० उदयनारायण तिवारी के अनुसार साधु हिन्दी में केवल एक 'ञ' ध्वनि परिपूरक वितरण की स्थिति मे है।' यह केवल शब्दो के मध्य मे तालव्य या चवर्गीय व्यंजनो के पूर्व मे प्रयुक्त होती है।

सादृश्य का सिद्धान्त ध्वन्यात्मक लक्षण की स्थिति मे ध्वन्यात्मक समानता के लिए तथा अन्य रूपो मे अर्थ के लिए लागू होता है। उदाहरण के लिए, 'कान' और 'गान' मे स्थित 'क्' और 'ग्' मे ध्वन्यात्मक समानता है। दोनो कण्ठ्य ध्वनियाँ है। इनमे अन्तर केवल इतना ही है कि 'क्' अघोष और 'ग्' घोष ध्वनि है। सापेक्षिक दृष्टि से इन ध्वनियो की समानता प्रायः प्रदर्शित की जाती है। इस प्रकार व्यतिरेकी का अर्थ भेद के साथ एक परिवेश मे आना और परिपूरक वितरण का अर्थ परस्पर परिवेश की भिन्नता है। जब दो या दो से अधिक ध्वनियाँ ध्वन्यात्मक समानता के साथ भिन्न परिवेश मे रहती है तभी ध्वनिग्राम की रचना करती है। ये ध्वनियाँ ध्वनिग्राम की सस्वन कहलाती है। 'अब' की 'अ' ध्वनि और 'बहन' मे 'ब्' के पश्चात् की 'अ' ध्वनि एक-दूसरे से परस्पर अत्यन्त भिन्न है। पहली मध्य, केन्द्रीय (अर्ध सवृत और अर्धविवृत की मध्यवर्ती), उदासीन, ओठो से बोली जाने वाली ह्रस्व स्वरध्वनि है और दूसरी अग्र, अर्धविवृत और नमित, अल्प विस्तृत ओठो से बोली जाने वाली ह्रस्व स्वरध्वनि है।

क्रियासाम्य की आवश्यकता इसलिए होती है कि परिपूरक वितरण के आधार पर केवल ध्वनि या अर्थ के साम्य को देख कर वर्गीकरण मे आने वाले परस्पर असमान तत्त्वों को रोकना होता है; जैसेकि—सन्मति और सम्मति। इस मे किस ध्वनि को किस ध्वनिग्राम के सस्वन के रूप मे आश्रित रहना पडता है, यह क्रियासाम्य के सिद्धान्त से निश्चित करना पडता है। यह निश्चित होने पर कि 'सन्' अलग है, जो मूल मे 'सत्' है और 'सम्' अलग है, हम भिन्न-भिन्न वर्गीकरण कर सकेगे। इसी प्रकार अलग-अलग पदग्रामो को छाँटा जाता है।

भाषा की मूलभूत दो इकाइयाँ हैं—ध्वनिग्राम तथा पदग्राम। प्रथम का सम्बन्ध

विशेष रूप से अभिव्यक्ति से है और दूसरी का वस्तु से। प्रत्येक वाक्य में दो प्रकार के विशिष्ट तत्त्व होते हैं—एक तो भावों के अनुरूप विषय की अभिव्यक्तिमूलक तत्त्व और दूसरे भावों के परस्पर सम्बन्ध के द्योतक तत्त्व। इसलिए जब मैं यह कहता हूँ कि 'मच पर अभिनय हो रहा है' तो तुरन्त मस्तिष्क मे यह भाव उद्बुद्ध हो जाता है कि कोई सजा हुआ रंगमच है और उस पर कोई नाटक खेला जा रहा है। इस प्रकार भाषा को सुन कर मानसिक क्रिया-व्यापार द्वारा जो भाव-प्रतिमा मानस-प्रत्यक्ष होती है, उस का विश्लेषण किया जा सकता है। इस प्रकार अभिव्यक्ति का सम्बन्ध अर्थतत्त्व से है। अर्थतत्त्व से हमारा अभिप्राय भाषा के उन तत्त्वों से है, जो प्रतिमाओं के भावो की अभिव्यक्ति करते है अथवा विचारों को उद्बुद्ध करते है। उदाहरण के लिए, रगमच और उस पर अभिनय का भाव अर्थतत्त्व का उद्बोधक है। केवल इतना ही नही, रगमच पर अभिनीत हो रहे अभिनय की अभिव्यक्ति का सम्बन्ध वर्तमान काल तथा अन्य पुरुष से है। इस वस्तुतत्त्व का सम्बन्ध सम्बन्धतत्त्व से है। यह सम्बन्धतत्त्व अर्थतत्त्व का भावक होता है। इसलिए बुद्धि दोनो के परस्पर सम्बन्ध और अर्थ का भावन करती है। सम्बन्धतत्त्व का सम्बन्ध व्याकरण का विषय है। व्याकरण मे मुख्य रूप से पद और पदार्थ का सम्बन्ध निरूपित किया जाता है। धातु, प्रत्यय, रचना, आदि और पद-पदादि तथा वाक्य मे उनका क्रम, सम्बन्ध, आदि व्याकरण का विषय है। भाषा के गठन का विचार करते समय हमे भाषा की विषय-वस्तु और उस की अभिव्यक्ति दोनो का विश्लेषण करना पडता है। सामान्यतया पद ग्राम ध्वनिग्रामो का लघु अनुक्रम है। ध्वनिग्रामों से हमे अर्थ का पता नही लगता। क्योंकि उनका विषय-वस्तु से सीधा सम्बन्ध नही है। वे केवल इकाई (Unit) है, जिन से बोलने वाला और सुनने वाला पद-ग्रामो का अध्याहार कर लेता है। इस प्रकार पद ग्राम लघुतम सार्थक इकाई है। लघुतम इकाई का अर्थ है कि जो बिना खण्ड किए ही अर्थ देती है। इस तरह भाषा का तात्त्विक विश्लेषण मुख्य रूप से केन्द्रीय तीन गठनात्मक स्तरों से सम्बद्ध है : ध्वनि-प्रक्रियाविज्ञान (Phonology), पद-विज्ञान (Morphology) और वाक्यविज्ञान (Syntax)। प्रत्येक भाषा का गठन ध्वनि, पद और वाक्य-विन्यास के समासात्मक योग का परिणाम है। क्योकि प्रत्येक ध्वनि का कोई न कोई अर्थ सन्निहित होता है और वह किसी न किसी क्रम मे तथा रूप मे सम्बद्ध होता है। अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व ये दोनो भाषा के योजक तत्त्व है। इसलिए ध्वनि, पद और वाक्य का विचार करते समय उन मे गर्भित अर्थ तथा सम्बन्ध तत्त्व का समाहार हो जाता है।

प्रत्येक युग मे भाषा-सघटना मे सतत परिवर्तन होते रहते है। ये परिवर्तन केवल व्यक्तिगत प्रयोगों तक ही सीमित नहीं होते, वरन् प्रति दिन के व्यवहृत नए शब्द, नए रूप, नए उच्चारण और पुराने प्रयोगों के चलन से बाहर भी होते हैं। इन नवीन प्रयोगों मे भी विविध परिवर्तन देखे जाते है। शताब्दियों के अन्तराल मे भाषाविषयक इन प्रवृत्तियो के परिवर्तनस्वरूप हम विभिन्न युगो की भाषा को अलग-अलग नामों से

बोधित करते हैं। अतएव भाषिक पद्धति का वर्णन करने के लिए ऐसी विधि अपनानी पड़ती है, जिसमे समय का कोई बन्धन हो अथवा जो विशिष्ट या समयसापेक्ष हो। भाषा तत्त्वों का जो वर्णन किया गया है उस से पता चलता है कि वर्णनात्मक भाषाशास्त्र के भी दो सम्प्रदाय हैं—एक तो वे विश्लेषक है, जो सभी प्रकार से समय के बन्धन से निर्मुक्त हो कर विचार करने मे विश्वास रखते है और दूसरे वे हैं, जो समय की सीमा में बँध कर चलते है। पहले प्रकार का विचार करने वालो का वर्णन किसी एक सीमा में स्वन, सस्वन, ध्वनिग्राम तथा पद एव पदग्रामादि के यथाक्रम अनुबद्धता अथवा उन परिणामो के रूप मे होता है, जिन मे कि वे पाए जाते है। उदाहरण के लिए, वह घोडा से घोड़े कैसे बन जाता है, इन दोनों मे एकवचन और बहुवचन का भेदक तत्त्व क्या है, 'ए' किस प्रकार के शब्दो मे जोड देने से एकवचन के स्थान पर बहुवचन का अर्थ देने लगता है, आदि बातो का विचार करते है; जो समय की सीमाओ से परे है। दूसरे, जो इतिहास के किसी काल से सम्बन्धित होते है, वे विशुद्ध रूप से ऐतिहासिक पद्धति के विश्लेषक होते हैं: जो सामग्री का विचार करते समय उस के विकास क्रम पर ध्यान देते है। यद्यपि इस मे विकास की व्याकरणिक प्रक्रिया अथवा परिवर्तन-सरणि सयुक्त होती है, किन्तु तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए यह पद्धति निर्देशिका के समान होती है। भाषा-सघटना का विचार करते समय विश्लेषक ध्वनि-विज्ञान से लेकर वाक्य-विज्ञान तक यथाक्रम रूप से अथवा वाक्य-विज्ञान से लेकर ध्वनि विज्ञान तक ऊपर से ले कर नीचे तक या नीचे से ले कर ऊपर तक किसी भी प्रकार से विश्लेषण कर सकता है।

व्याकरण तथा आन्तरिक रूप

प्रायः प्रत्येक भाषा का कोई न कोई व्याकरण होता है। यह कथन हमारे प्राचीन भाषाओ के व्याकरण के व्यामोह का द्योतक है। क्योकि हम इस से यही समझते है कि भाषा का व्याकरण एक ही प्रकार का होता है। अतः प्राचीन भाषा का जो व्याकरण प्राचीनतम पद्धति पर लिखा हुआ मिलता है, वही एक व्याकरण की पद्धति है और उस के सिवाय किसी पद्धति पर व्याकरण लिखा नहीं जा सकता है। वस्तुतः व्याकरण का जन्म 'स्वीकार्य सामाजिक प्रयोगो' के निमित्त हुआ था। इसलिए सस्कृत मे 'मृण्मय', 'गेह', 'कतिपय' (कतिपद), तथा 'मलयाचल' अशुद्ध होने पर भी साहित्य मे प्रयुक्त मिलते हैं, क्योंकि वे असाधु नही है। जो समाज के द्वारा प्रयोग मे स्वीकार्य होते हैं, वे साधु कहे जाते है। हिन्दी मे 'समाचार' जिस अर्थ मे चलता है, वास्तव मे, शब्द से उस अर्थ का तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। सस्कृत मे 'समाचार' का अर्थ है—सम्यक् आचार। यह समाचारी अर्थ मे भी प्रचलित है (सामूहिक आचार)। किन्तु हिन्दी मे न जाने कितने समाचार-पत्र निकलते है, जो खबरे देने का काम करते हैं। हिन्दी मे इसका प्रथम प्रयोग गोस्वामी तुलसीदासजी के 'रामचरितमानस' में मिलता है। सम्भव है वही से यह शब्द अपना लिया गया हो। हिन्दी मे ऐसे अनेक शब्द

प्रचलित हैं जो रूप और अर्थ की दृष्टि से शुद्ध नहीं हैं, किन्तु समाज में प्रचलित होने के कारण मान्य हो चुके हैं। ऐसे कुछ शब्द इस प्रकार हैं—बुद्धू (बुद्ध), भोन्दू (भन्ते), भद्, भद्दा (भद्र), पाखण्डी (धार्मिक सम्प्रदाय), मेहतर (महत्तर), देवर (द्वितीय वर), विवाह (विशेष रूप से ले जाना), डाकिन (काली की उपासिका), किन्नर (कुत्सित नर), इत्यादि। अतएव व्याकरण अनुशासन मात्र है। यदि हम कहते हैं 'नहीं है' तो यह व्याकरण की दृष्टि से ठीक है और 'है नहीं' कहते हैं तो अशुद्ध है; क्योंकि यह असाधु प्रयोग है।

प्रत्येक भाषा का अपना गठन होता है और अपना व्याकरण होता है। संघटना के अनुसार ही व्याकरण की निर्मिति की जाती है। भाषा पहले बनती है और व्याकरण बाद में। व्याकरण के कई प्रकार कहे गए हैं। प्रो० राबर्ट ए० हॉल के अनुसार रीत्यात्मक व्याकरण (Prescriptive grammar), वर्णनात्मक व्याकरण (descriptive grammar), व्यतिरेकी व्याकरण (Contrastive grammar), ऐतिहासिक व्याकरण (Historical grammar) और तुलनात्मक व्याकरण (Comparative grammar), जैसे बहुत-से भेद होते है। रीत्यात्मक व्याकरण 'हमें किस प्रकार बोलना चाहिए और किस प्रकार नहीं', इस प्रकार का आदेश प्रदान करता है। किन्तु वर्णनात्मक व्याकरण में भाषा-सघटना का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाता है। भाषा के गठन का विस्तार के साथ इस में वर्णन किया जाता है। भाषा की गठनात्मक रूपरेखा को स्पष्ट करना ही इसका उद्देश्य होता है। यदि किसी भाषा की व्याकरणिक सघटना को दूसरे से भेद करके बताया जाता है, अथवा यह जानने के लिए कि अमुक भाषा की बनावट मे क्या अन्तर है, जिस से भाषा सीखने वाले दूसरे लोगों को कठिनाई होती है तो इसे व्यतिरेकी व्याकरण कहा जाता है। जिस मे भाषा के गठन का ऐतिहासिक विकास बताया जाता है, वह ऐतिहासिक व्याकरण है। यदि किसी भाषा की बोलियो मे या किसी एक प्राचीन स्रोत से विकसित होने वाली भाषाओ के समझने मे किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न होता है तो तुलनात्मक व्याकरण मे उन के विभिन्न रूपो की तुलना कर हम वास्तविकता को जान सकते है।

किसी भी भाषा की व्याकरणिक पद्धति उस के क्रियाशील तत्त्वो से निर्मित होती है। उन के परस्पर सम्बन्ध और सांकेतिक क्रम मे स्थापन व्याकरणिक तत्त्वो के लक्षण कहे जाते हैं। यह पद्धति और अभिव्यक्तिमूलक अर्थ 'व्याकरणिक हार्द' कहा जाता है, दूसरे लोग इसे ही भाषा का 'आन्तरिक रूप' कहते हैं। 'हार्द' कहते ही हमारा ध्यान गठनात्मक तत्त्वो पर केन्द्रित हो जाता है और 'आन्तरिक रूप' कहने से अर्थ का बोध होता है। यद्यपि गठनात्मक तत्त्वो के अर्थ कह कर उस को परिभाषित करना प्रायः कठिन होता है, किन्तु वास्तव मे उसका अस्तित्व है; जो कि बहुत महत्त्वपूर्ण है और जिस से हम किसी उच्चार के वास्तविक शब्दार्थ सम्बन्ध को निश्चित करते हैं। उदाहरण के लिए, कुछ उपहास विशेष रूप से अर्थ से सम्बद्ध होते हैं।

इसलिए यदि हम कहते है कि 'श्रीमान्‌जी क्या रंग है', 'जनाब, क्या बात है' तो व्याकरणिक रचना की दृष्टि से ये अर्थतत्त्व से सम्बन्धित है।

भाषा का विश्लेषण करने वाला किसी भी भाषा के व्याकरणिक हार्द का वर्णन करते समय सब से पहले अर्थ का विनिश्चय करने के लिए नामाख्यातको (Functors) को पृथक् करता है और वस्तुरूप्यमान तथा नाम-रूपो के विभिन्न सम्भावित सयोगों का अर्थपूर्ण क्रम मे परिचय प्राप्त करता है। इतना होने पर वह रूपो के वर्गों का अन्य रूपों के साथ सयोगगत अध्ययन करता है कि वे नाम-रूप है अथवा वस्तु-रूप्यमान। भाषा की व्याकरणिक कोटियाँ (वचन, पुरुष, काल, आदि) इस सन्दर्भ मे रूपों के वर्गों मे प्रस्थापित की जाती है। किन्तु रीत्यात्मक व्याकरण के अनुसार उन के नामनिर्देश करना आवश्यक नही होता, क्योकि वे प्रायः भ्रमपूर्ण होते हैं। इसलिए विभिन्न सन्दर्भों का विचार कर हमें नए नाम ही देना चाहिए। सुविचारित नए नामो से किसी प्रकार के भ्रम की सम्भावना नहीं रह जाती।[1]

केवल एक स्वरलहर से समन्वित कोई भी अर्थपूर्ण उच्चार भाषिक रूप (Linguistic form) कहा गया है। इस मे एक शब्द से ले कर बडे लम्बे वाक्य तक आ सकते है। किन्तु अभी हमारा प्रयोजन भाषिक रूपो से केवल इतना ही है कि भाषा के गठन के न्यूनतम इकाइयो के रूप, पदग्रामो का विचार किया जाए। वास्तव मे भाषिक उच्चार ही भाषिक सामग्री का काय या समुदाय होता है। उसके आधार पर ही किसी भाषा का वर्णन या विवेचन किया जाता है।

पद और पदिम (Morph and Morpheme)

जिस प्रकार ध्वनिग्रामीय आधारभूत इकाई स्वनिम होती है, उसी प्रकार पदग्रामीय आधारभूत इकाई पदिम है। पद स्वनों का वह सयोग कहा जाता है, जिस मे अर्थ तथा रूप निहित रहता है। हमारे वाग्व्यवहार के उच्चारो मे भाषणध्वनियाँ एक गठनात्मक पद्धति मे क्रियाशील लक्षित होती है। किन्तु हमारी ध्वनि-प्रवृत्तियो से प्रतिफलित होने वाले स्वनिग्राम अर्थवान नही होते। इसलिए विस्तृत अर्थ मे भाषिक रूप का अर्थ होता है—स्वनिमो का वह अर्थपूर्ण अनुक्रम, जो एक ओर आकार तथा रूप से सम्बद्ध होता है और दूसरी ओर ध्वन्यात्मक वाक्य से। प्रो० हॉल ने इस सन्दर्भ मे ध्वन्यात्मक (Phonetic) और ध्वनिग्रामीय (Phonemic) दोनो का समाहार करते हुए ध्वन्यात्मक को अक्रियाशील और ध्वनिग्रामीय को क्रियाशील माना है।[2] भाषिक रूप मे इन दोनो का अन्तर्भाव हो जाता है। उनकी मान्यता के अनुसार भाषिक रूप मे पद अक्रियाशील है और पदग्राम सक्रिय है। दोनो के अपने-अपने रूप हैं।

प्रत्येक स्वन की भाँति पद भी केवल एक बार उच्चरित होता है। पद अर्थवान होता है। अधुनातन भाषावैज्ञानिको के अनुसार पद का अर्थ तथ्य (Concept) है। यथार्थ मे, पदरचनात्मक वृत्तियो की विविधता के कारण प्रत्येक भाषा मे पद की परिभाषा भिन्न होती है। यदि किन्ही भाषाओं मे पद की व्याख्या स्वतन्त्र तथा अविभाज्य समष्टिरूप कह कर की जाती है तो किन्हीं मे सम्पृक्त एवं सश्लिष्ट रूप में

विश्लेषित की जाती है। पद के अन्तर्गत विधेयक तत्त्व रहते हैं। पद अपने आप में पूर्ण तथा स्वतन्त्र होता है। श्री मेइये के अनुसार जब ध्वनियों के किसी समूह में व्याकरणीय प्रयोग के अनुसार अर्थ का बोध कराने की शक्ति होती है तब उस ध्वनि-समूह को पद कहते हैं।' हम किसी भी प्रकार से क्यो न कहें, पद में सम्बन्ध और अर्थतत्व दोनों अन्तर्हित रहते हैं। सम्बन्धतत्त्व की प्रधानता के कारण पद साकांक्ष होता है। अर्थतत्त्व को संकेतित करनेवाली ध्वनियाँ प्रकृति कहलाती हैं और सम्बन्ध-तत्त्व को संकेतित करने वाली प्रत्यय कही जाती हैं। अर्थ का सम्बन्ध बाह्य जगत् से है और प्रत्यय का आन्तरिक मन या विवक्षा से। कहने वाला अपनी इच्छा से भाषा का व्यवहार करता है। प्राचीनों के अनुसार 'सुप्' और 'तिङ्' से युक्त पद होते हैं। पद मे नाम (सज्ञादि) और आख्यात (क्रियापद) दोनों का मेल होता है। दूसरे शब्दों मे, प्रकृति और प्रत्यय के मेल को पद कहते हैं। पद के इसी आधार पर मुख्य दो भेद माने जाते है—नामपद और क्रियापद। अन्य पदों का अस्तित्व बहुत कुछ इन्हीं पर अवलम्बित है। इस प्रकार पाणिनि के अनुसार प्रातिपदिक, विभक्ति और प्रत्यय, आदि से मिल कर 'पद' बनता है। किन्तु अधुनातन भाषाशास्त्री ध्वनिग्रामों के न्यूनतम अर्थवान तत्त्व को पद मानते है। उन के अनुसार पदो की रचना ध्वनि-ग्रामों के अनुक्रम मे होती है। ध्वनिग्रामो के सयोग से अक्षर और अक्षरो के योग से शब्द की रचना होती है। एक क्रम बताने के लिए कहा जा सकता है कि उच्चार के प्रवाह मे स्वन ध्वनिग्रामो मे और ध्वनिग्राम अक्षर तथा शब्दो मे और शब्द पद एवं पदग्रामो मे तथा पदग्राम वाक्यो मे सश्लिष्ट रहते है। इस दृष्टि से पद उच्चार की अर्थवान इकाइयॉ निरूपित किए गए हैं। उदाहरण के लिए, 'कपड़ों' एक उच्चार है; किन्तु इसमे दो अर्थवान इकाइयॉ है—(१) कपड़्, (२) ओं। इस प्रकार उच्चार की दृष्टि से पद तथा पदिमो का विचार किया जाता है।

पद-ग्राम

पदिम को पदग्राम भी कहते हैं। पदग्राम का विचार करते हुए अधुनातन भाषाशास्त्रियों ने उसे अलग-अलग रूपो में विवेचित किया है। यद्यपि कुछ भाषाविद् पद को अर्थवान नहीं मानते हैं, जिन में हैरिस तथा हिल का नाम मुख्य रूप से लिया जाता है; किन्तु हॉकेट, ग्लीसन और हॉल आदि व्याकरणीय अर्थवान तत्त्वों या अर्थपूर्ण भाषिक रूपों को 'पदग्राम' मानते हैं। यह भाषा की अभिव्यक्तिमूलक इकाई कही जाती है, जिस का वस्तु से पूरा-पूरा सम्बन्ध रहता है। ध्वनिग्राम से भिन्न मानने का मुख्य कारण यही है कि ध्वनिग्राम अर्थमूलक नही होते, किन्तु पदग्राम सार्थक होते हैं। अभिव्यक्ति पद्धति मे इसे द्वितीय मूलभूत इकाई माना गया है।

यद्यपि शब्द को व्याकरणात्मक विश्लेषण के समय मूलभूत व्याकरणिक इकाई मान लिया जाता है, किन्तु वास्तव में वह स्वल्पतम व्याकरणिक इकाई नहीं है। अनेक शब्द-रूपो में; जैसे कि—घोड़ों, गधों, कुत्तों, बाघों और चीतों, आदि को विभक्त

करने पर दो व्याकरणिक अर्थवान तत्त्व विश्लेषित किए जाते हैं। इनमें 'ओं' मूल शब्द से पृथक् है। इसके आगे इन शब्दों को स्वल्पतर इकाइयों में बाँटना सम्भव नहीं है। ध्वनिप्रक्रियात्मक रूप से इन को (घोडा, गधा, कुत्ता, बाघ, चीता, को) आगे शब्द और व्यजन तत्त्वो के रूप मे विभक्त किया जा सकता है, किन्तु यह विभाग किसी प्रकार के व्याकरणिक उपयुक्त अंशो की दृष्टि से पृथक्कृत नही किया जाता। अतः ये स्वल्पतम व्याकरणिक इकाइयों पदग्राम कही जाती है।

पदग्राम के इस सन्दर्भ मे शब्द का बहुत विचार किया गया है। सामान्य रूप से शब्द भाषा का एक पृथक् तथा स्वतन्त्र तत्त्व माना गया है। किन्तु भाषातात्त्विक विश्लेषण मे उस का कोई सर्वव्यापक रूप निश्चित नहीं किया जा सकता; क्योकि कुछ उदाहरणो मे वह एक न्यूनतम मुक्त रूप मे भी बताया जा सकता है। किन्तु जो शब्द पृथक् लिखे जाते है और जो कि मुक्तरूप नहीं हैं (जैसे कि—अंग्रेजी के ए, एन), वे इस व्याप्ति मे अन्तर्हित नही होते। कुछ लोगो ने शब्द के सम्बन्ध मे विचार करते हुए 'ध्वनिग्रामीय शब्द' और 'पदग्रामीय शब्द' के रूप मे इस का परिचय दिया है, किन्तु वैयक्तिक भाषाओ के लिए यह उपयोगी हो सकता है; परन्तु सार्वभौमिक रूप से जो उपयोगिता ध्वनिग्राम, पदग्राम और वाक्य-विन्यास की है, वह ध्वनिग्रामीय तथा पदग्रामीय शब्द की नही है।

पदग्रामीय तथा वाक्यविन्यासात्मक विश्लेषण के अन्तर्गत उचारो के मध्य सयोगो मे प्रकट होने वाली सार्थक ध्वनियो का वर्गात्मक रूपो मे अध्ययन किया जाता है। अपवाद के रूप मे एक-दो भाषाओ को छोड कर सामान्यतया ऐसी भाषाएँ नहीं दिखलाई पड़ती, जिन मे सयोगगत सभी रूप केवल मुक्तरूप हों।[१] अधिकतर इन रूपो मे, विशेष कर आबद्ध रूपो पर निर्भर रहना पडता है, जिन से रूपवर्ग निश्चित किए जाते हैं। ये मुक्त तथा आबद्ध रूपवर्ग उपवर्गों मे भी विभाजित किए जाते है। सामान्य रूप से किसी विशिष्ट रूप का अन्य रूपो के साथ सश्लिष्ट रूप मे विचार किया जाता है। रूपो के परस्पर सम्बन्धों का वर्णन करते समय अधिकतर विश्लेषक व्याकरणिक पद्धति अपनाते हैं। व्याकरणिक पद्धति से पता चलता है कि रूप अकेला है अथवा सयोगी होने से एक से अधिक है। इस प्रकार उच्चार के वे स्वतन्त्र अर्थवान खण्डरूप, जिन से शब्द-रचना हो सकती है मुक्तरूप (Free forms) कहे जाते हैं। जो किसी शब्द में अकेले प्रयुक्त नही होते अर्थात् जिनका उच्चारण स्वतन्त्र रूप से नही किया जाता, वे आबद्धरूप (Bound forms) होते हैं।

मुक्तरूप तथा आबद्धरूप

पदग्रामो को कई प्रकार से विभक्त किया गया है। इनका सर्वप्रथम वर्गीकरण मुक्तरूप तथा आबद्धरूप में किया गया है। मुक्तरूप वे है जो स्वतन्त्र रूप से शब्द-रचना की क्षमता रखते हैं। शब्द मे आबद्धरूप किसी अन्य पदग्राम के साथ प्रकट होता है। वह अकेला प्रयुक्त नही होता। पदग्राम के मुक्तरूपो से अनिवार्य रूप से मूल

पदग्रामिक (Monomorphemic) शब्दों की निर्मिति होती है। केवल वियतनामी जैसी एक-दो भाषाओं को छोड़ कर कोई ऐसी भाषा नहीं है, जिस में सभी पदग्राम मुक्तरूप में रहते हों। किन्तु ये भाषाएँ अपवाद रूप मे गिनाई जाती हैं। पहले कहा जा चुका है कि 'सड़कों' में उच्चार एक है; किन्तु पद दो है। इसी प्रकार 'पुस्तकों' में मुक्तपद 'पुस्तक्' और आबद्धपद 'ओं' है। मुक्तरूप के अन्य उदाहरण हैं—शव-दाह, कलियुग, बोलचाल, डाकघर, भागदौड़, इत्यादि। इन उदाहरणों मे दो मुक्तरूप पद हैं। ये स्वतन्त्र है और अर्थवान भी। स्वतन्त्र रूप से इन्हे इस प्रकार लिखा जाएगा—शव्, दाह्, कलि, युग्, बोल्, चाल्, डाक्, घर्, भाग्, दौड़्। इस प्रकार मुक्तरूप किसी शब्द के उच्चरित होने वाले वे उच्चार होते हैं, जिन का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और अर्थ होता है। किन्तु आबद्धरूप स्वतन्त्र तथा अर्थवान रूप में उच्चरित नहीं होते; जैसे कि—हीनता, दीनता, केले, पेड़े, छोटे मे, संश्लिष्ट 'ता, ता, ए, ए, ए।' इसी प्रकार दो आबद्धरूप वाले पद है—वैषम्य, निर्मापित, ताटस्थ्य, तारतम्य, व्यस्त, आदि। जिन मे एक या एक से अधिक आबद्धरूप पद होते हैं, वे 'संकर' शब्द कहे जाते है। उदाहरण के लिए—पडिताई, मानवता, हीनता, दुर्बलता, बचपन, लालिमा, अविरोधिता, असहिष्णुता, आदि सफल आबद्धरूप हैं। इन मे सयुक्त अन्तिम प्रत्यय आबद्धरूपता के द्योतक है। जिस प्रकार आबद्धरूपों की अपनी विशिष्ट स्थिति होती है और वे एक या एक से अधिक भी एक साथ प्रयुक्त होते हैं, उसी प्रकार जब कोई शब्द दो या दो से अधिक मुक्तरूपों से निर्मित होता है तब उसे 'संश्लिष्ट' कहा जाता है। यह शब्दो की सामासिक स्थिति होती है। समास में आने वाले इस प्रकार के शब्द हैं—

स्नानघर, डाकघर, पानदान, तिलचट्टा, दालरोटी, नलकूप, पथभ्रष्ट, देशसेवक, बारहमासी, कामचोर, आदि।

द्वितीय प्रकार से पदग्रामो को धातु (Roots) और प्रत्ययों (Affixes) में विभक्त किया जाता है। धातु मूल शब्द है, जो सभी प्रत्ययो को हटा देने के बाद अपने मूल रूप मे स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है। धातु और प्रत्ययो के भी मुक्त रूप तथा आबद्धरूप कहे जाते है। धातु पदग्राम आबद्धरूप तथा मुक्तरूप दोनों प्रकार के हो सकते है। ये किसी भी भाषा मे असीमित संख्या मे मिलते है। किन्तु प्रत्यय आबद्धरूप पदग्राम होते है। वे सख्या मे सीमित होते हैं। प्रत्ययो से विभिन्न प्रकार के शब्दो की रचना होती है। यह कहा जा सकता है कि सभी शब्दो मे धातु-पदग्राम निहित रहता है, और इसलिए मूल पदग्रामिक शब्दो मे एक धातु (मूल शब्द) समाहित रहती है। किन्हीं-किन्हीं शब्दों में एक से अधिक मूल शब्द होते हैं। सभी भाषाओं मे प्रत्यय भिन्न पाए जाते है। संस्कृत के प्राचीन वैयाकरणों के अनुसार सभी प्रकार के नाम (संज्ञा) और आख्यात (क्रियापद) के मूल मे कोई न कोई धातु अवश्य होती है। पदों में नाम और आख्यात ही मुख्य होते हैं। इसलिए सस्कृत मे प्रत्यय भी

मुख्य रूप से दो प्रकार के माने गए हैं—व्युत्पादक प्रत्यय (Derivative Suffix) और विभक्ति-प्रत्यय (Inflexional Suffix) ।

पदग्रामिक विश्लेषण (Morphological analysis)

पदग्रामिक विश्लेषण में हमारा मुख्य कार्य आबद्धरूप तथा न्यूनतम मुक्तरूपों के साँचों को निश्चित कर वर्गों तथा उपवर्गों मे विभाजित करना होता है। साधारण रीति से यह पता लगाने के लिए कि पदग्रामीय समूहों में सम्बन्धित रूप आरम्भ से अन्त तक किस प्रकार रूप तथा अर्थ मे सतत बने रहते है, यह अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन मे पदो के रूप-समूह मे से किसी एक को ले कर या मूल रूप को ले कर विश्लेषण करना पडता है। सामान्य मनुष्य अपने भावो को प्रकट करने के लिए तथा अन्य उच्चारो का अर्थ समझने के लिए भाषा का प्रयोग करता है। इस प्रकार काम चलाना ही उसका प्रयोजन होता है। किन्तु भाषाविद् या भाषाशास्त्री उच्चारो तथा पदो को समझ कर अर्थवान खण्डो मे विभक्त कर उन का विश्लेषण करता है। यद्यपि हैरिस, हिल आदि भाषाशास्त्री पदग्रामिक विश्लेषण मे अर्थ को आधारभूत नही मानते, किन्तु अधिकतर भाषातत्त्ववेत्ता जिन मे ब्लूमफील्ड, ब्लॉख तथा ट्रेगर, ग्लीसन, रॉबिन्स तथा हॉल आदि भी हैं, अर्थ को ध्यान मे रख कर पदग्राम का विश्लेषण करते है। सभी यह मानते है कि पदग्रामिक विश्लेषण का आधार शब्द-रूप है; किन्तु रूप मात्र का विनिश्चय तथा अर्थवान एव भिन्न रूपो का बटन अर्थ को ध्यान मे रख कर ही किया जाता है। मूल शब्द का पता भी अर्थ से ही लगता है। अतः अर्थ को ही आधारभूत मानना चाहिए। उदाहरण के लिए, निम्नलिखित वाक्य है—

मोहन बड़ा हट्टा-कट्टा है।
राम बड़ा गट्टा-पट्ठा है।

इन वाक्यो के खण्डो मे विभक्त रूप होगे—

। मोहन । बड़ा । हट्टा । कट्टा । है ॥
। राम । बडा । गट्टा । पट्ठा । है ॥

ऊपर लिखे हुए शब्दो । हट्टा । कट्टा । गट्टा । पट्ठा । मे कुछ अंशो मे रूपगत ही नहीं, अर्थगत भी समानता है। इन चारो शब्दो को इस प्रकार खण्डो मे विभाजित किया जा सकता है :

हट्ट—हट्ट् + आ	कट्ट—कट्ट् + आ
गट्ट—गट्ट् + आ	पट्ठ—पट्ट् + आ

इसी तरह भुक्कड, बुझक्कड, सुवक्कड, भिखमगा, सतरगा, हथकड़ी, कुदक्कड़, कमेरा, लुटेरा, कटैया, गवैया, रचैया, मोटिया, गोटिया, तबेरा, कंसेरा, घनेरा, बड़ेरा, लोनिया, इत्यादि मे निम्नलिखित विभक्त खण्ड है—

भूख—भुख् + अक्कड्	बूझ—बुझ् + अक्कड्
सौ—सु + अक्कड्	भीख, माग—भिख् + मंगा

सात, रंग— सत् + रंगा	हाथ, कड़ी—हथ् + कड़ी
कूद—कुद् + अक्कड़्	कमा—कम् + एरा
लूट—लुट् + एरा	काठ—कट् + ऐया
गाव—गव् + ऐया	रच—रच् + ऐया
मोटा—मोट् + इया	गोठ—गोठ् + इया
तांबा—तंब + एरा	कासा—कंस + एरा
घना—घन् + एरा	बढ़ा—बढ़् + एरा
लोन—लोन् + इया	

वस्तुतः इन खण्डो का विभाजन मूल शब्द और प्रत्ययो को विभक्त कर किया गया है। इन मूल शब्दों के साथ प्रत्ययों के सयोग काल मे जो परिवर्तन लक्षित होते है; जैसेकि—'सो' के 'ओ' का 'उ' ह्रस्व हो जाना, 'बूझ' का दीर्घ 'ऊ' ह्रस्व 'उ' में बदल जाना, आदि परिवर्तन—वे सन्धि तथा समास के कारण होते हैं। कहीं-कहीं शब्द के मध्य मे 'य' अथवा 'व' श्रुतिरूप का आगम भी देखा जाता है; यथा—'पियक्कड़' में 'पी + अक्कड़्' (य आगम) तथा 'सुवक्कड' मे 'सु + अक्कड्' (व आगम) क्रमशः 'य' और 'व' का आगम श्रुतिरूप है। इस प्रकार मूलरूप के साथ जो भी आबद्धरूप संयुक्त हैं, वे सब प्रत्यय हैं। प्रत्यय का अपना कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता और न स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होने की क्षमता रखते हैं। प्रत्यय सदा प्रकृति के आश्रित रह कर अर्थवान होता है। अतएव प्रकृति का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—अनुसरण करने वाला। संस्कृत के वैयाकरणों के अनुसार प्रत्यय प्रकृति के पश्चात् सयुक्त होने वाला भाषिक अंश है, जो धातुओं की भाँति प्रायः एकाक्षरी होता है। इनका स्वतन्त्र अस्तित्व नही होता। आधुनिक भाषाशास्त्री प्रत्यय को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार मूलरूप को अलग कर देने पर जो अवशिष्ट रहता है, वह प्रत्यय है। वह मूलरूप से सश्लिष्ट हो कर रहता है। प्रत्यय मुख्य रूप से तीन प्रकार के होते हैं—उपसर्ग (Prefix), पदप्रत्यय (Suffix) और अन्तःप्रत्यय (Infix)। उपसर्ग मूलरूप या प्रकृति के पूर्व मे संयुक्त होते हैं। पाणिनि का कथन है—'ते प्राग्धातोः' अर्थात् वे धातु के पूर्व में जुडते है। मूलशब्द के पूर्व मे संयुक्त होने के कारण इन्हें पूर्वप्रत्यय भी कहा जाता है। संस्कृत व्याकरण मे उपसर्ग की गति तीन प्रकार की कही गई है—१. उपसर्ग से धात्वर्थ में परिवर्तन हो जाता है; जैसेकि—प्र + हार (प्रहार), वि + हार (विहार), आ + हार (आहार), परि + हार (परिहार), सं + हार (संहार), निर् + आहार (निराहार), उप + हार (उपहार), उप + आहार (उपाहार), अन + आहार (अनाहार), पर + आहार (पराहार) और प्र + आहार (प्राहार), इत्यादि। २. मूल अर्थ में कुछ वैशिष्ट्य लक्षित होने लगता है; उदाहरणार्थ—सुमति, विमति, कुमति, अमति, आदि। ३. कहीं-कही उपसर्ग के जुड़ने से मूल शब्द के अर्थ मे कोई परिवर्तन नहीं होता; जैसे—अभिमत, सम्मत, आदि। परप्रत्यय पद के अन्त में जुडने वाले प्रत्यय हैं; जैसेकि—सुन्दरता, चतुराई, अल्हड़पन और घुमक्कड़, आदि। अन्तःप्रत्यय को मध्यप्रत्यय भी कहा जाता है। वे

शब्द के मध्य मे प्रयुक्त होते है। सस्कृत मे विकरण के रूप में मध्य मे कहीं-कहीं इन का प्रयोग किया जाता है। हिन्दी मे प्रेरणार्थक रूप बनाते समय इनका प्रयोग किया जाता है; यथा—हलाना से हलवाना, चलाना से चलवाना, लिखाना से लिखवाना, इत्यादि। क्रियाशीलता की दृष्टि से प्रत्यय के दो अन्य मुख्य भेद भी किए जाते है—शब्दरचनात्मक (Derivational) और पद-रचनात्मक (Inflectional)। रूपविकार से मुक्त होने के कारण प्रत्यय को अव्यय की भाँति माना जाता है। यद्यपि शब्दरचनात्मक और पद-रचनात्मक दोनों प्रकार के प्रत्यय प्रकृति के पूर्व, मध्य और अन्त मे कही भी प्रयुक्त हो सकते है, किन्तु भारतीय आर्यभाषाओं का प्रयोग करने वाले उन्हे केवल परप्रत्यय के सश्लिष्ट रूप मे ही जानते है। क्रिया एव कार्य की दृष्टि से एक शब्दात्मक है तो दूसरा पदरचनात्मक। एक अर्थात्मक है तो दूसरा व्याकरणिक। एक का सम्बन्ध अर्थतत्त्व से है तो दूसरे का सम्बन्धतत्त्व से। दोनो के अपने भिन्न-भिन्न कार्य हैं। प्रकृति के साथ शब्दसाधक प्रत्ययों का एक साथ दो का भी सयोग हो सकता है, किन्तु पदसाधक प्रत्यय केवल एक ही सयुक्त हो कर कार्य कर सकता है।

पदध्वनिग्रामिक और सन्धि

पदग्रामो की विविधता के कारण वे परस्पर भिन्न होते हैं। जहाँ तक उन के ध्वनिग्रामीय आकार का प्रश्न है यदि किसी पदग्राम मे एक ध्वनिग्रामीय आकार है तो वह एक सहपद के साथ सयुक्त होगा और इसलिए विविधता का प्रश्न नही उठेगा। यह सदा ध्यान देने योग्य है कि सहपदो के बीच ध्वनिग्रामीय भेद तभी लक्षित होता है, जबकि पदग्रामीय साँचे की सघटना का विचार करने के पूर्व किसी के वर्णन को सावधानी से देखने का यत्न करे। ध्वनिग्रामीय भेद में सहपदों के रूप होते है। जो ध्वनिग्राम एक-दूसरे से भिन्न होते है, उन्हें परस्पर परिवर्तनीय कहा जाता है, जैसेकि—हिन्दी की बोलियों मे 'न्' तथा 'ण्'। पानी, पाणी, प्रान्, प्राण्, चना, चणा, कन्, कण्, क्षण, खण्, खन्, इत्यादि। इस परस्पर परिवर्तन के लिए सांकेतिक चिह्न '~' का प्रयोग किया जाता है। ध्वनिग्रामीय परिवर्तन के अन्तर्गत आगत पदग्राम पदविज्ञानीय और ध्वनिग्रामीय स्तरो के मध्य अवकाश को पूरने वाले सेतु के समान होते है, और इसी कारण उन्हें पदध्वनिग्रामिक (Morphophonemic) कहा जाता है। पदध्वनिग्रामिक परिवर्तनो के सन्दर्भ के बिना भी किसी भाषा-सघटना का विश्लेषण करना पूर्णतया सम्भव है। किन्तु पदविज्ञानीय और वाक्यविज्ञानीय विस्तृत वर्णन के लिए उन के विभिन्न स्तरो के निर्धारण के अनन्तर ही परस्पर सम्बन्ध बतलाया जा सकता है। अतएव व्यापक अर्थ मे 'पदध्वनिग्रामिक' शब्द मे पदग्रामो के अन्तर्गत सभी प्रकार के ध्वनिग्रामीय परिवर्तन, चाहे वे स्वचालित हो या नही और चाहे वे अर्थवान् हों या नही, का अन्तर्भाव हो जाता है।

सन्धि शब्द भारतीय व्याकरण से भाषाशास्त्र के क्षेत्र मे पहुँचा है। सन्धि का शब्दार्थ है—जोड। दो ध्वनियो के सयुक्तीकरण को सन्धि कहा जाता है। भाषाशास्त्र

में इसे ध्वन्यात्मक समीकरण भी कहा गया है। राबर्ट ए० हॉल के अनुसार यह प्रायः विवृति (Juncture) के कारण घटित देखी जाती है।° यह सन्धि शब्द उन्नीसवीं शताब्दी मे सस्कृत से उधार लिया गया, जिसका अर्थ है—समीकरण (परस्पर मिलाना)। सन्धि दो प्रकार की हो सकती है—आन्तरिक और बाह्य। जो पदग्राम के अन्तर्गत घटित होती है उसे आन्तरिक सन्धि कहते हैं और जो पदग्रामों की सीमा से बाहर घटित होती है उसे बाह्य सन्धि कहते हैं। सन्धिगत ध्वनिग्रामों की विविधता को सन्धि-वैविध्य (Sandhi-Variations) और परिणामस्वरूप पदग्रामीय परिवर्तनों या सहपदो को सन्धिक-परिवर्तन (Sandhi-alternants) कहा गया है।

स्वचालित सन्धिक-वैविध्य ध्वनिग्रामीय स्तर पर विवृति के ध्वनिग्रामीय परिणामों के अन्तर्गत भी व्यवहृत किया जाता है। अग्रेजी तथा आधुनिक यूरोपीय भाषाओं मे वैयक्तिक पदग्रामो के अन्तर्गत (आन्तरिक सन्धि मे) इस प्रकार के परिणाम प्रचुरता से लक्षित होते है, लैटिन और ग्रीक से उधार लिए गए उन शब्दांशों मे यह प्रक्रिया परिलक्षित होती है, जो विशेष रूप से व्युत्पत्ति के रूप मे पदग्रामो में मान लिए जाते हैं। उदाहरण के लिए, अग्रेजी मे ।न। सामान्य रूप से सवृत विवृति मे 'प, ब, म' के पूर्व मे प्रयुक्त नही होता, किन्तु स्वचालित स्थिति मे उसके स्थान पर ।म। हो जाता है; जैसेकि—improbable (इम्प्रोबेबल), निषेधवाचक उपसर्ग मे तथा अन्य प्रत्ययो के प्रयोग मे यह बात स्पष्ट है। सस्कृत मे भी 'अन' से अनाहारक, अनाचार, अनावश्यक आदि, इसी तरह के उदाहरण कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार ध्वनियाँ परस्पर बदल जाती है, एक-दूसरे का प्रतिस्थापनीय रूप ग्रहण कर लेती है। हिन्दी मे भी इसके कई उदाहरण मिलते हैं; जैसेकि—'अम्बा' से 'अम्मा', 'लम्बा' से 'लम्मा', 'नम्बरदार' से 'लम्मरदार', 'निम्बु' से 'लिम्बु', 'नॉघना' से 'लॉघना', 'नीलना' (निगरण) से 'लीलना'। इसी प्रकार 'ड' के स्थान पर प्रायः 'र' प्रयुक्त देखा जाता है; उदाहरण के लिए—पाडा—पारा, हडताल—हरताल, सडक—सरक, खिड़की—खिरकी, ककड—ककर, सडना—सरना, इत्यादि। 'र' के स्थान पर 'ल' भी देखा जाता है; यथा—रोम—लोम, बारी—बाली, बाल—बार, फलना—फरना, ओखली—ओखरी, पीतल—पीतर, बादल—बादर, मलहम—मरहम, आदि। यही नही, 'ड़' ध्वनि 'न' में बदल जाती है; जैसेकि—चुनडी—चुन्नी, बनडी—बन्नी, धनडा—धन्ना, आदि। ध्वनिग्रामीय प्रतिस्थापन की अन्य विधियों मे भी होने वाले पदध्वनिग्रामिक परिवर्तनो मे ऐतिहासिक ध्वनि-विकास के लक्षण स्पष्ट रूप से लक्षित होते है, जो ऐतिहासिक ध्वन्यात्मक परिवर्तन के परिणामस्वरूप घटित होते है; जैसे कि—समीकरण (assimilation), तालव्यीकरण (palatalization), विषमीकरण (dissimilation), वर्णविपर्यय (metathesis), इत्यादि।

इन स्वचालित प्रतिस्थापनो की अपेक्षा परचालित (non automatic) पद-ध्वनिग्रामिक परिवर्तन अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, जो अर्थ-परिवर्तन के साथ अथवा बिना

अर्थ बदले घटित होते हैं; उदाहरण के लिए—पमार—पंवार (एक बरसाती पौधा, चकवंड़), छिमा—खिमा (क्षमा), कागद—कागज, छिलका—छुलका, भिनसारा—भुनसारा, आदि। अर्थ-भेद वाले उदाहरण इस प्रकार है—बावन—बामन, धावन—धोवन, दीवाल—दीवाली, चमचा—चरचा, आमली—आवली, माटी—मटकी, धरती—धँसती, सजन—साजन, इत्यादि। इसी प्रकार 'मिट्टी' से 'माटी' तथा 'चंचु' से चोंच एवं 'शुण्ठी' से 'सोंठ' आदि मे 'इ' को 'आ' तथा 'उ' को 'ओ' होना स्वचालित नही माना जा सकता, क्योकि ये समानान्तर उदाहरण है। इस प्रकार की समानता रखने वाले कई प्रकार के उदाहरण ढूँढे जा सकते हैं।

इस प्रकार पदध्वनिग्रामिक प्रतिलेखन मे तिरछी दो पक्तियो मे / / विविध ध्वनिग्रामीय आकारो को प्रकट किया जाता है; जैसेकि—/बरसा/, / बरखा /, /पक्षी/, /पछी/, /बच्छा/, /बाछा/, /वत्स/, /बच्चा/, इत्यादि। केवल भारोपीय भाषाओ मे ही नहीं, कई भाषाओं मे कई प्रकार के पदध्वनिग्रामिक परिवर्तन केवल कुछ ही रूपों में मिलते हैं, जो विशेष पदध्वनिग्रामिक प्रतीक भी कहे गए हैं।[८] कही-कही ये परिवर्तन विभक्ति और व्युत्पत्ति के लक्षण के रूप मे दिखलाई पडते है। कही कुछ स्थलों पर यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कोई विशिष्ट रूप ध्वनिग्रामीय का है या मूल रूप मे पदध्वनिग्रामीय है। प्रोफेसर हॉल ने फ्रेन्च भाषा की ऐसी दो समस्याओ का विस्तार के साथ उल्लेख किया है।[९] वास्तव मे, भाषिक विश्लेषण के क्षेत्र में प्रायः वर्तमानकालिक महत्त्वपूर्ण घटित विषय को पदध्वनिग्रामिक विश्लेषण में उद्घाटित किया जाता है, जो भाषा के परम्परागत व्याकरण मे सदा उपेक्षित रहता है। इस से भाषा की प्रवृत्ति के साथ-साथ सम्बन्धित क्षिप्रता तथा अनित्यता के बीच सीमा निर्धारित करने मे सहायता मिलती है। क्योकि यह पदग्रामीय और ध्वनिग्रामीय दो स्तरों के बीच की स्थिति है, जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है। इस प्रकार पदविज्ञानीय सघटना मे इन ध्वनिग्रामीय परिवर्तनो का विवेचन करना अत्यन्त उपयोगी एव महत्त्वपूर्ण है।

रूप-प्रक्रिया

पदग्रामीय प्रक्रिया (Morphological process) के अन्तर्गत शब्दरूपावली के शब्दों के मूल अशो को विधियों के द्वारा परस्पर शब्दो से पृथक् किया जाता है। ब्लॉख और ट्रेगर ने पाँच प्रकार की प्रक्रियाओ का वर्णन किया है। उनके नाम इस प्रकार हैं :[१०]

(१) प्रत्ययीकरण (Affixation),
(२) आन्तरिक परिवर्तन (Internal change),
(३) द्वित्वीकरण (Reduplication),
(४) पूर्तिकरण (Suppletion),
(५) शून्य रूपान्तरण (Zero Modification) ।

भाषा की रूप-रचना का विचार करते हुए सेपीर ने भाषा की आकृति को एक व्याकरणिक प्रक्रिया के रूप में चित्रित किया है। यथार्थ में, भाषा के रूप का प्रश्न दो दृष्टिकोणों से सम्बद्ध है—या तो हम व्याकरणिक प्रक्रिया से किसी भाषा का विचार कर सकते हैं अथवा अभिव्यंजना के सन्दर्भ में तथ्यों के वितरण का विनिश्चय कर सकते हैं।[११] भाषा के व्यावहारिक साँचे क्या हैं? और किस प्रकार के तथ्यों से व्यावहारिक साँचों की वस्तु का निर्माण होता है? ये दोनों ही दृष्टिकोण एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। यह निश्चित है कि प्रत्येक भाषा में आन्तरिक ध्वन्यात्मक पद्धति का एक निश्चित साँचा होता है। भाषावैज्ञानिक खोजों के आधार पर कई व्याकरणिक प्रक्रियाएँ स्थापित की गई है। वे छह प्रकार की कही गई हैं:[१२]

(१) शब्दानुक्रम, (२) समास-रचना, (३) प्रत्ययीकरण, (४) आन्तरिक परिवर्तन, (५) द्वित्वीकरण, और (६) बलाघात।

सभी व्याकरणिक प्रक्रियाओं मे अधिकतम प्रयुक्त होने वाली प्रक्रिया प्रत्ययीकरण है। यद्यपि चीनी और स्यामी जैसी भाषाएँ भी है, जिनमे यह व्याकरणिक प्रक्रिया प्रयुक्त नही होती, किन्तु ऐसी भाषाएँ असामान्य है। प्रत्यय तीन तरह के होते हैं: उपसर्ग (पूर्व प्रत्यय), अन्तःप्रत्यय, और परःप्रत्यय। इन मे से परःप्रत्यय सब से अधिक प्रयुक्त देखा जाता है। यथार्थ मे, यह अनुमान सत्य है कि भाषा-रचना का सब से अधिक कार्य परःप्रत्यय से होता है। उपसर्ग या पूर्व प्रत्यय प्राथमिक स्थिति में प्रयुक्त होता है; जैसेकि—अ—असमान, अकाल, असहनशील, अविनय, अजान; अन—अनजाने, अनसुना, अनपढ, अनसोया; दुस्—दुष्कर्म, दुष्काल; दुर्—दुर्गति, दुर्जन, दुरभिमान; नि—निडर, निधड़क, निकाम; निर्—निर्जन, निर्माण, निर्वाचन, निर्धन, निर्मल, संस्कृत के प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव्, निस्, वि, आङ्, अभि, अधि, इत्यादि। अन्तःप्रत्यय माध्यमिक स्थिति का रूप है। मध्य मे प्रयुक्त होने के कारण इसे अन्तःप्रत्यय कहते है। उदाहरण के लिए—खिलना—खिलाना; खेलना—खिलवाना; फूँकना—फुँकवाना; सुनना—सुनवाना, आदि में 'आ' और 'वा' मध्यवर्ती होने से अन्तःप्रत्यय के उदाहरण हैं। तीसरा रूप अन्तिम स्थिति में, शब्द के अन्त में प्रयुक्त होने वाला प्रत्यय अथवा परःप्रत्यय है। हिन्दी में 'लिखाई, पढाई' के अन्त मे प्रयुक्त, आई, ई, ऊ, ता, पा, पन, उआ, अक्कड़, एरा, वाला, कारी, खोर, बाज, मार, साज, हारा, ऐया, आदि प्रत्यय हैं। ई—तेली, माली, मगी; ऊ—कमाऊ, खाऊ, उडाऊ; ता—नेता, निर्धनता, दासता, कुटिलता; पा—बुढापा, मोटापा; पन—बचपन, छुटपन, लड़कपन; उआ—मछुआ, खटुआ, कटुआ; अक्कड़—घुमक्कड़, पियक्कड़, बुझक्कड़; एरा—लुटेरा, कमेरा, ठठेरा, मछेरा; वाला—दूधवाला, पानीवाला, पानवाला; कारी—क्रांतिकारी, विध्वंसकारी, निर्माणकारी, अन्धकारी; खोर—गोताखोर, टुकड़खोर, मुनाफाखोर; बाज—धोखेबाज, अकड़बाज, हवाबाज, मार—छापामार, चिड़ीमार, गोतामार; साज—घड़ीसाज, रंगसाज; हारा—पनिहारा, लकड़हारा, राखनहारा; ऐया—कटैया, गवैया, खवैया, हँसैया, इत्यादि।

आन्तरिक परिवर्तन

ध्वनिग्राम या ध्वनिग्रामो के अन्तर्गत जब दो या दो से अधिक शब्दरूप और अर्थ में भिन्नता होने पर भी वे परस्पर सम्बन्धित होते हैं तब यह कहा जाता है कि उसी शब्द-तालिका के अन्तर्गत मूल रूप आन्तरिक परिवर्तन के कारण व्युत्पन्न या विभक्तिसमन्वित हुए हैं। ये परिवर्तन स्वर और व्यजन दोनों मे पाए जाते हैं, जो कि ससार की लगभग सभी भाषाओं मे मिलते हैं। आन्तरिक परिवर्तन का प्रभाव स्वरीय या व्यजनीय परिवर्तन होने पर या बिना परिवर्तन हुए भी मूल शब्द या शब्द पर लक्षित होता है। यह आन्तरिक परिवर्तन सभी प्रकार के प्रत्ययों के साथ होता है। ध्वनिग्रामीय और पदग्रामीय सम्बन्धी परिवर्तन का यह अध्ययन जो कि परस्पर आन्तरिक परिवर्तन से सम्बद्ध है, 'पदध्वनिग्रामिक' कहा जाता है।

द्वित्वीकरण

बिना आन्तरिक परिवर्तन के या आन्तरिक परिवर्तन होने पर भी मूल शब्द या शब्द के पहले या पश्चात् होने वाली पुनरावृत्ति द्वित्वीकरण है। यह प्रवृत्ति भारोपीय भाषाओ में विशेष रूप से मिलती है। ग्रीक में ही नहीं, सस्कृत में भी इस के उदाहरण भूतकालिक क्रियापदों के रूप में मिलते हैं, यथा—ददर्श, चचाल, पपाठ, लुलोप, इत्यादि। हिन्दी मे सामान्य रूप से सज्ञा शब्दों मे द्वित्वीकरण की प्रवृत्ति मिलती है, जैसे कि—खोटा-बोटा, लोटा-ओटा, खिचडी-विचडी, घोडा-वोडा, घर-वर, आदि। सामासिक रूप मे भी द्वित्वीकरण के कुछ उदाहरण मिलते है, जो इस प्रकार है :

इकन्नी (एक आना), दुपल्ली (दो पल्ले वाली), दुतल्ला (दो तला), चटाचट, तडातड, गटागट, सटासट, खिलखिलाना, हिनहिनाना, इत्यादि।

पूर्तिकरण

पूर्तिकरण एक प्रकार का चरम आन्तरिक परिवर्तन है जिस में केवल मूल शब्दाश ही नहीं, वरन् पूरा रूप बदल जाता है और एक शब्द-रूप के स्थान पर दूसरा शब्द-रूप हो जाता है; यथा—जाता : गया : जाएँगे। मूल शब्दाश ही नहीं, प्रत्यय भी पूर्तिकरण के मूल रूप होते है और इसलिए उन में भी परिवर्तन हो जाता है; जैसेकि—भागना : भाग, जागे : जागेंगे, खाए : खाएगे, इत्यादि।

शून्य रूपान्तरण

किसी भाषा के रूप का वर्णन करते समय शून्य रूपान्तरण, शून्य प्रत्यय, शून्य परिवर्तन, आदि की चर्चा करना विशेष उपयोगी माना जाता है। यद्यपि अधिकतर शब्द-रूपावली (paradigm) में वचन, काल, क्रियापदों, आदि की कोटियाँ पाई जाती है, किन्तु यदि किसी भाषा-सघटना मे कोई कमी हो तो इस प्रकार के वर्णन से उसका पता लगाना सरल हो जाता है। शून्य-प्रत्यय एक प्रकार का ऐसा प्रत्यय है, जिस में कुछ भी नहीं है। उदाहरण के लिए, हिन्दी मे एक वचन से बहुवचन बनाने के लिए कई प्रत्यय है और उनका प्रयोग भी होता है; किन्तु 'भालू' शब्द

का एकवचन का रूप बहुवचन में भी समान रहता है। 'लू' की भाँति बहुवचन में 'लुएँ' के सादृश्य पर 'भालुएँ' बन सकता है; किन्तु बनता नहीं है। इसी प्रकार 'हाथी आता है', और 'हाथी आ रहे हैं', इन दोनों वाक्यों मे 'हाथी' शब्द-रूप एक-वचन और बहुवचन में समान है। यहाँ पर बहुवचन 'हाथी' शब्द-रूप में शून्य प्रत्यय है, जिस का विश्लेषण निम्नलिखित रूप मे किया जाएगा—

एकवचन—हाथी,

बहुवचन—हाथी।

इसी प्रकार छत्तीसगढ़ी मे भी कई रूप एकवचन और बहुवचन मे समान प्रयुक्त होते है। 'लइका' का प्रयोग बहुवचन में होने पर 'लइका मन' करते हैं। हिन्दी की बोलियों में ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते है।

समास-रचना

भाषा-रचना मे शब्द तथा शब्दाशो का योग किसी न किसी रूप मे देखने को मिलता है। दो या दो से अधिक शब्दो के योग को समास कहा जाता है। जिस प्रकार शब्द एक इकाई है, उसी प्रकार एक इकाई के रूप मे जब समस्त पद का प्रयोग किया जाता है तब वह समास कहलाता है। समास एक प्रकार से शब्दों का सक्षेपीकरण करने हेतु प्रयुक्त होता है। समास का अर्थ ही सक्षेप है। हिन्दी की समास-रचना पूर्णतः सस्कृत का अनुसरण नही करती। यही कारण है कि हिन्दी मे न तो लम्बे समास मिलते है और न बन सकते है। यही नही, सस्कृत के कतिपय सामासिक रूप हिन्दी मे शब्द मात्र माने जाते है, जैसे कि—आकण्ठ, आमरण, आलोचना, विवाद, विविधा, विनाश, अप्सरा, इत्यादि। इसी प्रकार हिन्दी मे समास करने पर सन्धि होना आवश्यक नही है, किन्तु सस्कृत मे अनिवार्य है।

वास्तव मे हिन्दी समास-रचना का अभी तक गम्भीरता के साथ विचार नहीं किया गया। अतएव विद्वानो मे परस्पर बहुत मत-भेद है। ऐसे सामासिक शब्द हैं—दुतल्ला, दुपल्ली, तिखडा, तिमजिला, सतलरी, खट्टामिट्ठा, मिठबोला, रसभरी, आदि। जिस प्रकार सस्कृत के समस्त शब्द हिन्दी मे शब्द मात्र समझे जाते है, उसी प्रकार सम्भव है कि हिन्दी के कुछ समस्तशब्द केवल शब्द समझे जाते हो। ऐसे समस्त रूप इस प्रकार है—पीहर (पिता का घर), पिय + घर, नकटा (नाक कटा हुआ), नाक + कटा; हथकडी, हाथ + कडी; दुपट्टा (वस्त्र), दो + पट्टा, इकन्नी, एक + अन्नी; इकरस, एक + रस, चौपाया, चार + पाया, इत्यादि। इस प्रकार विभिन्न शब्दो के योग से केवल भारोपीय भाषाओ मे ही नही, ससार की लगभग सभी भाषाओं मे सामासिक रूपो की रचना होती है। इन सामासिक रूपो की प्रक्रिया को समास-रचना कहते है।

शब्दानुक्रम

वाक्य में शब्द-विन्यास से ही सम्बन्धतत्त्व प्रकट होता है। एक ही शब्द के आगे-पीछे कर देने से अर्थ मे परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए—सोहन ने मोहन को मारा। मोहन ने सोहन को मारा।

वाक्य में प्रत्येक शब्द का स्थान विशेष पर घटित होने से भाव में अन्तर हो जाना स्वाभाविक है। यह परिवर्तन सम्बन्धतत्त्व के कारण होता है। अतएव वाक्य में शब्दानुक्रम का विन्यास भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

बलाघात

इस रूप-प्रक्रिया को अन्य रूपप्रक्रिया की भाँति अलग से निरपेक्ष रूप मे निरूपित नही किया जा सकता। क्योंकि यह प्रायः औच्चारिक प्रक्रिया मे परस्पर परिवर्तनीय मात्रिक अथवा गुणीय उच्चारो से सम्बन्धित है, जो कि अन्तःप्रत्ययो के घटित होने पर गौण रूप से प्रकट होती है। उदाहरण के लिए, ग्रीक भाषा मे यह वास्तविक क्रियापद-रूपो मे परिभाषित किया जाता है, जिन का सम्बन्ध उच्चारो से होता है। स्पष्ट रूप से शब्दविशेष पर आघात पडने से उस का अर्थ बदल जाता है। व्यग्य मे अथवा क्रोधादि मनोविकारो की अभिव्यजना मे बलाघात के कारण ही शब्दगत भिन्न अर्थ द्योतित होता है। सुनने वाला शब्द से ही नही, वक्ता की भावमुद्रा से भी भाव समझ लेता है। बलाघात के कारण शब्द के भीतर छिपा हुआ भाव जो कि सामान्य रूप से प्रकट नहीं होता, एक आघात के साथ निहित अर्थ को अभिव्यजित कर देता है। केवल बलाघात ही नहीं, संगीतात्मक सुर भी भावार्थ को अपनी प्रक्रिया से अभिव्यक्त करते है। अतः इनका भी महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाता है।

इस प्रकार भाषा के रूप को प्रकट करने वाली ये व्याकरणिक प्रक्रियाएँ अत्यन्त उपयोगी और महत्त्वपूर्ण निरूपित की गई है। इन प्रक्रियाओ से किसी भी भाषा का वास्तविक रूप मे अध्ययन किया जा सकता है।

क्रियापदों की रूप-रचना

महर्षि पतजलि का कथन है—'नापि केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि केवलः प्रत्ययः' अर्थात् न केवल प्रकृति (मूल शब्द) का प्रयोग करना चाहिए और न केवल प्रत्यय का। पद-रचना मे दोनों का सयोग होना आवश्यक है। दूसरे शब्दो मे, प्रकृति और प्रत्यय के योग से ही पद निष्पन्न होता है। पद मे सम्बन्ध और अर्थतत्त्व दोनो निहित होते है। शब्द के प्रयोग मे कभी मूल शब्द प्रयुक्त नही होता। मूल शब्द या प्रकृति के साथ सयुक्त होने वाले प्रत्यय विभिन्न रूपो मे समन्वित होते हैं। कहीं-कहीं शब्द का प्रयोग अविकारी रूप मे होता है और कहीं-कही विकारी रूप मे। यह विकार या परिवर्तन शब्द के अग मे होने के कारण इसे तिर्यक् या अंगविकारी रूप कहा जाता है। हिन्दी के शब्दो मे यह तिर्यक् या अंगविकारी रूप (oblique form) प्रायः आकारान्त शब्दो मे बहुवचन रूपो मे देखा जाता है। इन शब्दों के अपादान कारक मे भी इनका प्रयोग स्पष्ट रूप से किया जाता है; यथा—राम घोड़े से उतर रहा है। श्याम आगरे से बाहर जा रहा है। नरेन्द्र कलकत्ते से वापिस आ रहा है। वह ब्यावरे से लौट कर अभी तक नहीं आया है। इन उदाहरणों में 'घोड़े', 'आगरे', 'कलकत्ते', 'ब्यावरे' शब्दो मे निहित 'ए' अगविकारी रूप है। क्रियापदो के

अन्तर्गत शब्द किसी न किसी व्यापार या अवस्था को अभिव्यक्त करते हैं। और यही कारण है कि व्यापार या अवस्था को द्योतित करने के लिए क्रिया और काल का घनिष्ठ सम्बन्ध देखा जाता है। यही नहीं, क्रिया जिस विधेयक का कार्य करती है वह वृत्ति (Mood), काल (Tens), वचन (Number) और पुरुष (person), आदि से सम्बद्ध रहती है।

सामान्य रूप से क्रियापदों को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है: (१) सामान्य क्रियापद और (२) सप्रत्यय क्रियापद। सामान्य क्रियापदों मे 'वह जा रहा है। मै चलता हूँ। तुम चढना नहीं जानते। वह हँस-हँस कर बात कर रही थी। अब तो पहिचानना कठिन हो गया है।'' इन क्रियापदो मे प्रयुक्त क्रियाएँ हैं—जाना, चलना, चढना, बात करना, पहिचानना। इन क्रियाओं की स्थिति क्रियापदो से प्रकट हो रही है। वाक्य में क्रियापद प्रधान माना जाता है। क्रियापद के साथ ही सब भाव सयुक्त होते हैं। क्रिया का सामान्य रूप सकर्मक और अकर्मक दोनों रूपो में प्रकट होता है। अकर्मक क्रियाएँ सकर्मक तभी बनती हैं जब उनके साथ प्रयुक्त सज्ञा शब्द प्रधान कर्म का कार्य करते है। उदाहरण के लिए—देना, करना, पढना, भेजना, पीना, लिखना, आदि सकर्मक क्रियाएँ हैं; किन्तु होना, जाना, पहुँचना, गिरना, आदि अकर्मक क्रियाएँ है। सकर्मक क्रियाओं मे कर्म प्रधान होता है, क्रिया का फल कर्म पर पडता है, परन्तु कर्म की प्रधानता जहाँ नही होती, केवल सामान्य अवस्था या व्यापार का द्योतन जहाँ होता है, वह अकर्मक क्रिया कही जाती है। डॉ० दीमशित्स ने सकर्मक और अकर्मक क्रियाओं का भेद स्पष्ट करते हुए लिखा है—'अकर्मक क्रियाएँ सकर्मक क्रियाओ का अर्थ प्रायः तब ग्रहण कर लेती हैं जब उन के साथ ऐसे सज्ञा शब्द प्रयुक्त होते है जो प्रधान कर्म का कार्य करते हैं। जैसे : 'बोलना' अकर्मक क्रिया है, किन्तु 'धावा बोलना' मे 'बोलना' सकर्मक क्रिया है। अनेक बार अकर्मक क्रियाओ के प्रधान कर्म ऐसे भाववाचक सज्ञा शब्द होते हैं जो क्रियाओ जैसे व्यापार व्यक्त करते हैं। जैसे : 'खेलना' अकर्मक क्रिया है, किन्तु 'खेल खेलना' में 'खेलना' सकर्मक क्रिया है। 'लडना' अकर्मक क्रिया है, किन्तु 'लडाई लड़ना' मे 'लडना' सकर्मक क्रिया है।[११]' इस प्रकार सकर्मक-अकर्मक भेद क्रिया के अर्थ पर आधारित है। क्रिया का अर्थ बदलने पर सकर्मक अकर्मक हो जाती है और अकर्मक सकर्मक के रूप मे प्रयुक्त होने लगती है। वास्तव मे यह भेद क्रिया के सामान्य रूप मे विशेषण विषयक विशिष्टता होने के कारण है। अतएव 'बोलना' और 'बोली बोलना' मे अन्तर हो जाता है।

सर्वेक्षण-पद्धति के अन्तर्गत सर्वप्रथम आना, जाना, घूमना, उड़ना, होना, रहना, चलना, गिरना, दौड़ना, चढ़ना, कूदना, तैरना, गाना, सोना, हंसना, पढ़ना, बोलना', आदि अकर्मक क्रियाओं का विचार किया जाता है। अनन्तर 'खाना, देखना सूँघना, भेजना, करना, सुनना, मारना, चाहना, पहिचानना, देना', आदि सम्भावित सकर्मक क्रियाओं का विचार क्रिया के अर्थ व परिणाम को ध्यान मे रख कर किया जाता है। इनके

रहने पर वाक्य का अर्थ बिना कर्म के पूर्ण हो जाता है। इस अध्ययन के अन्तर्गत क्रिया के सामान्य रूप के वाचक कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य भी स्पष्ट हो जाते है। क्रिया का सीधा सम्बन्ध कर्त्ता से होता है। इसलिए कर्तृवाच्य मे क्रिया का फल कर्त्ता पर पडता है। किन्तु जहॉ कर्म प्रधान होता है और क्रिया कर्म का अनुगमन करती है वहॉ क्रिया का फल कर्मगामी होता है और ऐसा वाच्य कर्मवाच्य कहलाता है। हिन्दी मे वर्तमान काल की क्रियाऍ सदा कर्तृवाच्य मे प्रयुक्त होती है। इसी प्रकार 'ने' परसर्ग का प्रयोग प्रायः कर्मवाच्य मे होता है, जैसे—हम ने लडकी देखी। यह कर्मवाच्य का उदाहरण है। इस के स्थान पर यह कहना कि 'हमारे द्वारा लडकी देखी गई' अशुद्ध प्रयोग होगा, क्योकि हिन्दी मे कर्मवाच्य की व्यवस्था सस्कृत और अग्रेजी से भिन्न है। इसलिए हिन्दी मे 'मैने किया' कर्मवाच्य का प्रयोग है। किन्तु 'मुझ से नही किया जाता' यह न तो कर्तृवाच्य है और न कर्मवाच्य। इन दोनों से भिन्न यह 'भाव वाच्य' है। अतएव 'हमने लड़की देखी' यह कर्मवाच्य है। क्योकि देखने का फल—लडकी पर पड रहा है, और इस का अर्थ है कि हम ने लडकी को देखा। किन्तु जब हम कहते है कि 'हम ने लडकी को देखा' तो यह भाववाच्य कहा जाता है। भाववाच्य मे सदा भूतकालिक क्रियापद का प्रयोग होता है; जैसे—मुझ से खाया नही जाता। उस से पिया नही जाता। वे सदा लिखा करते थे। लटके से छुआ नही जाता।

सप्रत्यय अथवा प्रत्यययुक्त क्रियापदो का विचार निम्नलिखित रूपो मे किया जाता है : (१) पुरुष, (२) काल, (३) नकारात्मक भाव, (४) प्रश्नसूचक भाव। पुरुषवाचक सर्वनाम है—मै, हम, तू, तुम और आप। अन्य सर्वनाम है—यह, वह, ये और वे। 'इतना सुनते ही वह बोल पडी कि हम तुरन्त आ रहे है'—इस वाक्य मे 'हम' के स्थान पर 'मै' का प्रयोग ठीक होगा। किन्तु 'वह मुझे बहुत मानते है'—यहॉ पर आदरभाव प्रकट करने के लिए बहुवचन की क्रिया का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 'सूरदासजी कवि थे और भक्त भी। वे शृगार के अद्वितीय कवि थे।' यहॉ पर आदरभाव प्रकट करने के लिए बहुवचन का प्रयोग हुआ है।

काल का सम्बन्ध क्रिया से है; क्योकि क्रिया अथवा कार्य किसी न किसी समय मे घटित होता है। और इसलिए क्रिया के स्वरूप को देख कर काल का ज्ञान तुरन्त हो जाता है। अवस्था की भॉति जीवन और क्रिया के काल के भी मुख्य तीन भेद कहे जाते है—वर्तमान काल, भूतकाल और भविष्यत्काल। वर्तमान काल के भी चार भेद माने गए है : सामान्य वर्तमान, तात्कालिक वर्तमान, सन्दिग्ध वर्तमान और सम्भाव्य वर्तमान। वर्तमान काल कहे जाने की अवस्था का द्योतक है। किन्तु भूतकाल कहने के पूर्व की अवस्था या व्यापार का निर्देश करता है। भविष्यत्काल कहे जाने के बाद घटने वाली अवस्था का द्योतन करता है। सब से अधिक भेद भूतकाल के माने गए है, जो इस प्रकार है—(१) सामान्य भूत—उस ने लिखा, (२) आसन्न भूत—उस ने लिखा है, वह लिख चुका है, (३) पूर्ण भूत—उस ने लिखा था, वह लिख चुका था, (४) अपूर्ण भूत—वह लिखता था, वह लिख रहा था, (५) सन्दिग्ध भूत—उस

ने लिखा होगा, (६) हेतुहेतुमद्‌भूत—वह लिखता, उस ने लिखा होता। भविष्यत्काल के केवल दो भेद हैं—सामान्य भविष्यत्काल—मैं लिखूँगा, वह खाएगा। सम्भाव्य भविष्यत्काल—हो सकता है कि राम कल ही आए। सम्भव है कि वह आगे और भी पढ़े। जब तक मैं वहाँ पहुँचूँगा तब तक वह चला जाएगा।

नकारात्मक भाव हिन्दी मे भाववाच्य मे बलपूर्वक प्रकट किए जाते है; जैसे—मुझ से खेला नहीं जाता। उस से पढ़ा नही गया। तुम से मारा नहीं जाता। भूतकाल का बोधक 'या' प्रत्यय है; जैसेकि—'खाया, गया, आया, मनाया' मे 'या'। भविष्यत्काल का निश्चयार्थक प्रत्यय 'गा' है; जैसेकि—'लिखेगा, होगा, बरसेगा, जाएगा, पढेगा, सोएगा, कहेगा' आदि मे 'गा'।

प्रश्नसूचक भाव सदा प्रश्नो के रूप मे प्रकट किए जाते है। उदाहरण के लिए, ऐसा करना क्या ठीक होगा ? युद्ध मे किस की विजय होगी ? भविष्य का भरोसा किसे है ? क्या वह उस के हाथ बिक गया है ?

क्रियापदो के उक्त विविध रूपो से भाषा का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाता है। भाषा के गठन की जानकारी के लिए इन रूपो का अध्ययन करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। भाषा के ढॉचे को हम इन विभिन्न रूपो मे विभाजित कर सरलता से उस की कोटियॉ निर्धारित कर सकते है। सूचक (Informants) के रूप मे भाषा की जो सामग्री हमे प्राप्त होती है, वह सज्ञा तथा क्रियापदो के रूप मे होती है। इसलिए उन का अध्ययन और विश्लेषण करना हमारा मुख्य कार्य होता है।

क्रियापदो की रूप-रचना में धातु या मूल शब्दो से प्रत्यय जुड़ कर एक ही ढॉचे के रूप मे क्रियापदो की निश्चित रचना देखी जाती है; जैसे—खाता, पीता, लड़ता, हँसता, रोता, दौड़ता, गिरती, चलती, पड़ती, बैठती, मारा, पीटा, घसीटा, आदि। डॉ० हॉर्नली के अनुसार हिन्दी—धातुओ की सख्या लगभग पॉच सौ है। ये धातुएँ मुख्य रूप से दो श्रेणियो मे विभाजित की गई है—मूलधातु और यौगिक धातु। मूलधातु वे है जो संस्कृत से हिन्दी मे आई है। हॉर्नली के कथनानुसार इन की संख्या ३९३ है। हिन्दी मे क्रिया-रूपों मे वर्तमान और भूतकाल मे कृदन्त रूपो का तथा सहायक क्रिया का विशेष प्रयोग होता है। सस्कृत मे भी सहायक क्रिया का प्रयोग किया जाता है। किन्तु हिन्दी के प्रयोग संस्कृत से भिन्न हैं। सस्कृत मे सहायक क्रिया के रूप मे 'भू' और 'अस्' धातु का प्रयोग होता है—भवति और अस्ति के रूप मे। प० किशोरीदास वाजपेयी का कथन है कि हिन्दी की 'ह' और 'हो' धातु का विभाजन व कार्य संस्कृत के समान है। संस्कृत की 'अस्' धातु से 'है' और 'भू' धातु से 'हो' का विकास हुआ[४]। संस्कृत मे इन दोनो धातुओं मे वर्तमान काल मे तिङ् प्रत्यय संयुक्त होते हैं, किन्तु 'अस्' धातु के साथ भूत और भविष्यत् के प्रत्यय नहीं लगते। इन का प्रयोग केवल सहायक क्रियाओ के रूप मे होता है; भाववाचक आदि मे नही। हिन्दी में सामान्य वर्तमान काल में 'ता' प्रत्यय का प्रयोग होता है; जैसे—पढ़ता, लिखता, गाता,

आदि । परन्तु 'हता' का प्रयोग नहीं किया जाता । पुरानी हिन्दी मे सामान्य भूतकाल को बताने के लिए 'हता' का प्रयोग प्रचलित था, जो कि आगे चल कर ब्रजभाषा मे 'हतो' रूप में शताब्दियो तक प्रचलित रहा । अतएव हिन्दी में सहायक क्रियाओं का उपयोग संस्कृत की चाल पर हुआ है। सस्कृत मे तीनों प्रकार की क्रियाएँ मिलती है—तिङन्त, कृदन्त और तिङन्त-कृदन्त । परन्तु तिङन्त की अपेक्षा कृदन्त रूपो मे सरलता अधिक है । इसलिए सस्कृत मे ही बाणभट्ट की 'कादम्बरी' के समय से, लगभग सातवीं शताब्दी से कृदन्त रूपो का विशेष रूप से प्रचलन हो गया था । हिन्दी मे भी तिङन्त रूप बहुत कम हैं; कृदन्तों की बहुलता है । हिन्दी की वर्तमानकालिक सभी क्रियाएँ तिङन्त-कृदन्त हैं । भूतकाल मे तो कृदन्त क्रियापदो का ही प्रयोग होता है । केवल सामान्य अस्तित्व सूचित करने के लिए तिङन्त 'है' (यह आम है, वह थाली है, वह नेता है) का प्रयोग किया जाता है । इस प्रकार हिन्दी की क्रियाओ की गति त्रिधा है :

(१) तिङन्त (विधि, आज्ञा, प्रार्थना, प्रश्नवाचक, सत्तार्थक),

(२) कृदन्त (सामान्य भूतकाल मे),

(३) तिङन्त-कृदन्त (अवशिष्ट रूप)।

हिन्दी के सभी धातु-रूप स्वरान्त होते हैं; व्यजनान्त नही । केवल सस्कृत मे ही धातुएँ व्यजनान्त होती हैं । उन के रूपो मे भी जटिलता है । किन्तु हिन्दी के धातु-रूप सरल है । इन की सब से बडी विशेषता यह है कि अकारान्तादि सभी क्रिया-रूपो मे अधिक अन्तर नही है । हिन्दी की क्रिया मे जो लिंग-भेद दिखाई पडता है उस का मुख्य कारण कृदन्त-क्रियाएँ हैं । अधिकाश हिन्दी-क्रियाओ का विकास कृदन्त रूपो से होने के कारण उन मे कर्त्ता के अनुसार लिग और वचन का प्रयोग होता आया है । किन्तु काल का बोध कराने के लिए सस्कृत और हिन्दी दोनो में ही सहायक क्रिया का प्रयोग किया जाता है । हिन्दी मे प्रायः सहायक क्रिया तिङन्त होती है । यद्यपि संस्कृत मे सयुक्त क्रिया के संश्लिष्ट और विश्लिष्ट दोनो रूप पाए जाते है, किन्तु हिन्दी मे केवल विश्लिष्ट रूप है । हिन्दी में 'लाना'—'ले आना' केवल अपवाद रूप है । क्योकि मुखसुख के कारण बोलने की शीघ्रता मे 'ले आना' का 'लाना' बन गया । मूल में 'लाना' कोई शब्द नही है । यदि 'लाना' मूल शब्द होता तो 'ले जाना' के लिए भी इस प्रकार का कोई संश्लिष्ट शब्द अवश्य होता। परन्तु संस्कृत की भाँति जिज्ञासा, सिसृक्षा, विवक्षा, बुभुक्षा, आदि संश्लिष्ट शब्द हिन्दी मे नहीं हैं । हिन्दी वियोगावस्था मे है ।

रूप-परिवर्तन

व्याकरण के अन्तर्गत सहस्र—शताब्दियो से भाषा के रूप का विचार होता आया है । रूप से हमारा अभिप्राय आकृति से है । भाषा की आकृति को देख कर उस का विचार, विश्लेषण किया जाता है । व्याकरण मे भाषा का विचार पदों के रूप मे किया जाता है । पदो से वाक्य बनता है और वाक्यो से भाषा की रचना होती है । पद मे दो मूल रूप होते हैं—प्रकृति और प्रत्यय । इसलिए ये दोनों ही भाषा के

आधारभूत तत्त्व माने जाते हैं। प्रकृति से अर्थतत्त्व का बोध होता है और प्रत्यय से सम्बन्धतत्त्व का। अर्थ दो पक्षों से समन्वित होता है—बौद्धिक और बाह्य। प्रत्यय के भी दो रूप होते हैं—वाक्य में उन का स्थान, और अर्थतत्त्व से उन का सम्बन्ध। यथार्थ में, जो ध्वनि-चिह्न भाषा की प्रकृति को रूप देते हैं वह रूप कहा जाता है।

प्रत्येक भाषा के अपने अलग ध्वनि-चिह्न होते हैं और उन का कोई न कोई रूप होता है। दो समान भाषाओं का रूप समान होने पर भी किसी न किसी रूप में भिन्न होता है। इस भिन्नता का कारण ध्वनि-चिह्नों की भिन्नता है। भाषा-परिवर्तन का मूल कारण ध्वनि-परिवर्तन है। रूप-परिवर्तन मे भी ध्वनि-विकार या परिवर्तन मुख्य है। ध्वनियो के परिवर्तन से रूप मे परिवर्तन हो जाता है। जहाँ कहीं एक ध्वनि बदलती है, वह सारे ढाँचे को बदल देती है। यही नहीं, वह प्रत्यय को भी बदल देती है। इस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन ही रूप-विचार के मूल में है।

ध्वनि-परिवर्तन की भाँति रूप-परिवर्तन का भी मुख्य कारण प्रयत्न-लाघव है। प्रयत्न-लाघव के कारण सस्कृत का 'उपाध्याय' शब्द 'ओझा' हो गया, और 'ओझा' से 'झा' 'बन गया। कन्ट्रोल के जमाने का 'लॅाग क्लॉथ' 'लकलाट' हो गया,' काटन-वूल' 'काटसूल' बन गया और 'रजिस्टर्ड लेटर' 'रजिस्ट्री' बन कर रह गया। संस्कृत-काल मे प्रचलित 'शुक्ल दिवस' प्राकृत-युग मे 'शुदि' हो गया और 'बहुल (कृष्ण) दिवस' 'वदि' हो गया। इसी प्रकार 'बाइ-साइकिल' न कह कर 'साइकिल', रेल्वे-स्टेशन' न कह कर 'स्टेशन' और 'राजनादगाँव' कहने की बजाय 'नादगाँव' कह कर ही काम चला लेते हैं। सस्कृत के ऐसे अनेक शब्द संक्षिप्त रूप में आज भी आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं मे प्रचलित है। उदाहरण के लिए—पोसाला (पौषधशाला), पीहर (पितृगृह), मौसी (मातृष्वसा), लोन (लावण्य), अखाडा (अक्षवाटक), समइ (सामायिक), कछोटी (कक्षपट्टिका), भडारी (भाण्डागारिक), अढाई, ढाई (अर्धतृतीय), फूफी (पितृष्वसिका), इत्यादि। वास्तव मे, शब्दों के संक्षिप्त रूप ध्वनियों के संकोच के कारण लक्षित होते हैं, और शब्दों के संक्षेप से रूप में परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है।

रूप-परिवर्तन भाषा का व्यावहारिक पक्ष माना जाता है। भाषा में जो भी परिवर्तन होते हैं वे या तो ध्वनिगत होते हैं अथवा अर्थगत या फिर रूपगत। रूपगत परिवर्तन मे सज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण, आदि सभी व्याकरणिक रूपों का विचार किया जाता है। संज्ञाओ की अपेक्षा सर्वनामों में परिवर्तन अधिक मन्द गति से होता है। इसलिए भाषा का विश्लेषण करते समय सर्वप्रथम सर्वनामों का विचार करना चाहिए। फिर, घरेलू वस्तुओं तथा खेती-बाड़ी के शब्दों का विचार करना उपयोगी होगा। भाषा के तत्कालीन शब्द-रूपों की अपेक्षा भाषा-प्रवाह को ध्यान में रखना चाहिए। पॉट महोदय ने इस परिवर्तन के मुख्य तीन कारण बताए हैं—

(१) पुराने संस्कारों की आवृत्ति न होने से भाषागत रूप में परिवर्तन हो जाता है।

(२) भाषण की शिथिलता के कारण, असावधानी से बोलते रहने के कारण तथा वाग्ध्वनियन्त्र मे अन्तर हो जाने से भाषा के रूप मे भी अन्तर हो जाता है।

(३) वक्ता तथा श्रोता के विचारो मे विकास हो जाने के कारण एवं भाषा-सम्पत्ति के वैभव में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप रूपो मे परिवर्तन हो जाता है।

ऐतिहासिक, राजनैतिक और भौगोलिक कारणो से भी भाषा मे प्रायः परिवर्तन हो जाता है। जातीय सम्पर्क और विभिन्न सस्कृतियो के सगम से भाषा सब से अधिक प्रभावित होती है। यही कारण है कि मुगल-युग मे और अंग्रेजी शासन के अधीन इस देश की भाषाओ मे सब से अधिक परिवर्तन हुए। वैदिक काल से ले कर आज तक की भाषाओ का ऐतिहासिक अध्ययन किया जाए तो यह तथ्य अधिक स्पष्टता के साथ हमारे सामने प्रकट हो सकता है।

रूप-परिवर्तन मे सादृश्य की प्रवृत्ति बहुत कार्य करती है। जब कई रूप समान होने पर भी कहीं कुछ भिन्न होते है तो स्वाभाविक रूप से बौद्धिक व्यक्ति एकता स्थापित करने का प्रयत्न करते है। यह सादृश्य जहाँ नवीन अर्थों मे शब्द-प्रयोग की प्रवृत्ति का प्रसार करता है, वहीं नए रूपो को भी जन्म देता है। यही कारण है कि हिन्दी मे सस्कृत के मातृ, दातृ, नप्तृ, शब्दो से विकसित माई, दाई, नाई के आधार पर 'बाई' शब्द भी गढ लिया गया है। इसी प्रकार भूतकालिक कृदन्त रखा, धरा, मरा, भरा, आदि के सादृश्य पर हिन्दी की बोलियों मे 'करा' प्रयोग भी चलने लगा है। वस्तुतः सस्कृत से सीधे आगत गया, पिया, आया की भाँति 'किया' रूप ही उचित है, परन्तु अज्ञान के कारण इस रूप मे परिवर्तन हो जाता है। इसी प्रकार व्याकरण का ज्ञान न होने से सौन्दर्यता, औचित्यतावन्त, अनेकानेको, दुरभिमानताई, अनेको, मलयाचल पर्वत, सज्जन लोग, पार्वत्य प्रदेश, महानता, सजनताई, पुलिग, कैशोर्यता, धाष्टर्यता, लघुत्तम, सुस्वागतम्, आदि प्रयोग लक्षित होते है।

रूप-परिवर्तन का एक कारण नवीनता की प्रवृत्ति भी कही जाती है। पुराने शब्दों मे सुन्दरता की कमी देख कर नित नए-नए शब्दो का उपयोग भी भाषा को प्रभावपूर्ण एव सुन्दर बनाने के लिए किया जाता है। यही कारण है कि उच्च हिन्दी का प्रयोग करने वाले 'कल्पना' की बजाय 'परिकल्पना' और 'प्रयोग' के स्थान पर 'सप्रयोग' तथा 'रचना' के लिए 'सरचना' शब्द का प्रयोग करने लगे है। इसी प्रकार 'गोष्ठी' शब्द अब पुराना पड गया है। उस के स्थान पर 'परिगोष्ठी' शब्द लिखा जाने लगा है। इसी प्रकार 'बगाल देश' अब 'बागला देश' हो गया है और 'निर्वाण' के लिए 'परिनिर्वाण' शब्द का प्रयोग भी चल पडा है। यही नहीं, 'खालिस' के लिए 'निखालिस' और 'फजूल' के लिए 'बेफजूल' जैसे प्रयोग भी चलते है। ऐसे प्रयोग प्रायः अज्ञान के सूचक होते हैं।

अज्ञान के कारण भाषा के रूप में परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है। शब्द तथा रूपों की वास्तविक जानकारी न होने से प्रायः शब्द-भेद और अर्थ-भेद हो जाता है।

उदाहरण के लिए, 'शुदि' और 'वदि' लिखना ठीक है, किन्तु प्रायः सुदी और बदी लिखा जाता है। इसी प्रकार 'तेल' का अर्थ 'तिल का सार' तरल पदार्थ था, किन्तु कालान्तर में सभी वस्तुओं से तेल निकाला जाने लगा और उन्हें भी 'तेल' की संज्ञा प्राप्त हो गई। अब केवल तिलहनों से ही नहीं, मिट्टी से भी तेल निकाला जाता है और मनुष्य का भी तेल निकल जाता है। 'तेल' शब्द भी अज्ञानवश 'तैल' लिखा जाता है। अन्य भाषाओं से उधार लिए गए शब्दों मे और उन के प्रयोग में इस तरह की कई भूलें मिलती हैं। यही कारण है कि 'पाव' (पुर्त०, रोटी) डबल रोटी को और 'दरिया' (फा०, नदी) समुद्र को कहते हैं। इसी प्रकार 'रेल' का अर्थ 'पटरी' है, किन्तु वह विशेष प्रकार से कोयला और पानी से चलने वाली गाडी के लिए प्रयुक्त होता है। 'रजिस्टर्ड' का अर्थ भी 'रजिस्टर में दर्ज' की हुई वस्तु से है, पर रजिस्टरी का अर्थ 'सुरक्षित' समझ लिया जाता है। अज्ञान के कारण शब्द और उन के प्रयोगों तथा अर्थों मे कई प्रकार की भूलें जन-सामान्य मे प्रचलित है। कुछ लोग स्पष्टता लाने या बल देने के कारण भी रूप-परिवर्तन मानते है। हमारी समझ में जिस प्रकार सादृश्य के अन्तर्गत मिथ्या सादृश्य गर्भित हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञान मे स्पष्टता तथा बल अन्तर्हित हो जाते है। लोग 'हम' के स्थान पर 'हम लोग' का प्रयोग इसीलिए करते है कि वे समझते है 'लोग' शब्द जोड देने से बहुवचन बन जाता है। हिन्दी की लगभग सभी बोलियों मे 'लोग' से मिलता-जुलता 'जन' या 'जने' आदि शब्दों का इसी प्रकार प्रयोग किया जाता है। अतएव मूल प्रवृत्ति अज्ञानमूलक है। इसी तरह 'अनेक' शब्द को बहुवचन न समझने के कारण 'बहुतों' की तरह अज्ञान वश 'अनेकों' का प्रयोग करने लगे है। इसी प्रकार 'एकरूप की प्रधानता' का विषय 'सादृश्य' मे गर्भित हो जाता है। अतएव उन कारणों का अलग से विचार करना उचित न होगा।

हिन्दी समास-रचना

समस्त पद जिस से अन्वित रहता है, उसे समास कहते हैं। पद मे दो या दो से अधिक शब्दों का योग रहता है। शब्दो और पदो की एकरूपता समास में परिलक्षित होती है। दूसरे शब्दों मे, अनेक रूपो को एक रूप प्रदान करना समास रचना का कार्य है। समास मे विभिन्न शब्दो के योग मे एकरूपता और अन्वितता रहती है। इसलिए 'काला मुँह' समास मे 'कलमुँहा' और 'दूध का मुँह' 'दुधमुँहा' हो जाता है।

समास की रचना स्वतन्त्र शब्द-रूप, रूपांशों या शब्दो के योग से होती है, किन्तु बद्ध रूपांशों या शब्दांशो के यौगिक शब्द समास नहीं कहे जा सकते है। उदाहरण के लिए, 'नलघर' एक सामासिक रूप है, क्योंकि इस मे दो स्वतन्त्र रूपांश हैं। परन्तु 'मासिक' या 'साप्ताहिक' शब्द समास-रूप नहीं हैं; क्योकि ये यौगिक शब्द हैं। इन के रूपांश स्वतन्त्र न हो कर बद्ध हैं। इन में दो स्वतन्त्र शब्द नहीं हैं। समास मे दो स्वतन्त्र शब्दों का एक रूप ग्रहण करना आवश्यक माना जाता है। इसलिए दो स्वतन्त्र

शब्दों के योग से निर्मित होने पर भी वाक्य-व्यापार में समास एक शब्द की भाँति कार्यशील रहता है। उस का समस्त विग्रह शब्द की भाँति होता है। रचना में वह शब्द से तनिक भी भिन्न नहीं होता। किन्तु वह स्वतन्त्र दो शब्दों के अस्तित्व का योग होता है।

समास वाक्य-रचना का एक अग है। वाक्य-रचना के लिए ही उस का उपयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए—'बैलगाडी' दो शब्दों के यौगिक से मिल कर एक ऐसे शब्द के रूप मे प्रयुक्त हुआ है, जिस का अर्थ 'बैल' और 'गाड़ी' न हो कर बैलों के द्वारा खींची जाने वाली गाड़ी है। इस प्रकार स्पष्ट ही समास-रचना में दो स्वतन्त्र शब्दो का योग होता है।

वाक्य में समास-रचना की प्रक्रिया प्रयोग पर निर्भर रहती है। यदि वाक्य मे दो स्वतन्त्र शब्दों की यौगिक रचना होती है तो वह समास-रचना बनती है, अन्यथा एक वाक्याश मात्र रह जाता है; जैसेकि—

वह घर बाहर है।
वह घरबाहर है।

प्रथम वाक्य मे 'वह घर बाहर है' वाक्याश है, किन्तु दूसरे में 'वह घरबाहर है' एक समास है। वास्तव मे प्रत्येक भाषा की समास-रचना की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि जो समास-रचना की प्रक्रिया सस्कृत मे है, वही हिन्दी मे हो। हिन्दी और संस्कृत की समास-रचना की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न है। सस्कृत भाषा मे मधुरफल, हरितपत्र, समास हैं, परन्तु हिन्दी भाषा मे ये समास न हो कर वाक्याश है। यहाँ तक कि एक ही भाषा मे शब्दों का योग किसी स्थिति मे समास है और किसी स्थिति मे समास नही है।'[५] उदाहरण के लिए—१—वह घर घुसा है। २—वह घरघुसा है। किन्तु आज तक हिन्दी भाषा के समासरूपो का जो विवेचन किया गया है, वह अधिकतर सस्कृत के नपने के आधार पर विवेचित हुआ है। इसलिए यह स्वाभाविक भी है कि दिए गए विभिन्न उदाहरणो मे एकरूपता नही है। कोई 'मिठबोला' को बहुव्रीहि कहता है तो कोई कर्मधारय। कोई 'आज्ञानुसार' को अव्ययीभाव बताता है तो कोई तत्पुरुष। वास्तव मे, हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुसार ही समास-रचना का विचार किया जाना चाहिए। हिन्दी मे समास के मुख्य रूप से चार वर्ग परिलक्षित होते हैं। अतएव समास के चार भेद माने जा सकते हैं: (१) अव्ययीभाव समास, (२) तत्पुरुष समास, (३) बहुव्रीहि समास, और (४) द्वन्द्व समास।

अव्ययीभाव समास मे पूर्वपद अव्यय होने के साथ ही प्रधान भी होता है; यथा—प्रतिदिन, अनुरूप, यथाशक्ति, बेखटके, इत्यादि। कभी-कभी सज्ञा और अव्यय-शब्दों की पुनरावृत्ति से भी अव्ययीभाव बन जाता है; जैसेकि—दिनोदिन, बीचो-बीच, खड़ेखड़े, पासपास, आदि। अव्यय न होने पर भी जो अव्यय जैसे बन जाते हैं,

उन्हें अव्ययीभाव समास कहते हैं। इन में पहला पद संज्ञा और दूसरा पद अव्यय होता है। उदाहरण के लिए—आज्ञानुसार, बुद्धि-अनुसार, सुविधानुसार, आदि।

तत्पुरुष समास में उत्तरपद प्रधान होता है; जैसे—रेलभाड़ा, राजदरबार, सभापति, देशभक्त, इत्यादि। तत्पुरुष में प्रायः विभक्ति का लोप हो कर स्वतन्त्र शब्दों का योग हो जाता है; जैसे कि—वन में वास न कह कर 'वनवास' कहना, शोक से आकुल न कह कर 'शोकाकुल' कहना, तथा वात से पीड़ित न कह कर वातपीड़ित कहना। तत्पुरुष का एक भेद कर्मधारय है। जहाँ विशेषण और विशेष्य तथा उपमान और उपमेय समान विभक्तिक होने के कारण समस्त होते हैं, वहाँ कर्मधारय समास होता है। उदाहरण के लिए—घनश्याम (घन की भाँति जो श्याम है), श्यामसुन्दर (श्याम की भाँति जो सुन्दर है), परमात्मा (परम, श्रेष्ठ है जो आत्मा), नीलगगन (नीला है जो आकाश), इत्यादि।

जिस समास का पहला पद संख्यावाचक होता है, उसे द्विगु समास कहते हैं; जैसेकि—त्रिवेणी, चौराहा, पंचवटी, पसेरी, आदि।

जिस समास मे पहला पद निषेधवाचक होता है, उसे नञ् समास कहते हैं; यथा—अनजाना, अनास्था, अनाचार, अनादि, अनन्त, अधर्म, अस्थिर, अखण्ड, इत्यादि।

बहुव्रीहि समास मे कोई भी पद प्रधान नहीं होता। दोनों पद सामान्य होने पर भी वे विशेष अर्थ को प्रकट करते हैं; जैसेकि—

चतुर्मुख—चार मुख हैं जिस के (ब्रह्मा),
चतुर्भुज—चार हैं भुजाएँ जिस की (विष्णु),
चन्द्रशेखर—चन्द्र है शेखर पर जिस के (शंकर),
दामोदर—दाम है उदर पर जिस के (कृष्ण),
दशानन—दश है आनन जिस के (रावण)।

जिस समास में दो पदों को संयुक्त करने वाला 'और' शब्द प्रयुक्त नहीं होता तथा दोनों पद प्रधान होते है, उसे द्वन्द्व समास कहते हैं। और की भाँति योजक-शब्दों में एवं और तथा शब्दो का भी लोप हो जाता है; जैसेकि—

माँ और बाप के लिए 'माँ-बाप' का प्रयोग करना। इसी प्रकार अन्य उदाहरण हैं—रोटी-बेटी, खेती-बाड़ी, नोन-तेल, दूध-दही, दाल-भात, धन-धान्य, लेन-देन, पाप-पुण्य, भला-बुरा, इत्यादि।

हिन्दी मे सामासिक रूपों के प्रयोग की स्वतन्त्र व्यवस्था है। हिन्दी की सामासिक प्रवृत्ति संस्कृत से भिन्न है। संस्कृत में दो सामासिक पदो में सन्धि करने का नियम है, किन्तु हिन्दी में ऐसा नियम नहीं है। यद्यपि संस्कृत भाषा के प्रयोग के अनुसार हिन्दी में भी 'रामभरोसे' और 'हाथबटाऊ' जैसे सामासिक पदों का उच्चारण किया जाता है; परन्तु इस तरह के शब्दों के बीच में जो अधिक लम्बे हों या जिन के उच्चारण में कठिनाई हो, उन के बीच में समास का चिह्न (–) लगा कर काम चलाया जाता है; जैसेकि—माता-पिता, घर-गृहस्थी, धन-दौलत, आदि।

सामासिक रूपों का अर्थ समझने के लिए विग्रह करना आवश्यक होता है। बिना विग्रह किए जो विचार किया जाता है, उस से कभी-कभी बड़ी गडबड़ी हो जाती है। उदाहरण के लिए, 'पीताम्बर' और 'चतुर्भुज' ऐसे ही शब्द हैं।

पीताम्बर—पीत है जो अम्बर (कर्मधारय)।
—पीत है अम्बर जिसका (बहुव्रीहि)।
चतुर्भुज—चार है जो भुजाएँ (द्विगु)।
—चार है भुजाएँ जिस की (बहुव्रीहि)।

हिन्दी मे सस्कृत के समान लम्बे समास नही होते। महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' मे तथा बाणभट्ट की 'कादम्बरी' मे दीर्घ समास मिलते है। 'मेघदूत' का एक समस्तपद है—

बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्याः। पूर्व० ७,

हिन्दी मे 'साकेत' की कुछ पक्तियाँ है—

जन्म-भूमि-ममत्व कृपया छोड कर,
चारु-चिन्तामणि-कला से होड कर,

हिन्दी मे समस्त पदावलि का प्रयोग निराला जी की 'राम की शक्ति-पूजा' नामक कविता मे परिलक्षित होता है. यथा—'जागी पृथ्वी-तनया-कुमारिका छवि', शत-वायु-वेग-बल, विश्व विजय-भावना, इत्यादि।

उक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि हिन्दी की सामासिक प्रवृत्ति सस्कृत से भिन्न है। हिन्दी मे कम से कम दो और अधिक से अधिक तीन शब्दो के समास मिलते है; जबकि सस्कृत मे सात-सात, आठ-आठ शब्दों के समास सरलता से प्रयुक्त होते है। सस्कृत मे समास और सन्धियो के भेद-प्रभेदों का भी विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। किन्तु हिन्दी मे उस तरह के सामासिक रूपो का प्रयोग नही होता। ध्वनि, रूप, शब्द और अर्थ सभी दृष्टियो से हिन्दी की समास-रचना सस्कृत से भिन्न है। ध्वन्यात्मक दृष्टि से हिन्दी के समास मुख्य रूप से दो वर्गों मे विभक्त किए जाते है—अविकारी समास और विकारी समास। सस्कृत मे अविकारी समास-रचना नही है। विकारी-समास-रचना भी प्रश्लिष्ट या सश्लिष्ट है, जो हिन्दी समास-रचना से पृथक् है। अविकारी समास-रचना मे ध्वनि के आगम, लोप, ह्रस्वीकरण, दीर्घीकरण, द्वित्वीकरण और घोषी-अघोषीकरण, आदि मे किसी भी प्रकार की ध्वनि का रुपान्तरण नही होता। इसी प्रकार सस्कृत की भाँति हिन्दी के समासों मे सन्धि-योग अनिवार्य रूप से नही मिलता। कहीं विभक्तियो का लोप हो जाता है तो कही सम्बन्ध तत्त्व का और कही असमान शब्दो मे समास हो जाता है। डॉ० रमेशचन्द्र जैन ने ध्वन्यात्मक दृष्टि से हिन्दी समासो का विश्लेषण करते हुए उन्हे निम्न-लिखित रूपो मे वर्गीकृत किया है—(१) अविकारी समास, (२) विकारी समास। विकारी समासो के तीन भेद किए गए हैं—(१) प्रथम पद विकारी समास, (२) द्वितीय पद विकारी समास, (३) सर्वपद विकारी समास। समासगत पदों के ध्वन्यात्मक योग को ध्यान मे रख कर पुनः दो

वर्गों में विभक्त किया है—(१) संश्लिष्ट समास, (२) विश्लिष्ट समास। इस प्रकार हिन्दी में समास-रचना मुख्यतः संज्ञा, विशेषण और क्रिया-विशेषण के योग से होती है। इस में कभी-कभी शब्द की और कभी-कभी पद की प्रधानता रहती है। हिन्दी में ऐसे शब्द और पदों में समास-रचना का भेद बलाघात के आधार पर किया जाता है। प्रायः दो पदों या शब्दो मे से किसी एक पर बलाघात होता है; जैसेकि—घरघुसा, मिट्ठूराम, नलघर, इत्यादि।

हिन्दी प्रत्ययों की संरचना

जो शब्दांश मूल शब्द के साथ सयुक्त हो कर उस के अर्थ मे तथा अवस्था में परिवर्तन उत्पन्न कर देते हैं, उन्हे प्रत्यय कहा जाता है। प्रत्ययो का स्वतन्त्र अर्थ और प्रयोग नही होता। केवल प्रकृति (मूल शब्द) से जुड कर ही वे भिन्न अर्थ के प्रतिपादक होते हैं। प्रत्यय सभी प्रकार के शब्दो के साथ संयुक्त हो सकते हैं। जिन शब्द या शब्दाशो का धातु के पूर्व प्रयोग होता है उन्हें, उपसर्ग (ते प्राग्धातोः पाणिनि) कहते है। किन्तु जिनका शब्द के अन्त मे प्रयोग होता है, वे प्रत्यय कहे जाते है। सस्कृत और हिन्दी मे शब्द के साथ प्रत्यय का सयोग प्रायः अन्त में होता है। प्रकृति और प्रत्यय के योग से ही शब्द का निर्माण होता है।

हिन्दी मे प्रत्यय विभिन्न शब्दो के साथ सयुक्त हो कर सज्ञा-शब्दो की सरचना करते है। डॉ० ज० म० दीमशित्स ने हिन्दी में दो प्रकार के सज्ञा शब्द माने है[१७]—अव्युत्पन्न तथा व्युत्पन्न। अव्युत्पन्न सज्ञा शब्द प्रत्ययहीन होते हैं; जैसे—फल, कल, नल, घर। व्युत्पन्न सज्ञा शब्द प्रत्यय या उपसर्ग के योग से निर्मित होते हैं; जैसे कि—लेख से लेखक, पाठ से पाटक, घूम से घुमक्कड़, माल से माली, तेल से तेली, पहाड़ से पहाडी, काम से कमाऊ, साहित्य से साहित्यकार, वाक् से वक्ता, कुम्भ से कुम्भार, कुम्हार, पान से पानवाला, शाक से सागवाला, लकडी से लकडहारा, इत्यादि।

शब्द मे दो प्रकार के तत्त्वो की सस्थिति मानी गई है। ये तत्त्व हैं—प्रकृतितत्त्व तथा प्रत्ययतत्त्व। प्रकृतितत्त्व भाषा का मूल अंग माना जाता है। प्रकृतितत्त्व से वस्तुओं के भावो तथा व्यापारो का बोध होता है। प्रकृतितत्त्व भाषा का मूल उपादान है। उस के बिना शब्द की निर्मिति सम्भव नहीं है। प्रकृति से ही वस्तुतत्त्व का परिज्ञान होता है। प्रत्यय केवल भाव और क्रिया के बीच का सम्बन्ध बतलाने वाला होता है। डॉ० मुरारीलाल उप्रैति के अनुसार प्रत्ययो के यौगिक विधान की दृष्टि से प्रकृतितत्त्वो को तीन वर्गों मे विभाजित किया जाता है[१८]—मूल प्रकृति, व्युत्पन्न प्रकृति, और पद प्रकृति। मूल प्रकृति से अभिप्राय शब्दों के उन चरम रूपों से है जो अर्थ की दृष्टि से अविभाज्य होते हैं, जिनका अर्थ की दृष्टि से किसी प्रकार विभाजन करना सम्भव नही होता। उदाहरण के लिए, नगर, घर, कल, जल, इत्यादि सत्त्वबोधक इकाइयाँ हैं। 'नगर' का। 'न-गर' अथवा 'न–ग–अ–र' जैसा विभाजन करना सम्भव नहीं है। मूल प्रकृतितत्त्वो के अन्तर्गत मूल धातु तथा मूल प्रातिपादिक की

गणना की जाती है। मूल धातु से अभिप्राय क्रियार्थक उन चरम रूपों से है जो दूसरे रूपों से व्युत्पन्न नहीं कहे जा सकते। उदाहरणार्थ—'चल, कर, खा', इत्यादि मूलधातुएँ हैं, जो किसी भी दूसरे रूप से व्युत्पन्न नहीं ठहराई जा सकती। मूल प्रातिपदिकों से अभिप्राय उन सत्त्वप्रधान चरम रूपों से है जो दूसरे रूपों में व्युत्पन्न नहीं होते; जैसे—मकान, दौलत, आदि। इसी प्रकार व्युत्पन्न प्रकृति से तात्पर्य उन रूपों से है जो मूल प्रकृति अथवा व्युत्पन्न प्रकृति से व्युत्पन्न होते हैं; जैसेकि—नल, जल, घर, आदि। व्युत्पन्न प्रकृतियो के अन्तर्गत व्युत्पन्न धातु, समास तथा व्युत्पन्न प्रातिपादिक का भी उल्लेख किया जाता है। व्युत्पन्न धातुओ के अन्तर्गत नामधातु, सकर्मक धातु, प्रेरणार्थक धातुएँ आती हैं। पदप्रकृति से अभिप्राय शब्दों के प्रयोजनीय रूपों से है, जिन से अर्थ प्रकट होता है। इन पदों मे मूल धातु या मूल प्रातिपदिकरूप प्रयुक्त होते हैं।

हिन्दी के प्रत्ययों को दो वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है—व्युत्पादक प्रत्यय अथवा व्युत्पत्तिमूलक प्रत्यय एवं व्याकरणिक प्रत्यय अथवा विभक्ति प्रत्यय। 'लघु' एक शब्द है। इस में 'ता' प्रत्यय के योग से 'लघुता' एक दूसरा शब्द बन जाता है, जो भाववाचक सज्ञा है। यहाँ पर 'ता' व्युत्पत्तिमूलक प्रत्यय है, जो पृथक् शब्द का निर्माण करने वाला है।

जो व्याकरणिक स्थिति में काल, पुरुष, वचन, आदि के बोधक होते हैं, वे व्याकरणिक प्रत्यय कहे जाते हैं। उदाहरण के लिए—'घोड़ों ने नदी पार की।' 'घोडा' शब्द का विकारी रूप 'घोड़े' एकवचन में बनता है और बहुवचन मे उस का रूप 'घोड़ों' निष्पन्न होता है। यहाँ पर ओ (घोड् + ओ) विभक्ति प्रत्यय है। भाषाविज्ञान में इसे अगविकारी रूप कहा जाता है। इसे विभक्तिक तिर्यक् रूप भी कहा जाता है।

हिन्दी मे शब्द-रचना चार प्रकार से की जाती है—सन्धि, समास, प्रत्यय और उपसर्ग के द्वारा। यद्यपि संस्कृत मे प्रत्यय मध्य और अन्त में सयुक्त होते हैं, किन्तु हिन्दी में केवल शब्द के अन्त मे ही प्रत्यय लगते है। शब्द से लगने वाले प्रत्यय स्वतन्त्र शब्दों का निर्माण करते है। इस प्रकार के शब्दो के दो वर्ग कहे जाते हैं—तद्धित और कृदन्त। सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और अव्यय से पृथक् शब्द-रचना की प्रक्रिया को तद्धित कहते हैं। धातु या आख्यात मे जो प्रत्यय लगते हैं, वे 'कृत्' प्रत्यय कहलाते हैं और कृत् प्रत्यय से निर्मित शब्द कृदन्त कहलाते हैं।

ई (भारी, मानी), ईला (रगीला, छबीला), आ (प्यासा, भूखा), ऊ (मोटू, छोटू), हला (रुपहला, सुनहला), दार (वजनदार, आबदार), एल (रखेल, उन्हेल), एला (विषैला, कुटेला), उआ (गेरुआ), आना (हिन्दुआना), एली (विषैली, मटमैली), इत्यादि।

विशेषण से सज्ञा बनने वाले प्रत्यय—

आई (चतुराई, भलाई), आस (मिठास, खटास), हट (चिकनाहट, कड़वाहट), ता (मधुरता, निपुणता), ई (सर्दी, गर्मी), पन (बड़प्पन, खरापन),

त्व (उष्णत्व, कटुत्व), मा (लालिमा, मधुरिमा), ई (नवाबी, लखनवी), इ (विभक्ति), आदि।

स्वार्थिक प्रत्यय—किसी भी भाषा के शब्दों को अपनाने के लिए स्वार्थिक प्रत्यय मुख्य द्वार के समान होता है। इस के योग से शब्द में अन्तर के साथ ही अर्थ में कुछ कोमलता आ जाती है। 'मुख' की बजाय 'मुखड़ा' कहने से कुछ कोमलता लक्षित होती है। इसी प्रकार 'दुखड़ा' रोने-गाने में भी कोमलता का भाव प्रकट होता है।

स्वार्थिक प्रत्यय हैं—इया (बुढ़िया, खटिया), ड़ा (मुखड़ा, दुखड़ा), टी (बीरबहूटी), ली (खुँटली, टिकली), ई (ढोलकी, डोरी), ओला (खटोला, पटोला), ड़ी (टंगड़ी, पगड़ी), री (कोठरी, पोटरी-ली), आ (बच्छा), वा (बछवा), टा (कलूटा, चोट्टा, छिनट्टा), ला (चुडला, घुडला), रा (हियरा, जियरा), आ (नाआ, दाआ)।

सम्बन्धवाचक प्रत्यय—एरा (ममेरा, फुफेरा), आल (ननिहाल, ससुराल), आन (समधियान), आना (समधियाना), यारा (ममियारा, फुफियारा), एरी (ममेरी), आदि।

सर्वनाम से सर्वनाम बनने वाले प्रत्यय—स (आपस), ना (अपना)।

सर्वनाम से अव्यय बनने वाले प्रत्यय—आँ (यहाँ, कहाँ), ब (अब, जब, कब), ओं (ज्यों, त्यो, यों)।

कृदन्त प्रत्यय : कृदन्त विशेषण (क्रिया से विशेषण बनने वाले प्रत्यय)—हुआ (खाता हुआ, पीता हुआ), हुई (रखी हुई, पड़ी हुई), गया (लिखा गया, पढ़ा गया), द्विरुक्तता (चलते चलते, पढते पढ़ते)।

कृदन्त संज्ञाएँ : अत (रटत, लडत-भिडंत) आ (फेरा, घेरा), आई (लडाई-भिडाई), आपा (पुजापा), औती (मनौती), आप (मिलाप), औता (समझौता), आन (उठान, लगान), आव (घुमाव, बनाव), आस (प्यास, मिठास), ई (खोली, रोली), औनी (पौनी, पठौनी), त (बचत, पड़त), ती (उठती, गिरती), न (देन-लेन), ना (मरना, लिखना), नी (करनी, भरनी), र (ठोकर), आवट (अमावट, लिखावट), आहट (घबराहट, चिल्लाहट), री (कटारी), का (उचक्का), ना (चबेना, लिखना), नी (कंगनी, ओढनी), आ (झोला, ठेला), आनी (कहानी, मथानी), ऊ (झाड़ू, साड़ू), औटी (कसौटी, कठौती), अन (ढक्कन, बेलन), पी (खुरपी), पा (खुरपा), इत्यादि।

इस प्रकार प्रत्यय नियम से बद्धप्रकृति के होते हैं। इन का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। ये धातुओं की भाँति एकाक्षरी तथा लघु कहे जाते हैं। आधुनिक भाषा तत्त्वविद् प्रत्यय को किंचित् व्यापक रूप में ग्रहण करते हैं। यह मूल-रूप के आदि, मध्य अथवा अन्त में संयुक्त होने वाला बद्ध भाषिक अंश कहा जाता है। प्रत्यय संयुक्त होने वाला अंश है। दूसरे शब्दों में, मूल रूप को पृथक् कर देने पर प्रत्यय अंश अवशिष्ट रह जाता है; जैसेकि—'भट' मूल रूप से 'भटक, भटकाव, भटकना, भटकाना, भटका, भटकाया', इत्यादि

शब्द-बन्ध निष्पन्न होते हैं। यथार्थ में, मूल रूप सामान्य अंश है और प्रत्यय अतिरिक्त अंश। प्रत्यय कई मूल रूपो के साथ मिल कर सम्बन्धित शब्दों का एक समूह निर्मित करता है, जिसे रूपतालिका (Paradigm) कहा जाता है। यह शब्द-बन्ध शब्दरचनात्मक हो सकता है और पदरचनात्मक भी। उदाहरणार्थ—चटकीला, भडकीला, हठीला, चमकीला, मे जो समान अश 'ईला' है, वह अपने भावबोधक स्वरूप के कारण चटक, भडक, हठ, चमक, को एक प्रकार के सम्बन्ध मे आबद्ध कर देता है। इस से सिद्ध होता है कि किसी भाषा में जितने प्रकार के सजीव प्रत्यय वर्तमान होते हैं, उतने ही शब्द-बध बनते है। इन शब्द-बधो के समान अश को निकाल देने पर जो अवशिष्ट रह जाता है, वही मूल रूप कहा जाता है।

हिन्दी मे विभक्तियो की स्थिति योगिक एव सश्लिष्ट है। मूल शब्द तथा प्रत्ययो के बीच उन मे अगविकार भी परिलक्षित होते है। अतएव प्रत्यय-विधान के अन्तर्गत प्रकृति तथा प्रत्ययों के अनेक सपरिवर्तक हो जाते हैं। ये सपरिवर्तक ध्वनिप्रक्रियात्मक अथवा रूपात्मक दृष्टि से प्रतिबंधित (Conditioning) होते है। ध्वनिप्रक्रियात्मक सपरिवर्तक ध्वनि-नियमो के अन्तर्गत तथा रूपात्मक सपरिवर्तक रूपरचना-सबधी नियमो के अन्तर्गत आते है, परन्तु उन के अर्थ विभिन्न नहीं होते; अपितु एक ही आधारभूत अर्थ को उद्दिष्ट करते है। उदाहरणार्थ, । लोह । प्रातिपदिक मे जब । –आर । प्रत्यय का योग होता है तो इस प्रकिया मे । लोह । का । लुह– । हो जाता है । इस प्रकार । लुहार । प्रातिपदिक व्युत्पन्न होता है। । लोह । तथा । लुह– । एक ही अर्थ को द्योतित करते है तथा प्रत्यय की यौगिक प्रक्रिया मे । ओ । स्वर का । उ । में परिवर्तन हो जाना हिन्दी के ध्वनि-नियम के अनुसार है। । काम । प्रातिपदिक मे जब । –आ । व्युत्पादक प्रत्यय का योग हाता है तो । कमा । धातु व्युत्पन्न होती है। । काम । तथा । कम । एक ही अर्थ को द्योतित करते है तथा । आ । स्वर का । अ । मे परिवर्तन हिन्दी ध्वनि-नियमानुसार है। । साठ । प्रातिपदिक मे जब । उन– । पूर्व प्रत्यय का योग होता है तो । उनसठ । प्रातिपादिक व्युत्पन्न होता है। । साठ । तथा । सठ । एक ही अर्थ का द्योतन करते है।[१] इसीप्रकार दुधारु, सुहावना, बिटिया, खटोला, मुटापा, और टुकटी, आदि प्रतिबधित समझने चाहिए। ये ध्वन्यात्मक और रूपात्मक दोनों ही दृष्टियों से प्रकृति-सपरिवर्तक और प्रत्यय-सपरिवर्तक कहे जा सकते हैं। जब । चम, झम, तम, गम, ठुम । इत्यादि मे । –क । स्वार्थिक प्रत्यय का योग होता है तब । चमक, झमक, तमक, गमक, ठुमक । आदि रूप व्युत्पन्न होते है। ये प्रत्यय-सपरिवर्तक के उदाहरण कहे गए है। प्रत्यय-सपरिवर्तक भी ध्वनि-नियमो के अनुसार प्रतिबधित कहे जाते है। सपरिवर्तको मे से आधारभूत संपरिवर्तक उसे माना जाता है, जिस का प्रयोग अन्य की अपेक्षा बहुलता से होता है। सक्षेप में, आधारभूत सपरिवर्तक या प्रधान सपरिवर्तक के अन्तस्तल मे व्याकरणिक कोटि के ध्वन्यात्मक तथा रूपात्मक सपरिवर्तक समाहित रहते हैं। भाषा के वर्णनात्मक अध्ययन में हम विभिन्न दृष्टियों से उन का विश्लेषणात्मक अध्ययन करते है। यथार्थ मे, सपरिवर्तकों

के विवरणात्मक विश्लेषण के बिना भाषा की रूपात्मक प्रक्रिया का समुचित अध्ययन नहीं किया जा सकता। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत ही प्रत्यय-संरचना का वास्तविक बोध होता है।

प्रत्यय और प्रयोग

यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रत्यय मूल से आबद्ध अंश होता है। इस दृष्टि से हिन्दी में पच्चीस पूर्वप्रत्यय मिलते है। हिन्दी के पूर्वप्रत्यय हैं—अ-, अन-, अल-, उ १-, उ २-, उन-, औ-, कु-, दर-, दु-, नि-, पर-, फ़िल-, ब-, बर-, बा-, बे-, बै-, ला-, स-, सब, सर-, सु-, हम-, बहर-।

(१) अ—हिन्दी मे (अ-) पूर्वप्रत्यय का प्रयोग अभाव और हीनता के अर्थ में होता है; जैसे कि—अनाथ, अकाल, अछूत, अजान, अचल, अटल, अथाह, इत्यादि।

(२) अन—इस पूर्वप्रत्यय का प्रयोग निषेध तथा अभाव अर्थ मे किया जाता है, यथा—अनमना, अनमोल, अनबिधा, अनचाहा, अनमेल, अनपढ़, अनबोला, इत्यादि।

(३) अल—इस का व्यवहार निश्चय के अर्थ मे संज्ञा तथा विशेषण के पूर्व में किया जाता है, जैसेकि—अलमस्त, अलगरज, अलगरजी, अलग़ोजा, आदि।

(४) उ १—'ऊपर' के अर्थ मे इस पूर्वप्रत्यय का व्यवहार किया जाता है; यथा—उमर, उमस, उपट, उबट, उमड, उतर, उपर, उछाल, उड़ेल, इत्यादि।

(५) उ २—इस प्रत्यय का प्रयोग 'अभाव' अर्थ मे संज्ञाओ के पूर्व होता है; जैसेकि—उधार, उनींदा, उथला, उगाल, उचाट, उदास, उपास, आदि।

(६) उन—इस प्रत्यय का प्रयोग 'एक कम' अर्थ मे होता है; जैसेकि—उनचास, उनसठ, उनहत्तर, उन्नासी, इत्यादि।

(७) औ—इस पूर्वप्रत्यय का व्यवहार संज्ञाओं और क्रियाओं के पूर्व 'हीनता' के अर्थ मे होता है; जैसेकि—औघट, औघढ़, औघर, औचक, औचट, औजड, औझड, आदि।

(८) कु—'हीनता' के अर्थ में इस प्रत्यय का व्यवहार किया जाता है; यथा—कुचाल, कुमार्ग, कुबोल, कुटेव, कुठौर, कुसमय, कुटेक, कुढग, कुजोग, इत्यादि।

(९) दर—इस पूर्वप्रत्यय का प्रयोग 'निश्चय' के अर्थ में किया जाता है; जैसेकि—दरअसल, दरहकीकत, दरउसूल, दरसूरत, दरकार, दरहाल, आदि।

(१०) दु—'हीनता' तथा 'कठिनता' के अर्थ मे इस प्रत्यय का प्रयोग किया है; जैसेकि—दुकाल, दुबरा-दुबला, दुमाता, दुरंत, दुसह, दुराज, इत्यादि।

(११) नि—इस प्रत्यय का प्रयोग 'रहित' अर्थ मे होता है; यथा—निडर, निकलंक, निकाम, निछत्र, निपूत, निबटना, निबेरना, निमान, आदि।

(१२) पर—इस का व्यवहार 'पूर्व' के अर्थ में किया जाता है; जैसेकि—परदादा, परनाना, परप्रपौत्र, परसाल, परपोता, आदि ।

(१३) फ़िल—इस प्रत्यय का प्रयोग निश्चय के अर्थ मे किया जाता है; यथा—फिलहाल, फिलहकीकत, फिलफौर, इत्यादि ।

(१४) ब—'साथ' के अर्थ में इस प्रत्यय का व्यवहार किया जाता है; जैसेकि—बखुद, बखूबी, बखैर, बतौर, बदस्तूर, बनाम, बरग, बहुक्म, आदि ।

(१५) बर—'निश्चय' के अर्थ मे इस प्रत्यय का प्रयोग संज्ञा और विशेषण के पूर्व होता है; जैसेकि—बरकरार, बरखिलाफ, बरखुरदार, बरवक्त, इत्यादि ।

(१६) बहर—इस प्रत्यय का व्यवहार 'निश्चय' के अर्थ में होता है; यथा—बहरहाल, बहरकिस्मत, बहरबाग, आदि ।

(१७) बा—'सहित' के अर्थ मे यह प्रत्यय प्रयुक्त होता है । जैसेकि—बाकायदा, बाअदब, बाआबरू, बामज़ाक, बामुराद, बासलीका, इत्यादि ।

(१८) बे—'बिना' के अर्थ मे इस प्रत्यय का प्रयोग सज्ञा और क्रियाविशेषण के पूर्व होता है; यथा—बेखबर, बेचैन, बेकरार, बेतकल्लुफ, बेधड़क, बेपीर, बेबस, बेभाव, बेलिहाज, बेवकूफ़, बेवफ़ा, बेहद, आदि ।

(१९) वै—'अभाव' के अर्थ मे सज्ञा शब्द के पूर्व इस प्रत्यय का प्रयोग होता है; जैसेकि—वैराग, वैदेह, वैवर्ण, वैधर्म्य, वैमनस्य, इत्यादि ।

(२०) ला—इस प्रत्यय का प्रयोग 'निषेध' के अर्थ मे होता है; यथा—ला इलाज, ला इल्म, लाचार, लापता, ला मिसाल, ला वारिस, आदि ।

(२१) स—'सहित' के अर्थ में इस प्रत्यय का व्यवहार किया जाता है, जैसेकि—सजीव, सदेह, समान, सधूम, सनाथ, सपक्ष, सपर्ण, सफलक, इत्यादि ।

(२२) सब—इस प्रत्यय का व्यवहार 'लघुता' के अर्थ मे किया जाता है, यथा—सब जज, सब डिवीजन, सब पोस्टआफिस, सब रजिस्ट्रार, सब ओवरसियर, आदि ।

(२३) सर—'मुख्यता' के अर्थ मे इस प्रत्यय का प्रयोग होता है, जैसेकि—सरहद, सरकार, सरताज, सरनामा, सरबुलद, सरकोह, सरराह, इत्यादि ।

(२४) सु—इस प्रत्यय का व्यवहार श्रेष्ठता के अर्थ में होता है; यथा—सुराज, सुजन, सुजस, सुफल, सुकर, सुकुल, सुघड़, सुगुस, सुग्रीव, सुघोष, सुचारु, आदि ।

(२५) हम—'समान' के अर्थ में इस प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है; जैसेकि—हम जोली, हम उम्र, हम पेशा, हमसिन, हमवतन, हमराही, इत्यादि ।

हिन्दी में शब्दो के साथ सयुक्त होने वाले प्रत्ययो के असम्यक् प्रयोग से कई प्रकार की अशुद्धियाँ परिलक्षित होती हैं । सज्ञा-शब्दो मे एक साथ दो प्रत्ययों को सयुक्त कर देने से भी शब्द-निर्माण में अशुद्धि लक्षित होने लगती है; यथा—धैर्यता, चातुर्यता, वैमनस्यता, सौन्दर्यता, दारिद्रता, उत्कर्षता, साम्यता, आदि । विशेषण से सज्ञा-शब्दों की रचना करते समय भी कई तरह की अशुद्धियाँ देखने को मिलती हैं;

जैसेकि—उपयोगता (उपयोगिता), महानता (महत्ता), नियमित्ता (नियमितता) स्थायीत्व (स्थायित्व), विधवाई (वैधव्य), पराजितता (पराजय), बूढ़ापन (बुढ़ापा), दीक्षितता (दीक्षा), संयुक्तता (संयुक्ति), बहुतता (बहुतायत), ढीठता (ढिठाई) और वियुक्त (वियोग), इत्यादि।

इसी प्रकार संज्ञा से विशेषण बनाने के समय प्रत्ययों का सम्यक् प्रयोग न करने से कई प्रकार के अशुद्ध शब्दो का निर्माण हो जाता है। इसलिए प्रत्ययों से समुचित शब्द-निर्माण एवं रचना-प्रक्रिया को जान लेना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उदाहरण के लिए, हिन्दी में विशेषण लिंग और वचन के अनुसार बदल जाते हैं। उर्दू मे विशेषण सदा एकरूप रहता है; जैसेकि—ताजा पानी, ताजा खबर, ताजा चाय, ताजा हवा, इत्यादि। किन्तु हिन्दी में 'ताजी रोटी' अच्छी मानी जाती है और 'ताजे पकोड़े' किसे अच्छे नहीं लगते ? यही नही, 'ताजी हवा' स्वास्थ्यप्रद मानी जाती है और 'ताजा समोसा' खाने में अच्छा लगता है। इसी प्रकार गाडी की 'तेज चाल' अच्छी कही जाती है, किन्तु 'भावों की तेजी' अच्छी नहीं मानी जाती। 'अजी, आप निरे साहब है !', 'तू तो निरा गॅवार है', 'तेरी निरी गॅवारी किसे अच्छी लगती है !' इसी प्रकार 'यह काला घोड़ा है' और 'वे काले घोड़े हैं' तथा 'वे काली साड़ियाॅ पहने हुए हैं।'

विशेषण से संज्ञा शब्द-निर्माण मे होने वाली भूलें कुछ इस प्रकार हैं—

(१) मूल शब्द मे प्रत्यय न जोड़ कर विशेषण के साथ प्रत्यय जोड़ कर भाववाचक संज्ञा-शब्दो के निर्माण मे प्रायः अशुद्धियाँ देखी जाती हैं; जैसेकि—महानता, बूढ़ापन, विधवाई, स्थायीत्व, छूटकारा, आमावट, पराजित्तता, इत्यादि। इन के शुद्ध रूप हैं—महत्ता (महत्ता), बुढापा, वैधव्य, स्थायित्व, छुटकारा, अमावट, पराजय।

(२) उच्चारण की असावधानी से लेखन मे भी अशुद्धियाँ हो जाती हैं, जिन में अधिकतर मात्राओ की भूले होती है; यथा—उपयोगता, नियमित्ता, व्यस्ता, बपोती, मनोती, राष्ट्रियता, प्रमाणिकता, एक्य, पोरुष, चुनोती, आदि। इनके शुद्ध लिखित रूप हैं—उपयोगिता, नियमितता, व्यस्तता, बपौती, मनौती, राष्ट्रीयता, प्रामाणिकता, ऐक्य, पौरुष, चुनौती, आदि।

संज्ञा-शब्द से विशेषण-शब्दों के निर्माण मे भी इस प्रकार की भूलें देखी जाती हैं। इन मे प्रायः दुहरी भूले होती हैं। उदाहरण के लिए, 'संघात' संज्ञा शब्द से 'इक' प्रत्यय जोड़ने पर विशेषण रूप निष्पन्न होता है। किन्तु इस प्रक्रिया तक पहुँचने के पूर्व 'साघात' शब्द बनता है और तब उस के साथ 'इक' प्रत्यय संयुक्त होता है। अतः शुद्ध रूप साघातिक है; न कि संघातिक। इसी प्रकार आण्विक, पारिवारिक, पैशाचिक, पाशविक, प्रादेशिक, नैसर्गिक, याज्ञिक, यौगिक, चारित्रिक, तान्त्रिक, तात्त्विक, गार्हस्थिक, पारमार्थिक, सामरिक और सैद्धान्तिक, आदि शब्द-रूप शुद्ध माने जाते हैं। कभी-कभी प्रत्ययों की भूल से भी अशुद्ध शब्द-निर्माण सम्बन्धी भूलें देखी जाती हैं; जैसेकि—'देशिक' शब्द गलत है, शुद्ध शब्द है—देशीय। इसी प्रकार 'आग्निक'

न होकर 'आग्नेय' होना चाहिए; 'हैमिक' न होकर 'हैमीय' तथा 'शृंगारीय' न होकर 'शृंगारिक' होना चाहिए।

हिन्दी में संज्ञा-शब्दो का निर्माण जिन प्रत्ययो के योग से होता है, वे शब्द के मूल रूप के साथ सयुक्त होते हैं; जैसेकि—'उड़ान' शब्द धातुमूलक शब्द 'उड़े' के साथ 'आन' प्रत्यय के सयोग से निष्पन्न होता है। इसी प्रकार भूल, पी, खेल और बूझ धातु-रूपो के साथ 'अक्कड़' प्रत्यय के सयोग से भुलक्कड, पियक्कड, खिलक्कड तथा बुझक्कड़ शब्दो का निर्माण होता है। पुल्लिंग नर और पशुवाचक शब्दो मे इन, इया, ई और नी प्रत्यय सयुक्त कर स्त्रीलिंग शब्दो की रचना होती है। उदाहरण के लिए—पनहारिन, धोबिन, बाघिन, रीछिन, बन्दरिया, बछिया, बुढिया, घोडी, मानवी, सिंहनी, मगनी, इत्यादि। इसी प्रकार 'आ' प्रत्यय के सयोग से भी व्यक्ति-वाचक स्त्रीलिंग शब्दो की रचना होती है, यथा—छात्रा, वृद्धा, महोदया, सुपमा, आदि। 'आ' के अतिरिक्त आइन, आनी, इका और 'त्री' स्त्रीलिंगवाचक प्रत्यय है। 'आइन' प्रत्यय के संयोग से पडिताइन, ठकुराइन और मिश्राइन, तथा 'आनी' प्रत्यय के योग से सेठानी, देवरानी और जेठानी, एव 'इका' प्रत्यय से परिचारिका, सेविका और लेखिका तथा 'त्री' प्रत्यय से दात्री, धात्री, अभिनेत्री और कार्यत्री, आदि शब्दो का निर्माण होता है। स्त्रीलिंग से पुल्लिंग बनाने के लिए भी 'आ' प्रत्यय के संयोग से भैसा, बकरा, भेडा, मेढा और हिरना, जैसे शब्दो की रचना होती है।

हिन्दी मे परप्रत्ययो का व्यवहार संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रियाविशेषण, प्रातिपादिको तथा धातुओं के पश्चात् होता है और इन के योग से बहुविध नाम-धातुरूपो की रचना होती है। जिन सर्वनामो का व्यवहार हिन्दी मे होता है, वे मूल प्रातिपादिक होते है। उन मे जुडने वाले परप्रत्यय नहीं होते।[१०] कुछ मूल सर्वनाम प्रातिपदिकों से संज्ञा, विशेषण तथा क्रियाविशेषण एव प्रातिपादिक रूप अवश्य व्युत्पन्न होते है; जैसे—/आप–आ–आपा /स०/, यह (इ)–तन/ आ -इतन /आ/ वि०, /यह (इ)-धर-इधर /क्रि०वि०/ इस प्रसग मे यह भी उल्लेखनीय है कि हिन्दी /आप/ (निज० वाचक) सर्वनाम को छोड कर शेष सभी सर्वनामो से धातुएँ व्युत्पन्न नही होती। /आप/ से /अपना/ सकर्मक धातु इस प्रकार व्युत्पन्न होती है : । आप (अप) -ना अपना। उदाहरण के लिए, मैं उसे नही अपनाता। डॉ० उप्रेति ने हिन्दी मे उपलब्ध परप्रत्ययो तथा सपरिवर्तको के मध्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए उन का पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है। संस्कृत की भाँति हिन्दी मे भी परप्रत्ययो की सिद्धि का आधार मूल शब्द-रूप ही है; न कि पद-रूप।[११] धातु या मूलशब्द-रूपो के जाने बिना न तो हम प्रातिपदिको का वर्गीकरण कर सकते है और न सपरिवर्तको का। अतएव लिंग, वचन, विभक्ति तथा क्रियापदो के अश को शब्द से अलग कर देने पर प्रातिपदिक अवशिष्ट रह जाता है। इन प्रातिपदिको के साथ ही प्रत्यय संश्लिष्ट होता है। हिन्दी मे मूल शब्द तथा परप्रत्यय के बीच कोई ऐसा तत्त्व विभक्ति या प्रत्यय प्रयुक्त नही होता, जो इन दोनों के बीच विभाजन प्रस्तुत करता हो। अतः मूल शब्दों और परप्रत्ययों

में सीधा यौगिक सम्बन्ध होता है। इन यौगिक रूपों को ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सस्कृत में जो स्थिति पूर्व प्रत्ययों अथवा उपसर्गों की है, हिन्दी मे वही स्थिति परप्रत्ययों की है। इन प्रत्ययों को अपनाते समय हिन्दी की अपनी चाल अलग ही दिखलाई पडती है; जैसेकि—कहावत, मिलावट, पंचायत, गेरुआ, पैदावार, पंडिताऊ, झगड़ू, भुलक्कड, पहिरावन, चौथाई, जलन, दूरबीन, गुंजार, सड़ाध, घिनौना, कडुआहट और उपजाऊ, इत्यादि। इन मे से भुलक्कड, दूरबीन, गुंजार, और चौथाई शब्दों के यौगिक रूप अन्य शब्दो से कुछ भिन्न हैं। व्युत्पन्न शब्दो के यौगिक न होकर मूल शब्दो से निष्पन्न होते है।

शब्द-संरचना : हिन्दी-संस्कृत प्रत्ययों से नए शब्दों की रचना

शब्द-सरचना का अर्थ है—शब्द की बनावट। शब्द जिन मूल तत्त्वो से मिल कर बनता है, उन्हे प्रकृति और प्रत्यय कहते है। प्रकृति शब्द का मूल अंश तत्त्व या मूल शब्द होता है। मूल शब्द के आधार पर ही अनेक शब्दों की रचना होती है। शब्द-रचना की अपनी स्वतन्त्र विधि होती है, जिस के अनुसार नाम-रूपों की संरचना होती है। प्रायः नए शब्दो की रचना आवश्यकता के अनुसार होती है। अधिकतर नए शब्दो की रचना किसी पुराने मॉडल पर होती है। इन शब्दो को बनाने वाले जनसामान्य या बौद्धिकवर्ग के लोग होते हैं। ये शब्द किसी न किसी रूप या ढाँचे पर निर्मित होते हैं। कभी-कभी इन की रचना और प्रयोग का पता सहज रूप से नही लगता। इनका उपयोग किसी भी देश या जाति के सास्कृतिक विकास मे स्पष्ट रूप से सलक्षित होता है। देश की स्वतन्त्रता के पूर्व की हिन्दी में और आज की हिन्दी मे उच्चारणगत ही नही, लेखन मे भी स्पष्ट अन्तर आया है। हिन्दी मे दीर्घ शब्दों के ह्रस्व उच्चारण की प्रवृत्ति दिनोंदिन बलवती होती जा रही है। आज अनेक शब्दों का प्रचलन हिन्दी और अंग्रेजी के मिश्रित ढाँचे पर प्रयुक्त दिखलाई पडता है। उदाहरण के लिए—अग्रेजी 'आन्ट' (aunt) शब्द से हिन्दी अटी, रजिस्टर्ड से रजिस्ट्री, कनस्टर से कनस्तरी, रंग से रगदारी और सूरत से सूरती, इत्यादि।

एक बार किसी शब्द के बन जाने पर उस के रूप में बहुत कम परिवर्तन होता है—और जो परिवर्तन होता है, वह प्रायः उच्चारण के कारण। इसलिए घरेलू ही नहीं, उपयोग मे आने वाले सभी शब्द हजारों-लाखों वर्षों तक टिकते हैं। एक एक ध्वनि-परिवर्तन के मूल मे शताब्दियों का इतिहास सुरक्षित रहता है। अतएव प्राचीन इतिहास और सस्कृति के अध्ययन में शब्द-संरचना का अत्यन्त महत्त्व है। यह एक ऐसा अलिखित इतिहास है, जो शत-सहस्राब्दियो तक अपने मूल रूप मे सुरक्षित रहता है। शब्द-संरचना की कई पद्धतियाँ हैं। किन्तु मुख्य पद्धतियाँ पाँच कही गई है—व्युत्पत्तिमूलक पद्धति, समासमूलक पद्धति, उधार लेने की पद्धति, वर्णविपर्ययात्मक पद्धति और अर्थपरिवर्तनीय पद्धति।

(१) व्युत्पत्तिमूलक पद्धति—

इस पद्धति के अन्तर्गत मूलशब्द की खोज कर उपसर्ग तथा प्रत्ययों के द्वारा शब्द-रचना का निर्देश किया जाता है। इस जानकारी से मूल शब्द का पता लगाना सरल हो जाता है और नए शब्दों की रचना करने में भी सहायता मिलती है। उदाहरण के लिए, हिन्दी में एक शब्द है–दाम। किन्तु कहावत है—'चमडी जाय, पर दमड़ी न जाय।' दाम और दमड़ी कैसे बने हैं और इस तरह के शब्दो की रचना कैसे की जा सकती है—यह एक महत्त्वपूर्ण तथा मनोरंजक विषय है। जैसाकि डॉ० भायाणी ने उल्लेख किया है कि यह 'दाम' और 'दमड़ी' शब्द आजकल का नहीं है। बादशाह शेरशाह और अकबर के समय में 'दाम' एक तॉबे के सिक्के के रूप मे प्रचलन में था। दाम का चौथाई भाग 'दमडो' और आठवाँ भाग 'दमडी' कहा जाता था। परन्तु इसे प्राचीन काल में 'द्रम्म' नाम से व्यवहृत किया जाता था। द्रम्म नाम का रजत का सिक्का नवम शताब्दी से ले कर तेरहवीं शताब्दी तक उत्तर भारत मे प्रचलित रहा है। दाम शब्द का इतिहास इस से भी प्राचीन है, क्योकि दाम शब्द का मूल 'द्रम्म' सस्कृत का शब्द नहीं है। सस्कृत में यह शब्द ग्रीक भाषा से आगत है। प्राचीन काल मे ग्रीक मे एक रुपये के सिक्के का नाम 'द्रख्म' (drachma) था। यह प्राचीन ईरान मे सासानी युग तक इसी नाम से प्रचलित था। वहाँ से भारत में आने वाले लोग इसे साथ मे लेते आए। परवर्ती काल मे यह द्रम्म, दाम नाम से प्रचलित रहा।[१२] 'दाम' से 'दमड़ी' शब्द का विकास हो गया। इस विकास का आधार सादृश्य कहा जा सकता है। दाम कहने की अपेक्षा दमडी मे लाघवता का भाव है। दाम के साथ स्वार्थिक 'ड' प्रत्यय जोड देने से 'दमड़ी' शब्द निष्पन्न होता है। जिस प्रकार चर्म से चाम और फिर चमड़ी, पर्पट से पापड और फिर पपडी, पर्ण से पान और फिर पनडी, आदि शब्दों का निर्माण होता है, उसी प्रकार द्रम्म से दाम और दमडी शब्द की रचना सादृश्य के आधार पर हुई है।

हिन्दी के शब्द-भण्डार मे व्युत्पत्ति की दृष्टि से शब्दावली विषयक विभिन्न स्तर हैं। यही कारण है कि शब्दनिर्माणकारी प्रत्यय भी विभिन्न स्तरों के हैं। डॉ० ज० म० दीमशित्स के अनुसार अन्य भाषाओ से गृहीत निर्माणकारी प्रत्यय प्रायः गृहीत शब्दों मे समाविष्ट होते हैं, लेकिन आधुनिक भाषा मे अन्य भाषाओं से गृहीत कतिपय प्रत्यय तथा प्रत्ययाभास हिन्दी के शब्दो के साथ भी प्रयुक्त हो कर नए शब्दों का निर्माण करते हैं;[१३] जैसे—बेसमझ, घूँसेबाज।

(२) समासमूलक पद्धति—

इस पद्धति के अनुसार दो शब्दो को मिला कर एक शब्द का निर्माण किया जाता है। हिन्दी भाषा में ऐसे अनेक शब्द मिलते है, जो अन्य विदेशी भाषाओं के शब्दो से या प्रत्ययों से मिला कर बनाए जाते है; जैसेकि—रेलगाड़ी, रजिस्टर्डपत्र, हजारीप्रशाद, पंचहजारी, लंगड़ा, पत्तीदार, पार्टीबाजी, तोपची, बादशाहत, और कमती,

आदि। दो मूल शब्द समस्त हो कर जब द्वन्द्व समास का रूप धारण करते हैं तब सामासिक शब्दों का निर्माण होता है; जैसे : आशा-निराशा, छानबीन, खेल-कूद, छीना-झपटी, कमी-बेशी, ऊँच-नीच, धरा-उठाई, इत्यादि। इन दिनों हिन्दी में सामासिक शब्दो की रचना पारिभाषिक शब्दावली के रूप में विशेष रूप से की जा रही है। उदाहरण के लिए, विद्युत्शक्ति, विद्युत्चालन, विद्युत्मापी, विद्युत्धारा, विद्युत्वेग, विद्युत्संचारक, विद्युत्चालक, विद्युत्-तडाग, विद्युत्-चुम्बक, आदि।

यथार्थ मे, नाभिक शब्दो का निर्माण मूल मे धातुओं से या शब्दों के मूल अंश से होता है। जब दो नाभिक शब्द परस्पर मिल कर एक रूप हो जाते हैं तब सामासिक शब्द का निर्माण होता है, जैसेकि—घुडसवार, विमानचालक, हाथीघोड़ा, लेखकपत्नी, भारतसेवक, माता-पिता, राम-रावण, गोपाचल, हिमालय, आदि। केवल संज्ञा शब्दो के सयोजन से ही नहीं, संज्ञा शब्दो के साथ क्रिया-पदों के सयोग से भी समास मे नए शब्दों की रचना होती है; यथा—घुडचढा, पीठासीन, नयनोन्मीलन, अक्षि-सकाच, पाठ-लेखन, उड़नतश्तरी, उड़नखटोला, इत्यादि। इसी प्रकार दो समान क्रियापदो के संयोग से भी सामासिक शब्दो का निर्माण किया जाता है; जैसे : लेन-देन, कहा-सुना, आया-गया, भूला-बिसरा, सोचा-विचारा, धरा-उठाया, पढाया लिखाया, आदि।

शब्दो के समस्त होने का भाव शब्द मे स्वतः निहित है। पॉल्मर आदि भाषा-वैज्ञानिको ने शब्द को ऐसी लघुतम भाषण-इकाई माना है, जो पूर्णतया उच्चारण देने मे समर्थ है।[२४] अधिकतर विद्वानो के विचारो मे सामान्य रूप से शब्द में कोशगत अर्थ तथा सरचना सलक्षित होती है। अतएव इसे वॉक्स (Vox), डिक्टो (Dicto) और पार्स ऑरेशन (Pars oration) आदि नाम देने का प्रयत्न भी किया गया है।[२५] यद्यपि ध्वनिविज्ञान शब्द को ध्वन्यात्मक मानता है, लेकिन शब्द ध्वनियों का वह सम्बद्ध रूप होता है, जिस से अर्थ व्यक्त होता है। जहाँ अर्थ है वहाँ कोई-न-कोई चित्र तथा आकार पहले से ही निहित है। इसलिए शब्द मे सरचना और समस्त होने का भाव निसर्ग है, स्वाभाविक है। इस में प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ही प्रकार के विद्वान् एक मत है।

(३) उधार लेने की पद्धति

अन्य भाषाओं से सम्पर्क के कारण, जातीय प्रभाव तथा संगम होने के कारण प्रायः कई प्रकार के शब्दों को अपना लिया जाता है। शब्द-ग्रहण करने के मुख्य तीन प्रकार कहे गए हैं। प्रथम वे शब्द ज्यो के त्यो दूसरी भाषाओ से ग्रहण कर लिए जाते है जो हमारी भाषाओं मे नही हैं, किन्तु आवश्यकता पडने के कारण जो हमारे बोल-चाल में आ गए है। उदाहरण के लिए, आलमारी, पीपा, फालतू, पिस्तौल, तम्बाकू, गोदाम, चाबी, गोभी, काजू, कमरा, कनस्तर, गिर्जा, गमला, तौलिया, मस्तूल, मिस्त्री, सतरा, आदि पुर्तगाली शब्द हिन्दी मे भलीभाँति अपना लिए गए

हैं। अग्रेजी और फारसी शब्द तो इतने अधिक है कि हिन्दी मे प्रचलित हलवा, रोटी, बर्फी, इंजिन, स्कूल, पार्सल, गिलास, रजिस्ट्री, डायरी, सिगरेट, आदि शब्दों को देख कर यह सोचना तक कठिन हो जाता है कि ये विदेशी शब्द हैं।

विश्व मे आज ज्यो-ज्यो वैज्ञानिक तथा औद्योगिक प्रगति होती जा रही है त्यों-त्यों नवीन वस्तुओं का आविष्कार होता जा रहा है। उन नई वस्तुओ और कार्यों के लिए भाषा-सम्पदा मे नित नए शब्दो की वृद्धि होना भी स्वाभाविक है। यद्यपि जन सामान्य नए शब्दो की रचना अनायास ही अपनी स्वाभाविक प्रक्रिया से कर लेते हैं, किन्तु भाषा-पद्धति मे नए शब्दों का निर्माण होना एक महत्वपूर्ण कार्य है। यह केवल इस देश की भाषा के लिए ही नहीं, मानव मात्र की भाषा के लिए महत्वपूर्ण तथ्य है। जापानी भाषा मे 'मिरक' शब्द का अर्थ है—दूध। इस मिरक शब्द का जापान के साथ पहले कोई सम्बन्ध नही था। जापान मे प्राचीनकाल मे न गाय थी और न भैंस। इसलिए दूध के लिए भी कोई शब्द प्रचलन मे नहीं था। जब पहली बार अग्रेजो के सम्पर्क से 'मिल्क' का पता चला तो उस का जापानीकरण कर उसे 'मिरक' बना लिया। इसी प्रकार उन्होने 'टैक्सी' को अपने साँचे मे ढाल कर 'ताकशी' बना लिया।

प्रत्येक भाषा मे उधार लिए जाने वाले शब्दों को अपनाने की एक विधि होती है, जिसे 'ग्रहण-पद्धति' कहा जा सकता है। इस के अनुसार सभी भाषाएँ अपने स्वभाव और साँचे के अनुरूप विदेशी शब्दो को ग्रहण करती है। हिन्दी मे 'लेन्टर्न' से लालटेन, 'ग्लास' से गिलास, 'केटली' से केतली, 'कोल्टार' मे कोलतार, 'लेफ्टिनेन्ट' से लपटट, 'लार्ड' से लाट, 'ट्रेजरी' से तिजोरी, 'अल्युमिनियम' से अलमोनियम, 'बायरन' से बेरग, 'समन' से सम्मन, आदि इसी प्रकार के शब्द हैं। इसी प्रकार गुजरातियो ने 'पोटेटा' से 'बटाटा' और 'टामेटो' से 'टमाटर' शब्द बना लिए। लगभग सभी भाषाओ मे इस तरह के उधार लिए हुए शब्द मिलते है। इन मे केवल भाषागत साँचे की छाप और कही-कहीं कुछ भिन्न अर्थ लक्षित होता है।

कभी-कभी अन्य भाषाओ से सकर शब्द भी ज्यो-के-त्यों अथवा अपनी भाषा के शब्द से मेल कर सकर रूप मे प्रचलित हो जाते है। जैसेकि—रगमहल (फा० अ०), शीशमहल (फा० अ०), रेलगाडी (अ० हि०), टिकिटघर (अ० हि०), पाकिटमार (अ० हि०), पार्सलघर (अ० हि०), ऑटोरिक्शा (अ० जा०), नम्बरदार (अ० फा०), मिडलची (अ० तु०), उर्दूबाज (तु० फा०), मिलमालिक (लॅ० अ०), इत्यादि। ससार की कई भाषाओ मे विदेशी शब्दो की सख्या बहुत अधिक है। अग्रेजी, फ्रेच तथा फारसी भाषा मे विदेशी शब्दो की सख्या पचास प्रतिशत से भी अधिक है। इन मे भारतीय शब्दावली भी सम्मिलित है। वास्तव मे, विभिन्न देशो के सम्पर्क के कारण जहाँ सस्कृत से कई भाषाओ ने शब्दो को उधार ले कर अपनी भाषाएँ सम्पन्न बनाई है, वही सस्कृत ने भी ग्रीक, लैटिन, फारसी, आदि से कई शब्दो को ग्रहण किया है। अग्रेजी में लगभग तीन लाख शब्दों मे एक

सहस्र भारतीय शब्द हैं। इसी प्रकार मराठी, बंगला, गुजराती तथा दक्षिण की भाषाओं मे भी हिन्दी भाषा के शब्द पहुँच गए हैं। हिन्दी में भी इन सभी प्रान्तीय भाषाओं के शब्दो का भलीभाँति प्रचलन है। वर्तमान काल मे विदेशी शब्दों के उधार लेने की प्रवृत्ति दिनोदिन बढ़ती जा रही है। क्योकि इस से भाषा में लचीलापन आता है और भाषा की विकास-क्षमता की वृद्धि होती है। जो भाषा दूसरी भाषाओं के शब्दों और प्रयोगो को पचाने की जितनी अधिक क्षमता रखती है, वह उतनी अधिक विकासशील होती है। अंग्रेजी भाषा के सम्बन्ध मे यह बात पूर्णतया चरितार्थ होती है।

(४) वर्णविपर्ययात्मक पद्धति

वर्णों के उलट-फेर से भी नए शब्दों की रचना होती है। यह शब्द-रचना जान-बूझ कर नही की जाती, वरन् अनजाने में ही हो जाती है। उदाहरणार्थ, संस्कृत के हिंसावाचक 'हिंस' शब्द के उलट जाने से हिन्दी में–सिंह, सस्कृत 'कृत' से तर्क, सस्कृत 'क्षार' से हिन्दी में राख और अरबी के 'अरमूद' शब्द से हिन्दी में अमरूद शब्द बन गया। इसी प्रकार वाराणसी से बनारस, लखनऊ से नखलऊ, इक्षु से ऊख, रितु से रुत, मृत्यु से मुवा, कृष्ण से कान्ह, आदि शब्दों का विकास हुआ है।

वास्तव में, शब्द मे सकोच होने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। लक्ष्मण से लखन, सीता से सीय, घृत से घी, पुत्रवधू से बहू, मातृष्वसा से मौसी, भ्रातृजाया से भौजी, पितृगृह से पीहर, मातृगृह से मायका, देवालय से दिवाला (बुंदेली), सौभाग्य से सुहाग और चतुर्वेदी से चौबे, आदि शब्दो के विकास मे यही मनोवृत्ति लक्षित होती है। यह प्रवृत्ति केवल सस्कृत और हिन्दी मे ही नही, ससार की सभी भाषाओं मे न्यूनाधिक पाई जाती है। इस के परिणामस्वरूप ही भाषा में समास या संक्षेप परिलक्षित होता है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि हिन्दी मे कई प्रकार की समास-रचना मिलती है। इन सामासिक शब्दो मे भी वर्ण-विपर्यय के उदाहरण प्रचुरता से मिलते हैं; जैसेकि—कनफटा (फटा कान), पतझड (झड़े पत्ते), मुँहफट (फटा मुँह), नींबू-निचोड (निचोड़ा नीबू), हीनमति (मतिहीन), हीनस्वास्थ्य (स्वास्थ्यहीन), आदि इसी प्रकार के सामासिक शब्द है। श्री माईदयाल जैन का कथन उचित ही है कि हिन्दी मे विदेशी शब्द सस्कृत शब्दो के समान या तो अपने मूल रूप मे आए हैं या वर्णों के उलट-फेर तथा लोप आदि के साथ आए हैं।'[१] अरबी, फारसी, अंग्रेजी, आदि शब्दो को हिन्दी वर्णमाला की ध्वनियो के साँचे मे ढाल कर उन शब्दों का अनेक तरह से विकास किया गया है। हिन्दी के उपसर्गों तथा प्रत्ययों की सहायता से और समासो से अनेक शब्द बना कर भाषा को समृद्ध बनाया है। जनता और विद्वानों ने इस विषय में एक ही नीति से काम लिया है। उन्होंने अस्पताल, अरदली, इस्तरी, कनस्तरी, कप्तान, गरीब, गारद, गोदाम, जरनैल, टमाटर, बोतल, मसीत या महजद, वास्कट, आदि अनेक शब्द बनाये हैं। इन शब्दो के प्रयोगों तथा भाषा में

आगत शब्दो के अपनाने की प्रवृत्ति दिनोंदिन बढती ही जा रही है। आज की हिन्दी पत्र पत्रिकाओं मे प्रयुक्त भाषा से यह तथ्य और भी अधिक स्पष्ट हो जाएगा। कहानी और उपन्यासों मे तो ऐसे शब्दो की भरमार मिलेगी।

(५) अर्थपरिवर्तनीय पद्धति

प्रायः प्रत्येक युग मे शब्द और उन के अर्थ मे कुछ-न-कुछ परिवर्तन होता रहता है। इसी प्रक्रिया मे फारसी 'दरिया' (नदी) शब्द गुजराती और हिन्दी मे समुद्र का वाचक हो गया। सस्कृत 'अब' शब्द अपभ्रंश मे 'आम' अर्थ देने लगा और 'साहसिक' (डाकू) शब्द उर्दू-हिन्दी में 'साहसी' (हिम्मती) अर्थ का वाचक हो गया। अत्यन्त प्राचीन काल मे सस्कृत मे 'घृणा' का अर्थ पिघलना था, बाद मे 'दया' हो गया और अब वह 'नफरत' का अर्थ देने लगा है। इसी प्रकार 'पाषड' पहले एक सम्प्रदाय था। बाद मे शब्द मे कुछ परिवर्तन हुआ तो वह 'पाखड' पाप का खडन करने वाला अर्थ देने लगा और आज उस का अर्थ 'ढोंग' आडम्बर है। इस अर्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया से यद्यपि शब्द और अर्थ सदा किसी-न-किसी सन्दर्भ मे परिस्थितिवश बदल जाते है, किन्तु वे अपने मूल अर्थ को नही छोडते। इसलिए हजारो वर्षों के बाद भी उनका मूल स्रोत खोज लिया जाता है और उनकी वास्तविक स्थिति का पता चल जाता है। इस प्रकार अर्थपरिवर्तनीय पद्धति से शब्द के इतिहास की जानकारी मिलती है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ की वास्तविक जानकारी मे भी यह पद्धति सहायक है। मराठी भाषा मे 'हाल' शब्द का अर्थ कष्ट है। सम्भवतः तत्कालीन मुगलशासक महाराष्ट्र पर अत्याचार कर रहे थे। अतएव महाराष्ट्र निवासी हिन्दुओ के लिए 'हाल' का अर्थ बेहाल या कष्ट हो गया होगा। मराठी भाषा मे 'हरकत' शब्द का अर्थ है आपत्ति या एतराज। हरकत शब्द का सीधा अर्थ 'गति' है, किन्तु आपत्ति अर्थ न जाने कैसे हो गया ? इसी प्रकार 'शिक्षा' का अर्थ मराठी मे 'दण्ड' और 'राजीनामा' का अर्थ 'त्यागपत्र' है। परन्तु शिक्षा का मूल अर्थ सिखाना और राजीनामा का अर्थ झगड़े के पश्चात् परस्पर मिल जाना रहा है, जो अन्य भाषाओ मे अब भी प्रचलित है।

नए शब्दों की रचना-प्रक्रिया

प्रत्येक भाषा मे प्रायः नए शब्दो की रचना नई वस्तु, स्थिति, भाव या कार्य को ध्यान मे रख कर की जाती है। शब्द का निर्माता जन सामान्य होता है, जो अपने आस-पास की वस्तु और उस के कार्य आदि को ध्यान मे रख कर सहज ही सादृश्य के आधार पर शब्द-रचना करता है। भाषा में सादृश्य की प्रवृत्ति केवल नियमित ध्वनि-परिवर्तनो के कारण ही नहीं, वरन् नए शब्दो की रचना के कारण भी परिलक्षित होती है। जिस प्रकार किसी स्वतन्त्र भाषा मे ही विदेशी शब्द उधार लिए जाते हैं, उसी प्रकार शब्द-निर्माण की क्षमता रखने वाली भाषाओं मे सादृश्य के आधार पर निर्मित शब्द-समूह भी देखा जाता है। जिस भाषा मे शब्द-निर्माण की जितनी अधिक क्षमता होती है, वह उतनी सक्षम एवं सम्पन्न मानी जाती है। इस दृष्टि से हिन्दी एक समृद्ध

भाषा है। क्योंकि इसमे शब्द-निर्माण की नैसर्गिक शक्ति है। उदाहरण के लिए, सस्कृत में पत्र शब्द कई वस्तुओं का वाचक रहा है, किन्तु हिन्दी में भिन्न-भिन्न वस्तुओं के लिए अलग ही कई शब्दों का निर्माण हुआ, जो भलीभाँति प्रचलित हैं। संस्कृत के 'पत्र' से पत्ता, पत्तर, पत्तल, पत (पतझड), पतई, पत्ती, पतग (पक्षी), पतरा, पतराई (पतलापन), पतला, पताई (सूखी पत्तियाँ), पतरी (पत्तल), पतलो (सरकंडा), पतावर (सूखे पत्ते), पतील, पतीला (पतला), पत्त (पत्र), पत्रक, पत्रकार, पत्रकारी और पत्रभारक या पत्रचाप (पेपरवेट), आदि शब्दों का विकास हुआ है। इतना ही नहीं, क्रियापदों के रूप मे भी हिन्दी आख्यातों की रचना की गई; जैसेकि— पतहरने (पत्ते झडने), पतझार, पतझाड, आदि। इसी प्रकार 'चूर्ण' से चून, चूना, चूरन, चूरण, चूर, चूरा, चूरमा, चुन्नी, चूनी, चूनर और चुनरी, आदि शब्दों का तथा चूरना, चूरा और चूरित क्रियापदों का विकास हुआ है। इसी तरह से पानी से पन (सम्भवतः जिसका विकास सस्कृत 'पर्ण' से हुआ है), पान, पनकटा, पनकपड़ा, पनकाल, पनकुट्टी, पनकुट्टा, पनकौवा, पनगाचा, पनगोटी, पनघट, पनचक्की, पनचोरा, पानदान, पनडब्बा, पनडुब्बा, पनडुब्बी, पनवारी, पनवाडी, पनसाल, पनसाला, पनहरा, पनहारा, पनहारिन, इत्यादि शब्दों का निर्माण हुआ है। अन्य शब्द-रचना की जानकारी के लिए 'तुलसी' शब्द और उससे बने हुए तुलसीदल, तुलसीदाना, तुलसी-वृंदावन और तुलसीवन तथा सस्कृत 'द्विगुण' से हिन्दी दुगुन, दून, दूना, दूनर और दुहरा, एव संस्कृत 'नन्द' से हिन्दी ननद, नंदवंश, नदकिशोर, नदकुँवर, नद-नदन, नंदगोप, नदरानी, नदलाला और नदरूख एवं सस्कृत 'विद्युत्' से बिज्जु, बिज्जुल, बिजली, बिजुरी, बिजलीघर, बिजलीबचाव, बिजलीमार, आदि शब्दों का निर्माण किया गया है। शब्द-निर्माण की इस रचना को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि किसी एक शब्द के आधार पर अनेक शब्दो की रचना आवश्यकतानुसार होती रही है। कारण भी स्पष्ट है। शब्द सीमित है और अर्थ अनन्त है। अतएव एक ही शब्द मे कुछ परिवर्तन के साथ अनेक शब्दो का निर्माण कर लिया जाता है। किन्तु अधिकतर मूल शब्दो की रचना किसी सादृश्य के आधार पर की जाती है। उदाहरण के लिए, 'गिरती हुई पत्ती' को देख कर 'पत्र' कहना और फिर ताडपत्र, भोजपत्र ही नहीं, कटकबेधी पत्र और चॉदी, तॉबे तथा पीतल, आदि धातुओं के पत्तर भी पत्र और पत्रो (पत्तों) से बनी हुई पत्तल को भी तथा लेखन के आधार पर कागज को भी पत्र कहना सादृश्यमूलक प्रवृत्ति है। यह बात एक उदाहरण से और भी स्पष्ट हो सकेगी। मान लीजिए, विद्युत् की शक्ति से दी जाने वाली फाँसी के लिए हमे किसी शब्द का निर्माण करना है तो सस्कृत के दो शब्दो को मिला कर 'विद्युत्पाश' का निर्माण कर सकते हैं अथवा हिन्दी के बिजली और फाँसी शब्दों को मिला कर 'बिजलीफाँस' बनाया जा सकता है। जहाँ शब्दों के समास की समस्या है, वहाँ समास के नियमों का ध्यान रखना होगा और जहाँ मूल शब्द का प्रश्न है, वहाँ उसे भी ध्यान मे लेना होगा। दोनों को ही ध्यान में रख कर शब्द गढना होगा, नहीं तो भाषा का उपहास हो जाएगा।

नए शब्द की रचना करते समय मुख्य रूप से भाषा की प्रकृति के अनुरूप शब्द-निर्माण की प्रक्रिया अपनानी पडती है और उसी के अनुरूप मूल शब्दों को ग्रहण कर नए शब्दो की रचना करनी होती है। यहाँ मूल शब्द से हमारा अभिप्राय सस्कृत या सस्कृत के पूर्व की बोली से न हो कर किसी भी भाषा मे प्रयुक्त धातुमूलक शब्द से है। अतएव हिन्दी मे जब भी तिकोन या तिकोनी वस्तु के विषय में कुछ कहना होगा अथवा सम्बन्धित वस्तु के लिए किसी नए शब्द की रचना करनी होगी तब 'तिकोन' से ही तिकोनिया या तिकनोता जैसे शब्दो का सरलता से निर्माण किया जा सकेगा। सस्कृत के 'त्रिकोण' शब्द को अपनाते समय निश्चय ही हिन्दी की प्रकृति के अनुसार उसे ठीक से नही ढाला जा सकता है। फिर, सस्कृत व्याकरण के अनुसार ही 'त्रिकोणीय' या 'त्रिकोणात्मक' जैसे बने बनाए शब्दो का ही प्रयोग करना होगा। अपने मन का भाव लाने के लिए हम यथास्थिति सब प्रकार से परिवर्तन नही कर सकते। क्योंकि सस्कृत पूर्ण तथा व्याकरणबद्ध भाषा है। हिन्दी मे परिवर्तनशीलता अधिक है, क्योंकि यह जीवन्त भाषा है। भाषा का चलता प्रवाह सभी ओर दिखलाई पड़ता है। इसलिए नए शब्दो की रचना करते समय इस के प्राणो की गति पर भी भलीभाँति ध्यान देना चाहिए, अन्यथा यह भी कालान्तर मे शीघ्रता से सस्कृत की भाँति मृतप्राय हो जाएगी।

डॉ० दौलतसिह कोठारी का यह कथन उचित ही है कि नए शब्दो का निर्माण करते समय इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि उसके सहयोगी शब्द भी बन सके। उदाहरण के लिए, अंग्रेजी मे एक शब्द 'टु कन्डक्ट' है, जिससे प्रयुक्त होने वाले कई पारिभाषिक शब्द बनते हैं[२७]: कन्डक्शन, कन्डक्टर, नॉनकन्डक्टर, सेमीकन्डक्टर, सुपरकन्डक्टर, कन्डक्टिविटी, सुपर-कन्डक्टिविटी और कन्डक्टेन्स। इन के लिए हिन्दी मे क्रमशः चालन, चालक, अचालक, अर्द्धचालक, सुचालक, चालकता, सुचालकता और चालकत्व का प्रयोग किया जा सकता है। केवल नए शब्दो का निर्माण करते समय ही नहीं, वरन् पारिभाषिक शब्दों की रचना करते समय भी इस प्रकार के सहयोगी शब्द बनाने आवश्यक है। सहयोगी शब्द बनाने के पूर्व मूल शब्द का विनिश्चय या रचना-ज्ञान होना अनिवार्य है, जिस से अनेक शब्दों का निर्माण सम्भव है, जैसे कि—'टु कन्डक्ट' के लिए एक बार 'चलन' (चाल-चलन) अर्थ सुनिश्चित हो जाने पर चालन, चालक, आदि शब्दो की निर्मिति सरल हो जाती है। अतएव नए शब्दों की रचना मे सर्वप्रथम मुख्य कार्य धातुमूलक शब्दार्थ का भलीभाँति निश्चय करना है। यह कार्य दो रूपो मे सम्भव है—पहले से ही प्रचलित मूल शब्द की जानकारी होना या फिर समानधर्मी नए शब्द की रचना कर लेना। उदाहरण के लिए, कन्डक्ट के वास्ते 'चलन' शब्द आप के पास पहले से ही विद्यमान है, किन्तु 'रिकार्ड' के लिए कोई बना-बनाया शब्द नही है। ऐसी स्थिति मे सब से पहले रिकार्ड के लिए कोई शब्द खोजना या बनाना होगा, फिर रिकार्ड से बनने वाले शब्दो के अनुरूप हिन्दी मे भी सहयोगी शब्द विनिश्चित करने होगे। 'रिकार्ड' के

लिए समानार्थी शब्द 'लेख' विद्यमान है। लेख, प्रलेख, आलेख, या अभिलेख, जैसे शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु 'अभिलेख' शब्द 'रिकार्ड' के लिए सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसके सहयोगी शब्द रिकार्ड ऑन, रिकार्ड प्लेस ऑन, रिकार्डेबिल, रिकार्डेड, रिकार्डर, रिकार्डिंग और रिकार्डेशन हिन्दी मे क्रमशः अभिलिखित, अभिलेखबन्धन, अभिलेख्य, अभिलेखक, अभिलेखन और अभिलेखकरण बनते हैं। इसी प्रकार अन्य शब्दों का निर्माण तथा शब्दों की निर्माण-प्रक्रिया की जाँच सहयोगी शब्दों के सन्दर्भ मे की जा सकती है। शब्दों की एकरूपता के स्थापन में भी इस से बहुत सहायता मिलती है। हमारे विचार में शब्द-निर्माण में शब्दों की एकरूपता की ओर ध्यान देना आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है। क्योंकि इस से शब्द और अर्थ के विनिश्चय के साथ ही अनुवाद मे भी स्पष्टता आती है और किसी प्रकार की भूल नही होती। इस के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा के शब्द के लिए भिन्न-भिन्न शब्दो के प्रयोग तथा प्रचलन की सम्भावना भी समाप्त हो जाती है।

पारिभाषिक शब्द-संरचना

प्रत्येक भाषा की निर्मिति के दो ही मुख्य उपादान हैं—शब्द और अर्थ। विश्व मे जिस प्रकार भिन्न-भिन्न वस्तुएँ है, उसी प्रकार विभिन्न प्राणी हैं और उनके कार्य तथा अनुभव भी भिन्न हैं। व्यावहारिक जीवन मे हमारे जगत् की रचना अनुभवों से होती है। क्या विज्ञान, क्या भाषा और क्या धर्म सभी के मूल मे अनन्त काल से समाहित प्राणी मात्र के अनुभव निहित हैं। मनुष्य अपने अनुभवों को व्यक्त करने के लिए भाषा का और विशेष कर शब्दो का सहारा लेता है। नए अनुभव को व्यक्त करने के लिए नए शब्द का प्रयोग किया जाता है। अपने आप मे नया शब्द क्या होता है? किसी पुराने शब्द का ही वह रूप, जो हमारे अनुभव को व्यजित करने के लिए वर्तमान शब्द का समानार्थी होता है, प्रायः उसे ही हम नया शब्द कहते हैं अथवा किसी पुराने शब्द के सादृश्य पर नए अर्थ को द्योतित करने के लिए गढा हुआ शब्द नया होता है। इसी प्रकार पहले से विद्यमान, किन्तु अप्रचलित तथा अज्ञात शब्द भी नए शब्द की सज्ञा को प्राप्त होते हैं। इन नए शब्दो की रचना प्रायः पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण मे विशेष रूप से देखी जाती है। वर्तमान युग मे निरन्तर गतिशील चिन्तन और वैज्ञानिक परिणामों के फलस्वरूप नित नए अनुभवों को स्पष्ट और सुनिश्चित ढंग से प्रकट करने के लिए पारिभाषिक शब्दावली की आवश्यकता नितान्त अपरिहार्य है। प्रत्येक पारिभाषिक शब्द मे भिन्न-भिन्न अनुभव निहित रहता है। इसलिए प्रत्येक शब्द का अर्थ निश्चित रहता है। भाषा केवल शब्द ही निश्चित करती है। भाव के अनुरूप शब्द को अर्थ प्रदान करने का कार्य सम्बन्धित विषय का होता है। पारिभाषिक शब्द मे वही अर्थ सुनिश्चित हो जाता है। अर्थ के विनिश्चय का कार्य आज तक किसी वैयाकरण या भाषाशास्त्री ने नहीं किया। वह तो हमारे प्रयोगो और व्यवहारों से प्रतिफलित होता है। इसलिए प्रायः पारिभाषिक

शब्द के निर्माण मे विषय की स्पष्टता का ज्ञान और भाव पूर्णतया समाहित होना चाहिए। केवल शाब्दिक अर्थ के अनुसार नया शब्द गढ लेना उचित नही है।

पारिभाषिक शब्दावली बोलचाल के निकट होनी चाहिए। यदि वैज्ञानिक या तकनीकी शब्दावली आम बोलचाल की भाषा से भिन्न होती है तो सामान्य जनता विज्ञान—तकनीक, आदि विषयो की जानकारी ठीक से नही प्राप्त कर पाती। जो लोग उन विषयो का अध्ययन या प्रशिक्षण प्राप्त करते है वे भी भाषा की कठिनाई के कारण पूरी रुचि विकसित नही कर पाते। इसलिए भाषा की अबोधता किसी भी विषय या कार्य मे दक्षता प्राप्त करने के लिए बाधक सिद्ध होती है। इस सम्बन्ध मे केवल भाषाविज्ञ ही नहीं, विज्ञानवेत्ता भी सहमत हैं कि निपुण कारीगरो, दस्तकारो और व्यापारियो का प्रशिक्षण उन के क्षेत्र की भाषा के माध्यम से ही सरलता मे दिया जा सकता है। डॉ० कोठारी के शब्दो मे "दूसरी भाषा मे शिक्षा प्राप्त करने पर, तोते की तरह रट कर, दिमाग को आवश्यकता से अधिक जोर देकर जहॉ हमारी प्रतिभा मन्द होती है, वहॉ बुनियादी बात भी पूरी तरह समझ नही पाते।[२८]"

अक्तूबर, १९६२ मे वैज्ञानिक शब्दावली का भाषाविज्ञान सम्बन्धी एक सम्मेलन दिल्ली मे किया गया था। इस सम्मेलन ने एकता की दृष्टि से इस बात पर बल दिया था कि अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली को हिन्दी या प्रादेशिक भाषाओ मे लिप्यन्तर करते समय उच्चारण की अपेक्षा वर्तनी पर अधिक जोर दिया जाए और दक्षिणी भारत एव पूर्वी भाषाओं की सुविधा के लिए सभी वैज्ञानिक शब्द पुल्लिग माने जाऍ (अपवाद वहीं हो, जहाँ कि इस नियम मे व्याकरण का नियम भग हो)।[२९] भारत शासन की ओर से पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण की कई योजनाऍ केन्द्रीय तथा प्रान्तीय स्तर पर चालू है। इनके अन्तर्गत विश्वविद्यालयीन स्तर के मानक और सन्दर्भ ग्रन्थ, पाठ्यपुस्तकें और महत्त्वपूर्ण तथा लोकोपयोगी पुस्तको के अनुवाद और कुछ मौलिक ग्रन्थ भी प्रकाशित हो रहे है। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय से 'पारिभाषिक शब्द-सग्रह' नाम से विज्ञानकोश और भाषाविज्ञानकोश, आदि प्रकाशित हो चुके है। इन मे भौतिकी, रसायन, गणित, वनस्पति, जन्तु और भूगर्भविज्ञान, भूगोल, आदि विषयो के पारिभाषिक शब्दो की सकलना हो चुकी है। इसी प्रकार वाणिज्यशास्त्र की भी अलग से शब्दावली बन चुकी है। इस दिशा मे भारत सरकार का वैज्ञानिक और पारिभाषिक शब्दावली स्थायी आयोग महत्त्वपूर्ण कार्य निष्पन्न करने मे सलग्न है। यद्यपि कई दिशाओ मे और कई प्रकार का पारिभाषिक शब्दावली का कार्य देश मे चल रहा है, पर यह कहना अब भी कठिन है कि हम ने इस समस्या को हल कर लिया है। क्योंकि आज भी मानक ओर सन्दर्भ-ग्रन्थों तथा मूल ग्रन्थो की कमी प्रतीत की जाती है। वस्तुतः यह समस्या दुहरी है, जिस मे हमे एक ओर दैनिक व्यवहार मे प्रयुक्त होने वाली वस्तुओ, उन के कार्यो तथा अनुभवो से सम्बन्धित शब्दावली की आवश्यकता है और दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली की भी अनिवार्य आवश्यकता है। जहाँ तक दैनिक व्यवहार की शब्दावली का प्रश्न है कोई विशेष कठिनाई नही

है। क्योंकि संस्कृत और उस से विकसित या प्रभावित सभी भाषाओं मे उन वस्तुओं, कार्यों तथा अनुभवों को व्यक्ति करने के लिए शब्द विद्यमान है। किन्तु जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों का प्रश्न है, जो बहुत समय से प्रत्येक भाषा मे प्रयुक्त होते रहे हैं और जो वैज्ञानिक सम्मेलनों की अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् की कार्यसूची में समाविष्ट है, उन शब्दों को ज्यों-का-त्यों अपनाना पड़ेगा।

इस प्रकार एक ओर पारिभाषिक शब्दावली की सरलता के लिए क्षेत्रीय भाषाओं के व्यवहार का विमर्श दिया जाता है तो दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली के प्रयोग और उपयोग की समस्या है। इसी से संलग्न भारतीय भाषाओ के लिए समान वैज्ञानिक शब्दावली का निर्माण है। इसलिए डॉ० निहालकरण सेठी शब्दो के कठिन होने की समस्या को अस्थायी और केवल नए शब्दो को अपनाने की कठिनाई मानते है। उन का कथन है कि हमे पारिभाषिक शब्दावली के लिए संस्कृत भाषा को अपनाना चाहिए। सस्कृत धातुओ से बने शब्दों को अपनाने का एक और लाभ यह है कि विज्ञान मे अनेक बुनियादी शब्द हैं, जिन की नीव पर व्याकरण की सहायता ले कर प्रत्यय और उपसर्ग लगा कर अनेक पारिभाषिक शब्द बनाए जा सकते है; जैसे—Reflection (रिफ्लेक्शन)—परावर्तन एक बुनियादी शब्द है।[20] इस मे प्रत्यय और उपसर्ग जोड कर अग्रेजी भाषा ने अनेक शब्द बना लिए। इस पद्धति को अपना कर हमे भारतीय भाषाओ मे विज्ञान की अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली के भी केवल बुनियादी शब्द ही लेने होगे, उन से व्युत्पादित शब्दो को प्रत्येक भाषा अपनी प्रकृति और व्याकरण के अनुसार बना लेगी। यह बात सच है कि हमारे देश की क्षेत्रीय भाषाएँ सजीव और गतिशील है। वे अब भी विकास के पथ पर है। उन में अभी तक बहुत कम साहित्य लिखा गया है। इसलिए पारिभाषिक शब्दावली के *निर्माण मे वे केवल शब्दो का योग-दान कर सकती है। स्वतन्त्र रूप से सभी प्रकार* के बुनियादी और सहयोगी शब्दो के निर्माण की स्थिरता अभी उन में नही है। फिर, सभी प्रान्तो के पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण के लिए भी किसी आदर्श (मॉडल) की आवश्यकता है, जो सास्कृतिक एकता बनाए रखने मे भी समर्थ हो। इस दृष्टि से संस्कृत भाषा की शब्दावली का उपयोग पारिभाषिक शब्दावली के लिए किया जा रहा है। भारतीय भाषाओ के लिए सस्कृत आकरभाषा के समान है। सस्कृत का शब्द-कोष धातुओं से सम्पन्न है। आचार्य पाणिनि ने धातुओ से शब्द-निर्वचन की पद्धति को अपनाया था। पाणिनि से पूर्व आचार्य शाकटायन का भी यही मत था कि शब्द धातुओं से बनते हैं। सस्कृत भाषा में सभी शब्द धातु-प्रत्ययो से निष्पन्न होते हैं। उपसर्गों और प्रत्ययो के योग से धातुओं के द्वारा अपरिमित शब्दो का निर्माण किया जा सकता है। कहा जाता है कि ओषधिशास्त्र के शब्दकोश मे लगभग तीस हजार शब्द है, जो १०० उपसर्गों और ३० प्रत्ययों के योग से निर्मित है।

पारिभाषिक शब्द का निर्माण करते समय विषय के मूल भाव और उस के वाचक शब्द का पूरा अर्थ व्यक्त करने वाले शब्द की ही रचना की जानी चाहिए। उदाहरण

के लिए, क्लोरीन एक हरे-पीले रंग की गैस होती है, जो मूल तत्त्व है। इतना ज्ञात होने पर हम उसे क्लोरीन ही कहेंगे। उस के लिए कोई दूसरा शब्द नहीं गढ़ सकते। इसी प्रकार ट्रान्सफॉर्मर, टेलीविजन, न्युट्रान, इलेक्ट्रॉन, डाइनामेट, प्रोटॉन, प्लुटोनियम, फॉस्फोरस, युरेनियम, रेडार, रेडियम, जनरेटर, हाइड्रोजन, पाजीट्रॉन, नाइट्रोजन, साइक्लोट्रान क्वेन्टम, आदि शब्दों को ज्यों-का-त्यों ग्रहण करना होगा। क्योंकि इन का अनुवाद नहीं हो सकता।

विज्ञान के जगत् में कुछ अदृश्य किरणों का उल्लेख किया गया है। एक्स किरणें, अल्ट्रावायलेट किरणें या गामा रश्मियाँ इसी जाति की किरणें हैं। इन नामों में से एक्स के लिए कोई शब्द नहीं दिया जा सकता, इसलिए 'एक्स-रेज' को एक्सकिरणें या एक्स रश्मियाँ ही कहेंगे। किन्तु अल्ट्रावायलट के लिए 'परा बैंगनी' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है, जो शब्दार्थ मात्र है। परन्तु 'आल्फा रेज' या 'आल्फा-पार्टिकल' के लिए संकरशब्द ही बनाना पड़ेगा—आल्फा-किरण या आल्फाकण, जो कि हीलियम परमाणु का नाभिक कहा जाता है। परन्तु मोटिव पावर (किसी यन्त्र या मशीन को चलाने वाली शक्ति) के लिए 'चालक शक्ति', 'एटम' के लिए 'परमाणु', 'डायटामिक' के लिए 'द्वि-परमाणुक', 'एनरजेटिक्स' के लिए 'ऊर्जा-विज्ञान', 'मालिक्युल' के लिए 'अणु', 'इन्ट्रा-न्युक्लर' के लिए 'अन्तःनाभिक', 'माइक्रोस्कोप' के लिए 'अणुवीक्षण यन्त्र या खुर्दबीन', 'बैलिस्टिक' के लिए 'कण प्राक्षेपिक', 'मटेरियल-वेव' के लिए 'द्रव्य तरंग', 'रेडिएशन' के लिए 'विकिरण', 'एलेक्ट्रिक चार्ज' के लिए 'विद्युत् आवेश', 'अल्केमी' के लिए 'कीमियागरी', 'सब्लिमेशन' के लिए 'ऊर्ध्वपातन', 'रिपल्सन' के लिए 'विकर्षण', 'फंगी' के लिए 'कवक' (फफूंद), 'फंगस' के लिए 'कुकुरमुत्ता', 'डायाथर्मी' के लिए 'ऊति-विद्युत्तापन', 'डिक्टाफोन' के लिए 'श्रुतभाष', 'यूनिसेक्सल' के लिए 'एकलिंगी', 'परीमीटर' के लिए 'परिधिमापक यन्त्र', 'कॉस्मिक-रेज' के लिए 'ब्रह्माण्ड रश्मि' 'केप्सूल' के लिए 'संपुट' और 'वेस्क्युलर' के लिए 'सवहनी' शब्द उपयुक्त है। जिन शब्दों को ज्यों-का-त्यों अपनाने के लिए कहा गया है, उन के लिए भी प्रयत्न करने पर कुछ शब्द गढ़े जा सकते है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली में अंग्रेजी शब्द भी चलते रहें तो कोई आपत्ति नहीं होगी। उदाहरण के लिए, इलेक्ट्रॉन नेगेटिव विद्युत् की इकाई कही गई है। इस के लिए 'ऋणविद्युत्कण', 'प्रोटॉन' के लिए 'धनविद्युत्कण', 'डायटम' के लिए 'समुद्री नरसल', 'डायाफ्रॉम' के लिए 'मध्यावरण', 'कैलोरी' के लिए 'ऊष्मा', 'क्लाइनोमीटर' के लिए 'ढालनापी यन्त्र', 'क्रैग' के लिए मिट्टीवाल-परत', 'मेस्मेरिज्म' के लिए 'सम्मोहन विद्या' शब्द का प्रयोग भलीभाँति किया जा सकता है।

डॉ० सत्यप्रकाश ने शब्दावली-निर्माण में होने वाली विविध कठिनाइयों और विभिन्नार्थों के कारणों की समस्या पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि हिन्दीभाषी साधारण जनता मनीऑर्डर, लाउडस्पीकर, रजिस्टर्ड पार्सल, आदि शब्दों का प्रचुर व्यवहार करने लगी है। जिन विदेशी शब्दों को ज्यों-का-त्यों अपना लेने का परामर्श

दिया है, उन को देवनागरी लिपि में लिखना भी साधारण कार्य नहीं है। जैसे : शुद्ध ग्लूकोस है, ग्लूकोज नहीं; एथिल, मेथिल है, इथाइल, मिथाइल नहीं; ऑक्सिजन है, आक्सीजन नहीं; प्रोटीन का शुद्ध उच्चारण प्रोटीइन है और आक्सिडेस है; न कि आक्सिडेज। इसी प्रकार ऐकेन्थेसी नहीं, ऐकेन्थेसीई है। शुद्ध उच्चारण के लिए वेब्स्टर की पुरानी डिक्शनरी देखनी चाहिए। अंग्रेजी लिपि में उच्चारण की अनिश्चितता के कारण विदेशी नामों के ठीक उच्चारण का पता चलना भी सरल नहीं है। वास्तव में, अंग्रेजी-हिन्दीकोशों में ये सभी सावधानियाँ बरती जानी चाहिए। क्योंकि विद्यार्थी और शिक्षकों के लिए शब्दकोश सब से बड़ा सहारा होता है।[३२] पारिभाषिक शब्दावली की सब से बड़ी निष्पत्ति शब्द-भेदो के अर्थ मे परिलक्षित होती है। शब्द-भेद से हमारा अभिप्राय पर्यायवाची शब्दों मे बुद्धि के द्वारा किया गया अन्तर है। ऊष्मा, ताप और गर्मी पर्यायवाची शब्द होने पर भी विशेष अर्थ के वाचक है। विज्ञान मे ऊष्मा को heat और ताप को temperature के लिए रूढ मान लिया गया है। इसी प्रकार फोर्स के लिए बल, या सैन्य, पावर के लिए शक्ति, विन्ड के लिए वायु, जक्चर के लिए सन्धि, फेबल के लिए आख्यायिका और 'गैस' शब्द 'द्रववात' के लिए रूढ़ हैं।[३३]

गत दो दशको में हिन्दी मे पारिभाषिक शब्दावली का महान् कार्य कई रूपों मे सम्पन्न हुआ और अब यह माना जाने लगा है कि यह कार्य लगभग समाप्त हो चुका है। बीसवी शताब्दी के प्रकाशित कतिपय अंग्रेजी-हिन्दीकोश निम्नलिखित हैं—

गणेश काशीनाथ काले—इंग्लिश-हिन्दीकोश, प्रकाशक-गगा विष्णु श्रीकृष्णदास, बबई, १९०८

सी० फिनौल—इंग्लिश-हिन्दी वोकेबुलेरी आव् ३,००० वर्ड्स, कलकत्ता, १९११
पापुलर इंग्लिश हिन्दी डिक्शनरी, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, १९३६

रेवरेंड एम० टी० एडम—इंग्लिश एण्ड हिन्दी डिक्शनरी, कलकत्ता, १९३९

एस० डब्ल्यू० फेलन—इंग्लिश-हिन्दुस्तानी डिक्शनरी, नया सस्करण, दिल्ली, १९५३

डॉ० रघुवीर और लोकेशचन्द्र—बृहत् अंग्रेजी-हिन्दीकोश, १९५५

डॉ० हरदेव बाहरी—बृहत् अंग्रेजी-हिन्दीकोश, प्रकाशक-ज्ञानमण्डल लि०, वाराणसी, १९६०

फादर बुल्के—अंग्रेजी-हिन्दीकोश, प्रकाशक—कैथोलिक प्रेस, राँची, १९६८

राममूर्ति सिंह—मानक हिन्दी-अंग्रेजीकोश।

डॉ० सत्यप्रकाश और बलभद्र मिश्र—मानक अंग्रेजी-हिन्दीकोश, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९७१

इन सभी शब्दकोशों में 'मानक अंग्रेजी-हिन्दीकोश' कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण तथा अब तक के प्रकाशित सभी कोशो मे उत्तम है। इस मे सभी अंग्रेजी शब्दो का सकलन प्रामाणिक स्रोतो से किया गया है। केवल सामान्य ही नही, विशिष्ट तथा पारिभाषिक शब्दो की भी सकलना इस कोश मे की गई है। अर्थ करने मे पर्याप्त सावधानी व सजगता

लक्षित होती है। अर्थ को द्योतित करने के लिए पर्याप्त संकेतों का भी उपयोग किया गया है। अन्य कोशो में मोनियर विलियम्स का 'अंग्रेजी-संस्कृतकोश' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पारिभाषिक शब्द-रचना के लिए अब भी यह कोश उपादेय है। अन्य शब्दकोश इस प्रकार है—

जगदीशशरण अग्रवाल—न्यायालय शब्द-संग्रह, १९४८

न्यायालय शब्दकोश, हिन्दी सभा, सीतापुर, १९४८

राहुल साकृत्यायन, विद्यानिवास मिश्र और प्रभाकर माचवे—शासन शब्दकोश, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, स० २००५

रामचन्द्र वर्मा और गोपालचन्द्र सिंह—आरक्षिक (पुलिस) शब्दावली, स० २००५

डॉ० रघुवीर और जी० एस० गुप्त—इंग्लिश-हिन्दी डिक्शनरी आव् एडमिनिस्ट्रेशन, १९५८

मैन्फ्रेड मैयोफर—ए कन्साइज इटिमोलॉजिकल संस्कृत डिक्शनरी, हेलिडलबर्ग, १९६३

डॉ० रघुवीर और प्रो० अन्धेलिया—वाणिज्य शब्दकोश

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल—ग्रामोद्योग शब्दावली

गोरखनाथ—राजकीय शब्दकोश, प्रकाशक सेण्ट्रल बुकडिपो, इलाहाबाद

जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी—विधि शब्दकोश

हरिहरनाथ द्विवेदी—शासन शब्द-संग्रह, विद्यामन्दिर प्रकाशन, मुरार

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी साहित्यकोश, प्रकाशक-ज्ञानमण्डल, वाराणसी।

ओमप्रकाश—सामान्यज्ञानकोश, १९७२

वाक्य-रचना

भाषा व्यवहार की वस्तु है, शास्त्र की नहीं। इसे हम परम्परा से सीखते है। शिशु जब अस्फुट ध्वनियों मे कुछ बोलने का प्रयत्न करता है तब भले ही शब्द का उच्चारण करता हो, किन्तु उस का भाव वाक्य के रूप मे प्रकट करना होता है। इसलिए वाक्य भाषा की इकाई है। व्यावहारिक दृष्टि से भाषा वाक्यों का समूह है। भाषा मे ध्वनि, पद और वाक्यों का समुच्चय समाहित होता है। भाषा के इस रूप का सम्बन्ध व्याकरण से है। प्रो० हॉल के अनुसार परम्परागत व्याकरण मे 'वाक्य-विन्यास' अध्ययन की उस पद्धति के लिए अभिहित किया जाता है, जिस मे शब्दो का प्रयोग रूप-विज्ञान के प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे किया जाता है और जो उस पद्धति का विश्लेषण करते है जिससे उनका निर्माण हुआ है।[११] यथार्थ मे वाक्य-रचना का घनिष्ठ सम्बन्ध व्याकरण से है। वाक्य मे पदो, शब्दो और ध्वनियों का क्या स्थान है, इसकी जानकारी हमें व्याकरण की सहायता से मिलती है। प्रो० रॉबिन्स ने ठीक ही कहा है कि व्याकरण वाक्यविन्यासात्मक आयाम से सम्बद्ध है, जो संघटनाओ का वर्णन तथा विश्लेषण करता है तथा उच्चार के फैलावो से जो पृथक् है। व्याकरणात्मक स्तर पर संघटनाएँ पुनरावर्तक तत्त्वो और साँचो के रूप में पृथक्कृत तथा विश्लेषित हैं, जो केवल ध्वन्यात्मक कोटियो के सन्दर्भ मे ही व्याख्या करने योग्य हैं। परम्परागत

रूप से दीर्घ रचना का ही व्याकरणात्मक विश्लेषण सम्भव है, जिसे वाक्य या सक्षम पूर्ण उच्चार कहा जाता है।[१४] सामान्य रूप से वाक्य-रचना के अन्तर्गत शब्दों के व्याकरणात्मक विन्यास का अध्ययन किया जाता है। क्योंकि वाक्यों की व्याकरणात्मक सघटना शब्दों से निर्मित होती है। परम्परागत व्याकरण शब्द की मूलभूत इकाई से निर्मित होता है। यही कारण है कि वाक्य सरलता से व्याकरणात्मक विश्लेषण की दृष्टि से दीर्घतम इकाई है और व्याकरणात्मक स्तर पर संघटना की उच्च सीमा है। वाक्य-रचना मे शब्द-योजना का ही मुख्य रूप से विचार किया जाता है। शब्दानुक्रमों के सार्थक योजन को ही संघटन कहा जाता है। उदाहरण के लिए—'राम ने फल खाया, श्याम ने भात खाया' इन दोनो वाक्यों की सघटना एक है। किन्तु सभी सघटन तत्त्वो का पारस्परिक सम्बन्ध समान नही होता। जिन तत्त्वों से संघटना की रचना होती है, उन्हे सघटक कहते है। जिन संघटको से सीधे आन्तरिक लघु संघटनो की रचना सन्निहित रहती है, उन्हे समीपी सघटक कहते हैं। किसी एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी; जैसे—राम ने रोटी नही खाई थी। यह पूरा वाक्य एक सघटना है। इसके दो समीपी सघटक हैं—'राम ने' तथा 'रोटी'। क्योंकि 'खाई थी' क्रियापद है। वाक्य मे प्रायः क्रिया प्रधान होती है। इस क्रियापद का प्रथम सम्बन्ध रोटी से है और दूसरा राम से है, जिस ने रोटी नही खाई थी। वाक्य का सम्पूर्ण विश्लेषण क्रियापद के केन्द्रानुवर्त मे होता है। क्रिया का कर्त्ता अथवा कर्म से सम्बन्ध और योजक तत्वो से उनके सयोग सम्बन्ध का विश्लेषण किया जाता है। इस दृष्टि से ऐसे ही वाक्यो मे समानता ढूँढकर उन्हे वर्गों मे नियोजित करना रचना-प्रकार का निर्धारण करना कहा जाता है। प्रत्येक भाषा मे ये भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, जिन से वाक्य मे शब्दो की स्थिति और उनके सयोग-सम्बन्ध का भलीभाँति अध्ययन किया जा सकता है।

डॉ० द्विवेदी ने मुख्य रचना के दो प्रकार माने है—अन्तःकेन्द्रिक और बहिर्केन्द्रिक। यदि कोई सघटन उसी वाग्भाग के अन्तर्गत आता हो, जिसके अन्तर्गत उस का कम-से-कम एक समीपी सघटक आता है, तो उस संघटन का रचना-प्रकार अन्तःकेन्द्रिक होगा।[१५] उदाहरण के लिए—कौए और बगुले उड रहे हैं। इस वाक्य मे 'कौए और बगुले' उच्चार मे दोनो निकटवर्ती सघटक शब्द हैं और सम्पूर्ण सघटना संज्ञात्मक है। किन्तु जब वाग्भाव के अन्तर्गत कोई भी समीपी सघटक न आता हो तब उस संघटना का रचना-प्रकार बहिर्केन्द्रिक होगा, जैसे—फल खा रहा हूँ। इस वाक्य मे पहला सघटक संज्ञा और दूसरा क्रिया है। यह सघटना वाक्य-व्यवहार मे अपने निकटवर्ती किसी सघटक का स्थानापन्न नहीं हो सकती। जब दो या दो से अधिक शब्दों मे कोई तत्त्व दुहराया जाता है तो वह अन्विति का उदाहरण माना जाता है। अन्विति उद्देश्य और विधेय मे बँटी हुई मिलती है। इसलिए प्राचीन विद्वान् उद्देश्य और विधेय को वाक्य के दो मुख्य तत्त्व मानते हैं। उद्देश्य मे जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है वह ज्ञात रहता है। किन्तु विधेय में जिसके सम्बन्ध

में कहा जाता है वह पहले से अज्ञात रहता है। इसलिए उद्देश्य पहले कहा जाता है और विधेय बाद मे। उद्देश्य का सम्बन्ध कर्त्तापद से और शेष पदो का सम्बन्ध विधेय से होता है। वाक्य मे अन्य पदो के रहते हुए भी क्रिया की प्रधानता रहती है। वाक्य का भेद कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य के रूप मे लक्षित होता है। इसलिए हिन्दी वाक्य की रचना कर्त्ता, कर्म और क्रिया के क्रम मे होती है। वाक्य मे क्रिया, कर्म, सज्ञा, आदि का जो व्यतिक्रम कहीं-कहीं लक्षित होता है, वह हिन्दी पर अंग्रेजी वाक्य-रचना का प्रभाव है। हिन्दी के वाक्य का सीधा सम्बन्ध क्रिया से है और क्रिया का सम्बन्ध कर्त्ता से। इसलिए 'मुझ से उठा नही जाता' और 'उससे लिखा नहीं जाता' भाववाच्य के उदाहरण है। इन मे क्रिया की प्रधानता है। 'उस ने पुस्तक को पढा' अथवा 'उस ने रोटी को खाया' ये दोनो ही वाक्य कर्मवाच्य है। इसलिए क्रिया कर्म के अनुसार होनी चाहिए। यहाँ पर कर्म 'पुस्तक', 'रोटी' स्त्रीलिंग हैं, इस कारण क्रिया भी स्त्रीलिंग मे होनी चाहिए। इस प्रकार वाक्य की अशुद्धता की बोधक मुख्य रूप से क्रियापद-रचना है। शुद्ध वाक्य होगा—उस ने पुस्तक पढी, उस ने रोटी खाई। भारतीय वैयाकरणो ने वाच्य से अर्थ-परिवर्तन हो जाने के कारण वाक्य मे अर्थ-सामजस्य को अनिवार्य रूप से माना है। उन का मत है कि वाक्य से ही अर्थ-ज्ञान होता है, पद या पदों से नही। वाक्य सार्थक होता है। वाक्य मे एक शब्द दूसरे शब्द की और दूसरा शब्द तीसरे शब्द की आकाक्षा रखता है। इसी प्रकार वाक्य मे सज्ञा शब्द क्रिया की और क्रिया सज्ञा की आकाक्षा रखती है। इन शब्दो मे समीपता और योग्यता भी आवश्यक है। क्योंकि बिखरे हुए शब्द और अर्थहीन पद कोई अर्थ-बोध नहीं करा सकते। इस प्रकार व्याकरण भाषा की उच्च सीमा वाक्य और निम्न सीमा रूपग्राम के मध्य गतिवान रहता है। वाक्य शब्दो और प्रत्ययों से अन्वित होते है। प्रत्यय के मुख्य दो रूप है—वाक्य मे स्थान और प्रत्यय का वाक्य से सम्बन्ध। प्रकृति और प्रत्यय दोनो के मेल से पद बनता है। कुछ भाषाओ मे प्रकृति समान होने पर भी प्रत्यय-भेद होने के कारण भिन्नता परिलक्षित होती है। भाषाओ के भेद का मूल कारण प्रकृति से प्रत्यय जोडने का ढग है। जब एक ही शब्द सम्बन्ध या अर्थतत्त्व को व्यक्त करने मे सक्षम होता है तब हम उसे निरवयव भाषा कहते है। वास्तव मे भाषा के आधारभूत तत्व है—अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व। सम्बन्धतत्त्व को आधार मान कर किया जाने वाला विभाजन आकृतिमूलक या वाक्यमूलक वर्गीकरण कहा जाता है। यह वर्गीकरण अधिक विश्वसनीय और निरापद है, क्योंकि यह वाक्य की इकाई पद के आधार पर किया जाता है। वाक्य के मुख्य दो भेद है—सावयव (Organic) और निरवयव (Inorganic)।

निरवयवी भाषा मे प्रकृति, प्रत्यय का पृथक् अस्तित्व नही होता। वाक्य मे शब्द की स्थिति ही सम्बन्ध तत्त्व को सूचित करती है। शब्द की विभिन्न स्थितियाँ ही उस मे प्रत्यय का काम करती है। इसलिए स्थान और प्रयोग के अनुसार ही एक शब्द

बिना किसी प्रत्यय के योग के संज्ञा, क्रिया, विशेषण और पदों में विभक्त हो जाता है। इस प्रकार की भाषा का सर्वोत्तम उदाहरण चीनी भाषा है। ऐसी भाषा में एकाक्षर शब्दों की अधिकता होती है। उस मे शब्द का विभाजन अर्थवान और अर्थहीन दोनो प्रकार से सम्भव है। वाक्य मे शब्दों के स्थान का तथा सुर-भेद का विशेष महत्त्व होता है। क्योकि एक ही शब्द के सुर-प्रकार के कारण कई अर्थ हो सकते है। इस भाषा का सबसे जटिल तत्त्व यही है। ऐसी भाषा मे व्याकरण का तथा रूपात्मक विकार का अभाव होता है। उदाहरण के लिए—'मै तुम्हे मारता हूँ' इस वाक्य को चीनी भाषा मे 'न्गो त नि' कहेंगे। किन्तु तुम मुझे मारते हो, इसे यों कहेंगे—नि त न्गो। केवल स्थान-परिवर्तन से ही सम्बन्धतत्त्व को प्रकट किया जाता है। इन भाषाओ मे चीनी के अतिरिक्त अनामी, स्यामी, मलय, आदि की वाक्य-रचना भी इसी तरह की होती है। अफ्रीका की सूडानी-भाषा भी इसी वर्ग के अन्तर्गत आती है।

सावयव भाषाओ मे अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व को व्यक्त करने के लिए प्रकृति (अर्थतत्त्व) और प्रत्यय (सम्बन्धतत्त्व) भिन्न-भिन्न होते है। लेकिन प्रकृति और प्रत्यय के मिलन की प्रक्रिया सभी योगात्मक सावयव भाषाओ मे समान नही होती। प्रत्येक भाषा अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार प्रत्यय से संयुक्त होती है। कभी-कभी प्रकृति और प्रत्यय परस्पर मिल कर नया रूप ग्रहण कर लेते हैं और कभी विभिन्न वाक्यांश प्रकृति और प्रत्यय से मिल कर समूह बना लेते हैं। इसी प्रकार प्रत्यय प्रकृति से सश्लिष्ट हो जाता है तथा कभी चिपक जाने पर भी उसमे कोई विकार उत्पन्न नहीं करता। इन्हीं प्रवृत्तियो के आधार पर सावयव भाषाओ मे समासप्रधान, प्रत्ययप्रधान, और विभक्तिप्रधान, इस प्रकार तीन प्रकार के वाक्य मिलते हैं।

वाक्य के प्रकार

डॉ० ज० म० दीमशित्स ने कथन के लक्ष्य के अनुसार हिन्दी मे तीन प्रकार के वाक्य माने है"—(१) प्रेरणात्मक, जैसे—अचानक वह जोर-जोर से हँसने लगी। (२) वर्णनात्मक वाक्य स्वीकारार्थक तथा नकारार्थक होते हैं, जैसे : बिना एक शब्द बोले मैं चुपचाप अपने कमरे मे आकर लेट गया। नकारार्थक : न उसे नीद आती है, न भूख लगती है। (३) दो अगो वाले वाक्य, जिन मे उद्देश्य तथा विधेय दोनो होते हैं, जैसे : चन्दना लिखती है। सामान्य रूप से वाक्य के तीन भेद किए जा सकते है—(१) साधारण वाक्य, (२) मिश्र वाक्य और (३) सयुक्त वाक्य। साधारण वाक्य उद्देश्य और विधेय से अन्वित होता है; जैसे—चन्दनबाला पढ़ती है। मिश्र वाक्य मे साधारण वाक्य के आश्रित एक या एक से अधिक उपवाक्य होते है। मिश्र वाक्य विशिष्ट अर्थ देने मे समर्थ होते है। क्योंकि उपवाक्य (जो कि साधारण वाक्य के आश्रित होता है) शब्द-भेद मे निहित अर्थ पर बल देते हैं। इसलिए जहाँ कहीं जोर दे कर कहना होता है तो ऐसे ही वाक्यो का प्रयोग किया

जाता है; जैसे : मैं कहता हूं, तुम ऐसा मत करो। सयुक्त वाक्य में दो या दो से अधिक साधारण या मिश्र वाक्य जुड़े हुए रहते हैं; जैसे : वह पढ़ता है और मैं खेलता हूँ। इस मे दोनो साधारण वाक्य है। किन्तु उस का लिखना खराब है, इसलिए अध्यापक उसे बार-बार सुन्दर लेखन के लिए प्रेरित करता है; पर वह कोई ध्यान नही देता है। इस मे एक साधारण वाक्य है और एक मिश्र वाक्य सयुक्त है।

श्लिष्टता के आधार पर वाक्य के तीन भेद किए जा सकते हैं—अश्लिष्ट, विश्लिष्ट और अविश्लिष्ट। अश्लिष्ट को वियोगात्मक भी कह सकते है। हिन्दी और अंग्रेजी इसी प्रकार की भाषाएँ है। इन मे योजक पद अलग-अलग रहते है; जैसे—वह उस पुस्तक को लेकर कल ही गॉव से लौटा है। इस मे सभी विभक्ति पद अलग-अलग है। विश्लिष्ट भाषाएँ समासप्रधान होती है। इन मे योजक पद सन्धि-रचना से समस्त हो जाते है और इन का विश्लेषण विग्रह के द्वारा अलग-अलग योजक इकाइयो मे किया जाता है। सस्कृत मे एक ही पद का समास होता है, जैसे : बाह्योद्यानस्थित-हरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्याः। किन्तु ग्रीनलैण्ड की भाषाओ मे सब शब्दो को मिला कर बोला जाता है। दक्षिण और उत्तर अमेरिका की आदिम जातियाँ इसी प्रकार की भाषाएँ बोलती है। लेकिन इस प्रकार के विरल प्रयोग प्रायः सभी भाषाओं मे उपलब्ध हो जाते है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे से गुजराती मे 'मकुजे' मकुजे = मे कहयु जे, बगला मे—तानले = ताहा ना हले (ऐसा नहीं है)। ऐसे ही प्रयोग है। अविश्लिष्ट भाषाओं मे योजक पद अशतः खण्डित हो कर इस प्रकार मिल जाते है कि उनके मूल रूपो की पहिचान करना सम्भव नही है। इन भाषाओ मे दक्षिणी अमेरिका की चैरोकी भाषा, यूरोप की बास्क भाषा और ग्रीनलैण्ड की एस्कमो पूर्ण प्रश्लिष्ट अवस्था मे है। चैरोकी भाषा का एक उदाहरण है—

नातेन = लाओ
आमोग्वल = नाव
निन = हम

इन तीनो शब्दो के सयोग से एक शब्द बनता है—'नाधोलिनिन', जिस का अर्थ है—हमारे पास नौका लाओ।

अर्थ के आधार पर वाक्य के अनेक भेद माने गए है—विधानार्थी, निषेधार्थी, प्रश्नार्थी, आज्ञार्थी, इच्छार्थी, सन्देहार्थी, सकेतार्थी, विस्मयार्थी, आदि। इसी प्रकार क्रिया-पद के आधार पर भी क्रियापदयुक्त और क्रियापदहीन (नहीं, क्यो, हाँ, आदि) के भेद से वाक्य के दो भेद किए जाते है। यद्यपि सामान्य रूप से दार्शनिक, वैयाकरण और मीमासक वाक्य मे क्रिया का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं और उसे वाक्य मे एक अनिवार्य तत्त्व के रूप मे मानते है, किन्तु नैयायिक उन से सहमत नही हैं। तात्त्विक दृष्टि से नाम और आख्यात ये ही दो पद के मुख्य विभाग है। अरस्तू तथा उनके युग के अन्य दार्शनिको ने नाम, आख्यात और सयोजक के रूप मे पद का विभाग

किया था। परवर्ती दार्शनिकों मे स्टोइक सम्प्रदाय के विद्वानों ने संयोजकों को दो रूपों (संयोजक और आर्टिकल) मे विभक्त कर पदों की संख्या चार मानी थी। किन्तु क्रिया के महत्त्व को प्राचीनों और नवीनों ने भलीभाँति स्वीकार किया है।

वाक्य-विन्यास के अध्ययन की पद्धतियाँ

वाक्य-विन्यास मे अध्ययन की कई पद्धतियाँ है। कुछ पद्धतियाँ तो केवल विशिष्ट भाषाओं के सन्दर्भ मे ही प्रयुक्त होती हैं। उन के लिए नए पारिभाषिक शब्द भाषा विशेष के सन्दर्भ में गढ़े गए हैं; जैसे कि ब्लूमफील्ड और प्रो० हॉल ने 'वाक्य-विन्यासात्मक सहसयोग' के लिए 'टेक्सीम' (taxeme) शब्द का प्रयोग किया है। वाक्यविन्यासात्मक सहसयोग उस व्याकरणात्मक रूप को प्रकट करता है, जिस से द्रुत घटक रूप व्यवस्थित किए जाते हैं। इस शब्द का सन्दर्भ व्यापक होने से सामान्य रूप से यह प्रयोग में नहीं आ सका है। इसी प्रकार प्रो० हॉल ने एक दूसरे शब्द 'एलोटेक्स' (allotax) का प्रयोग 'वाक्यविन्यास की स्थानिक भिन्नता' के लिए किया है। यह एक नए सिक्के की भाँति गढा हुआ शब्द है, जो व्याकरणिक रूप-भेद के स्थानिक विनिश्चय के लिए एक विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। ये दोनो ही पारिभाषिक शब्द अग्रेजी भाषा तथा यूरोपीय भाषाओ के वाक्य-विन्यास को ध्यान में रखकर रचे गए है। इस प्रकार के सभी पारिभाषिक शब्द वाक्यविन्यासात्मक सघटना के सूचक है, क्योंकि आधुनिकपद्धतियो मे सघटनात्मक इकाइयो का वाक्यविन्यासात्मक विश्लेषण किया जाता है। हमारे परम्परागत व्याकरण में वाक्य का विश्लेषण अन्वय के रूप मे किया जाता रहा है। अन्वय मे शब्दो को वाक्य-विन्यास के क्रम में प्रतिस्थापित कर अर्थबोध किया जाता है। सस्कृत काव्य को समझने की यही पद्धति प्रचलित रही है। सस्कृत एक समास प्रधान भाषा है, इसलिए उस मे समस्त पदावली का प्रयोग किया जाता है। इन समासो को खण्डित कर विग्रह के रूप मे अन्वय के एक क्रम से प्रस्तुत किया जाता है, जो किसी वाक्य से सम्बन्धित होते है। कई भाषाओ मे एक विशिष्ट प्रकार के वाक्यविन्यासात्मक आदर्श शब्द मिलते हैं, जिन्हे व्यवस्था (government) कहते है। इसका अर्थ यह है कि कुछ विभक्तिमूलक रूप प्राथमिक रूप से यह सूचित करने के लिए प्रयुक्त होते हैं कि वाक्य-रचना में शब्द का क्या स्थान है। जब नामिक रूप इन से सयुक्त होते है तब वे कारक कहे जाते है।[१०] सस्कृत मे कारक आठ हैं। प्राचीन भाषाओं में सज्ञा के रूप जटिल होते थे। संस्कृत की अपेक्षा हिन्दी के रूप सरल है। हिन्दी एक प्रकार से सक्रमणशील परिलक्षित होती है। यह बात निम्नलिखित साँचों के विचार करने से स्पष्ट हो जाती है।

१. हिन्दी मे संज्ञा शब्दों के दो रूप मिलते हैं, जो सघटना के अनुसार निश्चित होते हैं। परसर्ग के पूर्व। लड़के। तथा अन्य लगभग सभी स्थानों पर। लड़का। प्रयुक्त होता है। परम्परा के अनुसार इन्हें तिर्यक् तथा कर्त्ता कहा जाता है।

२. कुछ परसर्ग सीधे सज्ञा शब्दों के पश्चात् प्रयुक्त होते हैं, जैसे : वह खिड़की में से निकल कर आया। मे। मे। पर। को। का। की। के। इत्यादि। इन सभी के प्रयोग मे सघटना अकित करने के लिए दीर्घ तत्त्व समाहित है।

३. अधिकतर परसर्गों की स्थिति कारक की है। जहाँ पर वे भिन्न स्थिति मे लक्षित होते है, वहाँ वे व्याकरणात्मक शब्द हैं।

इस प्रकार ग्लीसन ने हिन्दी वाक्य-रचना के तीन प्रकार माने हैं।[34] इन में से पहला स्पष्ट रूप से कारक-पद्धति वाला है और दूसरा व्याकरणात्मक शब्द की स्थिति मे है, जहाँ शब्द ही पूरी पद्धति को प्रभावशील बनाए रखता है तथा तीसरा इन दोनो के मध्य की स्थिति वाला है।

वे० ने० लिपरोव्स्की ने हिन्दी भाषा की वाक्य-रचना का विचार करते हुए विभिन्न काल-सम्बन्धो को व्यक्त करने वाले कुछ ऐसे वाक्यो का उल्लेख किया है, जो समुच्चयबोधक अव्यय 'कि' से आरम्भ होते है।[35] उदाहरण के लिए—

१. वह कुर्सी से उठा ही था कि किसी के पैरो की आहट मालूम हुई।

२. वह थोडी ही दूर गया था कि उसे एक बहुत बडी भीड आती दिखाई पड़ी।

३. निन्नी अरने को छोड कर पीछे हटी कि नगी तलवार लिए हुए मानसिह को आते देखा।

४. सिपाही लौट कर नही आ पाए थे कि घायल का प्राणान्त हो गया।

५. निन्नी और लाखी गॉव मे पहुँची नही कि चर्चा हो उठी।

६. मै लौटने ही वाला था कि आप लौटे हुए नजर आए।

७. किसी मरीज को देख कर लौट रही थी कि यह अघट घटित हुआ।

इन मे से प्रथम वाक्य सातत्यबोधक व्यापार का निर्देशक है, जो क्रियापद के बाद 'ही' निपात से सयुक्त है। वाक्य-रचना की दृष्टि से प्रथम और दूसरे वाक्य मे बहुत कम अन्तर है। एक अन्य वाक्य की रचना को देख कर अन्तर स्पष्ट हो सकेगा; जैसे : वह अभी बाहर ही निकला था कि सामने से जीजी आती हुई दिखाई पडी। इस मे जो आकस्मिकता का भाव है, वह प्रथम प्रकार के वाक्य मे नहीं है। इसी प्रकार 'ही' का सम्बन्ध दोनो वाक्यो मे भिन्न-भिन्न है। तीसरे वाक्य मे 'कि' एक योजकपद की भॉति प्रयुक्त लक्षित होता है। इस वाक्य को हम यो भी कह सकते हैं—निन्नी अरने को छोड कर पीछे हट गई। इतने मे ही नगी तलवार को लिए हुए मानसिह दिखाई पडा। इन दोनो वाक्यो को 'कि' योजकपद के द्वारा जोडा गया है। चौथे वाक्य में स्वीकारात्मक तथा नकारात्मक कथन एक ही प्रकार के अर्थ देते हैं। प्रसादजी के एक वाक्य से यह स्पष्ट हो जाएगा—'भूख की पहली लहर वह अभी दबाने मे पूरी तरह समर्थ न हो सकी थी कि राधे आकर उसे गुरेरने लगा।' पूरी तरह समर्थ न हो सकी थी 'इसे यो भी कहा जा सकता है—पूरी तरह समर्थ ही हुई थी। इन दोनो का भाव समान है। किन्तु पॉचवॉ प्रकार इस से भिन्न है। इस मे घटित होने का भाव नकारात्मक अव्यय के द्वारा व्यक्त किया गया है। छठे वाक्य में 'लौटने ही

वाला था' या 'लौटने वाला ही था' के स्थान पर 'लौटने को ही था' या 'लौटने ही को था', लौटना ही चाहता था, लौटने लगा था, लौटने जा रहा था और लौटकर आने को था, इस प्रकार की वाक्य-रचनाएँ भी हो सकती हैं। इन सभी में कार्यान्विति की अपूर्णता है। सातवें प्रकार के वाक्यो मे ऐसे क्रिया-रूप का प्रयोग होता है, जिस में पूर्णता का लक्षण नहीं होता। एक आठवें प्रकार का भी उल्लेख किया जा सकता है, जिस में 'ज्यो ही', 'उसी समय', के स्थान पर दो क्रियापदों के बीच 'कि' का प्रयोग किया जाता है; जैसे : किसी कर्म के सम्बन्ध मे जहाँ आनन्दपूर्ण तत्परता दिखाई पड़ी कि हम उसे उत्साह कह देते हैं। (रामचन्द्र शुक्ल)

इस प्रकार उक्त सभी वाक्यों में भिन्न-भिन्न घटनाएँ हैं। कहीं भी पुनरावृत्ति नहीं है। शैली की भिन्नता के कारण वाक्य-रचना भी अलग-अलग है। अतएव ये अलग-अलग विभिन्न वाक्य-रचनाओं के द्योतक हैं।

हिन्दी में जहाँ बिना क्रियापदों के वाक्य दिखलाई पड़ते हैं, वहीं वाक्य-विपर्यय के उदाहरण भी बहुत मिलते हैं। प्रसादजी की 'तितली' में दोनो प्रकार के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं; जैसे :

और मन मे सोच रही थी अतीत जीवन की घटनाएँ। यह भला कौन-सी बात है इतनी सोचने-विचारने की। मैं तुम्हारे समीप आने का प्रयत्न कर रही हूँ—तुम्हारी संस्कृति का अध्ययन करने। उन्ही के साथ दो-तीन कहारों के भी घर बच रहे—उस छोटी-सी बस्ती मे।

उर्दू ढंग की वाक्य-रचना है :—इस पोखरी का झगडा बिना पहले का कागज देखे समझ मे नही आवेगा।

अंग्रेजी से प्रभावित वाक्य-रचना है :—यह गुरु कुल इस जीवन-यात्रा का पहला पत्थर है। जो नई भूमि तोड़ी जा रही है।

यथार्थ मे विषय के अनुसार ही वाक्य-विन्यास की सयोजना परिलक्षित होती है। हिन्दी के विभिन्न उपन्यासो में विविध प्रकार की वाक्य-रचनाएँ मिलती हैं; जैसे : मैना कहती है—'जानते हो प्रधान, जब पहले-पहल महाराज को देखा तो रक्त के प्रत्येक कण से ध्वनि निकलती जान पड़ी थी—यही तेरी चरितार्थता है।'

इसी प्रकार निराला के उपन्यास 'अप्सरा' से उद्धृत वाक्य-विन्यास है :—

अपनी देह के वृन्त पर अपलक खिली हुई, ज्योत्स्ना के चन्द्रपुष्प की तरह सौन्दर्योज्ज्वल पारिजात की तरह एक अज्ञात प्रणय की वायु से डोल उठती है।

इसी प्रकार प० माखनलाल चतुर्वेदी के 'साहित्य-देवता' के वाक्य हैं :—

सूरज और चाँद को, अपने रथ के पहिए बना, सूझ के घोड़ों पर बैठे, बड़े ही तो चले जा रहे हो प्यारे। —पितृतर्पण करने वाले अल्हड़ों को ले कर युग इस कुटी का कूड़ा साफ करने में लग जाना चाहता है।

महादेवी वर्मा के वाक्य-विन्यास का नमूना है—

जीवन के गूढ़ रहस्यों को अंशतः व्यक्त करने के लिए मनुष्य ने जिन भाषा-संकेतों का

आविष्कार किया है वे प्राय: अपनी रूढ़ परिभाषाओं की सीमा पार कर हृदय और बुद्धि के अनेक स्तरो तक फैल जाते है।

इस प्रकार एक ओर मिश्र, जटिल और सयुक्त वाक्य विन्यास हैं, जिन से विभिन्न गद्य-शैलियों प्रस्फुटित होती है और दूसरी ओर विनोदपूर्ण तथा सरल शैली मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का वाक्य-विन्यास है :—

आसमान मे निरन्तर मुक्का मारने मे कम परिश्रम नही है और मै निश्चित जानता हूँ कि रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हँसी-खेल नही है। पुस्तक को छुआ तक नही और आलोचना ऐसी लिखी कि त्रैलोक्य विकम्पित। यह क्या कम साधना है ?

(अशोक के फूल)

उनके ही वाक्य-विन्यास का एक दूसरा नमूना है—

'ब्राह्मण है न ?'

'हाँ, आर्य।'

'तेरी जाति ही डरपोक है। क्यों रे, महावराह पर तेरा विश्वास नही है ?'

'है आर्य।'

'झूठा। तेरी जाति ही झूठी है।'

(बाणभट्ट की आत्मकथा)

इस तरह सूक्ष्म भेदो के साथ कई प्रकार के वाक्य-विन्यास हिन्दी भाषा मे प्रयुक्त परिलक्षित होते है। उन सभी का यहाँ पर विवेचन करना सम्भव नही है। इस सम्बन्ध मे केवल इतना ही उल्लेखनीय है कि कहीं क्रिया-रूपो, समुच्चयबोधक अव्यय तथा निपात एव योजक पदो के द्वारा सयुक्त विशेषण उपवाक्य सहित मिश्र और जटिल ही नहीं, सरल वाक्य भी अनेक प्रकार से प्रयुक्त होते है। ब्ला० ई० गोर्युनोव ने 'जो' योजक शब्द द्वारा सयुक्त विशेषण उपवाक्य सहित मिश्र वाक्यो का वर्गीकरण करते हुए सात वर्ग निश्चित किए है।[५] उन सब के अध्ययन से यही पता चलता है कि भाषा के रूप मे प्रयुक्त अधिकाश वाक्य एक समान नही होते। उन सभी को अलग-अलग वर्गों मे विभक्त करने के उपरान्त ही उन मे भलीभाँति अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है।

सन्दर्भ-संकेत ·

१ डा० उदयनारायण तिवारी भाषा-शास्त्र की रूपरेखा, पृ० १०९।

२ प्रो० राबर्ट ए० हॉल फ्र० इन्ट्रोडक्टरी लिंग्विस्टिक्स, पृ० १२५।

३ वही, पृ० १२८ से अनूदित।

४ वही, पृ० २८।

५ मेरियो ए० पेई - ए डिक्शनरी ऑव लिंग्विस्टिक्स, न्यूयार्क, १९५४।

६. आर० एच० रॉबिन्स : जनरल लिंग्विस्टिक्स, पृ० २०६।
७. प्रो० राबर्ट ए० हॉल फ्र० : इन्ट्रोडक्टरी लिंग्विस्टिक्स, पृ० १३९।
८. वही, पृ० १४०।
९. वही, पृ० १४२।
१०. बर्नार्ड ब्लॉक एण्ड जॉर्ज एल० ट्रेगर : आउटलाइन ऑव लिंग्विस्टिक एनेलेसिस, पृ० ५६–५९।
११. एडवर्ड सेपीर : लैंग्वेज, पृ० ५७।
१२. वही, पृ० ६१।
१३. डॉ० ज० म० दीमशित्स : हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा, पृ० ९६ से उद्धृत।
१४. प० किशोरीदास वाजपेयी : हिन्दी शब्दानुशासन, पृ० ३९५।
१५. डॉ० रमेशचन्द्र जैन : हिन्दी समास-रचना का अध्ययन, पृ० ११।
१६. डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल . जयशकर 'प्रसाद' वस्तु और कला, पृ० ३७३।
१७. डॉ० ज० म० दीमशित्स हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा, पृ० २२८।
१८. डॉ० मुरारीलाल उप्रैति . हिन्दी में प्रत्यय-विचार, पृ० ३१।
१९. वही, पृ० ३२–३३ से उद्धृत।
२०. वही, पृ० ६९।
२१. वही, पृ० ७४।
२२. डॉ० हरिवल्लभ भायाणी . शब्दकथा, पृ० १५–१६।
२३. डॉ० ज० म० दीमशित्स ' हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा, पृ० २२७ से उद्धृत।
२४. मेरियो पेइ एण्ड गेफरर . ए डिक्शनरी ऑव लिंग्विस्टिक्स, न्यूयार्क, १९५४, पृ० २३३।
२५ वर्ड, जर्नल ऑव द लिंग्विस्टिक सर्किल ऑव न्यूयार्क, जिल्द २१, सं० २, पृ० २५३।
२६. माईदयाल जैन : हिन्दी शब्द-रचना, पृ० १४६।
२७. ओमप्रकाश शर्मा (स०) . भारतीय भाषाएँ और वैज्ञानिक शब्दावली, पृ० ४१ से उद्धृत।
२८. वही, पृ० ४० से उद्धृत।
२९. वही, पृ० ५७ से उद्धृत।
३० वही, पृ० ७३ से उद्धृत।
३१. डॉ० सत्यप्रकाश, बलभद्र मिश्र . मानक अंग्रेजी-हिन्दी कोश, प्रयाग, १९७१, पृ० ४३-४४, भूमिका से उद्धृत।
३२. वही पृष्ठ ४३, भूमिका से उद्धृत।
३३. राबर्ट ए० हॉल फ्र० : इन्ट्रोडक्टरी लिंग्विस्टिक्स, पृ० १९१।
३४ आर० एच० रॉबिन्स : जनरल लिंग्विस्टिक्स एन इन्ट्रोडक्टरी सर्वे, पृ० १९०।
३५. डॉ० देवीशकर द्विवेदी : भाषा और भाषिकी, पृ० ७९, ८०।
३६. डॉ० ज० म० दीमशित्स : हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा, पृ० २७३।
३७. एच० ए० ग्लीसन, जू० . एन इन्ट्रोडक्शन टु डिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक्स, पृ० १५९।
३८. वही, पृ० १६१।
३९. 'भाषा', वर्ष ८, अक २, दिसम्बर, १९६८, पृ० ४९-५२।
४०. वही, पृ० ५४-६९।

अध्ययन व विमर्श के लिए पठनीय पुस्तकें :

१. डॉ० उदयनारायण तिवारी : भाषाशास्त्र की रूपरेखा।
२. डॉ० ज० म० दीमशित्स : हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा।

३. डॉ० देवीशंकर द्विवेदी : भाषा और भाषिकी।
४. डॉ० मुरारीलाल उप्रैति : हिन्दी में प्रत्यय-विचार।
५. डॉ० रमेशचन्द्र जैन : हिन्दी समास-रचना का अध्ययन।
६. माईदयाल जैन : हिन्दी शब्द-रचना।
७. प्रो० राबर्ट ए० हॉल : इन्ट्रोडक्टरी लिंग्विस्टिक्स।
८. आर० एच० रॉबिन्स : जनरल लिंग्विस्टिक्स एन इण्ट्रोडक्टरी सर्वे।
९. ब्लाक एण्ड ट्रेगर : आउटलाइन ऑव लिंग्विस्टिक्स एनेलेसिस।
१०. एच० ए० ग्लीसन : एन इन्ट्रोडक्शन टु डिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक्स।
११. एडवर्ड सेपीर : लैंग्वेज।
१२. मारग्रेट एम० अर्नेस्ट : मोर अबाउट वर्ड्स।
१३. डी० एस० कोठारी : प्राब्लेम ऑव साइन्टिफिक एण्ड टेक्निकल टर्मिनालॉजी इन इण्डियन लैंग्वेजेज।
१४. अर्नेस्ट विकली : वर्ड्स : एन्शियेन्ट एण्ड मॉडर्न।
१५. ए० मार्टिनेट : एलीमेन्ट्स ऑव जर्नल लिंग्विस्टिक्स।
१६. एन० चोम्स्की : सिन्टेक्टिक स्ट्रक्चर्स।
१७ ई० ए० नीडा : सिन्टेक्स।
१८ सी० एफ० हॉकेट : ए कोर्स इन मॉडर्न लिंग्विस्टिक्स।

४

अर्थतत्त्व तथा शब्दकोश-विज्ञान

ध्वनि तथा अर्थतत्त्व

भाषा के सन्दर्भ मे ध्वनि से अभिप्राय भाषण-ध्वनि से है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि ध्वनियाँ या ध्वनिश्रेणियाँ सार्थक होती है। समाज के सन्दर्भ में भाषा केवल अर्थ के कारण सार्थक और महत्त्वपूर्ण है। यदि भाषा अर्थहीन होती तो मनुष्य बेमतलब इतनी जटिल वाचिक अभ्यास की पद्धति को कभी नही अपनाता। यद्यपि कुछ भाषाविदो के अनुसार सिद्धान्त रूप से बिना अर्थ-सन्दर्भ के किसी भी भाषा की रूप-रचना का विचार करना सम्भव है, किन्तु यदि यह सम्भव होता तो मनुष्य को बहुत अधिक श्रम और शक्ति नष्ट करनी पडती। वास्तव मे ध्वनियों के माध्यम से ही प्राणी मात्र भाव-प्रेषण करता है। ध्वनियों का सीधा सम्बन्ध अर्थतत्त्व से है। यदि वक्ता भाषा के ध्वनि-सयोगों के रूप और अर्थ-सादृश्य पर अवलम्बित न रहे तो एक क्षण से दूसरे क्षण मे भाव-प्रेषण असम्भव हो जाएगा।[1] इसलिए भाषा-जगत् मे केवल श्रोत्रग्राह्य ध्वनियो का ही विचार किया जाता है, जो भाषण-ध्वनियों के अनुक्रम मे अर्थ से सम्बद्ध होती है। सभी मानवीय भाषिक पद्धतियाँ मुख्य रूप से अपनी प्रकृति मे मौखिक और श्रोत्रग्राह्य होती हैं। फिर, हमारा यह अनुभव है कि भाषण-समाज में कुछ उच्चार रूप और अर्थ मे समान होते हैं। हिन्दी मे केवल 'उ, ओ' और 'वो' के उच्चारगत रूपों मे ही साम्य नहीं है, वरन् अर्थ में भी सादृश्य है। व्यवहार में भाषण-ध्वनियाँ एक प्रवाह-रूप है। अतएव वक्ता को एक सादृश्य-धारा पर अवलम्बित रहना होता है। भाषा की यह सूक्ष्म-धारा इतनी सवेदनशील और अभ्यासगत होती है कि ध्वनि-सयोगों के उच्चारों को सुनते ही अर्थगत मानस-धारा प्रवाहित हो उठती है। इसलिए भाषाओं को अभ्यासो की पद्धतियाँ कहा गया है। जिस प्रकार भाषा समाज के बीच जीती है, उसी प्रकार उस का सक्रमण भी ध्वनि और अर्थ के रूप मे होता है, जिसे उसका व्यक्तित्व कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में ध्वनि और अर्थ संश्लिष्ट रूप से रहते हैं, इसलिए भाषा में परिवर्तन इन्ही दो रूपों में होता है।

शब्द ध्वनि का पूर्ण रूप अथवा चित्र है। शब्द मे अर्थ कहीं से आता नहीं है, बल्कि उस मे से ही उद्भासित होता है। यथार्थ में शब्द की सत्ता अर्थ-बोध में निहित है। 'गुलाब' शब्द कहने से केवल गुलाब के फूल का ही नही, वरन् गुलाबी रंग का भी बोध होता है। यह अर्थ-बोध स्वयं शब्द में निहित है। वाक् और अर्थ दोनों

ही संपृक्त हैं—एक-दूसरे से अभिन्न। सामान्यतया शब्द के शब्दत्व को कान सुनता है और उस के साधुत्व को व्याकरण देखता है, किन्तु अर्थ तिल मे तेल की भाँति शब्द मे ही व्याप्त है। शब्द मे अर्थ का महत्त्व है। जिस प्रकार अग्नि के बिना सूखा ईंधन प्रज्वलित नहीं होता, उसी प्रकार अर्थ-विज्ञान के बिना शब्द-विज्ञान प्रतिभासित नहीं होता। इसीलिए कहा है कि जो मनुष्य वेदो को पढकर भी उन का अर्थ नहीं जानता, वह बोझ ढोने वाला ठूँठ मात्र है।[२]

शब्द का ज्ञान उस के अर्थ मे है। इसे वाक्‌शक्ति कहा गया है, जो जागृति में ही नहीं, स्वप्नावस्था मे भी विद्यमान रहती है। आचार्य शबर के अनुसार[१]—शब्दो का सम्बन्ध विचारों से है, मानसिक क्रिया से नहीं। क्योंकि मानसिक क्रियाएँ अनन्त हैं, इसलिए उनका सम्बन्ध स्थापित होना सम्भव नही है। भाषा के सम्बन्ध मे मनोविज्ञान और भौतिकशास्त्र ने स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य की भाषण-क्रिया के तीन भाग है—भाषण-ध्वनियॉं, ध्वनि-तरगे और शब्द रूप मे श्रोता द्वारा ग्रहण। मनोविज्ञान की शब्दावली मे भाषा मे कुछ व्यावहारिक घटनाएँ आगे-पीछे घटित होती हैं। प्रथम वक्ता के मस्तिष्क मे वस्तु-प्रत्यय विद्यमान रहता है। वह कहने की इच्छा से प्रेरित होता है और भाषण-ध्वनियो को उत्पन्न करता है, जो ध्वनि-तरगो के रूप मे प्रवाहित हो कर शब्द रूप मे श्रोता के द्वारा अधिगृहीत की जाती हैं। इस प्रकार वक्ता की उत्तेजना की प्रतिक्रिया श्रोता तक पहुँच जाती है। भाषण क्रिया अर्थवान होने से ही प्रयुक्त होती है, और इसी कारण वह महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार ध्वनि सयोगी ही नहीं, अर्थवान् भी होती है।

पाणिनिशिक्षा मे पाणिनि ने शब्द के दो रूप माने हैं—आन्तरिक और बाह्य। इसी आधार पर भर्तृहरि ने कहा कि प्राण मे अधिष्ठित और बुद्धि मे अधिष्ठित दोनों से अभिव्यक्त शब्द अर्थ का बोधक है। तब प्रश्न यह है कि अर्थ क्या है? अर्थ का बुद्धि और प्राण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सभी शब्द अपने भाव मे रहते है, जो उन का अर्थ कहा जाता है (सर्वे शब्दाः स्वेन भावेन भवन्ति, स. तेषामर्थः)। कैयट और नागेश ने अर्थ की परिभाषा इस प्रकार दी है—"जिस प्रवृत्तिनिमित्त से शब्द का प्रयोग किया जाता है, वही उस का अर्थ है।" अर्थ की गति या बोध के लिए ही वास्तव मे शब्द का प्रयोग होता है। अर्थ का बोध कराऊँगा, यह भाव शब्द-प्रयोग मे निहित रहता है। शब्द से शब्द और अर्थ दोनो की प्रतीति होती है, परन्तु अर्थ पहले से ही सृष्टि मे विद्यमान है। इसलिए शब्द अर्थ का उत्पादक न हो कर ज्ञापक या प्रतीति कराने वाला है।

शब्दार्थ-विचार

अर्थ-विज्ञान (Semantics) भाषा-विज्ञान की अन्य शाखाओं की अपेक्षा एक नई शाखा है। आधुनिक युग मे अर्थ-विज्ञान के प्रसिद्ध विचारक ब्रील (Breal) हैं। प्राचीन काल मे प्लेटो, यास्क और भर्तृहरि ने विस्तार से शब्दार्थ सम्बन्ध का

विचार किया था। अर्थ-विज्ञान के बिना शब्द-विज्ञान निरर्थक है। अर्थ-विज्ञान के विश्लेषण के तीन बिन्दु हैं: (१) शब्द और अर्थ का सम्बन्ध: शब्द नित्य है या अनित्य? (२) अर्थ किसे कहते हैं? अर्थ-विकास के क्या कारण हैं? (३) किन दिशाओं में अर्थ-परिवर्तन होता है और इन दिशाओं का आधार क्या है—भौतिक या बौद्धिक? यह भी विचारणीय है कि ये दिशाएँ बाह्य नियमो पर चलती हैं या बुद्धि के सहारे। यदि ये बौद्धिक नियमों के अनुसार गतिशील हैं तो वे नियम क्या हैं? एक प्रश्न यह भी है कि अर्थ शब्द तक सीमित हैं या आगे भी उन की गति है? इस गति का नियन्त्रण करने वाली शक्तियाँ कितनी तथा किस प्रकार की है?

बर्ट्रेन्ड रसेल ने चार प्रकार के शब्द कहे हैं[*]—कथित, श्रुत, लिखित और पठित। जब मनुष्य कोई शब्द कहता है तो हम उसे 'मौखिक उच्चार' कहते हैं। जब कोई शब्द सुनता है तो उसे हम 'मौखिक कोलाहल' कह सकते हैं। जब हम शारीरिक क्रिया के द्वारा किसी शब्द को लिखते या मुद्रित करते हैं तो वह 'मौखिक आकृति' कही जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि शारीरिक प्रवृत्तियों के द्वारा जो भी किया जाता है, वह किसी भाव या अर्थ से क्रियात्मक रूप में किया जाता है। उच्चरित शब्द की एक निर्बन्ध सत्ता नहीं है। उस के साथ जिह्वा, कण्ठ और श्वसन-नलिका की क्रियाएँ भी सयुक्त हैं। सक्षेप मे, भाषा तीन प्रकार के उद्देश्यों की पूर्ति करती है: (१) वास्तविकता का निर्देशन, (२) वक्ता की मनोदशा की अभिव्यजना, (३) श्रोता की दशा का परिवर्तन होना। इस प्रकार शब्द एक ओर शारीरिक क्रियाओ से सम्बद्ध है और दूसरी ओर विचार से। जब हम पढते हैं तो हमारे सामने केवल शब्द होते हैं, किन्तु शब्दो को पढना हमारा उद्देश्य नहीं होता। हम शब्दो को पढते हैं—अर्थ जानने के लिए। यही कारण है कि एक ही शब्द से वक्ता भिन्न-भिन्न अर्थ व्यक्त करता है। क्योंकि शब्द-प्रयोग मे शब्द मुख्य न हो कर भाव या अर्थ ही प्रधान होता है। अर्थ के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसलिए अशुद्ध या अपूर्ण शब्द के उच्चरित होने पर भी सुनने वाला कभी-कभी भाव पूरी तरह समझ लेता है, और इसीलिए वह फिर से कहने के लिए वक्ता से आग्रह नही करता। वास्तव मे शब्द और अर्थ एक ही सिक्के के दो भाग हैं। दोनों का उद्देश्य एक है। वक्ता बोलता है – अपना भाव सुनाने के लिए और श्रोता सुनता है—उस अभिप्राय को समझने के लिए। पहले मे ज्ञान शब्द बनता है और दूसरे मे शब्द ज्ञान। इसलिए शब्द और अर्थ दोनों ज्ञान से बँधे हुए हैं। वाणी और विचार में जो सम्बन्ध है, वही शब्द और अर्थ मे। शब्द विचारो का प्रतीक है। यह पूरी सृष्टि उन विचारो से अर्थात् अर्थों से सम्बद्ध है। वे सभी अर्थ शब्दों से व्यक्त होते हैं। इस तथ्य को हम भर्तृहरि की दार्शनिक भाषा मे इस प्रकार कह सकते हैं—'अर्थब्रह्म शब्दब्रह्म का विकास है।' अर्थ की शक्ति विचित्र है। वह अनेक अर्थों का बोध कराने मे समर्थ है। इसीलिए एक शब्द अनेकार्थक होता है और अनेक शब्द एकार्थक। वैयाकरणों ने शब्द और अर्थ को

एक ही आत्मा के दो रूप माने है।[5] पतञ्जलि का कथन है कि शब्दार्थ सम्बन्ध पहले से ही विद्यमान है। इस की प्रतीति लोक से होती है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। शब्द वह है, जिस का कोई अर्थ है। लोक मे अर्थ की प्रधानता है, शब्द की नहीं। अर्थ लोक से जाना जाता है। इस प्रकार शब्द के दो रूप है—उस का अपना रूप और साकेतिक अर्थ।

कात्यायन और पतञ्जलि अर्थ को नित्य मानते है, परन्तु कैयट और नागेश उसे अनित्य मानते है। वे अर्थ की बजाय अर्थ-प्रवाह को नित्य मानते है। क्योकि उन का तर्क है कि यदि एक शब्द एक ही अर्थ देता हो तो नित्य माना जा सकता है, अन्यथा नही।[6] व्यवहार मे ऐसा नियम नही है। एक शब्द के अनेक अर्थ हैं, इसलिए शब्द नित्य नही हो सकता। फिर, प्रश्न यह है कि नित्य शब्द का अनित्य अर्थ से सम्बन्ध कैसे होता है? क्योकि एक ही शब्द विभिन्न स्थितियो मे मानसिक दशा के कारण भिन्न-भिन्न अर्थों मे प्रकट होता है। इस के उत्तर मे यही कहा जाता है कि योग्यता के सम्बन्ध से नित्य शब्द अनित्य अर्थ से सम्बन्धित हो जाता है। शब्द मे अर्थबोध कराने की नित्य और अनादिकालीन योग्यता है। इसीलिए कुछ वैयाकरण शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य मानते हैं। इसी तथ्य को ध्यान मे रख कर पतञ्जलि ने प्रश्न उठाया था कि पाणिनि ने शब्द और अर्थ को नित्य मान कर व्याकरण बनाया या अनित्य मान कर? दूसरे शब्दो मे भाषा पहले थी या व्याकरण? उत्तर सीधा-सादा-सा है कि शब्दार्थ सम्बन्ध पहले से ही चला आ रहा है। क्योकि लोक मे जब अर्थ सहित शब्द का प्रयोग होता है तभी व्याकरण से उस का अनुशासन सम्बन्ध स्थापित होता है। भाषा पहले से है, व्याकरण सदा बाद मे बनता है। व्याकरण भाषा का शासन नहीं, वरन् अनुशासन करता है। भाषा के सम्बन्ध मे सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि उस मे दो प्रकार के प्रतीक हैं। दोनो ही उच्चार के सम्पूर्ण अर्थ को व्यक्त करने के लिए क्रियाशील रहते है। ये दो प्रकार के प्रतीक हैं—शब्दकोष और व्याकरणिक तत्त्व। इन प्रतीको के पारस्परिक सम्बन्ध के अध्ययन और उन के अर्थ को ही कभी-कभी अर्थ-विज्ञान कहा जाता है।[7] अर्थविज्ञान शब्द का प्राचीनतम प्रयोग महाभारत मे मिलता है।[8] वहाँ इसका अर्थ अर्थतत्त्व का विवेचन है। किन्तु अर्थ क्या है?

अर्थ से हमारा अभिप्राय इन्द्रिय के विषयभूत पदार्थ[9] से न हो कर बुद्धिगत भाव से है। शब्द जिस बुद्धिगत भाव को व्यक्त करते है, उसी को अर्थ कहते हैं। अर्थ बौद्धिक है और शब्द अर्थवान। अर्थ प्राण है ओर शब्द शरीर। अर्थ शब्द का निर्माता है और शब्द अर्थ के प्रत्यायक। यथार्थ मे शब्द-बोध की प्रक्रिया मे ही अर्थबोध के बीज निहित है। प्रतिभा, ज्ञान, अनुभव और ग्रहण-शक्ति भिन्न-भिन्न होने के कारण अर्थ का स्वरूप निश्चित करना कठिन हो जाता है। यह कठिनाई अर्थ के व्यावहारिक होने के कारण और भी अधिक बढ जाती है। क्योंकि एक ही शब्द

विभिन्न प्रकरणों या सन्दर्भों में अलग-अलग अर्थ का वाचक होता है। जब हम नाई से कहते हैं कि 'कलम काट दो' तब इस का अर्थ है—सुन्दरता के लिए कनपटी पर कुछ तिरछे लम्बे बाल काटना, किन्तु जब यही वाक्य किसी उद्यान के माली या अपने मित्र से कहते है तो प्रकरण या सन्दर्भ के अनुसार इस का अर्थ होता है—नया पौधा तैयार करने के लिए किसी पेड़ या पौधे की टहनी काटना, और जब यही वाक्य गाँव के किसी विद्यार्थी से कहा जाता है तो उसका अर्थ निकलता है कि सरकंडे या नरसल की कलम को लिखने के लिए नोक सुन्दरता से काटना। इसी प्रकार 'कलम' का अर्थ कही कलम और लेखनी है तो कही धान है और कही कनपटी के कटे हुए बाल और कहीं पेड-पौधे की टहनी है। अतएव शब्द का अर्थ वक्ता के अभिप्राय और प्रकरण या सन्दर्भ से सम्बद्ध होता है। बर्ट्रेन्ड रसेल ने वाक्य के अर्थ तक पहुँचने के लिए तीन मनोवैज्ञानिक तत्त्व माने हैं[१०]: वातावरण, उच्चारण के कारण और सुनने के परिणाम। वक्ता जिस प्रभाव की आकाक्षा करता है, वह श्रोता से सम्बन्ध रखता है। अतएव शब्द और अर्थ का सम्बन्ध दृष्टि और स्पर्श की भाँति अभ्यासगत होता है।'[११] अर्थ केवल किसी उद्देश्य से उच्चरित शब्दो को सुन कर ही सीखा जा सकता है। किसी शब्द के अर्थ को सुनने और समझने मे वक्ता की इच्छा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य निहित रहता है। यदि हम मनोवैज्ञानिक रीति से विचार करें तो अर्थ एक उद्देश्य है, जो सतुष्ट करता है। फिन्डले ने तीन महत्त्वपूर्ण विचारो का सम्बन्ध निर्दिष्ट करते हुए बताया है कि हम एक ऐसे युग से गुजर चुके हैं, जिस मे अर्थ से हमारा अभिप्राय सभी प्रकार की वस्तुओ से था। किन्तु इस युग मे जो हम ने सीखा है, वह अर्थ के सन्दर्भ मे अभिव्यक्ति है, जो उद्देश्य से सयुक्त होती है।[१२] वास्तव मे अर्थ में अभिव्यक्ति की ही प्रधानता है। अभिव्यक्ति के प्रयोग सभी ओर लक्षित होते हैं। अभिव्यक्ति उद्देश्यहीन भी हो सकती है। यही कारण है कि आगे चल कर लेखक ने शब्द के भाव और प्रकटीकरण को पर्याय रूप मे स्वीकार करते हुए एक अर्थोद्बोधन की पद्धति मे प्रकट होना माना है।[१३] क्योकि एक ही शब्द से समझ मे आने वाली एक वस्तु के अनेक कार्य या विभिन्न उपयोग होने से हम उन मे से किसी एक अर्थ का भावन करते हैं। काव्यशास्त्र की भाषा में अभिव्यजना के हेतु शब्द का प्रयोग किया जाता है। शब्द जिस लिए प्रयुक्त होता है, वह उस का अर्थ कहा जाता है। इस प्रकार अर्थ बुद्धिगत होता है, वह पहले से ही मानव के मस्तिष्क मे विद्यमान रहता है। अर्थ निरपेक्ष या अमूर्त नहीं होता। मूर्त रूप मे कोई न कोई भाव या प्रतिमा बौद्धिक रूप मे पहले अप्रकट रहती है, बाद में शब्द का साहचर्य प्राप्त कर प्रकट हो जाती है।

सक्षेप में, शब्द से अर्थ भिन्न नही है। जिस प्रकार शिव से शक्ति भिन्न नही है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं।[१४] हमे अर्थ का पता शब्द से ही चलता है। शब्द से ही अर्थ समझ मे आता है।[१५] कुमारिल का कथन है कि जब वर्ण किसी एक व्यवस्था में होते हैं तब वे अर्थ के उद्बोधक होते हैं।[१६] प्रत्येक

लघुतम इकाई वाले शब्द, धातु, रूप या पद का जो अर्थ होता है, उसे अर्थतत्त्व कहते हैं। बेली (Bally) ने अर्थतत्त्व को शुद्ध कोशगत अर्थ देने वाला एक प्रतीक माना है। वास्तव में यह श्रोत्रग्राह्य प्रतीक ही है, जो शब्द सुनते ही एक स्फोट की भाँति अपने भाव को प्रकट कर देता है। शब्द के श्रुतिगत होते ही हमें उसके अर्थ या भाव ज्ञान की जो तात्कालिक उपस्थिति होती है, उसे स्फोट कहते है। स्फोट को अर्थ का जातिरूप कहा है और ध्वनि को अर्थ का व्यक्त रूप।

संरचनात्मक अर्थतत्त्व

भाषाविज्ञान की सभी शाखाएँ दिनोदिन विकसित होती जा रही हैं। अब एक ही विषय का कई दृष्टिकोणों से कई रूपों में अध्ययन किया जा रहा है। इन सभी प्रकार के अध्ययन के लिए अनेक पद्धतियों का विकास हो चुका है। भाषा की सरचना की भाँति अर्थ की सरचना का भी विचार किया गया है। सरचनात्मक अर्थतत्त्व के अन्तर्गत अर्थविज्ञान के व्यावहारिक पक्ष वाक्य और बौद्धिक पक्ष विचार का परस्पर अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन के सम्बन्ध में चोम्स्की के विचार है : भाषाविज्ञानमूलक अध्ययन का कोई पक्ष इतना जटिल और अस्पष्ट नहीं है, जितना वाक्य-विचार और अर्थविचारगत अध्ययन का विवेचन करना है। यह स्पष्टतया स्वीकार्य है कि भाषा के आकृतिमूलक पक्ष और आर्थी पक्ष परस्पर सम्बद्ध है, वैसे ये सम्बन्ध अपूर्ण ही होते है।'[१७] वाक्य के अन्तर्गत उच्चार अर्थपूर्ण होते है। इसलिए किसी शब्द का अर्थ वाक्य का ही कोई भाग समझा जाता है। वाक्य कई शब्दों से मिल कर बनता है। इसलिए केवल आंगिक शब्दों से ही वाक्य की पूर्णता नहीं मान लेनी चाहिए। यह तीन कारणों से महत्त्वपूर्ण कहा गया है[१८] : (१) वाक्य या उच्चार में कई प्रकार के वाक्य अन्तर्हित रहते है, (२) व्याकरणिक सघटना और ध्वनिप्रक्रियात्मक आकृति, जैसे सुर-लहर के अंश का अर्थ वे स्वय प्रकट कर देते है, (३) कई शब्दों का अर्थ विशेष रूप से तभी प्रकट होता है जब वे सयोगी होते है, असयुक्त दशा में उन का कोई अर्थ नहीं होता। इस प्रकार अर्थ का विचार वाक्य के सन्दर्भ में किया जाता है, जिसे सरचनात्मक अर्थतत्त्व (Structural Semantics) कहा जाता है। वस्तुतः यह भाषा का आन्तरिक रूप है। इस के आन्तरिक रूप के अध्ययन से ही भाषा का मूल तत्त्व प्रकट होता है। ससार की सभी भाषाओं में अनेक शब्दों के सन्दर्भ और उनकी वाचकता स्पष्ट रूप से अर्थ का ही एक भाग है।[१९] यद्यपि शब्द अर्थवान होते है, किन्तु शब्द और जो कुछ कहा जा रहा है उन के बीच का सम्बन्ध निर्दिष्ट करना सरल नहीं है। सरचनात्मक अर्थविज्ञान में अर्थ से सम्बन्धित सभी तथ्यों का व्याकरणिक स्तर पर विचार किया जाता है। इस प्रकार अर्थविज्ञान का जहाँ एक ओर कोशगत शब्दार्थ की समस्याओं से सम्बन्ध है, वहीं दूसरी ओर वाक्यगत योजना से। प्रत्येक शब्द—इकाई का कोई न कोई अर्थ माना जाता है, किन्तु यदि हम कहें कि 'यह चमसकूँ चमसता है' तो व्याकरणिक दृष्टि से वाक्य-

योजना साधु होने पर भी अर्थपूर्ण नहीं होगी। यह बात अलग है कि कालान्तर में 'चमस' शब्द निर्बाध रूप से लोक और साहित्य में लड्डू, पापड़ या किसी अन्य खाद्य पदार्थ के लिए प्रयुक्त होने लगे। परन्तु अभी तो वह केवल कोशगत अप्रसिद्ध शब्द है। साधारणतया लोग यह समझ भी नहीं सकते कि वास्तव में यह कोई शब्द है। हिन्दी वाले इसे कृत्रिम शब्द ही कहेगे। इसी प्रकार कोई 'हिरा' शब्द का प्रयोग करे तो कोश मे भी इस का कोई अर्थ नही मिलेगा या मिलेगा तो अभिप्रेत अर्थ नही होगा। क्योकि हो सकता है कि हम 'शिरा' के पुराने संस्कृत नाम के लिए इस शब्द का प्रयोग न कर किसी वस्तु के खो जाने के लिए 'हिरा गई' शब्दो का प्रयोग करते हों। इन शब्दो को सुनते ही बुन्देल और ब्रज के लोगो को तुरन्त अर्थबोध हो सकता है। परन्तु यह भी सम्भव है कि ऐसा कोई शब्द हो, जिस का अर्थ हम भी न जानते हों तो व्याकरण की दृष्टि से वह ठीक होने पर भी अर्थ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण न होगा। व्याकरण केवल शब्द के नाम-रूप का ही विचार कर सकता है। कोश अपनी सकलना मे लोक तथा साहित्य से सकलित शब्दार्थ को व्यक्त कर सकता है। किन्तु अर्थ व्याकरण और कोश के सम्बन्ध, उस के मूल तथा गौण अर्थ, शब्दार्थ और उस के सम्बन्ध आदि का सरचनात्मक अर्थतत्त्व के अन्तर्गत विचार करता है।

अर्थ की सांकेतिक प्रक्रिया

प्रत्येक शब्द मे अर्थ का कोई चित्रात्मक रूप या सकेत निहित रहता है। इस संकेत की प्रक्रिया मानसिक या बौद्धिक होती है। क्योंकि वस्तु को देख कर उस की चित्रात्मक रचना मानस-पटल पर होती है। एक अबोध शिशु जो बोलना नही जानता, वह भी विभिन्न वस्तुओ के सम्पर्क मे आता है और उसे भी उन वस्तुओ का एक प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है। किन्तु उसका सम्पर्क वस्तु का वस्तु से दृश्यात्मक संसर्ग होता है। वह आँखो से देखता है और मन मे वस्तु का चित्र बना लेता है। इसलिए उस की भाषा चित्रात्मक और वाक्हीन होती है। किन्तु शब्दो को बोलने और समझने मे समर्थ बालक की भाषा प्रतीकात्मक, उच्चारयुक्त और सार्थक होती है। इसलिए 'आनन्दभवन' कहते ही प्रयागस्थित प० मोतीलाल नेहरू की उस इमारत का ही स्मरण नहीं होता है, वरन् नेहरूजी की भी स्मृति साकार हो उठती है। इसी प्रकार 'रवीन्द्र नाट्यगृह' कहते ही सास्कृतिक कार्यो से सम्बद्ध सुन्दर भवन ही आँखों के सामने नहीं छा जाता, वरन् उसके साथ सयुक्त विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर भी स्मृति-पथ पर आ जाते है। इसी प्रकार किसी का नाम सुनते ही उस से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु का भी ज्ञान हो जाता है। यह शब्द तथा अर्थ के पारस्परिक विशेष सम्बन्ध के कारण प्रतिफलित होता है। काव्यशास्त्र मे इसे ही अभिधा नाम की शब्द-शक्ति माना गया है। अभिधा को समझने के लिए शास्त्र मे आठ साधन बतलाए गये हैं[०]—व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवरण और सिद्धपद का सान्निध्य। इन सब मे व्यवहार को सब से मुख्य साधन कहा गया है। व्यवहार या अनुभव से

ही शब्द को सुन कर अर्थ का संकेत होता है, जैसे : कोई मेरे पास आ कर कहता है कि मैं गवय लाया हूँ, क्या तुम खरीदना चाहते हो ? यह वाक्य सुनते ही मै विचार में पड जाता हूँ कि 'गवय' किस वस्तु का नाम है। यह शब्द ही आज सुना है। किन्तु यदि वह 'गवय' शब्द के स्थान पर 'गाय' कहता है तो तुरन्त अर्थ संकेतित हो जाता है, क्योंकि गाय को प्रतिदिन देखते है। उस का शब्दात्मक चित्र पहले से ही मन में विद्यमान है। इसलिए बुद्धि उस के अर्थ का भावन करने मे समर्थ है, किन्तु 'गवय' शब्द में किसी प्रकार का शब्द-प्रतीक उद्बुद्ध नही होता। अतएव यह कहा जाता है कि 'गवय' शब्द मे अर्थ संकेतित नहीं होता। कभी-कभी वस्तुओ को देखे बिना भी उनके सम्बन्ध मे जानकारी मिल जाती है। इस जानकारी को भी अनुभव कहा जाता है। इसीलिए 'ह्वाइट हाउस' का नाम सुनते ही हमारे सामने केवल वाशिंगटन का सुसज्जित राष्ट्रपतिभवन ही स्पष्ट नही हो उठता है, वरन् पहली बार अमरीका के भूतपूर्व राष्ट्रपति केनेडी के साथ मिलते हुए भारत के स्व० प्रधान मन्त्री प० जवाहरलाल नेहरू की स्मृति भी सजीव हो जाती है; जिस चित्र मे दोनो महान् नेताओ को एक साथ उस ह्वाइट हाउस की वीथियो मे चलते हुए देखा था। दूसरे शब्दों मे हमारा अनुभव भी शब्दो के साथ चित्र की भॉति सम्पृक्त रहता है। इसे हम शास्त्र की भाषा मे 'बोध्यबोधकभाव' और आधुनिक भाषा मे अर्थ की सांकेतिक प्रक्रिया कहते हैं।

अर्थ की सांकेतिक प्रक्रिया तीन प्रकार की कही गई है—अभिधा, लक्षणा और व्यजना। इन्हे शब्दशक्ति भी कहा जाता है। शब्द अर्थ-बोध का साधन मात्र है। इसलिए वह अर्थ का प्रतीक है। अर्थ-भेद से शब्द-भेद भी हो जाता है। अतएव तीन प्रकार की अर्थो की कल्पना के आधार पर शब्द भी तीन प्रकार के माने जाते हैं, जैसे : वाचक, लक्षक और व्यजक। जिन वृत्तियो के द्वारा इन अर्थों की प्रतीति होती है, वे भी तीन है। नागेश के अनुसार इन के नाम है—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। नागेश भट्ट अभिधा को ही शक्ति मानते है। परन्तु आचार्य विश्वनाथ का कथन है कि वृत्ति ही शक्ति है। सामान्यतया अभिधा, लक्षणा और व्यजना के कल्पित सम्बन्धविशेष को शक्ति कहते हैं।

शब्द-शक्तियाँ तथा अर्थतत्त्व

शब्द और अर्थ मे जो वाच्य वाचक सम्बन्ध है, उसे नियमित करने वाली शक्ति का नाम अभिधा है। अलंकारशास्त्र मे 'शक्ति' शब्द का प्रयोग केवल अभिधा के लिए हुआ है। शब्द-शक्ति कहते ही यह प्रश्न उठ खडा होता है कि यह शक्ति शब्द मे ही क्यो मानी जाती है, अर्थ मे क्यो नही ? इस के चार-पॉच कारण कहे जा सकते हैं। प्रथम अर्थ स्वय शब्द मे रहता है। शब्द शरीर है और अर्थ प्राण। शब्द पार्वतीस्वरूप है और अर्थ शिवरूप। एक शक्ति प्रधान है तो दूसरा चैतन्यप्रधान। शब्द अर्थ को धारण करता है, इसलिए वह शक्ति रूप है। दूसरे, अर्थ किसी अर्थ के भीतर से नहीं निकलता। शब्द से ही अर्थ स्फुटित होता है। उच्चार की दृष्टि से

पहले शब्द का उच्चारण किया जाता है तब अर्थ का बोधन होता है। तीसरे, अर्थ अनुभूति प्रधान है, किन्तु शब्द स्फोट मात्र है। स्फोटगत प्राकृत ध्वनियों से ही शब्द-सृष्टि होती है। इस प्रकार बुद्धितत्त्व में शब्दतत्त्व पहले से ही प्रतीक या चित्र रूप में विद्यमान रहता है। चौथे, व्यवहार शब्द का होता है, अर्थ का नहीं। पठन या श्रवण के रूप में शब्द पढ़े-सुने जाते है, अर्थ नही। अर्थ तो हमारे मन में पहले से ही विद्यमान रहता है, केवल शब्दों को सुन कर उद्बुद्ध हो जाता है। पाँचवें, अर्थ से शब्द के उत्पन्न होने पर भी शब्द को अर्थ का उत्पादक माना जाता है। जिस प्रकार जननी पुत्र को उत्पन्न करती है, किन्तु लोक मे पुत्र का जन्म-दाता पिता माना जाता है, इसी प्रकार लोकप्रसिद्धि है कि शब्द अर्थ को उत्पन्न करता है।

यद्यपि प्राचीनों ने शब्द-शक्तियाँ तीन प्रकार के अर्थों के कारण तीन ही मानी हैं, किन्तु ये शक्तियाँ चार माननी चाहिए। अभिधा, लक्षणा और व्यजना के अतिरिक्त हम अन्विता नाम की एक चौथी शब्द-शक्ति भी मानते है। क्योंकि जितने तरह के अर्थ माने जाते है, उन के अतिरिक्त भी कुछ ऐसे वचन-व्यापारो का व्यवहार किया जाता है, जो भिन्न शब्द-शक्ति से अन्वित होते हैं।

अभिधा

साक्षात् सकेतित अर्थ को अभिधा कहते हैं। अभिधा से जिस अर्थ का सम्बन्ध होता है, वही उस शब्द का मुख्य अर्थ या संकेतित अर्थ कहा जाता है। यह भी ध्यान मे रखने योग्य है कि जिस अर्थ से अभिधा का सम्बन्ध होता है, उस की ही उस से प्रतीति होती है; अन्य अर्थ की नही। अभिधा इच्छा आदि रूप नही है। यह एक शब्द-शक्ति है। इस से जिस अर्थ का बोध होता है, उसे वाच्य अर्थ कहते है। अभिधाशक्ति के द्वारा अर्थ का बोध कराने वाला शब्द वाचक कहलाता है। वास्तव मे अभिधा मे तीन तत्त्व है : अभिधान (शब्द), अभिधेय (अर्थ) और अभिधा (शक्ति)। इन तीनों का सम्पृक्त रूप अभिधा है। अभिधा शक्ति शब्दार्थ-सम्बन्ध को नियन्त्रित करती है। इसलिए अभिधा का जिस अर्थ से सम्बन्ध होता है, उसे ही वक्ता और श्रोता समझता है। इस मे शब्द का अर्थ से जो सम्बन्ध है, वही उस का नियामक है। यदि ऐसा न हो तो सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक हो जाएँगे। तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि शब्द मे अर्थ का नियन्त्रण कैसे हुआ ? यथार्थ मे प्रत्येक पदार्थ में अनादिकाल से कोई न कोई योग्यता विद्यमान है। द्रव्य गुण से अभिन्न है। शब्द मे भी अर्थ-बोध कराने की शाश्वत योग्यता वर्तमान है। इसलिए हम जिस शब्द का उच्चारण करते हैं, वह उसी अर्थ वाला नही होता, जिस अर्थ में हम उसका प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए, 'वह गुलाब के समान है' कहने पर न तो वह सुख-दुःख दोनों देने वाला है; जैसे : गुलाब के फूल के साथ काँटे भी रहते हैं और न वह गुलाब के जैसा हँसमुख है और न ही उस जैसे आकार का है, किन्तु वह गुलाब जैसे रंग का है—यह अर्थ अभिधा से प्रकट होता

है। जिस समय अभिधा इस नियत अर्थ को बताती है उस समय दूसरे अर्थों की प्रतीति कराने की शक्ति पर प्रतिबन्ध न लगा कर उन्हें गौण कर देती है। इसे ही हम यों कहते हैं कि अभिधा मुख्य साकेतिक अर्थ का अभिधान करती है। इसी साकेतिक अर्थ को मुख्यार्थ कहते हैं। अभिधा शक्ति योग्यता सम्बन्ध के आधार पर नियत अर्थ को प्रकट करती है। जिस प्रकार शरीर में हस्त, पाद, आदि अगो के रहने पर भी मुख पहले लक्षित होता है, उसी प्रकार दूसरे अर्थो के विद्यमान रहने पर भी अभिधा से पूर्व संकेतित अर्थ का बोध होता है। यही मुख्यार्थ कहलाता है। इस मुख्यार्थ के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का व्यवधान नही होता। 'चिडिया चहक रही है' सुनते ही अर्थ का बोध हो जाता है। परन्तु प्रश्न यह है कि यह संकेत किस मे होता है? महर्षि पतजलि का कथन है कि यह संकेत जाति, गुण और क्रिया मे होता है।[११] इसीलिए उन्होने तीन प्रकार के शब्द माने है—जातिवाचक, गुणवाचक और क्रिया-वाचक। परन्तु इन के अतिरिक्त ऐच्छिक शब्द भी है, जिन मे सकेत होता है। ये दो प्रकार के है—जातिवाचक और व्यक्तिवाचक। हर्मन पॉल का मत है कि शब्द का जनक व्यक्ति है। किन्तु कात्यायन और पतजलि ऐच्छिक शब्दो को नही मानते। वास्तव मे प्रत्येक शब्द मे मुख्य रूप से दो ही अश रहते है—गुण और क्रिया। गुण या क्रिया के सादृश्य पर ही हमारा वचन-व्यापार चलता है। इसलिए जब हम यह कहते है कि 'वह मुख चन्द्रमा के समान है' तो हमारा उस से अभिप्राय न तो श्वेत वर्ण के मुख से होता है, न चन्द्र की भॉति पूर्ण वर्तुलता से होता है और न उसकी गमनशीलता मे ही कोई अर्थ होता है। केवल गुण की समानता के आधार पर चन्द्रमा के समान शीतलता या सुख प्रदान करने के कारण उसे चन्द्र की भॉति कहते हैं। इस प्रकार अर्थ-बोध मे गुण या क्रिया की मुख्यता रहती है। यहॉ पर यह प्रश्न करना उचित न होगा कि गुण और क्रिया दोनो अदृश्य है, इसलिए इन से अर्थबोध कैसे हो सकता है? गुण से यहॉ अभिप्राय 'रसविशिष्ट गुण' अर्थात् आत्मा का गुण न हो कर शब्दार्थ मे रहने वाला सामान्य धर्म है। अतएव हमारे कहने के जितने ढग हो सकते हैं, उतने ही अलकार। अलकार के मूल मे गुण और क्रिया मे से किसी एक का सादृश्य वर्णित या व्यजित रहता है। इस सकेत को हम मुख्य रूप से लोक व्यवहार, व्याकरण, कोश तथा काव्यशास्त्र से प्राप्त जानकारी के आधार पर पहचानते हैं।

लक्षणा

शब्द-शक्तियो मे लक्षणा का अत्यन्त महत्त्व है। लक्षणा अभिधा से विपरीत कही जाती है, किन्तु लक्षणा मे अभिधा का योग रहता है। अभिधा मे शब्दार्थ का सम्बन्ध वाच्यार्थ रूप मे कहा जाता है। लक्षणा मे वाच्यार्थ का सम्बन्ध लक्ष्य रूप मे निरूपित किया जाता है। इस मे मुख्य अर्थ की प्रतीति नही होती। इसलिए लक्षणा का मुख्य लक्षण है—मुख्य अर्थ का बाधित होना। जिस अर्थ के समझने मे मुख्य अर्थ बीच मे पडता है उसे लक्ष्यार्थ कहते हैं। जिस प्रकार अभिधा से ज्ञात अर्थ वाच्यार्थ कहा

जाता है, उसी प्रकार लक्षणा से ज्ञात अर्थ लक्ष्यार्थ कहलाता। है लक्ष्यार्थ के रूप में अन्य अर्थ का जो लक्षित होना है, उसे ही लक्षणा कहते हैं। यह अन्य अर्थ आरोपित होता है। वास्तव में मुख्य अर्थ में बाधा पड़ती है, यह केवल प्रतीति मात्र है। अतएव पण्डितराज जगन्नाथ अभिधा के द्वारा बोध्य अर्थ के पदार्थ के साथ सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं।[२] यह सम्बन्ध भिन्न भिन्न स्थान पर भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है। यह सम्बन्ध शब्द और अर्थ दोनो मे रहता है। 'कौओं से दही की रक्षा करें' इस का अर्थ यह नहीं है कि केवल कौओ से दही को बचाएँ, कुत्ते-बिल्ली आदि से नही। यहाँ पर कार्य-कारण सम्बन्ध माना जाता है। अतएव रूढि से या प्रयोजन से अथवा अन्य अर्थ के आरोप से या कार्य-कारण सम्बन्ध से मुख्य अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति जो वृत्ति कराती है, उसे लक्षणा कहते है। उदाहरणार्थ—

झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी नीरद माला,
पाकर इस शून्य हृदय को
सब ने आ डेरा डाला।

(आँसू) —जयशंकर 'प्रसाद'

यहाँ पर कवि यह वर्णन कर रहा है कि मेरे हृदय को झझावात, बिजली और बादलों ने घेर लिया है; किन्तु हृदय को घेरने का काम इन प्राकृतिक उपमानों से नही हो सकता। इसलिए 'झझा झकोर'का लक्ष्यार्थ तीव्र वेदना से उत्पन्न भावो का वह तूफान है, जो हृदय को झकझोर रहा है। इसी प्रकार 'बिजली' का अर्थ तडपन या कसक और 'नीरदमाला' का लाक्षणिक अर्थ निराशा का वातावरण है। इस प्रकार अभिधा के द्वारा हम पहले वाच्य अर्थ को समझते हैं, किन्तु जब तात्पर्य स्पष्ट नही होता तब परम्परा-सम्बन्ध से या वाच्य अर्थ के सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ को जानते है। अब यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि किन कारणों से लक्षणा होती है? पहला कारण है—वक्ता का अभिप्राय न निकलना। दूसरा कारण है—रूढ़ि (प्रसिद्धि) और तीसरा कारण है—प्रयोजन। इस प्रकार वक्ता के तात्पर्य के अनुकूल मुख्यार्थ न होने से और उस अर्थ मे शब्द की 'प्रसिद्धि' तथा 'प्रयोजन' इन दोनों में से किसी एक के न होने से लक्षणा नही हो सकती।

व्यंजना

अभिधा और लक्षणा किसी प्रसिद्ध अर्थ को ही साक्षात् या परम्परा-सम्बन्ध से समझाती हैं, किन्तु अप्रसिद्ध अर्थ का बोध कराने मे वे समर्थ नहीं हैं; परन्तु व्यंजना का दुहरा कार्य है। वह दोनों प्रकार के अर्थों की बोधक है। व्यंजना के द्वारा प्रतिपादक शब्द और अर्थ व्यंजक कहलाते है। व्यंजक को ध्वनि भी कहते हैं। काव्यशास्त्र मे ध्वनि-काव्य को उत्तम-काव्य माना गया है। जहाँ पर वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ प्रधान होता है, उसे ध्वनि-काव्य या उत्तम-काव्य कहते हैं।[१] जिन

शब्दों से या अर्थों से अन्य अर्थ ध्वनित होते है, वे व्यजक अर्थ सभी पक्षों मे समान होते है। व्यंग्य में चमत्कार की मुख्यता होती है। चमत्कार को ही काव्य की रमणीयता कहा गया है। रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं।[6] जिस के ज्ञान से लोकोत्तर आनन्द मिलता है, वह अर्थ रमणीय है। आचार्य आनन्दवर्द्धन के अनुसार जिस शक्ति के द्वारा वाच्य अर्थ से रमणीय अर्थ प्रतिभासित होता है, उसे व्यंजना कहते हैं।[1] यह रमणीय अर्थ दो रूपो मे प्रतिभासित होता है—वाच्य और प्रतीयमान। यद्यपि अर्थालकारो मे भी व्यंग्य होता है, किन्तु वह गुणीभूत होता है। इसलिए उन मे उतना चमत्कार नही पाया जाता। यहाँ पर यह ध्यान मे रखने योग्य है कि अभिव्यजना अलकार, बिम्ब और प्रतीक से भिन्न है। जहाँ वाच्यार्थ के साथ व्यग्यार्थ ध्वनित होता है, वही अभिव्यजना होती है। 'प्रसाद' जी के लहर काव्य का एक उदाहरण है—

ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक! धीरे-धीरे!
जिस निर्जन मे सागर-लहरी, अम्बर के कानो मे गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे!

यहाँ पर कवि का वाच्यार्थ है—'हे नाविक! इस शोर-गुल मे भरे हुए स्थान को छोड कर ऐसे शान्त और एकान्त स्थान मे मुझे ले चल, जहाँ केवल सागर की लहरें आकाश की ओर उछलती हुई अपना प्रेम सगीत सुनाती हो।' किन्तु वास्तविक अर्थ इस से भिन्न है, जो केवल प्रतीयमान है। विधाता की इस अपूर्ण सृष्टि से विरक्त हो कर कवि की कल्पना उस आनन्दलोक की ओर सकेत करती हुई कहती है कि हे मनुआ! इस लोक के उस पार ले चल, जहाँ सदा विशुद्ध प्रेम और आनन्द की सृष्टि होती रहती है। यह व्यग्यार्थ है।

अन्विता

शब्द में अभिधा, लक्षणा और व्यजना के अतिरिक्त एक अन्य वृत्ति भी रहती है, जिसे अन्विता कहते है। इस अन्विता-शक्ति से अन्वयार्थ का बोध होता है। अन्वयार्थ का सम्बन्ध पूरे वाक्य और उस के सन्दर्भ से होता है। यह सभी अर्थों से भिन्न प्रकार का है। उदाहरण के लिए:

सूख रही है बोटी-बोटी,
मिलती नही घास की रोटी।

(हुकार)

राष्ट्रकवि दिनकर जी ने इन पक्तियो मे 'घास की रोटी' कह कर जिस अभिप्रेत अर्थ की ओर सकेत किया है, वह न तो अभिधा और लक्षणा से सकेतित हो रहा है और न व्यजना से ही अभिव्यक्त; क्योकि सामान्यतया घास की रोटी कही बनती नही है। इसलिए वाच्य अर्थ प्रकट नहीं होता। लक्ष्यार्थ के रूप मे यदि यह समझा जाए कि उन्हे खाने के लिए अनाज की रोटी तो दूर रही, घास तक की रोटी नही मिलती तो यह अर्थ कवि रचना के विपरीत है; क्योंकि घास की रोटी के साथ

इतिहास की एक करुण एवं मार्मिक घटना संयुक्त है। जब अकबर की सेनाओं ने चारों ओर से हल्दीघाटी को घेर लिया, तब अरावली की कन्दराओं में विचरते हुए महाराणा प्रताप ने खाने-पीने की सभी सामग्री के चुक जाने पर घास की रोटियाँ खा कर मातृभूमि के लिए अपना सर्वस्व त्याग कर दिया, किन्तु अकबर के सामने अपने घुटने टेक कर स्वाभिमान का समर्पण नहीं किया। यह अर्थ एक राष्ट्रीय सन्दर्भ से जुडा हुआ है, जो किसी शब्द-शक्ति से अभिव्यंजित नहीं होता, किन्तु अन्वित अवश्य है। यह अन्विताशक्ति एक प्रकार की विशिष्ट अभिधा अवश्य है। जहाँ कहीं वाच्यार्थ की पूर्ण प्रतीति नही होती, वहाँ लक्षणा तो समर्थ होती ही नहीं; व्यजना भी वाच्य या प्रतीयमान अर्थ को जब व्यक्त नहीं कर पाती, तब अन्विताशक्ति अन्वयार्थ का बोध कराती है। इस अन्वयार्थ का सम्बन्ध ऐसे प्रतीकों से है, जो अप्रसिद्ध हैं या किन्हीं विशिष्ट सन्दर्भों से अनुबद्ध है। अतएव अन्विता वह शब्दशक्ति है, जो वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्यार्थ से भिन्न अन्वयार्थ को प्रतीको के माध्यम से किन्हीं विशिष्ट सन्दर्भों में प्रकट करती है। इसे और स्पष्ट रूप से समझने के लिए 'युग की गगा' जैसे प्रतीक मात्र के कहने से अन्विताशक्ति नही हो जाएगी; क्योंकि वह प्रतीक से भिन्न है और पूरे वाक्य मे अन्वित प्रतीक-सन्दर्भगत अर्थ का बोध कराने वाली है। इसलिए 'युग की गगा' क्रान्तिकारी, प्रगतिशील, समाजवादी या किसी आध्यात्मिक चेतना की प्रतीक हो सकती है, जिस का अर्थ-बोध हमे केवल वाक्यगत सन्दर्भ से ही हो सकता है। अभिधा और अन्विता मे केवल एक ही बात की समानता है कि दोनो मे अर्थ सन्दर्भगत होता है, किन्तु अन्विताशक्ति का सन्दर्भगत अर्थ विशिष्ट एवं पूर्ण प्रतीकात्मक होता है, यही इन दोनो मे अन्तर है।

अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ

भाषा मे शब्द और उनके अर्थों मे परिवर्तन होते रहना स्वाभाविक है। शब्द की अपेक्षा अर्थ मे व्यापकता अधिक है; क्योकि मनुष्य अनेक बार शब्द-प्रयोग के बिना भी अक्षि-सकोच, पाणि-विहार और शिर-चालन, आदि सकेतो के माध्यम से भी अपने मनोभावो को व्यक्त करता है। इसलिए शब्द की अपेक्षा अर्थ में परिवर्तन अधिक शीघ्रता से होते है। भाषिक रूपों मे कोई भी ऐसा अश नही है, जिस मे परिवर्तन न होता हो; किन्तु शब्द स्थूल होते हैं और अर्थ सूक्ष्म। अर्थ सूक्ष्म और बौद्धिक होने पर भी निश्चित दिशाओ मे बदलते हैं। यह स्पष्ट है कि अर्थ-परिवर्तन में मुख्य रूप से नियोजित होने वाला मानव-मस्तिष्क है। और इसीलिए किसी शब्द के अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ नियत नहीं की जा सकतीं, परन्तु जितने प्रकार के परिवर्तन घटित होते हैं, उन्हे वर्गीकृत किया जा सकता है। अपने गम्भीर अध्ययन के परिणामस्वरूप ब्रील ने अर्थ-विकास की प्रमुख तीन दिशाएँ मानी है : अर्थ-विस्तार (Expansion of meaning), अर्थ संकोच (Contraction of meaning) और अर्थादेश (Transference of meaning)। भर्तृहरि का भी यही मत है।

अर्थ-विस्तार—जब सामान्य शब्द विशेष अर्थ में और विशिष्ट शब्द सामान्य अर्थ मे प्रयुक्त होता है, तब अर्थ-विस्तार हो जाता है। अर्थ के विस्तार के कारण अर्थ अपने शाब्दिक अर्थ से अधिक बढ जाता है। भर्तृहरि ने बहुत विस्तार के साथ इस का विचार किया है। उन का कथन है कि विशेष की अविवक्षा और सामान्य की विवक्षा से प्रायः अर्थ-विस्तार हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि जब सामान्य रूप से कथन की प्रवृत्ति मुख्य होती है, तब अर्थ का प्रसार अनिवार्य हो जाता है; उदाहरण के लिए : संस्कृत मे प्राचीन काल मे 'तेल' शब्द का अर्थ था—तिल का द्रवित सार पदार्थ (तिल का तेल)। बाद में सरसो, मूँगफली, महुआ, अलसी, आदि कई पदार्थों का तेल निकलने लगा। युग-युगो मे वस्तुएँ और उन के द्रवित सार अश बदलते रहे, किन्तु 'तेल' शब्द ज्यो का त्यो बना रहा, क्योंकि सामान्य कथन की प्रवृत्ति बराबर बनी रही। यह सामान्य कथन की प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ गई कि हम 'घासलेट' या 'मिट्टी के तेल' को भी तेल कहने लगे और जब मनुष्य काम करते-करते थक कर चूर हो जाता एव उस का पसीना निकल जाता, तब हम कहने लगते कि 'उस का तो तेल निकल गया।' इसी प्रकार के अन्य उदाहरण हैं—प्रवीण, कुशल, गवेषणा, निपुण, गवाक्ष और स्याही, आदि। पहले वीणा बजाने मे सिद्धहस्त को 'प्रवीण' कहते थे। किन्तु अब उस से निपुणता का बोध होता है। इसी प्रकार किसी फॉस या खरोच के लगे बिना कुश को उखाड लाने वाला पहले कुशल माना जाता था। अब किसी भी कार्य मे दक्षता पाने वाले को 'कुशल' कहा जाता है। पहले गाय को ढूँढ लाने को 'गवेषणा' कहते थे, किन्तु आज सभी प्रकार के शोध-अनुसन्धान को 'गवेषणा' कहा जाता है। इसी प्रकार किसी समय विशेष पुण्य कमाने वाले को 'निपुण' कहते थे, परन्तु आज वह चतुराई का वाचक है। 'गवाक्ष' पहले गाय की ऑख को कहते थे। बाद मे इस का अर्थ झरोखा और आज खिड़की प्रचलित हो गया है। इसी तरह 'स्याह' का अर्थ काला और 'स्याही' का अर्थ काली स्याही था; किन्तु आज हरी, लाल, बैगनी ओर न जाने कितने रगो की मसि (स्याही) स्याही हो गई है।

अर्थ-विस्तार के कई कारण माने गए है। जब कोई शब्द सामान्य से विशिष्ट हो जाता है, तब यदि उस का प्रयोग अतिशयता से किया जाता है तो भावों के सादृश्य या रूपात्मक सम्बन्ध के कारण उस के अर्थ मे विविधता उत्पन्न हो जाती है। इसलिए सादृश्य और सामीप्य से भी अर्थ मे विस्तार हो जाता है। वेदों मे 'कवि' का अर्थ क्रान्तिदर्शी है। कैयट और नागेश ने 'कवि' का अर्थ मेधावी किया है, किन्तु उन विशेष अर्थों को छोड कर किसी भी पद्य-रचना करने वाले को हम सामान्य रूप से कवि कहते हैं। गन्धर्व और अप्सरा शब्द के पहले कई अर्थ थे, किन्तु अब ये केवल जातिवाचक हैं। भर्तृहरि का कथन है कि अर्थ का कोई आकार निश्चित नहीं होता, इसलिए एक ही शब्द विभिन्न प्रत्ययो के मेल से विभिन्न

अर्थों को बताते हैं; उदाहरण के लिए : संस्कृत में किसी समय 'दधि' का अर्थ था—कम जमा हुआ दही। इसी प्रकार 'उत्तरक' का अर्थ था—मलाई वाला दही और 'निलीनक' का अर्थ था—बिना जमा हुआ दही; किन्तु कालान्तर में सभी दही (दधि) कहे जाने लगे। इसी प्रकार शराब के लिए संस्कृत में कई शब्द प्रचलित थे। मद्य, मदिष्ठा, मदिरा, परिस्रुता, कश्य, परिस्रुत्, मधु, कापिशायन, गन्धोत्तमा, कल्य, इरा, परिप्लुता, कादम्बरी, स्वादुरसा, हलिप्रिया, शुण्डा, हाला, हारहूर, प्रसन्ना, वारुणी, सुरा, माध्वीक, मदना, देवसृष्टा, कापिश, अब्धिजा, माधवक, मैरेय, शीधु और आसव, ये सभी सामान्य रूप से मद्य के नाम हैं। इन के अतिरिक्त भी कुछ अन्य नामों का उल्लेख मिलता है। गुड से निर्मित होने वाली दारू के दो नाम थे—गौडी और वाल्कली। महुओ के फूलों के द्वारा बनाई जाने वाली शराब को 'मध्वासव' कहते थे। नारियल से बनाई गई सुरा को 'नलिनी' कहा जाता था। ताड के फलों से बनाई जाने वाली दारू को ताडी या 'ताली' कहते थे। कदब के फूलो से बनाई गई शराब 'कादम्बरी' कहलाती थी। इसी प्रकार महुए की शराब को 'माध्वीक', कटहल से तैयार की गई शराब को 'पानस', अगूरों से बनाई गई 'द्राक्ष', खजूर से बनाई जाने वाली को 'खार्जूर', ताड से 'ताली' और गन्ने के रस से बनाई गई सुरा को 'ऐक्षव', सीरे की शराब को 'मैरेय', शहद से बनाई गई शराब को 'माक्षिक' और नारियल से बनाई जाने वाली शराब को 'नारिकेलज' कहते थे। इस प्रकार बारह प्रकार के मद्य प्रसिद्ध थे।[१] अब इन में से कुछ ही नाम शेष रह गए हैं और वे भी सामान्य रूप से शराब के लिए प्रसिद्ध हैं। अलग-अलग वस्तुओं से बनाई गई शराब के लिए केवल दो चार नाम ही आज प्रचलित हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी भाषा मे भी मदिरा के लिए पन्द्रह बीस शब्द हैं, लेकिन तीन-चार प्रकार की शराब ही विशेष रूप से प्रचलित हैं। अस्पष्टता से भी अर्थ मे विकास हो जाता है। उक्त शब्दों का अर्थ स्पष्ट न होने से कादम्बरी, सीधु और सुरा आदि शब्द आज पर्यायवाची बन गए है। सादृश्य से भी अर्थ-विकास सम्भव है। वस्तु-सादृश्य के कारण चित्रों और मूर्तियों को शिव, विष्णु, जिन और बुद्ध, आदि कहते हैं। इसी प्रकार प्राचीन काल मे 'मधु' का अर्थ 'सोमरस' था। कालान्तर में सोमरस जैसी उपयोगी और मधुर शहद को और बाद मे मद्य को भी 'मधु' कहने लगे। इसी प्रकार पक्षी के सादृश्य पर सूर्य और पतग को भी 'पतग' कहने लग गए। चूहे के कान जैसे पत्ते होने के कारण 'मूषककर्णी' को मूसाकानी कहना और पक्षियों मे बडी टाँगोवाला होने के कारण 'सारस' को 'दीर्घपाद' कहना वस्तु-सादृश्य की प्रवृत्ति को द्योतित करता है। अधिकतर वन-लताओं, ओषधियो और पक्षियों आदि के नाम वस्तु-सादृश्य को सूचित करते हैं। सामान्य व्यवहार वस्तु-सादृश्य को देखकर ही चलता है। अतएव नामकरण के मूल में वस्तु-सादृश्य बहुत कार्य करता है।

लक्षणा से भी अर्थ का विस्तार हो जाता है। लक्षणा में प्रथम अर्थ लाक्षणिक होते हैं, पर बाद में मुख्यार्थ को दबा देते हैं और स्वयं मुख्यार्थ बन जाते हैं। पहले 'गो' शब्द का अर्थ

'पृथ्वी' था, किन्तु अब वह कई-अर्थों का वाचक है। इस मे विशेषता यह है कि दूसरे मुख्य अर्थों को बता कर भी वह अपने मुख्यार्थ को सुरक्षित बनाए हुए है; किन्तु लक्षणा में मुख्य अर्थ सुरक्षित नही रहता; उदाहरण के लिए : गुजराती और मराठी मे 'गगा' नदी को कहते है।" इसी प्रकार सस्कृत मे पहले 'अभ्यास' का अर्थ बार-बार बाण फेंकना था। 'गोहार' का अर्थ गाय की पुकार और 'प्रणाम' का अर्थ अच्छी तरह से नीचे झुकना था। इस तरह के और भी शब्द है, जिन का मुख्य अर्थ अभी तक बना हुआ है।

आलकारिक प्रयोगो के द्वारा भी अर्थ का विकास हो जाता है; जैसे : कठोर को पत्थर दिल कहना, सीधे को गौ और चालाक को कौआ कहना। इसी प्रकार मुहावरे और लोकोक्तियो के प्रयोग से भी अर्थ मे वृद्धि हो जाती है, उदाहरणार्थ : बहुत गरीब के लिए 'छप्पर पर फूस न होना', बहुत दुःख देने वाले से कहना 'छाती पर मूँग दलते हो', बहुत भूख लगने पर 'पेट मे चूहे कूदना' और निराश हो जाने पर 'मरता क्या न करता', आदि प्रयोग इसी तरह के है।

अर्थ-संकोच—भाषा के विकास के साथ ही मानवीय सवेदनाओं की सूक्ष्मता ओर बौद्धिकता के विस्तार के कारण सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव और वस्तुओ की क्रियाओ के प्रकटीकरण की शक्ति का भी विकास होता रहता है। ऐसे समय परस्पर भेदों को प्रकट करने के लिए जब किसी सामान्य अर्थ वाले शब्द को विशेष अर्थ मे सीमित कर देते है तो अर्थ सकोच स्वाभाविक हो जाता है। इसी प्रकार व्यक्तिगत सन्दर्भ के जितने कारण या परिस्थितियाँ हो सकती है, उन सब मे अर्थ का सकोच होता है। यदि हम व्युत्पत्तिमूलक अर्थ के आधार पर किसी व्यक्ति का नामकरण करें तो प्रत्येक 'तक्षण' क्रिया, छिल्लाई करने वाले को 'तक्ष' और मार्ग पर चलने वाले को 'अश्व' कहना पड़ेगा। इसी प्रकार 'सर्प' का मूल अर्थ सरकना और 'नेत्र' का अर्थ प्रकाश करने वाला या नेता है और 'पकज' का अर्थ कीचड मे जन्म लेने वाला है, किन्तु ये सभी शब्द आज किसी रूढ अर्थ मे प्रचलित है। ब्रील महोदय ने उचित ही कहा है कि जो राष्ट्र या जाति जितनी अधिक विकसित होगी, उस मे अर्थ सकोच उतना ही अधिक होगा। यदि इस प्रकार से अर्थ का सकोच न हो तो सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक हो जाएँगे। अर्थ के सकोच मे सास्कृतिक परिवर्तन विशेष महत्त्वपूर्ण माने जाते है। यही कारण है कि भरण-पोषण का कार्य किसी युग मे पत्नी करती थी, इसलिए उसे 'भार्या' कहते थे, किन्तु अब उस का अर्थ सीमित हो गया है। इसी प्रकार श्रद्धा से किए जाने वाले कार्य को 'श्राद्ध' कहा जाता था, किन्तु अब वह एक धार्मिक कार्य बन कर रह गया है। फारसी मे 'मुर्ग' का अर्थ चिड़िया (शाहमुर्ग, शुतुरमुर्ग) है; किन्तु हिन्दी मे उस का अर्थ 'मुर्गा' प्रचलित है। वैदिक काल में 'मृग' शब्द का सामान्य अर्थ पशु प्रचलित था, किन्तु अब वह पशुविशेष 'हिरण' के अर्थ मे सीमित है। अर्थ के सकोच का एक कारण यह भी है कि चालू शब्दों का प्रयोग

अधिकतर निम्न वर्ग के लोगों के द्वारा किया जाता है। वे अपने भावों को प्रकट करने के लिए केवल काम चलाऊ अर्थ निकाल लेते हैं। जब वही शब्दावली शिष्ट लोगों के पास पहुँचती है, तब वे अपने स्तर के अनुरूप उस में गौरव का भाव ला देते हैं; जैसेकि—'वेदना' सुख-दुःखात्मक अनुभव को कहते हैं, किन्तु सामान्य लोग उसका अर्थ पीडा समझते है। 'वेदन' शब्द 'अनुभवन' अर्थ मे अभी तक बना हुआ है। मूल मे 'विद्' धातु से वेद यानी जानना अर्थ विकसित हुआ, किन्तु उसे भूल कर लोग पीडा का अनुभव करने लगे और समझदार लोग उसे 'संवेदना' तक ले गए। यही हाल 'गन्ध' और 'बास' का है। दोनो का अर्थ एक समझा जाता है, किन्तु 'गन्ध' का अर्थ न तो सुगन्ध है और न दुर्गन्ध, केवल बू है। परन्तु 'बास' उसे कहते हैं, जो गन्ध कुछ समय तक बस चुकी हो अर्थात् अपनी बास देने लगी हो। वास्तव मे ये अर्थ बौद्धिक स्तर के हैं।

अर्थादेश—इस में शब्द अपने मूल अर्थ से हट जाता है। प्रायः यह देखने में आता है कि किसी शब्द का पहले जो अर्थ था, वह अब बिल्कुल भुलाया जा चुका है। यथार्थ मे सामान्य लोगो को इस का पता तक नही होता कि यह शब्द कभी उस अर्थ में प्रचलित भी था, जिसे हम भूल चुके है; उदाहरण के लिए : आर्य-ईरानी काल मे 'असुर' (अहुर) शब्द देवता का वाचक था, जो वैदिक काल मे भी देवता-विशेष के लिए प्रयुक्त होता था, किन्तु परवर्ती काल मे उसका अर्थ राक्षस हो गया। इसी प्रकार 'देवाणुप्पिया' (देवाना प्रियः) सम्राट् अशोक की पदवी थी, किन्तु वह अर्थ विलुप्त हो गया और संस्कृत मे उस का अर्थ मूर्ख प्रसिद्ध हो गया। इस प्रकार एक अर्थ के स्थान पर दूसरा अर्थ सामाजिक और राजनैतिक कारणो से भी बदल जाता है। 'पाकिस्तान' का शब्दार्थ पवित्र स्थान है, किन्तु आज के इतिहास को पढ कर कौन उसे पाकिस्तान कहेगा ? पहले 'दुहिता' शब्द का अर्थ था—दूध दुहने वाली, किन्तु आज उसका अर्थ 'बेटी' है। 'वर' का अर्थ था—जिसे वरण किया जाता था। न आज स्वयवर होते है और न दुर्लभ (दूल्हा) वर का वरण किया जाता है; परन्तु बारातों मे आज भी वर ठाठ-बाट से जाते हैं।

प्रायः ज्ञात या अज्ञात रूप से विचारो के सम्पर्क के कारण गौण अर्थ शब्द से सम्बद्ध हो जाता है, और वह अर्थ मुख्यार्थ बन जाता है। इस प्रकार एक अर्थ के स्थान पर दूसरा अर्थ हो जाता है; जैसेकि : 'गँवार' शब्द का मूल अर्थ ग्रामीण है, किन्तु आम जनता मूर्ख मनुष्य को गँवार कहती है। इसी प्रकार बुद्धि, बुद्ध और बोधि शब्द मे 'ज्ञान' अर्थ अभी तक बना हुआ है। शब्द-विकास के इन्हीं रूपो मे से 'बुद्धू' शब्द विकसित हुआ है, जिसका अर्थ बुद्धिमान है; परन्तु लोक मे बुद्धिहीन को बुद्धू कहते है। इस प्रकार अर्थादेश मे अर्थ अपने मूल अर्थ से भिन्न हो जाता है।

समास से भी अर्थ-परिवर्तन हो जाता है; जैसेकि : देखते-देखते स्वर्ण का आहरण करने के कारण सुनार को 'पश्यतोहर' और कानों मे फुसफुसाने के कारण चुगलखोर

को संस्कृत में 'कर्णेजप' कहते हैं। इसी प्रकार डरपोक को 'घरघुसा' और श्रेष्ठपुरुष को 'पुरुषसिंह' कहा जाता है।

उपसर्ग के विविध प्रयोगों से भी अर्थ मे परिवर्तन लक्षित होने लगता है: जैसेकि : संस्कृत की 'हृ' धातु से 'हर' और 'हार' शब्द निष्पन्न होते है। हार के पहले 'प्र' उपसर्ग जोड देने से प्रहार, 'वि' जोड देने से विहार, 'आ' जोड़ देने से आहार और 'स' जोड देने से 'सहार', आदि विभिन्न अर्थ के वाचक शब्द बनते हैं।

विशेषण से भी अर्थ में परिवर्तन दिखलाई पडता है, जैसेकि : शुक्ल 'सफेदी' को द्योतित करता है वैसे ही 'कृष्ण' कालेपन को।

लोकप्रसिद्धि से भी अर्थ बदल जाता है; उदाहरण के लिए : रक्त, लोहित और शोण पर्यायवाची शब्द हैं, किन्तु सस्कृत मे लाल घोडे को 'शोण अश्वः', काले घोड़े को 'हेम अश्वः' और सफेद घोडे को 'कर्क अश्वः' कहते हैं। इसी प्रकार हिन्दी मे साधारणतया शोध, अनुसन्धान और अन्वेषण शब्द एक ही अर्थ मे प्रचलित है, किन्तु डाक्टर, वैद्य और हकीम की भाँति वैज्ञानिक गवेषणाओं के लिए 'अन्वेषण', साहित्यिक सशोधन या ऐतिहासिक और सास्कृतिक शोधन के लिए 'शोध-कार्य' और हस्तलिखित ग्रन्थो के आधार पर पाण्डुलिपियो के सम्पादन-कार्य की प्रसिद्धि 'पाठा-नुसन्धान' के रूप मे है।

प्रत्ययो के योग से भी अर्थ मे परिवर्तन हो जाता है, जैसेकि : 'धन्या' का अर्थ धाय या उपमाता है, किन्तु 'क' प्रत्यय के योग से 'धन्याक' का अर्थ धनिया हो जाता है। इसी प्रकार 'वन' का अर्थ 'जगल' और 'वनी' का अर्थ छोटा वन है। रोट-रोटी, गिलास-गिलासी, कटोरा कटोरी, ताड-ताड़ी और दाढ-दाढी, आदि शब्द 'ई' प्रत्यय के भेद से भिन्न अर्थो के सूचक हैं।

अर्थ-परिवर्तन की यह दिशा कभी उत्कर्ष (अच्छे अर्थ) और कभी अपकर्ष (बुरे अर्थ) की ओर प्रवाहित होती रहती है। अतएव इन्हें अलग से अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ मानना उचित नहीं है। अर्थ-सकोच और अर्थ-विस्तार मे ही इनका समाहार हो जाता है। पहले 'साहसिक' डाकू को कहते थे, किन्तु अब वह 'साहसी' अच्छे अर्थ मे प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार 'मुग्ध' का अर्थ पहले मूढ था, पर अब मुग्धा नायिका के अर्थ मे प्रचलित है। 'कौपीन' का पहले 'अकार्य' अर्थ था, अब लगोट अर्थ है। 'कर्पट' पहले सड़े कपड़े को कहते थे, अब उसका अर्थ कपडा या नया कपडा है। ये सभी अर्थोत्कर्ष के उदाहरण है। अर्थापकर्ष में अर्थ नीचे की ओर जाता है; जैसे : महाजन, महाराज, दादा, गुरु, भैय्या, लुच्चा लगाडा, शौच, इत्यादि। महाजन का अर्थ पहले महान् जन था, किन्तु आज बनिया है। महाराज का तो कहना ही क्या ! रसोइया आज महाराज कहलाता है। इसी प्रकार 'दादा' अब गुंडों का सरदार होने लगा है और 'गुरु' उन सब का उस्ताद, तो 'भैय्या' छैल-

छबीले या सेवक, दास हो गए हैं। केशों का लुंचन करने वाले और नग्न रहने वाले दिगम्बर जैन साधु का वाचक 'लुंचित-नग्नक' शब्द आज किस बुरे अर्थ में 'लुच्चा-लंगाड़ा' हो गया है। इसी प्रकार 'शौच' का अर्थ पहले पवित्रता था, किन्तु आज अश्लीलता से सम्बद्ध 'टट्टी' अर्थ का बोधक है। अश्लीलता से सम्बद्ध अर्थों को व्यक्त करने के लिए भी अच्छे शब्दो का अर्थ निकृष्ट हो जाता है; जैसे : सहवास, प्रसंग, समागम, इत्यादि। इस प्रकार ये अर्थ-संकोच के उदाहरण हैं। अतएव इन दोनों में ही अर्थ का उत्कर्ष और अपकर्ष निहित है।

बौद्धिक-नियम

अर्थ-परिवर्तन के प्रवाह मे बौद्धिक नियम का विशेष महत्त्व है। शब्दों के अर्थ-विकास के मूल में विचार-धाराओं का परिवर्तित होते रहना मुख्य कारण माना जाता है। अर्थ का सीधा सम्बन्ध मनुष्य के मनोभावों से है, किन्तु बुद्धि भी इन परिवर्तनो मे विशेष रूप मे क्रियाशील लक्षित होती है। बुद्धि के योग से होने वाले अर्थ-परिवर्तन को बौद्धिक कहते है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि शब्द का प्राण एव बुद्धि से घनिष्ठ सम्बन्ध है। शब्द जिस बुद्धिगत भाव को व्यक्त करता है, उसे अर्थ कहते है। इसलिए यह बौद्धिक प्रक्रिया जिन कारणो से अर्थ-परिवर्तनो को प्रस्तुत करती है, उन कारणो को बौद्धिक नियम कहा जाता है। ध्वनि नियमों की भाँति बौद्धिक नियम देश, काल की सीमा से बँधे हुए नही होते। ध्वनि-नियमो का सम्बन्ध ध्वनि-विकास से है, ओर बोद्धिक नियम का अर्थ-विकास से। बौद्धिक नियम के अन्तर्गत अर्थ मे होने वाले परिवर्तनों के कारणो का विचार कर नियम स्थिर किए जाते हैं। इन मे से पहला नियम है—विशेष भाव का नियम।

विशेष भाव का नियम (Law of specialization)—भाषा मे एक ही भाव को प्रकट करने के लिए अनेक शब्द प्रयुक्त होते है। कारणवश ये शब्द कम हो जाते हैं, परन्तु शब्दो की कमी होने पर भी एक ही शब्द विशेष भाव को प्रकट करने लगता है। इस मे वस्तुतः बुद्धि की वह प्रवृत्ति काम करती है, जो सब रूपो को छोड़ कर किसी एक रूप या प्रयोग के प्रति अपना विशेष भाव बना लेती है। संस्कृत के तर, तम, ईयस् और ष्ठ, आदि प्रत्ययों की सत्ता सुरक्षित होने पर भी हिन्दी में इन का अब बहुत कम प्रयोग होता है। इन सब के स्थान पर 'से' (उस से घटिया), अपेक्षा (राम की अपेक्षा श्याम पढ़ने में तेज है), से बढ कर (यह अंगूर से भी बढ कर मीठा है), और बढ़िया से बढ़िया (मैं सभी चादरो मे से बढिया से बढ़िया चादर छाँट कर लाया हूँ) कह कर काम चलाते हैं। हिन्दी में विभक्तियों की कमी इसी विशेष भाव के नियम के कारण हुई है। इसी प्रकार भाषा में व्याकरणिक नियमों का विकास अर्थ-विकास के इस नियम के अन्तर्गत माना जा सकता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि वास्तव मे यह शब्दों के प्रयोग का नियम है, इस का अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए इसे बौद्धिकता के नियम के

अन्तर्गत नहीं मानना चाहिए। किन्तु इस का सम्बन्ध शब्दों की कमी से नहीं है, वरन् उन सभी गुणवाचक प्रत्ययों से उत्पन्न होने वाले भावों से है, जिन के लिये हिन्दी में परसर्ग या स्वतन्त्र शब्दों का व्यवहार किया जाता है। ये बौद्धिक इसलिये हैं कि इन के प्रयोग में बुद्धि का योग रहता है कि कहाँ उस से घट कर या उससे बढ कर और कहाँ सब से बढ कर या सब से घट कर बताना है। यह बुद्धि पर निर्भर करता है।

भेदीकरण का नियम (Law of Differentiation)—एक ही मूल स्रोत से विकसित समानार्थक शब्दों को अलग-अलग करने वाले नियम को भेदीकरण का नियम कहा जाता है। प्रायः पर्यायवाची शब्द धात्वर्थ या किसी ऐतिहासिक कारण से भिन्न-भिन्न अर्थों के बोधक होते हैं। यह लक्षण भाषा की उन्नति का द्योतक है। विभिन्न जातियों के परस्पर आदान-प्रदान और सघर्ष से भी भाषा का शब्द-भण्डार बढता है। इस नियम में मुख्य रूप से सामान्य अर्थ मे भिन्न अर्थ की कल्पना बौद्धिक आधार पर की जाती है। प्रत्येक भाषा में एक अर्थ को व्यक्त करने वाले शब्द भिन्न-भिन्न होते हैं, लेकिन जातियों के सम्पर्क तथा सगम से जब कोई शब्द किसी भाषा में घुल-मिल जाते हैं, तब वे इसी अर्थ-भेद के द्वारा अपना व्यक्तित्व प्रदर्शित करते हैं, जैसे : डाक्टर, वैद्य, हकीम, पाठशाला, विद्यापीठ, कॉलेज और विश्वविद्यालय, आदि शब्दों में अर्थ-भेद स्पष्ट है।

विभिन्न भाषाओं के शब्दों में ही नहीं, एक ही भाषा के समानार्थक शब्दों में भी अर्थ-भेद की प्रवृत्ति कार्य करती है; जैसेकि : गर्भिणी, गाभिन; वत्स, बच्चा, बाछा, बछडा, पडवा, मेमना, भद्र, भद्दा, भला, इत्यादि। इसी प्रकार प्रणाम, नमस्कार, चरण छूना, नमस्ते, वन्दना, पालागे, जय जय, जय श्रीकृष्ण, जय राम, आदि में भी सूक्ष्म अर्थ-भेद है।

बौद्धिकता के कारण ही धातु और यौगिक अर्थों में भी अर्थ-भेद हो जाता है, उदाहरण के लिए : जैन आचार्यों ने 'इन्द्र' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'आत्मा' किया है। इसी प्रकार आ० हेमचन्द्र ने 'कौपीन' शब्द का अर्थ किया है—जिसे पहन कर कुएँ में सरलता से प्रवेश किया जा सके, उसे कौपीन कहते है।[८] यौगिक शब्दों में 'प्रत्यासत्ति' का अर्थ देश और काल की अपेक्षा किया गया है।[९] 'सम्मति' का अर्थ कामों में अपना अभिप्राय प्रकट करना है। हिन्दी में 'बुद्धि' से 'बोध' और 'श्रद्धा' से 'साध' इसी प्रक्रिया में विकसित हुए हैं।

विचार और बुद्धिगत सस्कारों से भी शब्दों के अर्थ में भिन्नता लक्षित होने लगती है, जैसे : प्रसाद पाना, भोग लगाना, चने चबाना, दौरा पडना और रफू-चक्कर होना, इत्यादि। यथार्थ में अर्थ-भेद सभ्यता के विकास से सम्बन्ध रखता है। ज्यों-ज्यों समाज में विकास होता जाता है, त्यों-त्यों अर्थ की उद्धरणी होती जाती है। यहाँ यह ध्यान में रखने योग्य है कि अर्थ-भेद की एक सीमा यह है कि वह विद्यमान शब्दों में

ही होता है। अतीत की शब्दावली से सम्बन्ध होने पर भी उन अर्थों से जो बीत चुके हैं, उन से सम्बन्ध नहीं होता; किन्तु अर्थ-विचार में बीते हुए और वर्तमान सभी शब्दार्थों का अध्ययन व विश्लेषण किया जाता है।

उद्योतन का नियम (Law of Irradication)—जब कोई शब्द किसी प्रत्यय आदि के योग से अच्छे या बुरे अर्थ का द्योतन करने लगता है, तो उसे उद्योतन का नियम कहा जाता है। इस नियम के अन्तर्गत शब्द अच्छे या बुरे अर्थ मे रूढ़ हो जाता है; यथा : साहब से साहिबी, नेता से नेतागिरी, नवाब से नवाबी, गवर्नर से गवर्नरी और बादशाह से बादशाही, आदि। इन शब्दों में 'ई' प्रत्यय सयुक्त होने के कारण गर्व का भाव प्रकट हो रहा है।

विभक्तियों के भग्नावशेष का नियम (Survival of Inflections)—यद्यपि ध्वनि-परिवर्तन की प्रक्रिया मे भाषा की पुरानी विभक्तियाँ घिस-पिस जाती हैं, फिर भी नए रूपो के साथ विभक्तिगत पुराने प्रयोग चलते रहते है। वास्तव मे यह प्राचीनता के प्रति मोह का ही बौद्धिक कारण है; जैसे : प्रकृत्या, सामान्यतया, वस्तुतः, अत., एव प्रकारेण, कृपया, गंगातीरे, पूर्णतया, दैवात्, येन केन प्रकारेण, इत्यादि।

मिथ्या-प्रतीति का नियम (Law of perception)—अज्ञानवश अर्थ मे जो परिवर्तन हो जाता है, उसे मिथ्या-प्रतीति का नियम कहते है। इस नियम मे भ्रम से असत्य अर्थ मे भी सत्य अर्थ का भान होने लगता है; यथा : सस्कृत मे 'मलय' शब्द दक्षिण की भाषाओ से आया है। आर्येतर भाषाओ मे 'मलय' का अर्थ पर्वत है, किन्तु सस्कृत वालो ने मलय नामक पर्वत समझ कर 'मलयगिरि', 'मलयाचल', आदि प्रयोग किए, जो मिथ्या-प्रतीति के सूचक है। इसी प्रकार हिन्दी का 'बावला' शब्द है। लोक भाषाओ मे इस का अर्थ पागल है। बकुल एक प्रकार के सन्यासी होते थे, जो प्रायः घूमते रहते थे। आत्मचिन्तन मे लीन रहने के कारण उन्हे अपने शरीर और बाहरी जीवन की सुधबुध नहीं रहती थी। अब भी बगाल मे तथा अन्य अनेक स्थानो पर 'बाउल' नाम के सन्यासी साधना मे लीन दिखलाई पडते है। ऐसे सन्यासियो को भ्रमपूर्वक 'बावला' देख कर लोग पगले अर्थ मे बावला शब्द का प्रयोग करते चले आ रहे है। इसी प्रकार 'सम्भ्रान्त' शब्द है, जिस का अर्थ है—अज्ञात, जिस के विषय मे भ्रम फैला हुआ हो, किन्तु हिन्दी वालो ने 'सम्भ्रम' शब्द के अर्थ आदर के भ्रम से 'आदरणीय' व 'कुलीन' कर लिए हैं। इसी तरह के हिन्दी में प्रचलित शब्द प्रयोग है—विन्ध्याचल पहाड़, विन्ध्यगिरि पर्वत, हिमाचल शैल, अभी ही, केवल मात्र, सज्जन लोग, सुस्वागतम्, दरअसल मे, दरहकीकत मे, बेफजूल और खालिस के लिए निखालिस, आदि।

उपमान या सादृश्य का नियम (Law of Analogy)—किसी प्रकार की समानता के आधार पर जो अर्थ मे परिवर्तन होता है, उसे उपमान का नियम कहा जाता है। भाषा मे रूप-सादृश्य से भी अधिक अर्थ-सादृश्य का महत्त्व है। ग्रील

महोदय के अनुसार यह नियम भाषा मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। सादृश्य का प्रयोग मुख्य रूप से चार रूपो मे होता है: प्रथम भाव-प्रकाशन की कठिनाई को दूर करने के लिए, दूसरे भाव मे अधिक स्पष्टता लाने के लिए, तीसरे किसी बात पर बल देने के लिए और चौथे दो तुलनात्मक विषयो मे सगति बताने के लिए। इन के अतिरिक्त अनुकरण के आधार पर प्रायः नए शब्दो की कल्पना की जाती है; जैसेकि सस्कृत के 'दण्ड' शब्द से जिस से दड दिया जाता था 'डडा' शब्द का विकास हो गया, किन्तु दंडवाचक 'डाड' या 'डडना' शब्द भी चलते है। हिन्दी मे 'डडे' के सादृश्य पर ही 'डड पेलना', 'डडाडोली' और 'डडी' आदि शब्दों का विकास हुआ है। इसी प्रकार सस्कृत के 'हस्त' शब्द के सादृश्य पर 'हत्था', 'हथेली', 'हथौडा', 'हथोडी', 'हथौना' और 'हथियाना', आदि का विकास केवल हाथ को ध्यान मे रख कर किया गया जान पडता है। सादृश्य के ही कारण भाषा मे श्लिष्ट शब्द द्वयर्थक परिलक्षित होते हैं, यथा: स्नेह, दीप, बिन्दु, पिड, सुमन, श्रुति, मानस, सुदर्शन, इत्यादि। सादृश्य-रचना के आधार पर ही प्रतीको का निर्माण किया जाता है; उदाहरण के लिए: रसिक और भ्रमर मे रस पान क्रिया का सादृश्य होने से 'अलि' रसिक युवक और 'कलि' कुमारी का प्रतीक है। इसी प्रकार 'हँसिया' और 'हथौडा' मार्क्सवादी व्यवस्था के प्रतीक है।

हिन्दी मे संस्कृत के व्यजनान्त शब्दो को इसी नियम के अनुसार स्वरान्त बना लिया गया है; जैसेकि: पिता (पितृ), माता (मातृ), चाम (चर्मन्), काम (कर्मन), राजा (राजन्), भगवान (भगवत्), नाम (नामन्), आदि।

इन के अतिरिक्त 'नए लाभ का नियम' और 'अनुपयोगी रूपो का विनाश' इन दोनो नियमो की चर्चा भी बौद्धिक नियम के अन्तर्गत की जाती है। पुराने शब्दो तथा शब्द-रूपो के घिस पिस जाने पर जब नए रूपो की उपलब्धि होती है, तो उसे नए लाभ का नियम कहते है। हिन्दी मे परसर्गो का विकास इस का श्रेष्ठ उदाहरण है; क्योंकि यह भाषा की नई उपलब्धि है। पुरानी विभक्तियो के खिर जाने पर हिन्दी में नई विभक्तियाँ परसर्ग के रूप मे विकसित हुई, जिन का स्वरूप अव्यय की भाँति है। जब एक अर्थ के वाचक कई शब्द-रूप होते है तो उन मे से अनुपयोगी रूपो का विनाश हो जाता है। सस्कृत मे अनेक क्रिया रूप रहे है, किन्तु हिन्दी तक पहुँचते-पहुँचते कई अनावश्यक रूपो का ह्रास हो गया। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ मे क्रिया-रूपों की कमी का यही मुख्य कारण है। यह एक प्रकार से नए लाभो की पृष्ठभूमि है। इन नियमो मे से अन्तिम छह बौद्धिक नियमो का सम्बन्ध रूप-विकास से अधिक है। रूप-विकास के जिन कारणो की ध्वनि प्रक्रिया या व्याकरणिक रूप-प्रक्रिया के अन्तर्गत व्याख्या करना सम्भव नही है, उन की विश्लेषात्मक व्याख्या बौद्धिक नियमो के आधार पर की जाती है। सादृश्य की प्रवृत्ति केवल अर्थ-विकास मे ही नही, ध्वनि-परिवर्तन और रूप-विकास के मूल में भी क्रियाशील लक्षित होती है।

अर्थ-परिवर्तन के कारण

शब्दों का आन्तरिक-विकास अर्थ-परिवर्तन कहलाता है। भारतीय वैयाकरण अर्थ-परिवर्तन के बारह कारण मानते हैं—सादृश्य, लक्षणा, साहचर्य, सांस्कृतिक विकास, मानवसुलभस्खलन, प्रकरण, समास, उपसर्ग-संयोग, वाच्य, लिंग, स्वरभेद और आलंकारिक प्रयोग। अर्थ-परिवर्तन में नए विचारों की प्रवृत्ति, पुराने विचारों में कुछ परिवर्तन और नए पदार्थों के आविष्कार से विकास की सम्भावना बढ़ जाती है। ध्वनि-परिवर्तन की अपेक्षा अर्थ परिवर्तन की प्रक्रिया और उस के कारण जटिल हैं। अर्थ-विकास मूलतः बौद्धिक एवं मनोवैज्ञानिक है। जिन कारणों से अर्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया क्रियाशील होती है, उन्हें विभिन्न वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है। ये वर्ग आठ हैं : साहित्यिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, बौद्धिक, प्रमाद व अज्ञान, भावावेश तथा व्यग्य, व्याकरणिक प्रयोग एवं कतिपय स्फुट कारण।

शब्द-प्रयोग की अतिशयता—जब कोई शब्द अधिक प्रयुक्त होता है तो उस का अर्थ व्यापक हो उठता है। अर्थ की उस व्यापकता से शब्द प्रभावहीन होने लगता है और अर्थ का अपकर्ष हो जाता है; उदाहरण के लिए : बाबूजी, श्रीमान्, गुरु जी, आचार्य और दादा, आदि शब्दो की अर्थ-कहानी इसी तथ्य को प्रकट करती है।

अलंकारों का प्रयोग—लोक और साहित्य में भी आलंकारिक भाषा के प्रयोग से अर्थ मे परिवर्तन देखा जा सकता है; जैसे : मूर्ख को गधा, चालाक को कौआ, लोभी को मक्खीचूस और श्रेष्ठ को जवाहर कहना। इस प्रकार के प्रयोग रूप-भावों को भी मूर्तमान वस्तुओ की भाँति व्यक्त करते है। कपटी को काला दिल, कठोर को पत्थर हृदय और बनने वाले को रूखी हँसी वाला कहना, इसी तरह के प्रयोग हैं। ब्रील महोदय के कथनानुसार अन्य कारणों से अर्थ मे परिवर्तन धीरे-धीरे होता है, किन्तु अलकारो से क्षण भर मे ही परिवर्तन हो जाता है।

पुनरुक्ति—तीसरा कारण पुनरुक्ति है। पहले यह असावधानी से होती है, फिर महत्त्वपूर्ण बन जाती है। इस प्रकार अनावश्यक शब्द भी कुछ न कुछ अर्थ देने लगता है, जैसे : सज्जन पुरुष, पावरोटी, मलयगिरि पर्वत, दरअसल में, दरहकीकत में, अभी भी, इत्यादि।

दूसरे सामाजिक या सास्कृतिक वर्ग मे शिष्टता का भाव ही मुख्य कारण है। समाज में चाहे अनचाहे शिष्टतावश कुछ शब्द विशेष अर्थ मे प्रयुक्त होने लगते हैं; जैसेकि : हुजूर, गरीबपरवर, अन्नदाता, आप ही हमारे माई-बाप हैं, आदि।

अप्रिय प्रयोग से बचने के लिए भी हम किसी अर्थ को अन्य शब्द-प्रयोग से व्यक्त करते हैं; यथा : अन्धे को सूरदास, चमार को रैदास, भंगी को मेहतर, दर्जी को खलीफा, चपरासी को साथी और रसोइया को महाराज कहना, इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं।

इसी प्रकार अशुभ या अमगल बात को दूसरे शब्दों मे प्रकट किया जाता है; जैसे : चूड़ी फूटना, हाथ खाली होना, गगालाभ करना, स्वर्गवास या गोलोकवास होना, मिट्टी मे जाना, चिराग बढाना और लघुशका या दीर्घशका की बाधा होना।

नम्रता-प्रदर्शन से भी अर्थ मे परिवर्तन हो जाता है; जैसेकि : हुजूर ! मैं आप का गुलाम हूँ, मेरे गरीबखाने मे तशरीफ़ लाइए, मेरी कुटिया पवित्र कीजिए और मुझे भी दर्शन-लाभ दीजिए।

ऐतिहासिक वर्ग मे पहला कारण है—समय के प्रवाह मे वातावरण मे परिवर्तन हो जाना, उदाहरण के लिए : ऋग्वेद मे 'उष्ट्र' का अर्थ भैसा था, बाद में उस का अर्थ ऊँट हो गया। इसी प्रकार 'घृणा' का अर्थ पिघलना या दया था, बाद में नफरत हो गया। इसी प्रकार 'देवाना प्रिय' का अर्थ मूर्ख और 'बुद्धू' का अर्थ 'बुद्धिहीन' सामाजिक सघर्ष के परिचायक है। वातावरण के परिवर्तन मे सास्कृतिक परिवर्तन विशेष महत्त्व रखता है। युग-युगो के परिवर्तन से या पीढी-दर-पीढी के परिवर्तन से भी अर्थ मे परिवर्तन लक्षित होने लगता है, जैसे : पत्र शब्द का कागज, चिट्ठी, प्रश्नपत्र, समाचारपत्र, आदि। इसी प्रकार तार, पात्र और टिकट शब्द है।

किसी एक भाषा का शब्द अन्य भाषा मे पहुँच कर बदल जाता है। सस्कृत का 'वाटिका' शब्द हिन्दी मे वाडी और बगला म घर अर्थ का वाचक है। गुजराती मे 'वाडी' बगीचा को कहते है। सस्कृत का प्रेमवाचक 'राग' शब्द बगला और मराठी मे 'कुपित' अर्थ का बोधक है।° विभिन्न वृक्ष, पशु-पक्षी और रगो के अर्थ मे भी इसी प्रकार परिवर्तन हो जाता है; जैसेकि : गुजराती म 'लीलो' का अर्थ हरा है, जो सस्कृत के नील शब्द से विकसित हुआ है। इसी प्रकार सस्कृत मे 'कटु' का अर्थ चरपरा और 'तिक्त' का अर्थ कड़वा है, किन्तु हिन्दी और गुजराती मे 'कटु' कडुआ को कहते हैं और 'तिक्त' तीखे चरपरे को कहते है। अतएव स्वाद के सम्बन्ध मे भ्रम होने से अर्थ में परिवर्तन हो जाता है।[११]

अन्य जातियो के सम्पर्क से भी अर्थ मे परिवर्तन होने लगता है। विदेशी भाषाओ के शब्दो के आदान-प्रदान से होने वाला अर्थ-परिवर्तन भी इस के अन्तर्गत कहा जाएगा, जैसेकि : फारसी का 'दरिया' शब्द गुजराती मे समुद्र अर्थ देने लगा। फारसी का 'मुर्ग' शब्द हिन्दी मे मुर्गा अर्थ का वाचक हो गया। इसी प्रकार अग्रेजी का 'ग्लास' शीशा या कॉच शब्द हिन्दी मे 'गिलास' अर्थ का बोधक है।

केवल अन्य भाषाओं के शब्दो को अपनाने मे ही नहीं, देशी भाषाओं के शब्दो को ग्रहण करने पर भी अर्थ मे परिवर्तन हो जाता है। इस दृष्टि से भारतीय भाषाओं का परस्पर अध्ययन किया जाए तो कई महत्त्वपूर्ण तथ्यो का प्रकाशन होगा; उदाहरण के लिए : तमिल भाषा मे 'कुडि' का अर्थ घर है, किन्तु पंजाबी मे 'कुड़ि' का अर्थ लडकी है। द्रविड और देशीनाममाला की भाषा में 'कोट्ट' का

अर्थ नगर है, किन्तु संस्कृत में 'परकोटा' और हिन्दी मे 'किला' अर्थ है। इसी प्रकार संस्कृत का 'भक्त' हिन्दी मे 'भात', 'क्षीर' 'खीर' और 'भद्र' भद्दा बन गया है।

भाषा के परम्परागत अवशेष भी ऐतिहासिक वर्ग मे परिगणित किए जाते हैं। यद्यपि युग-प्रवाह मे सामाजिक रीति रिवाज और विभिन्न पद्धतियो मे आमूल परिवर्तन हो जाता है, किन्तु पुराने शब्द ज्यों के त्यो चलते रहते हैं; जैसे : जूर्ण>जुण्ण> जूना, जजमान, पुरोहित, ठाकुर, कुँवर, राणा-रानी, वर, इत्यादि।

चौथा बौद्धिक वर्ग है। बौद्धिक कल्पना से सादृश्य के आधार पर नए अर्थों में प्रायः पुराने शब्दों का प्रयोग किया जाता है; उदाहरण के लिए : पहले कलम का खत काटा जाता था, अब बालो का भी खत काटा जाता है। इसी प्रकार पहले 'गोस्वामी' (इन्द्रियो का मालिक) शब्द धार्मिक और सम्मानित व्यक्तियो के लिए प्रयुक्त होता था, फिर साधु-सन्तो को भी गोस्वामी, गोसाईं कहने लगे। पतग के सादृश्य पर सूर्य को भी 'पतग' कहा गया। एक शब्द के अनेक अर्थ भी सादृश्य के आधार पर प्रवर्तित होते हैं। भेदीकरण के नियम से भी अर्थ मे परिवर्तन हो जाता है; जैसेकि : साहु साधु, भद्र-भद्दा-भला, परीक्षक-पारखी, गर्भिणी-गाभिन, यन्त्र-जन्तर, मन्थन-मथना और चिन्तना-चेतना, प्रभृति।

प्रयत्न-लाघव से भी अर्थ मे परिवर्तन हो जाता है। जिस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन के मूल मे प्रयत्नलाघव मानसिक श्रम की बचत का परिणाम माना जाता है, उसी प्रकार अर्थ-परिवर्तन के मूल मे भी यह एक प्रमुख कारण कहा गया है। इस मानसिक आलस्य के कारण ही हम रेलगाड़ी को गाड़ी, पोस्टल स्टाम्प को स्टाम्प, मोटरकार को कार, पानी की टकी को टकी और रजिस्टर्ड लेटर को रजिस्ट्री कहते हैं।

प्रमाद आर अज्ञान के अन्तर्गत कुछ ऐसे कारण हैं, जिन से सहज ही अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। इन मे से पहला प्रयोग की असावधानी है। असावधानी के कारण ही हम 'लब्धप्रतिष्ठ' के स्थान पर 'लब्धप्रतिष्ठित', 'प्रार्थित' के स्थान पर 'प्रार्थनीय', 'सकुल' के स्थान पर 'सकुलित' और 'अज्ञानवश' के स्थान पर 'अज्ञानतावश' लिखते या बोलते हैं।

अन्धविश्वास से भी अर्थ मे परिवर्तन हो जाता है; जैसेकि : स्त्रियाँ अपने पति का नाम नही लेती हैं, इसलिए वे अपर नाम से सम्बोधित करती है। कभी-कभी इस प्रकार के प्रयोग उस क्षेत्र मे बहुत व्यापक हो जाते हैं। मालिक, घरवाली, शीतला, माता, आदि इसी प्रकार के प्रयोग है।

भावावेश और व्यंग्य से भी अर्थ मे तुरन्त परिवर्तन लक्षित होने लगता है। प्यार के आवेश मे 'अबे ! बदमाश', पाजी, शैतान, नालायक, आदि कह बैठते हैं। व्यग्य में—क्या कहना, तीन हाथ की बुद्धि वाले हो, कहो भाई, आजकल तुम्हे धोबी नहीं

मिलता, तुम तो पूरे पण्डित हो, आजकल तो दूज के चाँद हो गए हो, ऐसे प्रयोग विपरीत अर्थ मे ही प्रयुक्त होते है।

व्याकरण से भी अर्थ मे परिवर्तन हो जाता है; उदाहरणार्थ : लिंग-परिवर्तन से—चक्का चक्की, गाडा-गाडी, घडा-घडी, नाडा-नाडी, नाला-नाली, इत्यादि। सस्कृत में 'सार' शब्द पुल्लिंग मे श्रेष्ठ अर्थ का और नपुसक लिंग मे तत्त्व अर्थ का वाचक है। स्वर-भेद से भी अर्थ मे परिवर्तन हो जाता है, जैसे : नल नाल, दल-दाल, कल काल, खिलना-खेलना, मिलना-मेलना, घुलना-घोलना, आदि। आगम से भी अर्थ-भेद सम्भव है; क्योकि एक ही शब्द का अर्थ मान्यताओ की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न आगम ग्रन्थों मे विभिन्न अर्थ का वाचक होता है, जैसेकि : विधि, कर्म, शक्ति, लीला और मुक्ति, इत्यादि। वक्ता और प्रकरणादि से भी अर्थ मे परिवर्तन हो जाया करता है। इसी प्रकार वाक्य-प्रकरण से भी अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। सस्कृत में एक ही 'प्रकुरुते' शब्द अलग-अलग वाक्यों मे भिन्न-भिन्न अर्थ रखता है, यथा : परदारान्प्रकुरुते (परस्त्रीगमन करता है), शत प्रकुरुते (सट्टे मे सौ लगाता है), जनापवाद प्रकुरुते (निन्दा करता है)। हिन्दी में 'बनाना' के प्रयोग है—वह पुस्तक बनाता है, टोकरी बनाता है, घडी बनाता है, रुपया बनाता है, बात बनाता है, मजाक बनाता है, राब से शक्कर बनाता है और मानवता की राह बनाता है।

कतिपय स्फुट कारणो मे देश या प्रान्त-परिवर्तन से अर्थ-भेद हो जाता है; जैसेकि : उत्तरप्रदेश के 'भैया' बम्बई पहुँच कर सेवक या नौकर 'भइया' हो जाते है। इसी प्रकार दक्षिण की भाषाओ का 'पिल्ले' हिन्दी मे पिल्ला हो गया है। स्पेनिश गुरिल्ला शब्द जो युद्ध मे बाधा डालने वाले सैनिक के लिए प्रयुक्त होता था, हिन्दी मे छापामार का वाचक हो गया। लताओ और वेलो के नाम पर नामकरण करना भी अर्थ-परिवर्तन का एक कारण कहा जा सकता है; जैसे : छुईमुई, लजवती, सूरजमुखी, इत्यादि। उच्चारण की अस्पष्टता से भी अर्थ-परिवर्तन सम्भव है, जैसेकि : भ्रम से भरम, चक्र से चाक और अरमूद से अमरूद, इसी प्रकार के उदाहरण हैं।

अनुवाद

अनुवाद का अर्थगत विश्लेषण और सन्दर्भगत अर्थ-नियमो से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है; क्योकि भाषा मे अर्थ का सम्बन्ध एक ही प्रकार का नही होता, वरन् विभिन्न उच्चार-अशो और परस्पर के सास्कृतिक और भौतिक वातावरण से भी उस के अनेक तरह के सम्बन्ध होते है। अतएव जब विदेशी भाषाओ को सीखते है, तब उभय भाषाओ मे बोले जाने वाले उच्चारों और उन के सम्बन्धो पर भी ध्यान रखना पड़ता है। मेलिनाव्स्की के शब्दों मे अनुवाद 'सास्कृतिक सन्दर्भ की एकरूपता' (the unification af cultural context) है।[१] देश मे सास्कृतिक पुनर्जागरण करने के लिए अनुवाद का विशेष महत्त्व है। क्योकि सभी भाषाओं का साहित्य राष्ट्रभाषा में अनूदित हो जाने पर विचारों का आदान-प्रदान होगा, जिस से भावात्मक

एकता स्थापित हो सकेगी। शब्दों के अनुवाद मे जब कभी सांस्कृतिक सन्दर्भ छूट जाता है, तब केवल कोशगत समानार्थी शब्द लिख देने से वह वास्तविक अनुवाद नहीं हो सकता। अतएव अनुवाद मे उपयुक्त शब्दों का प्रयोग करना अपने आप में एक कला है। अनुवाद की कला सब से कठिन है, क्योंकि इस की प्रक्रिया दुहरी है। यदि अनूद्य और अनुवाद मे किसी एक भाषा के शब्द का अर्थ अस्पष्ट रह जाता है, तो वह उभय भाषिक शब्दो की नासमझी का परिणाम माना जाता है। यही नहीं, अनुवाद की कई प्रकार की समस्याएँ है।

अनुवाद की समस्याओ को हम दो वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं—अर्थ-बोध की समस्या और सम्प्रेषण की समस्या। अर्थ-बोध की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल है। जब हमें अपनी ही भाषा समझने मे कठिनाई होती है, तो अन्य विदेशी भाषा--जिस के सांस्कृतिक परिवेश से हम सदा दूर रहते है, उसे बिल्कुल ठीक कैसे समझ सकते हैं ? यह एक सिद्धान्त की बात है कि जो किसी रचना का अर्थ भलीभाँति नही समझता है, वह उस का अनुवाद नहीं कर सकता। प्रायः अनुवाद करने मे यही भूल होती है कि हम समझते हैं कि इस रचना का अर्थ हमारी समझ मे आ गया है, किन्तु वास्तव में हम उस का अर्थ ठीक से नही समझ पाते हैं। इसीलिए अनुवाद मे अस्पष्टता या वस्तु का रूपान्तरण भलीभाँति नहीं हो पाता। वस्तुतः वस्तु के रूप मे अनुवाद में अर्थ रूपान्तरित होता है। अनुवाद की प्रक्रिया में अर्थ ही वह तत्त्व है, जो वाक्य-रचना मे और अनुवाद की मूल रचना में सम्पूर्ण वाक्य मे व्याप्त रहता है। मूल कृति मे और अनूदित रचना मे, दोनो मे ही समान अर्थ की व्याप्ति का नाम सफल अनुवाद है। यह अर्थतत्व वाच्य और व्यग्यार्थ का जहाँ ठीक-ठीक बोध कराता है, समझना चाहिए वहाँ अर्थ-बोध सम्यक् रूप से होता है। डॉ० वूस्टर ने ठीक ही कहा है कि "अनुवाद का अभिप्राय है किसी एक भाषा की वाक्य-रचना के स्थान पर दूसरी भाषा की उसी अर्थ की व्यजक वाक्य-रचना की स्थापना।"[३१] अनुवाद-प्रक्रिया का मूल तत्त्व शब्दो और अवधारणाओ का भाषान्तरण नही है, क्योंकि 'अहिंसा' शब्द का अनुवाद 'नॉन वायलेन्स' कर देने से पूरा भाव-बोध नहीं हो पाता और 'शील' तथा 'अपरिग्रह' शब्द का तो अनुवाद ही नही हो सकता। इन शब्दो के पीछे एक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है, जिसे प्रायः उपेक्षित कर दिया जाता है। शब्दो में केवल वाच्य और व्यजक ही नही, लाक्षणिक अर्थ भी होते हैं। ये लाक्षणिक अर्थ साहित्यिक रचना के साथ-साथ अन्य रचनाओं मे भी लक्ष्यार्थ रूप से निहित रहते हैं। किसी भी कृति में शब्द निरपेक्ष एव नितान्त सन्दर्भहीन नही होते। उनका अस्तित्व प्रयोक्ताओं के सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे माना गया है, जो उन परम्पराओं से सम्बद्ध रहते है। बार्कर ने ऐसे कितने ही शब्दों का उल्लेख किया है, जो सरल और अपारिभाषिक लगते हैं; किन्तु प्रयोग-सन्दर्भ मे अर्थगर्भित हो गए हैं[३२]—नॉलिज, स्पिरिट, सोल, एपिटाइट, वाइस, गुड, बीइंग, विकमिंग, जस्टिस, आदि इसी तरह के शब्द हैं।

उदाहरण के लिए, 'जस्टिस' शब्द का प्रस्तुत सन्दर्भ मे विशिष्ट अर्थ है। प्लेटो के अनुसार सामाजिक संरचना में मनुष्य के द्वारा अपने नियत कर्म के सम्पादन का नाम 'जस्टिस' है। न्याय शब्द मे यह अर्थ कहाँ है? इसी प्रकार 'दमन' का अर्थ 'सप्रेशन' नहीं है। दमन का मूल अर्थ है—शान्त होना; किन्तु अब यह शब्द निरोध अर्थ मे चल पड़ा है। यथार्थ मे दमन, संयम और ब्रह्मचर्य, आदि शब्दो के लिए अग्रेजी में कोई शब्द नहीं है और न गढा जा सकता है, क्योकि सास्कृतिक परम्पराएँ भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार के शब्दो के पीछे एक प्राचीन दीर्घ परम्परा सयुक्त है। अतः अनुवाद करना बहुत टेढी खीर है।

अनुवाद करने मे दूसरी सब से बडी समस्या है—किन्हीं दो भाषाओं में शब्द-साम्य देख कर समानार्थी या समानान्तर मान लेना, जैसेकि : 'बैंक' शब्द का साम्य बन्धक से मान कर उस के लिए 'बन्धक' शब्द निश्चित करना। यह भी कल्पना से अर्थ लगा लेना कि जिस प्रकार भारत मे साहुकारी प्रथा के अन्तर्गत गिरवी रख कर साहुकार लेन देन करते थे, उसी प्रकार बैंक करते है, इसलिए इस शब्द का यह अनुवाद उपयुक्त होगा। वास्तव मे यह एकपक्षीय विचार है। 'बैंक' शब्द इटालियन भाषा के 'banca' (बंक) शब्द से बना है। उस का अर्थ है—बैंच। प्राचीन काल मे मिश्र, आदि देश के लोग अपना कारोबार बैंच पर बैठ कर किया करते थे, जो किसी देवालय के अहाते में रखी जाती थी। वहीं सब तरह के लेन-देन के काम किए जाते थे। अतएव 'बैंक' के लिए 'बन्धक' या 'अधिकोष' शब्द बनाना कहाँ तक उपयुक्त कहा जा सकता है। हाँ, बैंकरप्ट (Bankrupt) का दिवालिया अर्थ उपयुक्त है, क्योकि rupt का अभिप्राय है—टूटा हुआ। जिन की बैंक अर्थात् साख टूट गयी हो, वे व्यापार पुनः कैसे कर सकते हैं? दिवालिया शब्द मे यह भाव निहित है। दिवालिया का अर्थ केवल धन का चुक जाना ही नही, साख का समाप्त हो जाना भी है।

श्री मेरियो पेइ लिखते है कि जिन शब्दो के लिए दूसरी भाषाओ मे समानार्थी शब्द नही हैं, उन शब्दो का प्रश्न सयुक्त राष्ट्रसंघ के विवादो मे प्रबल तथा प्रामाणिक रूप से सामने लाया गया था। रूसी अनुवादक अग्रेजी शब्द 'ज्युरिस्डिक्शन' की टक्कर का रूसी शब्द न दे सका और अन्त मे उसे छह शब्दो के गोल-मोल, वक्रोक्तिपूर्ण या टालमटोल बात कर सन्तुष्ट होना पडा। चीनी अनुवादक को सान फ्रौन्सिस्को की सभा में एक हजार से भी अधिक नए समानार्थक शब्द गढने पडे थे।[१५] यह तो निश्चित है कि अधिकतर गढे हुए शब्द किसी न किसी दृष्टि से ठीक नहीं होते है और ऐसे शब्दो के शब्दार्थ का विमर्श करते समय यही अध्ययन किया जाता है कि इन मे से कौन शब्दार्थ मूल के अधिक निकट है। केवल 'मक्षिका' के स्थान पर 'मक्षिका' रख देना, किसी अनुवाद की सफलता नही कही जा सकती। अनुवाद का मुख्य उद्देश्य अनूदित भाषा मे मूल भाषा का वास्तविक अर्थ-बोध प्रकट करना है। किन्तु यह कहा जा चुका है कि मूल भाषा से अनुवाद की भाषा मे पूर्णतया शब्दार्थ अनूदित

करना सम्भव नहीं है। उस भाषा का केवल भावानुवाद ही किया जा सकता है। इसलिए अनुवाद की तीसरी समस्या पूर्णतया अनुवाद की है। पूर्ण अनुवाद वह कहा जाता है, जिस मे मूल, भाव और शैली तीनों की प्रतिच्छाया अभिव्यंजित होती है। परन्तु जब शब्द और रागतत्त्व की कमी के कारण पूर्णतया अनुवाद सम्भव नहीं होता, तब केवल भाव और विषय को ही शब्दों में उतारा जाता है। जो किसी वस्तु या भाव को अपने शब्दों मे ज्यों का त्यों उतारने में कुशल होगा, वह निश्चय ही सफल अनुवादक होगा।

अनुवाद की चौथी समस्या शब्दानुवाद की है। कभी-कभी मूल भाषा मे प्रयुक्त प्रतीकात्मक शब्द को अपनी व्यावहारिक भाषा के शब्द मे प्रकट करना पड़ता है, क्योंकि ऐसी स्थिति मे केवल समानार्थी शब्द का ही प्रयोग किया जा सकता है। फिर, अनुवाद विषय-वस्तु और कथन की प्रवृत्ति पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। कहीं-कहीं एक शब्द के कारण ही ऐसी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है कि जब तक उस का आशय स्पष्ट नहीं होता, तब तक पूरा वाक्य बेबूझ रह जाता है। ऐसे समय शब्द-चयन पर विशेष ध्यान देना होता है; न केवल दूसरी भाषा के शब्द-चयन का, वरन् अपनी भाषा के शब्द-चयन का भी। यह भी ध्यान मे रखने योग्य है कि अनुवाद की भाषा सरल, स्पष्ट और प्रवाहपूर्ण होनी चाहिए। शब्दार्थ की स्पष्टता और भावों की स्पष्टता बनाए रखने से अनुवाद की बहुत कुछ समस्याएँ अपने आप ही सुलझ जाती हैं।

अनुवाद की अन्य समस्या उस समय उत्पन्न होती है, जब सैद्धान्तिक या समीक्षात्मक ग्रन्थ का अनुवाद करना होता है। इस मे भाषा विशेष की उच्चस्तरीय साहित्यिक रचनाओं, काव्यशास्त्र, चिन्तनपूर्ण व्याख्याओं और शास्त्रीय विषयों का समावेश होता है। इन के अनुवाद विशिष्ट पाठको के लिए होते है। इनका सम्यक् अनुवाद करना सब से कठिन माना जाता है, क्योंकि विषय के ज्ञान के साथ ही पारिभाषिक शब्दावली का पर्याप्त ज्ञान और नए शब्दो की रचना तथा प्रयोग की भलीभाँति योग्यता भी अनुवाद के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी होती है। इस प्रकार ऐसे अनुवाद अर्थ-प्रक्रिया के विषय-बोध, अर्थ-तत्व और पारिभाषिक अर्थ-व्यजना के तीनों सूत्रों से समन्वित रूप में सग्रथित होते है।

विभिन्न विषयों के अनुवाद की अपनी-अपनी मूलभूत समस्याएँ हैं। जो विषय सर्वथा नवीन हैं, उन को शब्दावली की आवश्यकता और पुराने शब्दों को नया रूप और नए अर्थ देने की समस्या मुख्य है। प्रत्येक विषय के अनुवाद मे केवल वस्तु और भाव का ही रूपान्तरण नहीं होता, वरन् सामाजिक, सास्कृतिक और भौगोलिक रूप का भी स्थानान्तरण होता है। केवल अलग-अलग विषयों की ही नही, वरन् भिन्न-भिन्न साहित्यिक, दार्शनिक और राजनैतिक विधाओं की अनुवाद विषयक समस्याएँ

मूल विधा में ही निहित रहती हैं। जिस या जिन स्थितियो के कारण अपने अलग-अलग रूपो मे विभिन्न विधाएँ लक्षित होती है, उन के मूल गुण या तत्त्व अनुवाद मे भी झलकने चाहिए। उदाहरण के लिए, नाटक एक सवादात्मक विधा है। नाटक मे विषय-वस्तु, चारित्र, भाव और सघर्ष, आदि सभी सवादो के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं, इसलिए पात्रो के अनुरूप संवादो की भाषा का अनुवाद करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है, क्योकि भिन्न-भिन्न भाषा और भावो से ही पात्र विभिन्न चारित्र और वातावरण की सृष्टि करते है, जिन मे नाटकीय तत्त्व झलकता है। परन्तु अलग-अलग पात्रो की अलग-अलग भाषा का अनुवाद कर सकना कठिन है। इस के लिए भाषा की सूक्ष्मता, अभिव्यजनात्मकता और रागतत्त्व की विशदता के साथ ही मुहावरो की भी प्रचुरता चाहिए, जिस से भाषा मे लोच आ सके। इस से भी जटिलतर समस्या बोलियो के अनुवाद की है। आधुनिक नाटक मे पात्रगत यथार्थवाद के लिए अथवा चारित्र की स्वाभाविकता तथा वातावरण की स्थापना के लिए बहुत से पात्र अपने क्षेत्र या प्रदेश की बोली मे कथोपकथन करते हैं। बंगला के नाटकों मे इसका बहुत ही प्रचार है, और बहुत से अमराकी नाटको मे भी स्थानीय_बोली का प्रयोग प्रायः होता है।[१९] क्या बोलियाँ के अनुवाद मे भी हिन्दी की बाली या बोलियो का प्रयोग किया जा सकता है? सस्कृत के नाटक आधुनिक नाटको मे सर्वथा भिन्न है, इसलिए उन की समस्याएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। वे सर्वथा भिन्न प्रकार की सास्कृतिक भाषा तथा बौद्धिक पृष्ठभूमि वाले दर्शको के लिए रचे गए थे। अनुवादक को उसके रग-शिल्प और उसकी मौलिक मान्यताओ और रूढियों से परिचय प्राप्त किए बिना उन के अनुवाद मे हाथ नही लगाना चाहिए।[२०] सस्कृत के सभी नाटक अभिनेयता की दृष्टि से प्रदर्शन के लिए रचे गये थे; केवल कविता पाठ की भाँति पठन-पाठन के लिए निबद्ध नही किए गए थे।

उपन्यास के अनुवाद की समस्याएँ नाटक से कुछ भिन्न है। उस मे देश, काल और वातावरण की प्रधानता होती है। सकलनत्रय के माध्यम से ही उपन्यास मे सामाजिक व्यवस्था का चित्रण किया जाता है। अतएव अनुवाद करते समय केवल भाषागत भाव का ही नही, समाज-व्यवस्था का भी स्थानान्तरण होता है। काव्य-रचना के अनुवाद की समस्या इस से भी जटिल होती है, क्योकि उसमें कवि की मानसिक प्रक्रिया का ही रूपान्तरण अनुवाद के रूप मे अभिव्यजित किया जाता है। कथा और वार्त्ताओ मे स्थानीय रग-रूपो की मुख्यता होती है, इस प्रकार भिन्न-भिन्न विधाओं के मूल मे उस के गुण अन्तर्हित रहते है। उनका प्रकाशन करना ही सफल अनुवाद का लक्ष्य होता है।

सरल शब्दो मे अनुवाद का सम्बन्ध विचारो के ताने-बानो के साथ ही उस मानसिक प्रक्रिया से भी सम्बद्ध है, जिस मे मूल रचना स्फुटित हुई है और जिसे समझने के लिए उस स्थिति से गुजरना पडता है, जिस स्थिति मे मूल रचनाकार ने

उसे जन्म दिया था। साहित्यिक रचनाओं के सम्बन्ध में यह प्रक्रिया पूर्णतया चरितार्थ होती है। जो अनुवादक इस प्रक्रिया से गुजर सकता है, उसे अनुवाद करने में सरलता होती है।

अनुवाद का दूसरा वर्ग है—संप्रेषण की समस्या। इस के अन्तर्गत पहली समस्या है—अविचारित यन्त्र की भाँति पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करना। पारिभाषिक शब्दकोश के अनुसार अमुक शब्द के लिए अमुक शब्द रख देने से ही संप्रेषण की क्रिया संचालित नहीं हो जाती, क्योंकि केवल पारिभाषिक शब्दो से ही संप्रेषण नहीं होता। सप्रेषण की प्रक्रिया शरीर मे प्राणों की प्रतिष्ठा करने की भाँति है। अर्थबोध की संप्रेषणीयता विभिन्न शब्दवर्गों, वाक्य-विन्यास, व्याकरणिक रचना-पद्धति और ध्वनिश्रेणियो के विविध संयोगो और सम्मिश्र में निहित रहती है। ध्वनि और अर्थतत्त्व की परस्पर सम्बद्धता ही अर्थबोध की जनक है। भाषा के अभिव्यक्ति पक्ष से इस का विशेष सम्बन्ध है। अतएव रचना के प्रत्येक अंग मे सप्रेषणीयता समाहित रहती है। इस सप्रेषणीयता के अभाव में अनुवाद करना असम्भव हो जाता है।

भाषा की अभिव्यक्ति-पक्ष की अनेक समस्याएँ व्याकरणिक रचना के साथ सम्बन्ध रखती हैं। इसलिए अनुवाद की कठिनाइयाँ तब उत्पन्न होती हैं, जब शब्दों की सभी जटिल अभिव्यजनाओं का भाषिक रूपों के बाहर के सन्दर्भ मे और वाक्य-विन्यास मे तथा उसी प्रकार से वाक्य की अपनी प्रसगानुकूलतानुसार अनुवाद के साधन के चयन मे निर्धारण एव परस्पर मूल्याकन किया जाता है। अपने व्यावहारिक रूप मे यह विकल्प बना ही रहता है कि शब्दशः मूलार्थ और साहित्यिक अर्थ इन दोनो मे से किसे ग्रहण किया जाए। जहाँ पर अनुवाद मे मूल के सन्निकट अर्थगामी समानार्थक शब्दो का प्रयोग किया जाता है, वहाँ उन का दूसरा पक्ष भी है कि वे शैलीगत अप्रभावोत्पादकता ओर अनौचित्य के कारण मूल से पृथक् पड जाते हैं। इस प्रकार की कठिनाई विशेष रूप से साहित्यिक रचनाओ के अनुवाद करते समय उत्पन्न होती है। इस मे वे सभी भाषिक स्तर अन्तर्हित होते हैं—जैसेकि वाक्यो के व्याकरणिक रूप और शब्दो के ध्वन्यात्मक रूप तथा शैली की दृष्टि से वाक्यगत साहित्यिक रूप।[१८] अन्य विषयो के अनुवाद से भी अधिक कठिन कविता का अनुवाद करना होता है, क्योंकि उस मे मूल रचना की सभी अभिव्यजनात्मक स्थितियो तक पहुँचना सम्भव नहीं है। इस प्रकार काव्यानुवाद की समस्याएँ और भी गम्भीर तथा कठिन होती हैं। यथार्थ मे, अनुवाद मे भाषा ओर शैली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। ये ही वे तत्त्व हैं, जिन से अनुवाद मूल से भी अधिक प्रभावोत्पादक और सुन्दर प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए, हिन्दी मे महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' के कई अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं, जिन में राजा लक्ष्मणप्रसाद सिंह और आचार्य केशवप्रसाद मिश्र से ले कर डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल तक के हिन्दी अनुवाद हैं। भाषा और शैली

की भिन्नता के कारण इन सभी अनुवादो मे भेद मिलेगा। परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से हिन्दी पद्यानुवाद मे आचार्य केशवप्रसाद मिश्र का और गद्य मे डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का अनुवाद श्रेष्ठ प्रतीत होता है। इस का मुख्य कारण भाषा तथा शैलीगत अभिव्यञ्जना है। यह हमारे अनुभव की बात है कि शब्दशः किया जाने वाला अनुवाद अच्छा नहीं होता। फिर, भावात्मक अनुभूति की कठिनाई तो केवल सादृश्यमूलक व्यजना की अभिव्यक्ति से ही दूर की जा सकती है। वैज्ञानिक थियोडोर सावरी ने भाषा-शैली की महत्ता इन शब्दो मे स्वीकार की है[१९]—'अनुवादविषयक उन सब मान्यताओं को विज्ञान-विषयों के अनुवाद मे भी बिना सकोच के ज्यो की त्यो स्वीकार कर लेनी चाहिए, जिन मे कहा गया है कि अनुवाद मे मूल रचना की सी सहजता रहनी चाहिए, जिस से यह पता न चले कि किस भाषा से अनुवाद किया गया है और मूल तथा अनुवाद की तुलना मे इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलना चाहिए कि कौन सी कृति मूल है और कौन सा अनुवाद।' साहित्यिक कृतियो का अनुवाद तो साहित्यिक भाषा मे किया ही जाना चाहिए, किन्तु अन्य विषयों के अनुवाद मे सरलता, स्पष्टता और सरसता का बराबर ध्यान रखना चाहिए, जिससे अनुवाद सफल और अभिव्यजक सिद्ध हो सके।

अनुवादविषयक भूलें

हिन्दी मे अन्य भाषाओ के अनुवाद से सम्बन्धित कई प्रकार की भूले परिलक्षित होती है; यहाँ पर वाक्यो तथा वाक्याशों की भूलो का विवेचन करना सम्भव नही है; केवल शब्दविषयक कतिपय भूलो का उल्लेख किया जा रहा है। हिन्दी मे आजकल बहुत शोधनिबन्ध तथा प्रबन्ध प्रकाशित हो रहे है। इन सभी मे सन्दर्भ-निर्देश की आवृत्ति के लिए 'वही' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जो लैटिन शब्द 'आइबिडेम' के सक्षिप्त रूप 'इबिड' का शब्दार्थ है। अग्रेजी शब्दकोशो मे 'Ibid' का अर्थ 'उसी स्थान पर' (In the same place) मिलता है। अतएव हिन्दी मे इसका अनुवाद 'वहीं' (उसी मे या उसी स्थान पर) होना चाहिए; 'वही' लिखना अशुद्ध है।

इसी प्रकार सस्कृत मे 'वेद' शब्द का अर्थ ज्ञान है। किन्तु अनुवाद करते समय उस का अर्थ 'ज्ञान' करना उचित न होगा। वेद का भाव बताने के लिए 'वेद' (ज्ञान) कोष्ठक मे लिखा जा सकता है। वेद शब्द बहुवचन है। वेद चार है। उन मे से एक यजुर्वेद भी है। यजुर्वेद के दो भेद हैं—कृष्णयजुर्वेद और शुक्ल-यजुर्वेद। किसी अग्रेजी लेखक ने कृष्णयजुर्वेद का शब्दशः अनुवाद 'Black yajurveda' कर दिया। उस पुस्तक का जब हिन्दी मे अनुवाद किया गया, तो अनुवादक ने उस शब्द का अनुवाद 'श्याम यजुर्वेद' कर दिया; जबकि कृष्णयजुर्वेद करना चाहिए था, क्योकि श्याम नाम का कोई यजुर्वेद नहीं है। अतः सांस्कृतिक

परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण उस से यह भूल सहज में ही हो गई। इसी प्रकार कुछ ऐतिहासिक और पौराणिक प्रसंगों की जानकारी न होने से तथा सांस्कृतिक परम्परा की अनभिज्ञता से शब्दशः अनुवाद करना असम्भव हो जाता है। अतएव ऐसे शब्दों और पदो को ज्यों का त्यो दे देना अधिक उपयुक्त होगा।

सक्षेप में, अनुवाद में शब्दो के माध्यम से अर्थगत अभिव्यंजना को स्पष्ट किया जाता है। इसलिए इस बात की सावधानी रखना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है कि जिन शब्दों को शब्दान्तरो मे स्थानान्तरित किया जाता है, उन के साथ रूपान्तरित अर्थ-व्यजना ज्यों की त्यों अभिव्यक्त हो रही है अथवा नहीं। वास्तव मे अनुवाद की सभी सप्रेषण-क्रियाएँ जितनी भाषा और उस के अभिव्यंजना पक्ष से सम्बन्धित है, उस से कही अधिक मूल रचना के भाव और विषय-वस्तु से सम्बद्ध हैं। इस के अतिरिक्त मूल रचनाएँ जिन-जिन विषयो की हैं, उन-उन विषयो के व्यावहारिक, सैद्धान्तिक और प्रायोगिक, आदि अनुभवों का ज्ञान विशेष रूप से अनुवाद के लिए अपेक्षित है। इस प्रकार अनुवाद एक कला होने के साथ ही महती साधना है। जो ज्ञान और चिन्तन मे डूब कर इसे सम्पादित करता है, वही सफल अनुवाद कर सकता है।

अर्थ और शैली

भाषिक सरचना मे अर्थ शैलीगत वह रूप है, जिस मे शब्दो के संयोजन और प्रस्तार में अर्थवत्ता अभिव्यजित की जाती है। शैली रचना या वस्तु-विन्यास नहीं है। रचना का सीधा-सादा अर्थ उपयुक्त शब्द-विन्यास है। केवल शब्दो का ही नहीं, वाक्यों और अनुच्छेदों का भी विन्यास इस प्रकार किया जाता है कि एक क्रम में ठीक अर्थ-बोध होता है। यह शैली का एक तत्त्व माना जाता है। हडसन के अनुसार मोटे तौर पर शैली का निर्माण बौद्धिकता, भावुकता और सौन्दर्य इन तीन तत्त्वो से होता है।[४०] बौद्धिकता का सम्बन्ध लेखन-कला से है। लेखन-कला मे शब्दो का औचित्यपूर्ण सन्निवेश, शब्द-विन्यासगत वाक्य मे अर्थ की स्पष्टता, शब्दो का अल्प प्रयोग और विचार तथा अभिव्यक्ति की पूर्ण अन्विति रहती है। भावुकता तत्त्व का सम्बन्ध विचारो के स्पष्टतया प्रस्तुतीकरण से है। जिस लेखन मे लेखक केवल अपने भावों को ही नहीं भरता है, वरन् अपने प्रभाव को उत्पन्न करने वाली मानसिक दशा को भी अभिव्यक्त कर देता है, वास्तव मे वह एक कला है। सौन्दर्य तत्त्व से शैली में कलात्मक भव्यता आती है, जो तुरन्त ही सगीतात्मकता और चित्रात्मकता का आनन्द प्रदान करती है। ये तीनो तत्त्व परस्पर संयुक्त हो कर जिस रूप को उत्पन्न करते है, उसे शैली कहा जाता है।[४१] शैली एक मौलिक कला भी है। इसलिए जो कहना आवश्यक है, यदि उसे ठीक से कहा जाय तो उस मे शैलीगत विशेषता किसी न किसी रूप में प्रकट हो जाएगी। मनुष्य की शैली उस के व्यक्तित्व और चरित्र से घनिष्ठ सम्बद्ध है। यह उसी प्रकार से व्यक्तिगत है; जैसेकि बोल-चाल। हम अपने परिचितो को केवल

बोल या चाल के ढंग से ही पहचान लेते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि शैली ही मनुष्य है (Style is the man)। शैली मे मनुष्य की प्रतिभा निहित रहती है। अतएव जहाँ कहीं शैली है, वहाँ मनुष्य है। यह प्रतिभा बौद्धिक या अर्थगत होती है, इसलिए अर्थ और शैली का वही सम्बन्ध है, जो बुद्धि और मानसिक प्रक्रिया का है, जिसके उत्तेजित होने पर ध्वनियाँ उत्पन्न होती है और शब्दगत रूप ग्रहण करती है। वास्तव मे अर्थ और शैली एक दूसरे से सयुक्त और सूक्ष्म रूप हैं, जिन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि रचना मे अर्थगत शैली और शैलीगत अर्थ की व्यजना अनिवार्य रूप से निहित रहती है। शैली अर्थ को प्रकट करती है और अर्थ मे शैली का अमूर्त रूप विद्यमान रहता है। उदाहरण के लिए, कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं :

जिन मे डूबी डूबी दिखती
ध्यानमग्न तस्वीर बोधितरु के नीचे की।
(गिरिजाकुमार माथुर : नाश और निर्माण)

इस मे शैलीगत अर्थ के कारण महात्मा बुद्ध का प्रतीक बोधितरु के माध्यम से एक चित्रात्मक रूप मे अभिव्यजित हो रहा है।

शैली का सम्बन्ध एक ओर वस्तु-रूप से है और दूसरी ओर अर्थ से। वस्तु-रूप के अन्तर्गत वाक्य-विन्यास का विचार किया जाता है और अर्थ मे भाव-पक्ष निहित रहता है। अभिव्यक्ति के उद्देश्य से जिस पद्धति मे शब्द-विन्यास किया जाता है, उसे ही सामान्य रूप से शैली कहा जाता है। यद्यपि शैली सदा बाह्य-वस्तु है, किन्तु उसे केवल बाह्य ही नहीं समझना चाहिए, जैसाकि डी क्वेन्सी ने कहा है कि वह विचारो की मूर्तिक अवतारणा है और जैसाकि बेन जानसन ने कहा है कि सभी भाषण मे शब्द और अर्थ शरीर और आत्मा की भाँति है।[१२] शैली वस्तु-रूप को मूर्तिमान् करती है और अर्थ उसे अभिव्यक्ति प्रदान करता है। इस प्रकार अर्थ और शैली का सम्बन्ध अभिन्न है। शैली मे वस्तु रीति ग्रहण करती है और अर्थ से प्रकाशित होती है। शैली यदि वस्तु की देह है तो अर्थ उसका प्राण है। दोनो के सयोग से ही भाषा अपने रूप को अभिव्यजित करती है।

शैलीतत्त्व

हिन्दी मे 'शैली' शब्द अंग्रेजी के 'स्टाइल' (Style) शब्द का समानार्थी माना जाता है, जिस का उद्भव लेटिन 'स्टिलुस' (Stilus) से कहा जाता है, जो प्राचीन काल मे उस यन्त्र का वाचक था, जिस से मोम लगी हुई पटिया पर लिखा जाता था।[१३] आधुनिक युग में यह सामान्य रूप से भाषा मे भावो की अभिव्यक्ति के ढग का वाचक है। भारतीय काव्यशास्त्र मे इस का समानार्थी शब्द 'रीति' कहा जा सकता है। 'रीति' शब्द केवल अलकारशास्त्र की पद्धति का ही नहीं, वरन् सौन्दर्यबोध का भी अर्थ प्रदान करता है। अरस्तू ने स्पष्टता, शुद्धता, औचित्य, और उदात्तता के

साथ आलंकारिकता को भी शैली का विशेष गुण माना है। होरेस, सिसरो और लौञ्जिनस की निष्पत्तियों की समानता आ० वामन के रीति-सिद्धान्त में परिलक्षित होती है। वास्तव मे रीति विषयक भारतीय मान्यता आ० क्षेमेन्द्र के औचित्य और कुन्तक के वक्रोक्ति के सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य मे समझे बिना पूरी तरह से स्पष्ट नहीं हो सकती। इन तीनो ही मान्यताओ मे वस्तुपरक विवेचन एवं दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। किन्तु पाश्चात्य साहित्य मे अब शैली की व्याख्या आत्मपरक दृष्टिकोण से की जाने लगी है। वाल्टर पेटर ने इसे आन्तरिक स्वप्नों को स्थान देने वाली उत्कृष्ट कला की सज्ञा से अभिहित किया है, तो स्टेन्दल (Stendhal) ने इस के माध्यम से विचारों को प्रभावोत्पादक बनाने की दृष्टि से बाह्य परिस्थितियो के ऐसे समग्र नियोजन की चर्चा की है, जो उसे इस विशिष्टता से अभिहित करने मे समर्थ हो। 'बफन' (Buffon) ने शैली को ही व्यक्तित्व मान लिया, तो 'शापेनहावर' (Schopenhauer) ने इसे मस्तिष्क की 'बाह्य आकृति' की सज्ञा से अभिहित किया है। न्युमेन (Newman) ने इसे भाषा के माध्यम से सोचने की प्रक्रिया के रूप मे व्यक्त किया है। इस प्रकार विवेचन से रीति का सम्बन्ध स्थापित करना उपयुक्त है।[४] अतएव रीति शब्द सामान्य रूप से ही शैली का समानार्थक हो सकता है।

शैली के अन्तर्गत मुख्य रूप से शब्द चयन का विचार किया जाता है। सभी रीति और पद्धतियो के बीच जब लेखक के सामने चयन करने का प्रश्न उत्पन्न होता है, तो यह उसका विकल्प होता है कि वह वाक्यविन्यासात्मक रचना और कोशगत तत्त्वो का चयन करे, जो शैली तत्त्व के विषय हैं।[२] शैली-विज्ञान एक अधुनातन विषय है। इस के अन्तर्गत साहित्यिक भाषा का विश्लेषण शैलीगत तत्त्वों के आधार पर किया जाता है। इस मे आलंकारिक और वाक्यविन्यासात्मक साँचो एव उन सभी रीतियों का अध्ययन किया जाता है, जिन का अभिव्यजनात्मक मूल्य होता है।[४] काव्यालोचन के विभिन्न दृष्टिकोण है। काव्य-रूप के अध्ययन करने का उद्देश्य भी दुहरा होता है। प्रथम काव्य के ध्वनि-रूप का अध्ययन किया जाता है, जो कि रूढ या पारम्परिक होता है। दूसरे, यह व्याख्या की जाती है कि उन का यह रूप क्यो है। भाषा के लिखित तथा मूर्त रूप मे सौन्दर्यात्मक औचित्य का भी अध्ययन किया जाता है। काव्य के अनुशीलन करने की अधुनातन पद्धति के अनुसार स्थूल रूप से चार वर्ग माने जाते है[५]—(१) शास्त्रीय, (२) सगीतात्मक, (३) शरीरप्रक्रियात्मक और (४) भाषातात्त्विक। शास्त्रीय पद्धति अपने परिवेश में एक ओर वर्णिक, मात्रिक तथा लयात्मक छन्दों से अन्वित रहती है और दूसरी ओर काव्यशास्त्र के नियमो से अनुबन्धित। यह पद्धति आज भी सभी प्रकार के काव्य-रूपों के लिए प्रचलित है। संगीतात्मक पद्धति इस कल्पना पर आधारित है कि सभी काव्यो की लय सममात्रिक होती है, किन्तु संगीत मे अक्षरो की माप की शाश्वतता सदा एक जैसी ही होती है। यह किसी विशिष्ट काव्य-विधा के लिए लागू नहीं होती। शरीरप्रक्रियात्मक पद्धति मे अपने

सर्वोच्च रूप मे यह माना जाता है कि पठित काव्य के परिणामस्वरूप जो वायु-तरंगें उत्पन्न होती है, उन से ही काव्य की परिचिति होती है। यह पदार्थगत होने की बजाय सम्भवतः सभी पद्धतियो में सर्वाधिक व्यक्तिगत है, क्योंकि इन दो कारणों से वायु-तरंगें एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति मे भिन्न होती हैं। प्रथम, एक व्यक्ति की स्वरतन्त्री दूसरे व्यक्ति से भिन्न देखी जाती है और दूसरे, शारीरिक रचना एक मनुष्य से दूसरे की भिन्न होती है। इसी प्रकार सभी व्यक्तियों की मनोदशाएँ भी भिन्न होती हैं। अतएव कविता की परिभाषा में यह कहा गया है कि वह वायु-तरगो की श्रेणी न हो कर ध्वनि-रूपों (Sound-forms) की श्रेणी है।[४६] अधुनातन भाषावैज्ञानिक पद्धति एक साख्यकीय पद्धति है। इस में उन भाषातात्त्विक रूपो का अन्तर निर्दिष्ट किया जाता है, जो कि सौन्दर्य के अनुरूप तथा उन से भिन्न हैं; किन्तु सौन्दर्य की दृष्टि से सापेक्षिक अनुवृत्ति (frequency) रूप वाले होते है।[४७] अर्वाचीन समीक्षा ने काव्य के इतर अगों की तुलना मे भाषा विषयक चिन्तन को अधिक प्रमुखता दी है। इस विषय पर आइ० ए० रिचर्ड्स, जे० सी० रेन्सम और टी० एस० इलियट के विचार महत्त्वपूर्ण है। 'काव्यत्व शब्दार्थ नही है, किन्तु उन से अनुबद्ध अनुभूतियो और वृत्तियो का सम्पृक्त रूप है।' रिचर्ड्स की इस मान्यता में काव्यालोचन मे अर्थ को केन्द्रीय स्थान प्रदान किया गया है। उन्होंने प्रयोग की दृष्टि से भाषा के दो भेद माने है—तथ्यात्मक (referential) और रागात्मक (emotive)। इस रागात्मकता की भिन्नता के कारण ही शैलीगत वैविध्य परिलक्षित होता है। इलियट ने 'अनुभूतियों' और 'सवेगों' को काव्य का केन्द्रबिन्दु माना है। इन सभी वैचित्र्यों के कारण काव्य एक सूक्ष्म पदार्थ माना जाता है और उस की अर्थवत्ता के सम्बन्ध से ही उस की शैलीगत भिन्नताओं की चर्चा की जाती है। भाषा मे शैली का विभिन्न दृष्टियो से अध्ययन किया जाता है। सेबाक ने मुख्य रूप से शैलीगत अध्ययन के चार रूपों का उल्लेख किया है[४८]—शैली का व्याकरणात्मक रूप, ध्वन्यात्मक, छादस और भाषातात्त्विक रूप।

एडवर्ड गिबन (Edward Gibbon) ने उचित ही कहा है कि शैली में लेखक के विचारों की प्रतिभा होनी चाहिए, किन्तु इसके साथ ही भाषा पर अधिकार होना भी अपेक्षित है, क्योंकि इसमे विचारो को क्रमबद्ध रूप मे अभिव्यक्त किया जाता है। जिस प्रकार कवि शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध मे सजग रहता है, उसी प्रकार पाठक भी पढते समय सावधान रहता है। शैलीतत्त्व का सम्बन्ध अभिव्यजनात्मक तत्त्व से है। इस का अध्ययन ध्वनिग्रामीय स्तर पर किया जाता है, जो सघटनात्मक भाषाशास्त्र का विषय है। अर्थतत्त्व की भाँति शैलीतत्त्व का सम्बन्ध केवल अभिव्यजना से ही न हो कर चिन्तन की पद्धति से भी है। वस्तुरूप मे वह वर्णात्मक लय तथा छन्दो से और कल्पना एव बिम्बों से आकृति ग्रहण करती है। भाषिक अध्ययन मे उस के दो विभाग किए गए हैं[४९] : भाषातात्त्विक सघटकों का अध्ययन और छादस संरचना का

अध्ययन। फिर, भाषातात्त्विक संघटना के भी दो भेद किए गए हैं : छन्द के ध्वनिप्रक्रियात्मक संघटक तथा वाक्य-विन्यास। छन्द के उद्देश्य से एक आघात में उच्चरित अक्षर मूल रूप में दो वर्गों मे व्यवस्थित किए जाते हैं—तीन में भी—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इसी प्रकार विविध छान्दस स्तरो पर शब्द, :, वाक्य-रेखाओं मे, श्लोकों मे और पद्यों मे विन्यस्त किए जाते है। उन की स्थिति निश्चित करने की दृष्टि से रेखाएँ दो प्रकार की होती हैं[१०] : सम-अक्षरात्मक और सम-गत्यात्मक। शैली की यह विशेषता कही जाती है कि वह वैषम्य और वैविध्य के बीच भी स्थिर बनी रहती है। वास्तव में यही शैली की उपयोगिता है कि हम जो लिखना चाहते है, सरलता से वही लिख सकते हैं तथा जो लिखते हैं, वही पढते हैं या समझते हैं।

यथार्थ मे, शैली रूपात्मक अभिव्यंजना है। अनुभूति की मूर्त सवेदना को 'रूप' कहा जाता है। इस रूप की अभिव्यंजना ही शैली मे परिलक्षित होती है। शैली के द्वारा ही साहित्यिक सरचना की पहचान कर उस का समीक्षात्मक अध्ययन किया जाता है। साहित्यक-समालोचक और भाषावैज्ञानिक दोनो ही किसी रचना के मूल तक पहुँचने के लिए उस की भाषा का सर्वप्रथम अध्ययन करते हैं। प्रत्येक रचना के मूल मे दो बातें अनिवार्य रूप से पाई जाती है—ढॉचा (Design) और सौन्दर्यबोध (Aesthetic sense)। भाषा के माध्यम से इन की अभिव्यक्ति कैसी होती है, इसी का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाता है। यह अध्ययन तीन स्तरों पर किया जाता है—(१) व्याकरण, (२) शब्दकोश, और (३) ध्वनि-प्रक्रिया। इन तीनों ही स्तरो से भाषा का अभिव्यजनात्मक रूप अभिव्यक्त होता है। यह कला-सृजन की सम्पूर्ण प्रक्रिया से अनुबिद्ध रहता है। इस मे मुख्य रूप से कलाकृति का भौतिक मूर्त रूप प्रकट होता है। इस के सृजन में भाव-तत्त्व प्रधान रूप से वस्तु-रूप में निहित रहता है। क्या शैली, क्या रीति और क्या वक्रोक्ति सभी का आधार कल्पना है। साहित्यिक सरचना मे कल्पना-तत्त्व तिल मे तेल और दूध मे घी की भॉति परिव्याप्त रहता है। शैलीविज्ञान हमे भाषा की उस स्थिति तक ले जाता है, जहाँ मानस प्रतिमा की संरचना, कल्पना, भाषा का फैलाव और उसका प्रभाव, आदि सन्निहित रहते हैं। शैलीतत्त्व के अन्तर्गत इन्ही सब का अध्ययन किया जाता है।

अर्वाचीन समीक्षा ने काव्य के अन्य अंगों की अपेक्षा भाषा सम्बन्धी अध्ययन पर विशेष बल दिया है। क्योकि संरचना के प्रत्येक स्तर पर भाषा मूर्त और अमूर्त दोनो ही तत्त्वों से सयुक्त रहती है। इसलिए नव्य मत मे काव्य का काव्यत्व शब्दार्थ मे नहीं, उस से सम्बद्ध अनुभूतियों और वृत्तियों में लक्षित होता है। इस सम्बन्ध में आइ० ए० रिचर्ड्‌स, जे० सी० रेन्सम और इज़ाबेल हंगलैंड के विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इधर 'द न्यू क्रिटिसिज्म एंड द लैंग्वेज ऑव पोइट्री' में अमरीका के नव्य समीक्षक रेन्सम ने रिचर्ड्‌स के इस मत पर विरोध प्रकट किया है कि काव्य की भाषा ऐकान्तिक रूप से भावनिष्ठ होती है। जॉन क्रोवरेन्सम ने यह मत प्रस्तुत

किया है कि काव्य में अर्थ और छन्द के बीच एक सम्बन्ध रहता है; किन्तु काव्य की भाषा सामान्य भाषा से भिन्न नहीं है। काव्य की भाषा के माध्यम से ही काव्य तक पहुँचा जा सकता है।

प्राचीनो मे आचार्य वामन से ले कर आ० दण्डी और आनन्दवर्धन तक काव्य-संरचना पर भलीभाँति विचार किया गया। आ० वामन 'रीति' कह कर जिस काव्यात्मक सघटना का विशद विवेचन करते है, उसी का 'रसवदलङ्कार' के रूप मे आ० दण्डी और आनन्दवर्धन ने तथा वक्रोक्ति के रूप मे आ० कुन्तक ने प्रतिपादन किया है। केवल विषय प्रतिपादन की रीति की भिन्नता है। आ० आनन्दवर्धन ने काव्य-सरचना का विचार करते हुए तीन मुख्य बिन्दुओ की चर्चा की है। ये है : (१) कविमानस, (२) काव्य-रचना, और (३) सहृदय की सवेदना। साहित्यिक सरचना के समय कवि-प्रतिभा जिस काव्य-रूप के निर्माण मे निरत थी, उस का सम्यक् अध्ययन करना ही वास्तविक समीक्षा है। टी० एस० इलियट ने इसे ही वस्तुमूलक प्रतिरूपता (objective correlative) कहा है। काव्य-सरचना से जो प्रभाव प्रतिफलित होता है, उसे ही काव्य-रचना कहा जाता है। काव्य-रचना के अनुकूल ही सहृदय का अनुभव सवेदनशील होता है। अतएव अर्वाचीन और प्राचीन दोनो प्रकार की समीक्षाओ मे उक्त तीनो बाते संश्लिष्ट रूप मे निहित रहती है। इन तीनो के ही सयुक्त रूप को आ० वामन ने एक सामान्य शब्द 'रीति' नाम से अभिहित किया है। साहित्य मे लेखक की अनुभूतियाँ कलात्मक रूप मे अभिव्यजित की जाती है। उस मे रागात्मक तत्त्व सामान्य भाषा की अपेक्षा अधिक गहन एव संश्लिष्ट लक्षित होता है। शैलीतत्त्व के माध्यम से हम वक्ता या लेखक की उस मनःस्थिति तक पहुँचने मे समर्थ होते है। हॉकेट ने ठीक ही कहा है कि किसी भाषा के जब दो उच्चार लगभग समान सकेतार्थ के सूचक होते है, किन्तु जो भाषिक सरचना मे भिन्न होते हैं, तब यह कहा जाता है कि वे शैली मे भिन्न है।[५१] वस्तुतः भाषिक चयन, भाषिक पद्धति एव सहिता के आनुपातिक सम्बन्धो मे शैली का सयोजन होता है। एन्कविस्ट का कथन है कि शैली रचनागत प्रक्रिया का वह समुच्चय समानुपात है, जो कि ध्वन्यात्मक, व्याकरणिक तथा कोशीय रूपो और व्यावहारिक रूपो के मध्य सन्दर्भात्मक मानक से सम्बद्ध परिलक्षित होते है।[५२] इस प्रकार शैलीतत्त्व एक अभिव्यजनात्मक रूप है, जो वस्तुगत रूप को अभिव्यक्त करता है और जिसे क्रोचे ने कला का रूप माना है। अभिव्यजना और कला दोनों मे ही रूप की प्रधानता है। हमारी सवेदनाएँ वस्तु या सामग्री का कार्य करती है, किन्तु अभिव्यजना से रूप का जनन होता है।[५३] काव्यशास्त्र मे ध्वनिसिद्धान्त के रूप मे अभिव्यजना एक ऐसी शक्ति मानी गई है, जो लेखक और पाठक के बीच एक सामान्य भाव-भूमि पर अनुभूतियो एव सवेदनाओं के सम्प्रेषण का कार्य सम्पादित करती है, जिसे साधारणीकरण कहते है। साधारणीकरण के माध्यम से ही पाठक रस-दशा को प्राप्त

होता है। दूसरे शब्दों में, भाषा के माध्यम से जब पाठक या श्रोता किसी लेखक की रचना से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर लेता है—उसे पढ़ कर या सुन कर उस में तल्लीन हो जाता है और उस भाव-दशा में पहुँच जाता है, जिस भाव-दशा को प्रकट करने के लिए लेखक या वक्ता ने भाषा का प्रयोग किया है, तब उस प्रक्रिया को साधारणीकरण कहा जाता है। चार्ल्स आसगुड इसी बात को प्रकारान्तर से कहते हैं : रचना-प्रक्रिया मे शैली मानकों से वैयक्तिक अतिक्रमणो के रूप मे परिभाषित की गई है, जिस मे लेखक या वक्ता भाषा की संहिता का प्रयोग करता है। ये अतिक्रमण उन संघटनात्मक रूपो के सांख्यिकी गुणो के कारण होते है, जिन का अस्तित्त्व किन्हीं रूपो मे अपनी संहिता से चयन करना होता है।[४४] ये अतिक्रमण कई प्रकार के हो सकते है—व्यक्तिमूलक, परिस्थितिमूलक और भावमूलक, आदि; किन्तु काव्य में केवल व्यक्तिमूलक अतिक्रमण किया जाता है क्योंकि इस के बिना साधारणीकरण स्थापित नहीं होता। इसी बात को अधिक स्पष्टता के साथ यों कहा जा सकता है कि साहित्यकार निर्धारित भाषात्मक रूपों का समुचित अतिक्रमण करता है, भाषा को नए रूप मे ढालता है, सॅवारता है और नई सरचना प्रदान करता है, उस मे नए शब्दों का निर्माण करता है, नए परिवर्तन लाता है तथा उसे व्यापक आयाम मे समेटता है। यही उसका अभिव्यजनात्मक व्यवहार (Expressive behaviour) है, जो शैली का प्रमुख लक्षण है।[४५] आ० कुन्तक ने सामान्य भाषा से काव्य की भाषा और काव्य की भाषा से शास्त्र की भाषा को भिन्न कहा है। इन में जो भिन्नता उत्पन्न करने वाला तत्त्व है, उसे वक्रता और जो उक्ति है, उसे वक्रोक्ति कहा गया है। वक्रोक्ति को ही विचित्रोक्ति भी कहा गया है। शब्द और अर्थ का वैचित्र्य चमत्कारजन्य कहा गया है। यह चमत्कार काव्य-रचना मे परिव्याप्त रहता है। अतएव भाषिक सरचना मे नाद, ध्वनि, लय, शब्द, पद और वाक्य, आदि का विचार किया जाता है। काव्यगत अनुभूतियाँ बिम्बो मे अभिव्यंजित होती हैं। इसलिए व्याकरणिक अध्ययन से काव्यगत सौन्दर्य या कला की परख नहीं की जा सकती। काव्यकला का प्रतिफलन तिर्यक् रूप मे होता है, जिसे श्रेणीबद्ध नही किया जा सकता। इसे ही काव्यशास्त्र की भाषा में वक्रतावाद कहा गया है। व्यवहार में भी 'यह सामने ठूँठ खड़ा है' यह कहने की अपेक्षा 'यह नीरस तरु सम्मुख शोभायमान हो रहा है' कहने मे एक विशेष चमत्कारजन्य शैली का बोध होता है। इसी प्रकार यह कहने के बजाय कि 'आप का नाम क्या है' यह कहना कि 'कौन से पुण्यशाली अक्षर आप के नाम की सेवा करते हैं' चमत्कारजनित है। इसे ही ध्यान मे रख कर आचार्य कुन्तक ने सुकुमार, विचित्र और मध्यम, ये तीन प्रकार के अपने युग के व्यावहारिक मार्ग माने हैं।[४६] काव्य-रचना के ये तीन मार्ग (भाषा, प्रयोग, शैली) कहे गए हैं। देशविशेष की पद्धति तथा प्रथा के आधार पर अलग-अलग आचार्यों ने भिन्न भिन्न शब्दों में विभिन्न काव्य-रचना की रीतियों का वर्णन किया है। आचार्य आनन्दवर्धन ने संस्कृत काव्य-संघटना का विचार समास के आधार पर किया है। संस्कृत एक

समासप्रधान भाषा है। उस की मुख्य विशेषता समासनिष्ठ होना है। अतएव संस्कृत मे काव्य-सघटना के भेद समास की अल्पता, मध्यमता, प्रचुरता, रसनिरपेक्ष और सापेक्ष के आधार पर किए गए है। सस्कृत मे कथा गद्य मे तथा प्राकृत, अपभ्रंश, आदि भाषाओं मे पद्य मे कहने का विधान रहा है। वस्तुतः यह शैली का विषय रहा है। 'ध्वन्यालोक' मे आ० आनन्दवर्धन ने काव्य सघटना का विचार करते हुए शैलीगत भेद (पर्यायबन्ध) से परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा और उपकथा, आदि का विवेचन किया है।[५७] काव्यबन्ध के ये भेद प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में ही मिलते है। इस प्रकार प्राचीनो के द्वारा भी काव्य-सघटना का अनुशीलन भाषागत शैली के सन्दर्भ मे किया गया है।

प० अ० बराविकोव ने 'आधुनिक हिन्दी मे शैली-पर्याय' नामक निबन्ध मे ई० प० चेलिशेव का उल्लेख करते हुए कहा है कि आधुनिक हिन्दी भाषा को छह शैलियों मे विभक्त किया जा सकता है: (१) विशुद्ध हिन्दी, (२) संस्कृतबहुल हिन्दी, (३) चलती हुई साधारण हिन्दी, (४) ठेठ हिन्दी (तद्भव शब्दो का प्राधान्य), (५) उर्दू मिश्रित हिन्दी, और (६) विशुद्ध उर्दू (जिस मे कतिपय विशेषणो, परसर्गों एव सरल क्रियाओ के अतिरिक्त शब्दावली एव साहित्यिक शैली अरबी-फारसी की होती है)। युग-युगो की परिवर्तनशीलता की भाँति भाषा और शैली में भी परिवर्तन होता रहता है। भाषा और शैली का भी अपना जीवन और आदर्श होता है। खडी बोली और उस के इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि खडी बोली और साहित्यिक हिन्दी की शैली मे क्या अन्तर है।

शैली और शैलीतत्त्व को समझ लेने के बाद प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या भाषा की साधुता का नाम शैली है? ठीक भाषा और शैली मे क्या अन्तर है? क्या सम्यक् वाक्य-विन्यास शैली नही कहा जा सकता? प्रयोग करने वाला बोलियो के जिन प्रचलित रूपो का प्रयोग करता है, वे सब ठीक होते है। भाषाशास्त्र की दृष्टि में किसी भी प्रकार के ग्रामीण, क्षेत्रीय या बोलीगत प्रयोग असाधु या असगत नही होते। हिल महोदय का कथन उचित ही है कि—साधुता (correctness) कहना कोई तर्क नहीं है, क्योंकि व्यापक रूप से सभी भाषाएँ अतार्किक है। साधुता के मूल मे कोई सौन्दर्य नही है, जो वस्तु-रूपों मे निहित हो।[५८] इसलिए यदि किसी बोली मे 'अ' और 'ब' दो रुप प्रयुक्त होते हो तो यह कहना असम्भव है कि एक ठीक है और दूसरा ठीक नही है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि इस सन्दर्भ और स्थिति में 'ब' की अपेक्षा 'अ' ठीक है। किन्तु इन दोनो से भिन्न एक तीसरी स्थिति भी हो सकती है, जिस मे शैलीगत भिन्नता का कोई कारण लक्षित न हो।[५९] अतएव साधुता का विचार व्याकरण करता है, किन्तु शैली का सम्बन्ध साहित्यिक सौन्दर्य से होता है। उदाहरण के लिए:

अबला जीवन ! हाय तुम्हारी यही कहानी।

तथा—

राम ! तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है।

'अबला', 'हाय' और 'वृत्त' शब्दों के प्रयोग से जो अभिव्यंजना व्यक्त हो रही है, वह पर्यायवाची शब्दो से प्रकट नहीं हो सकती। इस प्रकार के सटीक और सार्थक शब्दो से ही सौन्दर्य अभिव्यंजित होता है। यद्यपि विलियम स्ट्रन्क ने शैली के तत्त्वो की चर्चा करते हुए प्रयोगों के सामान्य नियमों का उल्लेख किया है और रचना के प्रारम्भिक नियमों एवं शैली विषयक इक्कीस बातो पर ध्यान देने का निर्देश किया है[१०], किन्तु मुख्य रूप से यह विषय भाषा के अभिव्यक्ति पक्ष से सम्बद्ध है, इसलिए अभिव्यक्ति की स्पष्टता, सांकेतिकता, सहजता और बिम्बात्मकता जितनी व्यंजक तथा स्फीत होगी, शैली उतनी ही अच्छी मानी जाएगी।

कल्पना

कल्पना शब्द का अर्थ 'रचना' है। साहित्यशास्त्र में सामान्य रूप से मौलिक उद्भावना को कल्पना कहा जाता है। आइ० ए० रिचर्ड्स ने कल्पना को रूपान्तरण की क्रिया माना है।[११] वह एक प्रकार की मानसिक प्रवृत्ति है, जो ढाँचा निर्माण करती है। कोलरिज ने कल्पना को मौलिक रचना के रूप में स्वीकार किया है और सांगीतिक आनन्द प्रदान करना कल्पना की देन मानी है।[१२] कल्पना के द्वारा ही लेखक या वक्ता किसी शब्द का प्रयोग करता है। इस सन्दर्भ में शब्द विचार और अर्थ की स्वचालित इकाई कहा जाता है। क्योंकि शब्द पढते ही कोई न कोई विषयगत चित्र हमारी ऑखो के सामने आ जाता है। यह चित्र या बिम्ब विशेष वस्तु, विशेष स्थान या विशिष्ट क्रिया आदि का होता है; सामान्य का नहीं। इसे ही हम दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि कल्पना का कार्य किसी विशिष्ट मानसिक स्थिति का निर्माण करना है, जिस की रचना बिम्बो के माध्यम से अभिव्यजित होती है। अतएव कल्पना का कार्य बिम्ब निर्माण करना, अमूर्त को मूर्तिक रूप प्रदान करना है। इसे बिम्ब-रचना का पूर्वरूप भी कहा जा सकता है, जिस मे स्मृतियों को जगाने का मुख्य कार्य कल्पना करती है। वास्तव मे बिम्ब का मुख्य आधार कल्पना ही है। कल्पना से ही समस्त सृष्टि की रचना हुई। प्रत्येक रचना के मूल मे कोई न कोई कल्पना अवश्य ही निहित रहती है। भौतिक जगत् के वैज्ञानिक अनुसन्धानों एवं आविष्कारो का सूत्रपात कल्पना से हुआ है। साहित्य की सृष्टि बिना कल्पना के असम्भव ही है। जिस लेखक की कल्पना-शक्ति जितनी उर्वर और स्फीत होगी, उस की रचना उतनी ही स्फूर्ति एव आनन्ददायक होगी। इस प्रकार साहित्य मे कल्पना एक मूल तत्त्व या प्रमुख बिन्दु के रूप में लक्षित होता है।

कल्पना के कई स्तर माने गए हैं। आदिम बिम्बों के निर्माण की प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए आधुनिक समीक्षक राबिन स्केल्टन ने उन के विकास के तीन स्तर माने हैं[१३]—ललित कल्पना (fancy), कल्पना (imagination) और पश्यन्ती

कल्पना (Vision)। पहला स्तर प्रत्यक्ष और भौतिक अनुभव का स्तर है, जो कवि के मन मे बाह्य यथार्थ के आभास के रूप मे प्रतिबिम्बित होता है। इन मानसिक प्रतिबिम्बो की व्याख्या सामान्य अनुभव के धरातल पर की जा सकती है। ये प्राथमिक बिम्ब बौद्धिक धारणाओ से भिन्न नही होते। परन्तु जब कवि-प्रतिभा इन प्राथमिक बिम्बो का पुनर्निर्माण करती है, तो वे अधिक व्यवस्थित और परिष्कृत हो कर विकास प्रक्रिया की दूसरी स्थिति मे पहुँच जाते है, जिसे विशुद्ध कल्पना का स्तर माना गया है। इन कल्पनात्मक बिम्बो की व्याख्या प्राथमिक बिम्बों के आधार पर ही की जा सकती है, यथार्थ स्थितियो के आधार पर नही, क्योकि कविता कल्पना को उद्बुद्ध करती है। कहा भी है कि कल्पना और अनुभूति से उत्पन्न विचारो को मधुर शब्दों मे अभिव्यक्त करने की कला कविता है।[५४] कविता मे बिम्बो का निर्माण कल्पना के द्वारा होता है। ललित कल्पना (fancy) मस्तिष्क की वह शक्ति है, जिसके द्वारा वह अतीत के बिम्बो और प्रभावो को जगाती है, प्रस्तुत करती है या प्रकट करने के हेतु उत्पन्न करती है।[५५] व्यापक अर्थ मे कविता कल्पना का क्रिया-कलाप कही गई है। कोलरिज ने प्रतिभावान (genius) और बौद्धिक (talent) का अन्तर निर्दिष्ट करते हुए बताया है कि प्रतिभावान कल्पना के समान है, जो रचनात्मक होता है और बौद्धिक ललित कल्पना (fancy) की भॉति है, जो केवल सायोगिक है। प्रतिभावान जन्मजात होता है और बौद्धिक उपलब्धि है। कवि जन्मजात प्रतिभासम्पन्न होता है, वह बनाया नही जाता।[५६] कहा जाता है कि स्पेन्सर (Spenser) की कविता मे कल्पना-दशाओ के अन्तर्गत ललित कल्पना (fancy) प्रयुक्त हुई है। उन की रचनाओ मे कल्पनात्मक लालित्य (imaginative fancy) है; किन्तु कल्पना नही है।[५७] ललित कल्पना (fancy) के सम्बन्ध मे वास्तविक रूप मे वर्ड्सवर्थ और कोलरिज के विचारो मे कोई अन्तर नही है। यद्यपि कोलरिज ने ललित कल्पना को परिभाषित करते हुए कल्पना का भी क्रियात्मक योग उस मे माना है, किन्तु वे ललित कल्पना को रचनात्मक शक्ति के रूप मे नही मानते।[५८] वह केवल वस्तुओ का तथा दृश्यो का चयन करती है। कल्पना की भॉति वह उन्हे आकृति प्रदान नहीं करती। वह चिन्तन की मौलिक सामग्री है, जो विभिन्न सयोगो के रूप मे प्रकट होती है। एक कविता मे वे ही तत्त्व व्याप्त होते है, जो कि किसी गद्य-रचना मे लक्षित होते है। उन दोनो मे अन्तर केवल सयोग का होता है। वर्ड्सवर्थ की दृष्टि मे ललित कल्पना रचनात्मक शक्ति है, किन्तु वास्तव मे वह यादृच्छिक रूप से दूरवर्ती वस्तुओ का आकलन कर उन्हे एकरूपता प्रदान करती है। नए सयोग में भी ललित कल्पना अपरिवर्तित रहती है। इस प्रकार कोलरिज और वर्ड्सवर्थ दोनों के विचार समान है। दोनो के अनुसार ललित कल्पना और कल्पना मे अन्तर यह है कि एक सायोगिक है और दूसरी एकरूपात्मकता की शक्ति। यह कह सकते हैं कि इन दोनो मे वही अन्तर है, जो मिश्रण और यौगिक की उत्पत्ति मे परिलक्षित होता है।

मिश्रण की भाँति ललित कल्पना में मूल गुण ज्यों के त्यों बने रहते हैं, किन्तु कल्पना की उत्पत्ति में वे नई वस्तु में परस्पर विलीन, विस्तृत, और भ्रष्ट हो जाते हैं। शेक्सपियर और मिल्टन की कविता की महत्ता का प्रमुख गुण कल्पना है।[९] यथार्थ में, ललित कल्पना स्मृति-वृत्ति (mode of memory) से भिन्न नहीं है, जो काल और अन्तरिक्ष की व्यवस्था से निर्मुक्त है।[१०] स्मृति किसी नवीनता का सर्जन नहीं कर सकती, किन्तु कवि की कल्पना पूर्ण रूप से भाषा और मानस प्रतिमा के रूप में प्रकट होती है। साहित्यिक रचना का पूर्ण व्यापार कल्पना का कार्य है। चिन्तन और रचना में कल्पना का ही कार्य लक्षित होता है। कल्पना में सकलित अनुभवों की आवृत्ति होती है। काव्य में जैसे कि द्रव्य का रूपान्तरण 'शैली' है, वैसे ही सकलित अनुभवों का सयोजन 'कल्पना' है।

कल्पना की रचना-प्रक्रिया

कोलरिज ने कल्पना के दो भिन्न स्तरों का उल्लेख किया है। उन का कथन है कि कल्पना या तो मौलिक होती है अथवा अपरागत। मौलिक कल्पना (primary imagination) उस सजीव शक्ति और मानवीय अनुभवों की प्रधान साधिका है, जो परिमित मस्तिष्क में अनन्त आत्मा के नित्य रचना-कार्य की एक आवृत्ति के समान है। अपरागत कल्पना (secondary imagination) को मैं पूर्व कल्पना का ही प्रतिबिम्बित रूप मानता हूँ।[११] प्रत्येक साहित्यिक रचना का कोई न कोई रूप होता है। वस्तु और रूप एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। काव्यगत प्रतिमा का शरीर सुन्दर अर्थ है, ललित कल्पना उस का परिवेश है, भाव ही उस का जीवन है और कल्पना उस की आत्मा है, जो सभी रूपों में सब ओर लक्षित होती है।[१२] वास्तव में, कल्पना से हमारा अभिप्राय कोलरिज के द्वारा उल्लिखित उस अपरागत कल्पना से है, जो मानव चेतना की शक्ति के रूप में प्रयुक्त होती है और जो मौलिक कल्पना से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं होती। वह नए सस्वरों के अर्थ प्रक्षिप्त करती है और रचती है। व्यापक अर्थ में अपरागत कल्पना काव्य विषयक क्रिया-कलाप है।[१३] कल्पना रचनागत कार्य में एकरूपता प्रस्थापित करती है। इसे कल्पना-शक्ति भी कहा गया है।

कविता का सद्यःजात उद्देश्य आनन्द प्रदान करना है, न कि सत्य को प्रकट करना है। काव्यगत आनन्द उस के गुणों में निहित रहता है। कविता यदि वास्तव में कविता है तो उस को यह गुण कल्पना प्रदान करती है, जो उस की रचना-प्रक्रिया में अन्तर्हित रहता है। एक आदर्श कवि अपनी कविता को रचते समय उच्च प्रकार की कल्पना एवं अभिव्यंजना का उपयोग करता है। कल्पना के द्वारा ही वह वस्तु को वह रूप प्रदान करता है, जिसे हम ढाँचा (design) कहते हैं। किसी भी वस्तु को रूप देने के लिए ललित कल्पना (fancy) स्मृतियों और अनुभवों की सतही सज्जा निर्माण करती है, जबकि कल्पना (imagination) अपना रूप स्वयं रचती है और उत्पन्न करती है। कल्पना की क्रिया की तुलना ऐन्द्रिय या जैविक वृद्धि और उसके रूपों से की जा सकती है, जो ऐन्द्रिय रूपों को विकसित करने के लिए 'आकृति ग्रहण करने

और रूपान्तरण की शक्ति' है, जोकि ललित कल्पना की 'आकलित और सयुक्त शक्ति' की विरोधिनी है। कल्पना ही कवि को ढाँचा प्राप्त करने में सक्षम बनाती है। कोलरिज ने कविता-सरचना की अपेक्षा इस का विवेचन प्रकृति तथा कल्पना के कार्य के सन्दर्भ मे किया है।[४४]

काव्य मे अनुभूतियाँ व्यजित की जाती है। कवि के मस्तिष्क मे जिन अनुभूतियो का सकलन होता है, वह उन पर नियन्त्रण करता है, उन्हे कोई न कोई रूप प्रदान करता है; किन्तु वह उन के स्वरूप को नही बदल सकता। प्रत्येक अनुभूति जीवन के कार्य-व्यापार से सम्बद्ध होती है। वह उसी रूप मे प्रकट होती है, जिस रूप मे जगत् मे घटित होती है। ससार मे हम जिन वस्तुओ के सम्पर्क, स्थितियो के सयोग और विभिन्न दशाओ की घटनाओ के सान्निध्य मे आते है, वे ही स्मृति के रूप मे कल्पना को जगाते हैं। अतएव कल्पना की रचना-प्रक्रिया जीवन और जगत की सामान्य अनुभूतियो से सम्बद्ध है। जब वह विशिष्ट अनुभूतियो को प्राप्त होती है, तब बिम्बो का निर्माण करती है, क्योकि उस के बिना भाव रस-दशा को प्राप्त नहीं होते। कल्पना का यह कार्य अन्तर्दृष्टि या पश्यन्ती कल्पना की सहायता से होता है। हर्बर्ट रीड (Herbert Read) का यह कथन उचित ही है कि सभी प्रकार की कला का जन्म प्रतिभा या पश्यन्ती कल्पना की क्रिया से होता है। पश्यन्ती कल्पना (Vision) मे वे दोनो रीतियाँ सम्मिलित है, जिन मे वस्तुएँ कवि के अर्थो से टकराती है और जो तदनन्तर अपने मस्तिष्क म प्रभावो को क्रमबद्ध करती है। इलियट की कविता मे पश्यन्ती कल्पना निश्चित रूप से अनुभूति के अर्थ के साथ प्रारम्भ होती है, जो तुरन्त ही मानसिक बिम्बो मे विस्तृत हो जाती है। सम्भवतः इस के लिए सर्वोत्तम शब्द 'जागृति' या विशेषण 'जागरूक' है। ये दोनो ही शब्द उन की कविता मे प्रमुखता से प्रयुक्त हुए है।[४५] कल्पना-शक्ति असीम है। उच्च स्तर के काव्य मे वह विभिन्न अलकारो तथा बिम्बो को जन्म देती है।

बिम्ब और प्रतीक

प्लेटो का यह कथन कितना सटीक है कि कला जीवन का बिम्ब है, और विषय-वस्तु का बिम्ब शैली है। प्लेटो की दृष्टि में बिम्ब का प्रथम अर्थ छाया है और दूसरा अर्थ जल मे या घनी बुनी हुई स्वच्छ सतह पर प्रतिबिम्बित होने वाली वस्तु का बिम्ब है। किन्तु इस प्रकार के बिम्बो का अपना कोई जीवन नहीं होता। वे मौलिक यथार्थता से भिन्न होते है।[४६] बिम्ब मस्तिष्क की आँखो से देखा जाने वाला रूप है। इसलिए लेखक और पाठक दोनो के ही मन मे यह बात विद्यमान रहती है कि कविता में वर्णित वस्तु चित्र के रूप मे हमारे सामने आनी चाहिए। वास्तव मे, कविता के लिए चित्र भाषा की आवश्यकता पडती है। ज्यो-ज्यो हमारे जीवन मे और सम्बद्ध समस्याओं मे परिवर्तन होता जाता है, त्यो-त्यो नित नवीन बिम्ब उत्पन्न होते रहते हैं। बिम्ब एक प्रकार से हमारे जीवन का चित्रात्मक रूप है। इस सन्दर्भ मे टी० ई० ह्यूम

का कथन उचित ही है कि कविता केवल विनिमय की भाषा नहीं है, किन्तु एक चाक्षुष पदार्थ भी है।[७८] बिम्ब मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के हो सकते हैं; किन्तु काव्य-बिम्ब चाक्षुप एवं मूर्त होते हैं। यद्यपि वे प्रत्यक्ष रूप मे हमारे सामने नही आते, किन्तु कल्पना उन्हे जो रूप प्रदान करती है, वह वास्तविक प्रतिबिम्ब की भॉति बिम्ब रूप मे मानसिक ऑखों के सामने उद्बुद्ध होते हैं। इन बिम्बो को जगाने में कल्पना के साथ ही नए शब्दो और अर्थो का योग रहता है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दो में "कवि को अपनी समृद्ध भावना तथा कल्पना के द्वारा इन बिम्बों को फिर से उभारना पडता है या शब्दो को नए बिम्बो से गर्भित करना पडता है। यही भाषा का भाव-कल्पनात्मक प्रयोग है। सस्कृत साहित्य-शास्त्र की लक्षणा और व्यंजना इसी कल्पनात्मक प्रयोग के माध्यम-उपकरण हैं। सामान्य बिम्ब से काव्य-बिम्ब मे यह भेद होता है कि १. इसका निर्माण सक्रिय या सर्जनात्मक कल्पना से होता है, और २. इसके मूल में राग की प्रेरणा अनिवार्यतः रहती है। इस प्रकार काव्य-बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस-छवि है, जिस के मूल मे भाव की प्रेरणा रहती है[७९]।" काव्य-बिम्ब के सम्बन्ध मे जो परिभाषाएँ मिलती है, उनमे से कुछ निम्नलिखित है :[७९]—

(क) बिम्ब एक प्रकार का शब्द-चित्र है।

(ख) बिम्ब वस्तुओं के आन्तरिक सादृश्य का प्रत्यक्षीकरण है।

(ग) बिम्ब ऐन्द्रिय माध्यम के द्वारा आध्यात्मिक अथवा तार्किक सत्यो तक पहुँचने का एक मार्ग है।

(घ) बिम्ब एक अपूर्व विचार अथवा 'भावना' की पुनर्रचना है।

(ङ) बिम्ब दो विरोधी सवेदनाओं अथवा अनुभूतियों का आन्तरिक तनाव है।

(च) बिम्ब कोई पदार्थ नही है, किन्तु पदार्थ की प्रतिकृति अथवा प्रतिच्छवि है।

(छ) किसी वस्तु या व्यक्ति के रूप की पुनर्रचना या अनुकृति का नाम बिम्ब है।

(ज) बिम्ब अनुभूयमान या दृश्यात्मक प्रस्तुतीकरण है।

(झ) बिम्ब प्रतीको के माध्यम से विचारो और उद्वेगो को कलात्मक रूप में अभिव्यक्त करने वाला कला कौशल है।

(ञ) बिम्ब एक ऐसा शब्द है जो कि ऐन्द्रिय भावानुभूतियों को जाग्रत करता है।

वस्तुतः सादृश्य-विधान के जितने रूप हो सकते है, वे सभी बिम्ब कहे जा सकते हैं। कविता अनुभूतियो का बिम्बात्मक रूप है। सामान्यतः बिम्ब के दो रूप कहे गए है—वस्तुगत और भावगत। बिम्बो को प्रत्यक्ष और परोक्ष अनुभवो से सम्बद्ध वर्गों मे विभाजित किया जाता है। प्रत्यक्ष अनुभवो से सिद्ध बिम्बो का सम्बन्ध पॉचो इन्द्रियों से है। परोक्ष अनुभव से सम्बद्ध बिम्ब के भेद हैं[८०] :—

१. अनुबिम्ब, २. प्रत्यक्ष-बिम्ब, ३. स्मृति-बिम्ब, ४. कल्पना-बिम्ब, ५. स्वप्न-बिम्ब, तन्द्रा-बिम्ब, ६. मिथ्याप्रत्यक्ष-बिम्ब-आदि।

संक्षेप में, बिम्ब एक चित्र, शब्द या प्रत्यय (Concept) का मानसिक रेखा-चित्र है।

दूसरे शब्दों में, उसे चित्रात्मक प्रत्यय भी कह सकते है। बिम्ब का मुख्य कार्य है—कोई न कोई चित्र खडा कर देना। ये बिम्ब दृश्य, वस्तु, क्रिया और भाव की भिन्नता से कई प्रकार के हो सकते है। अलग-अलग सन्दर्भों मे विविध बिम्बों का उल्लेख मिलता है। सामान्य रूप से बिम्ब के निम्नलिखित भेद माने जा सकते है :—

१. चाक्षुष बिम्ब (visual image),
२. श्रौत बिम्ब (auditory image),
३. नाद बिम्ब (sound image),
४. वस्तु बिम्ब (object image),
५. मिश्रित बिम्ब (synthetic image),
६. गतिशील बिम्ब (motor image),
७. ठोस या मूर्त बिम्ब (concrete image),
८. धारणाओं का सायोगिक बिम्ब (syncretic image)।

आदिम लोगो की भाषा बिम्बो और प्रतीको मे अत्यन्त समृद्ध थी। स्टॉर्च (Storch) के अनुसार आदिम विचार-धारा मे अमूर्त प्रत्ययो की अपेक्षा ठोस या मूर्त बिम्बो का व्यवहार प्रचलित था, जो उन का विशेष लक्षण माना जाता था।[१] बाइबिल मे कहा गया है कि ईश्वर ने मनुष्य को अपने बिम्ब (मानसिक चित्र) के अनुरूप बनाया।[२] कविता मानव-मन की प्राथमिक प्रक्रिया कही गई है। मनुष्य शाश्वत नियमो को रचने के पहले काल्पनिक विचारो को रचता है। इसी प्रकार पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग करने के पूर्व वह रूपको का प्रयोग करता है।[३] सभी प्रकार के काव्य का विषय परिवर्तित होता रहता है, किन्तु बिम्ब सदा बना रहता है। प्रत्येक कविता अपने आप मे एक बिम्ब है। काव्यगत विधाओं के प्रयोग चलते रहते है। एक विधा आती है, दूसरी विधा जाती है, शब्द-विन्यास बदलता है, छन्दोविधान परिवर्तित होते है, यहाँ तक कि प्रारम्भिक विषय-वस्तु तक बदल जाती है, किन्तु काव्य के जीवन-सिद्धान्त की भाँति रूपक कवि के यशःकाय के रूप मे सदा वर्तमान रहते है।[४] बिम्ब मे अनुभूति, भाव, आवेग, और ऐन्द्रियता प्रमुख तत्त्व के रूप मे निहित रहते है। सिसिल डे लुईस ने बिम्बो का विवेचन करते हुए उनके निम्नाकित गुणो को मान्यता दी है, जो किंचित् परिवर्तन के साथ यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे है[५] :—

१. भावनाओं का उत्तजित करने की शक्ति (evocativeness),
२. भाव को तीव्रता के साथ प्रस्तुत करने की सामर्थ्य (intensity),
३. अभिव्यक्ति की नवीनता (novelty) एव ताजगी (freshness),
४. परिपक्वता (familiarity),
५. उर्वरता (fertility),
६. औचित्य (congruity)।

इस प्रकार बिम्ब वस्तु, भाव, अनुभूति या क्रिया के आधार पर उत्पन्न होने वाला मानसिक चित्र है। काव्य मे मुख्य रूप से सवेदना, अमूर्त भावो को मूर्तता और मर्म-स्पर्शी तथा गूढ रहस्यो को अभिव्यंजित करना बिम्ब का मुख्य कार्य माना जाता है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि भाषा एक प्रतीकात्मक पद्धति है। एडवर्ड सेपीर ने इसे चाक्षुष बिम्ब के नाम से अभिहित किया है। प्रत्येक शिशु को अपनी भाषा की सृष्टि अपने आप करनी पड़ती है। वह अपनी भाषा का विकास शब्दचित्रों के सकलन से करता है। ज्यों-ज्यों बालक को सामान्य से विशेष का ज्ञान होता जाता है, त्यों-त्यों वह सामान्य की विशेषता बताने के लिए विशिष्ट वस्तुओं एवं रूपों का प्रयोग करने लगता है। किसी भाव, वस्तु, रूप, गुण, और क्रिया का उत्कर्ष दिखाने के लिए हमारे कथन के जितने ढग हो सकते हैं, वे सब अलंकार कहलाते हैं। अलंकार के मूल मे सादृश्य या विशिष्टता को बताने वाला कोई न कोई वस्तु-रूप, क्रिया, या गुण अवश्य बिम्ब के रूप मे निहित रहता है। साहित्यशास्त्र मे इसे उपमान कहा जाता है। प्रत्येक उपमान का कोई न कोई बिम्ब अवश्य होता है। उपमान के सादृश्य से ही उपमेय के विशिष्ट सौन्दर्य की अनुभूति होती है। अतएव काव्यगत सौन्दर्य की अनुभूति कराने मे उपमान एक विशिष्ट साधन है, जो बिम्ब के रूप में वस्तुगत धर्म का व्यजक चित्र मूर्त रूप मे प्रस्तुत करता है, और उपमान-उपमेय के सादृश्य को व्यक्त करता है। जब उपमान किसी वस्तु के लिए रूढ हो जाता है, तब प्रतीक कहलाता है। काव्य मे हस, घट, मानस, वीणा, नाग, दीपक, शलभ, चाँदनी, उषा, आदि शब्द किसी सन्दर्भ विशेष मे विशिष्ट अर्थ मे रूढ हो जाने के कारण प्रतीक बन गए हैं। कभी कभी एक ही प्रतीकार्थक शब्द दूसरे प्रतीक का भी व्यजक बन जाता है। वास्तव मे, प्रतीक किसी न किसी सन्दर्भ से सयुक्त रहते है, और सन्दर्भगत रहने पर ही वे विशिष्ट अर्थ के अभिव्यजक होते है। बिम्ब के साथ किसी सन्दर्भ का सयोग होना आवश्यक नही रहता। बिम्ब स्वय अपनी परिस्थिति और वातावरण की व्यंजना करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन अत्यन्त स्पष्ट है कि काव्य में अर्थ ग्रहण मात्र से काम नही चलता, बिम्ब ग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्ब ग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है।[६] आ० शुक्लजी ने बिम्ब को विशिष्ट ही माना है, सामान्य नहीं। वास्तव मे मूर्ति-निर्माण और बिम्ब-रचना का कार्य समान है। दोनो ही विशिष्ट और मूर्त होते है, जो कल्पना की आँखो से ही भलीभाँति निरखे तथा परखे जा सकते है। जिस प्रकार से कल्पना का अन्तिम सम्पन्न कार्य मौलिक उद्भावना है, उसी प्रकार बिम्ब का महत्त्वपूर्ण सम्पन्न कार्य जानी-पहचानी मूरत खडी करना है। जीवन के सभी क्षेत्रों मे गणित, मनोविज्ञान, पुराणशास्त्र, ज्योतिष, कला, वास्तु और दर्शनशास्त्र, आदि मे प्रतीको का व्यवहार व्यापक रूप से होता है। किन्तु सभी विषयो मे प्रयुक्त होने वाले प्रतीक और उन का रूप भिन्न-भिन्न होता है। सभी प्रतीक रूढ, परम्परागत और साकेतिक होते हैं। नई वस्तुओं के निर्माण और आविष्कार होने पर नवीन प्रतीको के आने का मार्ग खुल जाता है। इन प्रतीको के बिना जीवन और सम्बद्ध विषयो का वास्तविक ज्ञान नहीं होता।

बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया

बिम्ब-रचना पूर्णतः एक मानसिक प्रक्रिया है। मन मे वस्तु-जगत् के प्रतिबिम्ब जितने

परिचित, स्पष्ट और सश्लिष्ट होगे, बिम्ब उतने ही अधिक स्फीत और व्यजक होंगे। मन की स्थिति जैसी कार्यशील और कल्पना-सम्पन्न होगी, बिम्ब भी उसी प्रकार निर्मित होंगे। कभी-कभी खण्डित, विकीर्ण, व्यस्त या असम्बद्ध बिम्ब इसलिए परिलक्षित होते हैं कि कल्पना किन्हीं अनुभूतियो मे उलझ कर अनुभूत वृत्तियो को ठीक से रग-रूप नहीं दे पाती। ऐसे बिम्बो मे अस्पष्टता अवश्य लक्षित होती है। किन्तु जहाँ कवि या लेखक की अनुभूति स्पष्ट रूप से किसी शब्द-चित्र का आकलन करती है, वहाँ बिम्ब स्पष्ट रूप मे ही अनुभूयमान होता है; उदाहरण के लिए : अपभ्रश के महाकवि स्वयम्भू श्रीमाला का वर्णन करते हुए कहते है :—

"वह पुर को प्रकाशित करने वाली उस दीपशिखा की भाँति है, जो अग्रिम भाग को प्रकाशित करती हुई पीछे अन्धकार को छोड कर आगे बढ जाती है।" कवि ने यहाँ पर गत्यात्मक सौन्दर्य (dynamic beauty) को बिम्ब के रूप में चित्रित किया है।

डॉ० नगेन्द्र ने काव्यगत बिम्ब-रचना के तीन सोपानो का निर्देश किया है[७] :—

१. अनुभूतियों का निर्वैयक्तीकरण—सर्वप्रथम कवि अनुभूति से सम्बद्ध मूल परिस्थितियों—पदार्थो और व्यक्तियो—की स्मृति के आधार पर, आत्म-बाह्य उपकरणो के प्रयोग तथा अपर पदार्थों अथवा व्यक्तियों पर अनुभूति के आरोपण द्वारा, प्रसग-विधान या विभावानुभाव-योजना करता है, और इस प्रकार आत्मनिष्ठ अनुभूति को वस्तुनिष्ठ रूप प्रदान करता है।

२. साधारणीकरण—इस के बाद प्रसग-विधान के अगभूत 'विशेष' से सामान्य, सहृदय-सवेद्य धर्मों को उभारता हुआ प्रमुख तत्त्वो का सान्द्रीकरण करता है।

३. शब्दार्थ के माध्यम से अभिव्यक्त—अन्त मे लक्षणा के प्रयोग के द्वारा रूप रेखाओं मे रग भर कर और अप्रस्तुत विधान की सहायता से कलेवर को समृद्ध करता हुआ बिम्ब को पूर्णता प्रदान करता है।

यथार्थ मे, बिम्ब अनुभूति के साथ पूर्णतः सश्लिष्ट रहता है। काव्यगत बिम्ब मानसिक बिम्ब का प्रतिबिम्ब कहा जा सकता है। अनुभूति से मानसिक चित्र या बिम्ब का और मानसिक बिम्ब से काव्य-बिम्ब का निर्माण होता है। अनुभूति चेतन-अवचेतन मन और इन्द्रिया के विषयो से सम्पृक्त होकर अमूर्त से मूर्त रूप ग्रहण करती है। अनुभूति के मूर्तिक रूप मे परिणमन होने की रचनात्मक प्रक्रिया को ही बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया कहा जाता है। इस प्रक्रिया मे विद्यमान सस्कार, सवेदना और कल्पना का पूर्ण सश्लिष्ट योग रहता है।

काव्यगत साँचों के विविध रूप

सामान्यतः साँचा (pattern) शब्द का प्रयोग बाह्य आकृति या रूप (form) अथवा ढाँचा (structure) अर्थ मे किया जाता है। कोश मे इसके तीन अर्थ मिलते हैं[८] :—१. अनुकरण के लिए कोई रूप या नमूना प्रस्तावित करना,

२. कलात्मक या यान्त्रिक ढाँचा, ३. साहित्यिक या सांगीतिक रचना में रूप या शैली। साहित्यिक वस्तु की वास्तविक अभिव्यक्ति के लिए उसे कोई न कोई रूप या ढाँचा प्रदान करना होता है। यह ढाँचा आवयविक या संघटनात्मक एकात्मकता से युक्त होता है। इस मे भीतर और बाहर सभी ओर एक अन्विति लक्षित होती है। इसलिए इसे रूप कहने की अपेक्षा रचना की आन्तरिक सगति (internal consistency) कहना अधिक उपयुक्त होगा। यथार्थ में, यह काव्य-रचना का विषय है। काव्य अपनी रचना-प्रक्रिया मे ढल कर, पिघल कर जब विभिन्न भावो से सश्लिष्ट कोई रासायनिक रूप ग्रहण करता है, तो उसे हम काव्य का साँचा कहते है। यह काव्य-सरचना की एक प्रक्रिया है, जिस मे से प्रत्येक काव्य-रूप को गुजरना पडता है। इस सरचना के सम्बन्ध मे ब्रुक्स का कथन है"—"यह रूढ अर्थ मे रूप (फॉर्म) नहीं है, यानी वह रूप जो लिफाफे की तरह वस्तु (काटेंट) को अपने भीतर रख लेता है। सरचना मे न तो तार्किकता होती है ओर न विवेकपूर्ण (रैशनल) अर्थ होता है, जिसे गद्य मे अनूदित करा दिया जाता है। उन के शब्दो मे—"सरचना का मतलब अर्थ, मूल्याकन और अर्थापन की सरचना है। इस मे अन्विति का सिद्धान्त निहित होता है, जो लाक्षणिकता (कनोटेशन), अभ्युदेश (ऐटीट्यूड) और अर्थों को सगतिपूर्ण और सतुलित बनाता है। अन्विति की प्रकृति जटिल होती है। यह एक ही प्रकार के अनेक तत्त्वो को समजित नही करती, बल्कि एक-दूसरे के विरोधी तत्त्वो में सामजस्य स्थापित करती है।" इस प्रकार काव्यगत साँचा बाह्य आकृति या सामान्य रूप न होकर रचना का वह मूल ढाँचा है, जो आन्तरिक सरचना या विशिष्ट रूप का वाचक है। यह विशिष्ट रूप किसी साहित्यिक विधा या साहित्य-रूप का बोध नहीं कराता किन्तु इस मे उन सभी तत्त्वो का सयोजन एक अन्विति के रूप में निहित रहता है, जिन से काव्य-सरचना को कोई रूप मिलता है। यह वास्तव मे साहित्यिक रचना का मूल रूप है। अतएव इसे बाह्य रूप या परिवेश समझना उचित न होगा।

काव्यगत साँचे का मूल रूप बिम्ब-सघटना मे निहित रहता है। किसी भी बिम्ब का निर्माण निरपक्ष रूप से नही होता। अकेला बिम्ब भी किसी न किसी परिवेश मे घटित होता है। किन्तु बिम्ब वास्तविक रूप को तभी ग्रहण कर पाता है, जब वह कवि या लेखक के भावो को सप्रेषित करने मे अपनी प्रक्रिया को मूर्त रूप मे प्रकट कर लेता है। कल्पना से ले कर बिम्ब-निर्माण तक की पूरी की पूरी प्रक्रिया आन्तरिक एव सरचना से सम्बद्ध प्रक्रिया है।

बिम्ब कई प्रकार के होते है। प्रकार से हमारा मतलब साँचों से है। काव्यगत सरचना मे बिम्ब कई तरह के साँचो मे ढले हुए लक्षित होते हैं। कोलरिज का कथन उचित ही है कि कवि केवल जीवन का चित्रण कर सन्तुष्ट नही हो जाता, किन्तु जीवन तो उस की शब्दावली मे निहित रहता है। वह अपने विचारों और प्रवृत्तियो के अनुसार सान्द्र जीवन को एक रूप प्रदान करता है, जिस मे परस्पर काव्यात्मक अन्विति रहती है। इस के मूल मे आदि से अन्त तक कल्पना : एक बिम्ब जो कि कई बिम्बों से

निर्मित होता है, सभी अवयव परस्पर वैसे ही सम्बद्ध रहते हैं, जैसे कि मानवीय ढाँचा सम्पूर्ण अवयवो और धड़ से ग्रथित होता है।[१०] कला के सिद्धान्त के रूप में इसे बिम्बों की परस्पर सापेक्षता कहा गया है। डॉ० सिंह के शब्दो मे "एक सफल कविता का बिम्बविधान ऐसा होना चाहिए कि एक बिम्ब दूसरे के लिए, दूसरा तीसरे के लिए, तीसरा अपने बाद वाले बिम्ब के लिए मार्ग प्रशस्त करता-सा जान पड़े। इस प्रकार प्रत्येक बिम्ब का दोहरा कार्य होता है। वह अपने पहले वाले बिम्ब की ध्वनि को तीव्रतर बनाता है और आगे वाले बिम्ब के लिए एक पर्युत्सुक वातावरण की सृष्टि करता है। इस पूरे सघटन मे सब से महत्त्वपूर्ण और निर्णायक स्थिति उस बिम्ब की होती है, जो कविता के आरम्भ मे आता है।"[११] उदाहरण के लिए :

गूढ़-कल्पना-सी कवियो की,
अज्ञाता के विस्मय-सी,
ऋषियों के गम्भीर हृदय-सी,
बच्चो के तुतले भय-सी।

कवि पन्त ने कल्पना का काव्यगत वैभव चित्रित करते हुए मूर्तिक छाया का वर्णन अमूर्त कल्पना, विस्मय तथा भय के भावो के रूप मे किया है, जो क्रमबद्ध बिम्बो मे अभिव्यजित हो रहा है। उक्त पक्तियो मे प्रथम पक्ति मे मूर्त छाया का सादृश्य अमूर्त कल्पना के रूप मे चित्रित किया गया है, जो इस कविता का मुख्य बिम्ब है और जिसे आन्तरिक रचना में विस्मय, गम्भीर हृदय और तुतले भय के साथ एकरूपता प्रदान की गई है। इस प्रकार आन्तरिक रचना मे बिम्बो से सश्लिष्टता तथा एकरूपता लक्षित होती है, जो सब मिल कर किसी एक चित्र को अधिक स्पष्ट, स्फीत एव पूर्ण बनाते है। कविता मे छन्दोयोजना या पद्यात्मक शब्द-विन्यास को बदल देने से आन्तरिक रचना मे कोई भेद उत्पन्न नहीं होता। इसलिए बात चाहे गद्य मे कही जाए, चाहे पद्य मे; बिम्ब-योजना और उपमानगत प्रयोगो के आधार पर काव्यगत साँचा एक रूप ही रहता है। प्राचीन काव्य की उपमाओ मे बडे उपमानो से छोटे उपमेयो का सादृश्य-विधान प्रचलित था, जैसेकि : मृगनयनी, पिकबयनी, और चन्द्रवदनी, आदि। किन्तु आधुनिक हिन्दी कविता मे उपमान के आकार को, उपमेय के अनुकूल छोटा कर लिया गया है। पन्तजी ने 'गिरती हुई स्याही की बूँद' के लिए 'गोल तारा-सा नभ से बूँद' कह कर अनुपात की कोई चिन्ता नही की। तारा के टूटने की भयकरता का बूँद के गिरने से क्या साम्य है! लोक-असिद्ध बातों मे उपमा नही होती। अतएव आन्तरिक रचना केवल बिम्बों से ही नही, भावों से और भावों के साँचो के अनुरूप भाषा से भी सश्लिष्ट रहती है। इस आन्तरिक रचना का विचार करने मे उपमान की भाँति रूपक भी सहायक होते हैं। प्राचीन कविता मे रूपक बाह्यार्थ निरूपिणी शैली के साधक समझे जाते थे, किन्तु आधुनिक कविता में उन का प्रयोग साकेतिकता, साकेतात्मक मे व्याख्यात्मक शैली और अध्यान्तरिक रूप

के लिए किया जाता है। काव्यगत साँचे लगभग सभी समान होते हैं। उन में केवल भावानुभूतियों, बिम्ब-योजना और बिम्बों की पूर्णता और अपूर्णता एवं अस्पष्टता या स्पष्टता के ही भेद मिलते हैं। इन सब का सम्बन्ध मूल रूप में कल्पना से होता है, इसलिए कल्पना की रचना-प्रक्रिया से ले कर शैली और रूप-रचना तक कहीं कोई भेद होने पर भी समान रूप से समता लक्षित होती है। किन्तु नाटकों का साँचा भिन्न होता है। उन मे जीवन की यथार्थता वास्तविक धरातल पर चित्रित की जाती है। इसलिए उन मे जीवन्त क्रियाओ का सघर्ष, तनाव तथा विरोध मुख्य रूप से परिलक्षित होता है। डॉ० बचनसिंह के शब्दों मे "उपन्यास का रूप-विन्यास मिश्रित होता है, उसका पैटर्न प्रायः विरोधों से भरा रहता है। वर्णनात्मक उपन्यासों में रूपगत एकता मिलती है, पर रूप-सम्बन्धी निर्बन्धता के लिए उसे पूरी छूट है। पत्र, डायरी, प्रतीक, बिम्ब, दृश्य, सवाद, फैंटेसी, सभी का समावेश उस में हो सकता है। यह अनेक साहित्यिक विधाओ का सश्लिष्ट रूप है, यद्यपि यह जरूरी नहीं है कि प्रत्येक उपन्यास मे यह सश्लिष्टता मिले ही। प्रेमचन्द का औपन्यासिक पैटर्न साफ-सुथरा और सपाट है।"[१२] जैनेन्द्र के उपन्यासो का साँचा (पैटर्न) किंचित् जटिल व मिश्रित है, किन्तु अज्ञेय का ओपन्यासिक पैटर्न जटिल तथा उलझा हुआ है। पैटर्न एक प्रकार का विशिष्ट रचनागत रूप है, जो काव्य नाटक और उपन्यास, आदि साहित्यिक विधाओ मे भिन्न रूपो मे उपन्यस्त किया जाता है, उदाहरण के लिए : निरालाजी की 'राम की शक्ति-पूजा' और 'तुलसीदास' का पैटर्न नितान्त भिन्न है। उन की कविता मे निहित उदात्तता और भावों की सक्रमणशीलता मुख्य रूप से एक ऐसे पैटर्न के रूप मे अभिव्यजित होती है, जो बदलते हुए जीवन-दर्शन का सास्कृतिक बोध वास्तविक सवेदनाओ के माध्यम से कराने मे समर्थ है। पैटर्न काव्य के रूप, शैली और वाक्य-विन्यास, आदि से बिल्कुल भिन्न है। मुक्तिबोध की 'अधेरे मे' कविता मे जो जटिलता है, वह 'राम की शक्ति-पूजा' मे नही है। अज्ञेयजी के उपन्यासो मे ही नही, कहानियो मे भी जटिलता लक्षित होती है। अतएव पैटर्न की यह भिन्नता मूलतः सरचना-प्रक्रिया की भिन्नता है। भाषिक सरचना मे काव्यात्मक-विन्यास रचना के उन सिद्धान्तों पर निर्धारित है, जो भाषा के ध्वनि एवं अर्थ विषयक आयामो के अनुरूप है तथा जो चाक्षुष अथवा दृष्टिपरक आयामों (लिपि) से भिन्न है, एवं जिस का स्थान एक ओर रूपात्मक (formal) तथा दूसरी ओर नितान्त क्रियात्मक (functional) के बीच कहीं है। अधिकाश साहित्य रूपात्मक और क्रियात्मक इन दोनों छोरों के बीच सन्तुलन की स्थिति में होता है।[१३] आपेक्षिक दृष्टि से उपन्यास का पैटर्न शिथिल होता है, इसलिए उपन्यास लिखना सरल माना जाता है। किन्तु नाटक का पैटर्न रूपक-तत्त्वों के नियमों के आधार पर बुना जाता है, फिर उस मे प्रत्येक परिस्थिति और मनःस्थिति की अभिनेयता भी बराबर संलक्षित होनी चाहिए; क्योंकि नाटक और एकाकी में सर्जनात्मक कला का गतिशील कार्य-व्यापार अभिव्यक्त किया जाता है। इसलिए नाटक-रचना का कार्य सरल नहीं है। परन्तु पैटर्न की दृष्टि से

नाटक में तत्त्वों, कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों और सन्धियों, आदि के संघटनात्मक नियमों से एक विशिष्ट रूप स्वयमेव प्रकट हो जाता है। परन्तु उपन्यासकार को अपनी रचना का रूप किसी विशिष्टता को ले कर बुनना पड़ता है। जिस प्रकार सूत और बुनने की क्रिया से जुलाहा वस्त्र का निर्माण करता है, उसी प्रकार वस्तु और भाषिक संरचना से साहित्य-वसन का निर्माण होता है, किन्तु निर्माणगत वस्तु का रूप बहुत कुछ साँचों पर निर्भर करता है। साँचा जिस प्रकार का होता है, वस्तु भी उसी प्रकार ढल कर गर्भ से बाहर आती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि रूप-विधान की सम्पूर्ण क्रिया कल्पना से आरम्भ होती है। आ० शुक्लजी का कथन है[४] : "जहाँ तक काव्य की प्रक्रिया का सम्बन्ध है, वहाँ तक रूप और व्यापार कल्पित ही होते हैं। कवि जिन वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन करने बैठता है, वे उस समय उस के सामने नहीं होते, कल्पना में ही होते हैं। पाठक या श्रोता भी अपनी कल्पना द्वारा ही उन का मानस-साक्षात्कार करके उनके आलम्बन से अनेक प्रकार के रसानुभव करता है।" यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिए कि जिन रूपों में मानस-साक्षात्कार होता है, वह पैटर्न है। भारतीय साहित्य का मूल पैटर्न एक ही था, जो कि प्रबन्धात्मक था। लगभग उसी प्रकार की संघटना रूपक तथा नाटकों में जब अपनाई जाने लगी, तब प्रबन्धकाव्य की मूल बातें नाटकों के लिए भी स्वीकृत हो गईं। इस प्रकार काव्य और नाटक का मूल पैटर्न लगभग एक रहा है, किन्तु कथा और उपन्यासों का पैटर्न प्रारम्भ से ही भिन्न रहा है। इस संक्रमणशील युग में इन में कई प्रकार के रूप लक्षित होते हैं। आधुनिक युग में ही नहीं, मध्यकाल में भी संस्कृत और प्राकृत तथा परवर्ती काल में अपभ्रंश की काव्य तथा कथा-रचनाओं में स्पष्ट रूप से पैटर्न की भिन्नता परिलक्षित होती है। इस पैटर्न की भिन्नता के कारण ही प्रतिमान बदल जाते हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्र के प्रतिमान प्राकृत और अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों पर तथा अपभ्रंश-काव्य के प्रतिमान हिन्दी काव्य पर लागू नहीं किए जाने चाहिए। हिन्दी में भी प्राचीन और आधुनिक काव्य में और उन के प्रतिमानों में भी विशेष अन्तर है। अतएव युग के परिवर्तन के साथ ही पैटर्न और काव्यगत तथा अन्य साहित्यिक रूपों में भी परिवर्तन होता रहता है। वास्तव में, यह बहुत कुछ वाक्य-रचना पर निर्भर करता है, क्योंकि प्रत्येक वाक्य वास्तविकता का कथन या वास्तविकता के पोषक विचार का असन्दिग्धार्थ कथन है। यह कथन की स्पष्टता रचना में तभी उतर सकती है, जब लेखक के मन में वैसी ही स्पष्टता हो। यही प्रक्रिया साधारणीकरण और पैटर्न को जन्म देती है।[५] संघटना की दृष्टि से वाक्य-व्यवस्था में पैटर्न स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। अँग्रेजी भाषा के अनेक पैटर्न दो भागों में विभाजित किए जाते हैं—जो वाक्य से पूर्णतया सम्बद्ध होते हैं, और जो व्यक्तिगत अवयवों के रूप में वाक्य में निहित रहते हैं।[६] इसलिए भाषाशास्त्र में प्रत्येक स्तर पर (ध्वनि, ध्वनिग्राम, पद और पदग्राम, आदि) अखण्ड रूप में तथा खण्ड रूप में पैटर्न का विश्लेषण किया जाता है। भाषा में ध्वनि विषयक जो आदेश, विनिमय या

स्थानापन्नता देखी जाती है, वह पैटर्न के कारण। पैटर्न की स्थानापन्नता के कारण ध्वनि में परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है।[९७] अँग्रेजी साहित्य मे इसका विचार छन्दोयोजना के अन्तर्गत लय के प्रकरण मे किया गया है। शुद्ध साहित्यिक आलोचना के स्तर पर जब हम कहते हैं कि इस कविता का शिल्प प्रारम्भ मे छाया-चित्र की भाँति है, तो हमारा बहुत कुछ अभिप्राय उस के पैटर्न से होता है। पैटर्न का स्पष्ट रूप-रंग वस्तु की बुनावट (texture) में निहित रहता है। वस्तु के साँचों में जिस प्रकार के रग-रूपों में वस्तु 'आकार-ग्रहण' करती है, वह उस की निर्माण-प्रक्रिया से सम्बद्ध है, जिसे हम पैटर्न कहते है। वह वस्तु के मूल ढाँचे (structure) से भिन्न है। रैन्सम ने कविता की सरचना और बुनावट का अन्तर बताते हुए कहा है कि कविता की बुनावट अपने समृद्ध स्थानीय मूल्यो से निर्मित होती है। उस वस्तु का गुण उस के 'वस्तुत्व' मे निहित रहता है। सरचना कविता का तर्क (argument) है। वह कविता को वैसा ही रूप प्रदान करती है, जैसी कि वह वस्तु स्वय होती है।[९८] आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के अन्तर्गत 'वाक्योपनिबन्ध' के रूप मे काव्य-रचना मे बुनावट को ही महत्त्व दिया है। उन की दृष्टि मे कवि की मूल वस्तु शब्द है, जो विवक्षित अर्थ का एक मात्र वाचक है। उन के अनुसार काव्य के दोनों गुण (औचित्य और सौभाग्य) रचनाश्रित रहते है।[९९] औचित्य ही काव्य-सरचना का प्राणतत्त्व कहा जा सकता है। औचित्य के बिना काव्य के सभी प्रस्थान, सभी मार्ग सौन्दर्यहीन एव काव्यश्री से विहीन है; क्योकि अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का अन्य कोई कारण नही है।[१००] औचित्य का सम्बन्ध जहाँ भावो और रसो से है, वही रचना-वृत्ति और गुणो से भी है। इस प्रकार भारतीय साहित्य समालोचको ने काव्य-सरचना का विचार उस के आन्तरिक रूप को ध्यान में रख कर किया था। इसी सन्दर्भ मे वर्ण-विन्यास, पर्याय, उपचार, विशेषण, संवृत्ति, वृत्ति, लिंगवैचित्र्य, आदि पद एवं प्रबन्धगत वक्रोक्ति और उस के भेदोपभेदो का वर्णन किया गया है। दूसरे शब्दों मे, काव्य के बाह्य वेश-विन्यास की उपेक्षा नही की गई है। कविता के शब्द और शब्दाशो का भलीभाँति सौन्दर्यमूलक विश्लेषण आ० कुन्तक ने किया है। काव्यशास्त्र मे 'रीति' शब्द तो रचना पद्धति का ही वाचक है। रचना की पद्धति या रीति ही सामान्यतः पैटर्न कही जाती है।

बिम्बात्मक प्रयोग

प्रायः बिम्ब-विधान मे कवि वस्तु-रूप, गुण, या क्रिया के सादृश्य पर अमूर्त वस्तुओं को मूर्त रूप मे एव मूर्त वस्तुओं के सूक्ष्म रूपो को बिम्बित करने के लिए अमूर्त रूप मे चित्रित करता है। काव्य मे अलंकारों का प्रयोग भी साधर्म्य या वैधर्म्य-निरूपण के लिए किया जाता है, जो किसी न किसी सादृश्य पर अवलम्बित रहते हैं। हिन्दी के छायावादी कवियो मे बिम्ब-विधान की प्रवृत्ति विशेष रूप से परिलक्षित होती है; जैसेकि :—

गिरिवर के उर से उठ-उठ कर
उच्चाकाक्षाओं - से तरुवर

हैं झाँक रहे नीरव नभ पर
अनिमेष, अटल, कुछ चिन्ता पर

(पन्त : उच्छ्वास)

उक्त पंक्तियों मे कवि ने विराट् पर्वत पुरुष का वर्णन बिम्बो के रूप में किया है, जिस से एक साकार प्रतिमा ही मानो हमारी आँखो के सामने प्रस्तुत हो जाती है। यहाँ पर उपमान सादृश्य-योजना से मूर्त की उपमा अमूर्त से दी गई है। कहीं-कहीं रूपक योजना के द्वारा बिम्ब-विधान अनुस्यूत होता है; उदाहरण के लिए :

इस हृदय-कमल का घिरना
अलि-अलकों की उलझन में
आँसू मरन्द का गिरना
मिलना निश्वास-पवन मे

(प्रसाद : आँसू)

कवि ने सन्ध्या-काल के उस दृश्य को अंकित किया है, जिस में सूर्यास्त होने पर कमल सकुचित हो गया है और भौरा उससे बाहर ही रह गया है। यह उस नायक रूपी भ्रमर की निष्ठुरता थी, जिस से आँसू रूपी पराग झर-झर कर निश्वास रूपी पवन मे विलीन हो रहा था।

इस प्रकार कवि बिम्बात्मक प्रयोग के आधार पर एक पूर्ण चित्र का सफल अंकन करता है। बिम्ब योजना मे कवि की कल्पना साकार हो जाती है। पाठक के मन मे स्थित कल्पना या स्मृति शब्द-बिम्बों के माध्यम से उद्‌बुद्ध हो जाती है। इस प्रकार से बिम्ब-रचना साहित्य मे दुहरा कार्य सम्पन्न करती है। अप्रस्तुत-विधान में भी यही प्रक्रिया कार्य करती है। आचार्य शुक्लजी ने प्रथम प्रकार की आभ्यन्तर रूप-प्रतीति को स्मृति, द्वितीय प्रकार के मूर्ति-विधान को कल्पना, और प्रत्यक्ष अनुभव किए हुए बाहरी रूप विधान के भेद से तीन प्रकार माने है[१०] :—१. प्रत्यक्ष रूप-विधान, २. स्मृति रूप-विधान, और ३. कल्पित रूप विधान। इन तीनों प्रकार के रूप-विधानों मे भावों को इस रूप मे जागरित करने की शक्ति होती है कि वे रसकोटि मे आ सके। कल्पित रूप-विधान द्वारा जागरित मार्मिक अनुभूति तो सर्वत्र रसानुभूति मानी जाती है। प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओ मे रसानुभूति की कोटि मे आ सकती है।[११] अतएव कवि जहाँ सान्द्र एव अमूर्त भावों व विचारों को चित्रित करता है, वहाँ अनिवार्य रूप से उसे बिम्बों के प्रयोग का आश्रय लेना पडता है। बिम्ब ही कवि की सघन कल्पना को मुखर करते है; जैसे :—

जो गूँज उठे फिर नस-नस मे
मूर्च्छना समान मचलता-सा;
आँखों के साँचे मे आ कर
रमणीय रूप बन ढलता-सा;

नयनों की नीलम की घाटी
जिस रस घन से छा जाती हो;
वह कौंध कि जिस से अंतर की
शीतलता ठंडक पाती हो।
(प्रसाद : लज्जा)

हिन्दी के प्राचीन काव्य में भी इसी प्रकार के बिम्बात्मक प्रयोग परिलक्षित होते हैं। जायसी का 'पद्मावत' तो अप्रस्तुत-योजना से निबद्ध होने के कारण बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव को बिम्ब-योजना के बिना अभिव्यंजित ही नहीं कर सकता था; उदाहरण के लिए :

नैन जो देखे कवल भा निरमर नीर सरीर।
हँसत जो देखे हँस भा दसन जोति नग हीर॥

इसी प्रकार कबीर का एक दोहा है—

दुर्लभ मानुस जनम है, देह न बारबार।
तरवर ज्यों पत्ता झड़े, बहुरि न लागै डार॥

कैलाश वाजपेयी ने ठीक ही कहा है कि बिम्बों की सृष्टि मे सूरदास अपने युग के सब से धनी कवि हैं। उन के कुछ बिम्ब तो काव्य-शिल्पविधि की दृष्टि से अद्वितीय हैं, जिन मे एक सफल बिम्ब के सभी गुण विद्यमान है;[१०३] जैसेकि :

पिय बिनु नागिनि कारी रात।
जौ कहु जामिनि उगति जुन्हैया, डसि उलटी है जात।
जत न फुरत मत नहिं लागत, प्रीति सिरानी जात।
सूर स्याम बिनु बिकल बिरहिनी, मुरि मुरि लहरें खात॥

बिम्बों की दृश्यात्मक संवेदनाओ का सम्बन्ध भी शब्दो से होने के कारण श्रोत्रग्राह्य है। रिचर्ड्स के अनुसार बिम्बो के संवेदनात्मक गुण उन की सजीवता, स्पष्टता और वर्णन की पूर्णता में निहित हैं। उन का प्रभावो से कोई नित्य सम्बन्ध नही है। इस दृष्टि से बिम्बों मे भेद होने पर भी अन्ततः वे समान होते हैं।[१०४] यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास के बिम्ब संक्षिप्त है, पर स्पष्ट और पूर्ण है; यथा :

जासु ग्यानु रवि भवनिसि नासा।
बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥

तथा—

भरत बिमल जसु बिमल बिधु सुमति चकोरकुमारि।
उदित बिमल जन हृदय नभ एकटक रही निहारि॥

एव—

बरसहिं जलद भूमि निअराएँ। जथा नवहिं बुध बिद्या पाएँ॥
बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन संत सहें जैसे॥

इन काव्य-बिम्बों का सम्बन्ध कहीं रागात्मकता से है, कहीं अनुभूति से और कहीं मसृण-कल्पना की चित्रात्मकता से। इन के अतिरिक्त प्रयोगवादी काव्य मे दृश्य-बिम्बों की बहुलता लक्षित होती है; जैसे :

ये हवा धूप मिली
लहर-सी आके लिपट जाती है,
कभी हल्के से उडा देती है बाल
कभी छत पर बैठी ललनाओ के,
सौंधे तन गध भरे आँचल को
गोरे कन्धो से उडा देती है,
और उड जाते है सूखते कपडे,
ऊँची सीमेंट की मुँडेरो से।
(गिरिजाकुमार माथुर : धूप के धान)

इस प्रकार हिन्दी-काव्य में विविध प्रकार के बिम्बो का प्रयोग स्पष्ट रूप से दिखलाई पडता है। युग की परिवर्तनशील प्रवृत्तियों के अनुरूप बिम्ब-विधान की प्रवृत्ति में भी पर्याप्त अन्तर लक्षित होता है। वाजपेयी का कथन उचित ही जान पडता है कि छायावादी काव्य का प्रमुख आधार उस का सूक्ष्म कल्पना-चित्रण होने के कारण छायावाद में भाव एव सान्द्रबिम्बो का बाहुल्य था। प्रगतिशील युग मे चूँकि कल्पना और रोमान्तिकता का स्थान बौद्धिकता और यथार्थ ने ले लिया, अतः इस युग मे वस्तु विवृत और प्रति चित्रात्मक बिम्बो का आधिक्य है।[८५] यथार्थ में, बिम्ब कई प्रकार के हो सकते है। उन सभी प्रकार के बिम्बो को परिगणित करना सम्भव नही है। उदाहरण के लिए, एक काव्य-बिम्ब है—

गूँजती हुई आवाजो को सुनती हुई
पके हुए खेतो की बालो मे—
चन्द्र-लोक को जाते हुए, राकेटो की छाया-सी
तिरछी कुछ हिलती हुई, विज्ञान की सहेली-सी
जानकारी की अधिक से अधिक फसल काटती है।

इसी प्रकार 'युग की बालू-रेत में भुनी हुई अन्धविश्वास की मूँगफली', "सद्यःस्नाता ज्योत्स्ना मे दीप्तिमान ये छाया-चित्र", आदि नवीन प्रयोग है। प्रयोगो की नवीनता सदा ही प्रवर्तमान रहेगी, क्योकि कवि की कल्पना के विकास के लिए यही एक मात्र माध्यम है।

प्रतीक-रचना

यदि दार्शनिक दृष्टि से विचार किया जाए तो जीवन और जगत् के तथा अखण्ड चेतना की उपलब्धि के सभी साधन प्रतीक मात्र है। क्या मन्दिर, क्या मसजिद, क्या चैत्य, और क्या स्तूप तथा विभिन्न प्रतिमाएँ, मूर्तियाँ सभी प्रतीक हैं। भाषा भी विचारो की प्रतीक है। प्रतीक के सन्दर्भ मे कोलरिज का कथन है कि

कविता वस्तु और विषय के मध्य चिन्तन की एक पद्धति है। आई० ए० रिचर्ड्स पहले शब्दों को याहच्छिक संकेत मानता था, किन्तु बाद में वह भी इस विचार-बिन्दु तक पहुँच गया कि भाषा एक प्रतीकात्मक रचना है।[१०६] प्रत्येक भाषा का कार्य एक पद्धतिबद्ध विधि से विचारों का संप्रेषण करना है। अमूर्त विचारों को भाषा ही किसी सीमा तक मूर्तिमान करती है; यहाँ तक कि शब्द भी अर्थ का प्रतीक है। जिस प्रकार शब्द घिसते, मँजते, चमकते है और बदलते रहते हैं, उसी प्रकार प्रतीक भी चमकते हुए घिस-पिट जाते हैं, और कालान्तर मे चलन के बाहर हो जाते हैं। उनमे समय-समय पर नए अर्थ भावो को भरते रहते हैं, और पुराने अर्थ रिक्त होते रहते है। काव्य का समस्त व्यापार शब्द से सम्पृक्त रहता है। काव्य मे शब्द एक ऐसी अन्विति है, जो अर्थ से, लय से, सन्दर्भ से एव बिम्ब-प्रतीक आदि से सश्लिष्ट रहती है। काव्य की संरचनात्मक अन्विति में अर्थवान शब्दों का औचित्य ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। अज्ञेय का यह कथन बिल्कुल ठीक लगता है कि काव्य सब से पहले शब्द है। और सबसे अन्त मे भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है। सारे कवि धर्म इसी परिभाषा से निःसृत होते हैं। शब्द का ज्ञान, शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड ही कृतिकार को कृति बनाती है। ध्वनि, लय, छन्द, आदि के सभी प्रश्न इसी मे से निकलते है और इसी मे विलय होते है। इतना ही नही, सारे सामाजिक सन्दर्भ भी यही से निकलते है।[१०७] काव्य मे शब्दो के उचित सन्निवेश से ही वह भावो तथा विचारो की वास्तविकता को अभिव्यक्त करता है। सम्भवतः इसी कारण इलियट ने काव्य की भाषा को वास्तविक विचार की भाषा कहा है। उन के शब्दो मे "काव्य वास्तविक विचार या वास्तविक भावो की भाषा है। उस की वास्तविकता केवल अनिश्चित नही है और न केवल वह बाह्य विषय-वस्तु के औचित्य मे सन्निहित है, प्रत्युत उस का पूर्ण औचित्य कवि की मानस की तथा चेतना की क्रियाशीलता मे निहित है। और यह काव्यगत बिम्ब-रचना मे प्रकाशित होती है"।[१०८]

बिम्ब हमारी मानसिक कल्पना का एक चित्र है। इसलिए बिम्ब-विधान मे चित्रात्मक वर्णन चित्रात्मक शैली मे किया जाता है। एक ही बिम्ब का प्रयोग भिन्न-भिन्न सन्दर्भों मे विभिन्न रूपो मे किया जा सकता है। संध्या-कालीन अस्तगत रवि का प्रतिबिम्ब शोक, निराशा, मिलन, उदात्तता, यौवन के उद्दाम रूप और साधु-जीवन के विविध प्रसगो की मौलिक उद्भावनाएँ प्रकरणगत अर्थों से संवलित चित्रो के रूप मे कर सकता है; क्योंकि बिम्बात्मक प्रयोग के लिए चित्रात्मकता का होना अनिवार्य है। दूसरे शब्दो मे, हम बिम्ब को चित्रात्मक उपमान भी कह सकते हैं। लोक-कथाओं में जिस प्रकार कोई विचार या प्रत्यय अनेक बार आवृत्त हो कर रूढ हो जाने पर कथानक-रूढ़ि बन जाता है, उसी प्रकार एक ही बिम्ब की जब आवृत्ति होने लगती है, तो वह बिम्ब बिम्ब न रह कर केवल प्रतीक बन जाता है। नई कविता में 'बन्द कमरे' का वर्णन बहुत मिलता है। यह 'बन्द कमरा' कुंठाओं से अवरुद्ध अन्तःकरण का प्रतीक है। कमरे के बिम्ब की अनेक बार आवृत्ति हो चुकी है तथा हो रही है, अतः

यह रूढ हो कर बिम्ब से प्रतीक मे परिणत हो गया है।[१०९] व्यवहार में मनुष्य परम्परागत दिखलाई पडता है। परम्परा से चले आ रहे व्यवहारों को ही वह सामान्य रूप से अपने जीवन मे अपनाता है। नित नए प्रयोग करने के लिए उस के पास अवकाश कहाँ है? किसी भी महाकवि की रचना मे अपने मौलिक बिम्ब कितने होते हैं? इने-गिने थोड़े से। अधिकतर बिम्ब परम्पराओ के अनुषग होते हैं। बिम्ब और प्रतीक मे मौलिक अन्तर यह है कि प्रतीक का स्रोत कवि के व्यक्तिगत अनुषगो (associations) मे हो सकता है, परन्तु उसका आकलन आनुषगिक नियमों के आधार पर नही होता। उस के निर्माण मे, अज्ञात रूप से ही सही, एक प्रकार की अन्तर्दृष्टि या सूक्ष्म बौद्धिक प्रेरणा अवश्य रहती है। परन्तु बिम्ब का सम्पूर्ण साँचा आनुषगिक नियमो के द्वारा बुना जाता है। इसलिए उस के सघटन मे प्रायः अबौद्धिकता, अन्तर्विरोध और व्यतिक्रम पाया जाता है। प्रतीक मूर्त और अमूर्त दोनो ही हो सकता है। इस के विपरीत बिम्ब के लिए ज्ञानेन्द्रिय के किसी भी स्तर पर मूर्त होना आवश्यक है। यह मूर्तता केवल दृष्टिविषयक ही नहीं होती, नाद, घ्राण और स्वादपरक भी हो सकती है। प्रतीक किसी वस्तु का चित्राकन नही करता, केवल सकेत द्वारा उस की किसी विशेषता को ध्वनित करता है। इसीलिए प्रतीक का ग्रहण सन्दर्भ से अलग और एकान्त रूप मे भी सम्भव हो सकता है, पर बिम्ब की प्रेषणीयता उस के पूरे सन्दर्भ के साथ होती है।[११०] साहित्य मे ही नहीं, व्यावहारिक जीवन मे भी हम रात-दिन प्रतीको का प्रयोग करते हैं। गधा मूर्खता का, शेर वीरता का, कौवा चालाकी का, कालानाग खतरनाक का, घट शरीर का, दीपक ज्ञान का, और पछी आत्मा का प्रतीक है। प्रत्येक राष्ट्र का कोई न कोई प्रतीक आदर्श रूप मे उस के राष्ट्रीय ध्वज पर अकित रहता है। यथार्थ मे, प्रतीक वे शब्द-चिह्न हैं, जिन मे सक्षेप मे अधिक-से-अधिक अर्थ भरपूर रहता है। एक ही शब्द मे सम्पूर्ण भाव को प्रकट करने के लिए ही सम्भवतः प्रतीक का जन्म हुआ। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रतीको का व्यवहार किया जाता है। धार्मिक सम्प्रदायों (creeds) को भी प्रतीक कहा गया है। यद्यपि प्रतीक शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग व्यवहार मे धार्मिक रहस्यो को निर्दिष्ट करने के हेतु रूपको के माध्यम से हुआ था, जो कि ग्रीक भाषा मे चिह्न या सकेत (signor token) के अर्थ मे और सस्कृत मे प्रतिरूप अर्थ मे प्रचलित रहा है। यह प्रतीक शब्द तर्कशास्त्र, गणितशास्त्र, अर्थ-विज्ञान, निदान-विज्ञान, और प्रकृति-विज्ञान मे भी प्रयुक्त होता है। ब्रह्मविज्ञान मे तो इस का एक दीर्घ इतिहास मिलता है। उस मे प्रतीक सम्प्रदाय का पर्यायवाची शब्द है। ललित कलाओ और कविता मे इस का प्रयोग व्यापक है। बीजगणितीय और तर्कशास्त्रीय प्रतीक पारम्परिक है, जो चिह्नो से समन्वित है; परन्तु धार्मिक प्रतीक किसी वास्तविकता पर आधारित होते हैं, जिन का सम्बन्ध सकेत और साकेतिक वस्तु के मध्य आलकारिक या रूपकीय होता है।[१११] सामान्य रूप से हम किसी भी विशिष्ट घटना, कथा, पात्र या वस्तु को प्रतीकात्मक कहते हैं। जिन प्रस्तुत वस्तुओ पर अप्रस्तुत का आरोप किया जाता है, उन्हे भी प्रतीक

कह देते हैं। इस प्रकार रूपककाव्य भी प्रतीककाव्य मान लिये जाते हैं। किन्तु वास्तव में प्रतीक से अभिप्राय भाषा के साकेतिक रूप से है। कहा भी है कि "प्रतीक वह है जो अपने साहचर्य, अनुषंग, रूढि या संयोग के कारण किसी वस्तु से अपना सम्बन्ध सकेतित करता है और विशेष रूप से अदृश्य वस्तु का सकेत करने के लिए एक चाक्षुष चिह्न है।"[११२] भाषाशास्त्री और साहित्यकार दोनो ही यह मानते है कि प्रतीक एक 'चाक्षुष बिम्ब' है। प्रथम यह नेत्रग्राह्य है, और तब श्रोतृग्राह्य। सैपीर का कथन है— "भाषा विचारो, भावो और अनुभूतियो को सप्रेषित करने के लिए एक विशुद्ध मानवीय अन्तर्जातप्रवृत्ति विहीन पद्धति है, जिस के द्वारा स्वैच्छिक रूप से प्रतीक उत्पन्न होते है।"[११३] इस से यह भी स्पष्ट है कि प्रतीक अनुभूतियों के अनुषग होते है। यथार्थ मे, साहित्य की रचना ही कल्पना और अनुभूतियो के अनुषगों से होती है। अतएव प्रतीक अनुभूतियों से ठीक वैसे ही लिपटे रहते हैं, जैसे कि बिम्ब कल्पना से।

केवल नई कविता ही नही, हिन्दी की छायावादी कविता मे भी नए तथा गूढ़ार्थ अभिव्यजना को व्यक्त करने वाले प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग परिलक्षित होता है। पन्त जी के 'पल्लव' मे 'ऑसू' की पक्तियाँ है—

उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुख मे मृदुल-विकास;
चॉदनी का स्वभाव में भास,
विचारों मे बच्चों के (की) साँस।

आ० शुक्ल जी ने छायावादी काव्यधारा की लाक्षणिक वक्रता का उल्लेख करते हुए इसी कविता मे 'आह, यह मेरा गीला-गान' और 'उच्छ्वास' के अन्तर्गत 'धूलि की ढेरी मे अनजान छिपे है मेरे मधुमय-गान' मे प्रयोगों के आधार पर साम्य-भावना निर्दिष्ट की है। उन के ही शब्दो मे—"इन प्रयोगों का आधार या तो किसी-न-किसी प्रकार की साम्य-भावना है अथवा किसी वस्तु का उपलक्षण या प्रतीति के रूप मे ग्रहण। दोनो बाते कल्पना ही के द्वारा होती हैं। उपलक्षणो या प्रतीको का एक प्रकार का चुनाव है, जो मूर्तिमत्ता, मार्मिकता या आतिशय्य आदि की दृष्टि से होता है— जैसे: शोक या विषाद के स्थान पर अश्रु, हर्ष और आनन्द के स्थान पर हास, प्रिय-प्रेमी के लिए मुकुल-मधुप, यौवन-काल या सयोग के लिए मधुमास, शुभ्र के स्थान पर रजत या हास, दीप्त के स्थान पर स्वर्ण, इत्यादि। यह सारा व्यवसाय कल्पना ही का है।"[११४] आ० शुक्ल जी 'प्रतीक' को एक विशेष प्रकार का उपमान मानते हैं। पन्त जी की उक्त पंक्तियो मे 'उषा' आनन्द की प्रतीक है, 'मुकुल' प्रफुल्लता का, 'चाँदनी' स्वच्छता की और 'बच्चों की साँस' सरलता या निष्कपटता की प्रतीक है। वस्तुतः प्रतीक अप्रस्तुत ही होते है। प्रयोजनवती लक्षणा के कारण ही वे प्रायः वांछित अर्थ देते हैं। सादृश्य-सम्बन्ध के आधार पर प्रयोजनवती लक्षणा के दो भेद किए जाते हैं—गौणी तथा शुद्धा। जहाँ अप्रस्तुत और प्रस्तुत मे सादृश्य-सम्बन्ध होता है, वहाँ गौणी और जहाँ कार्य-कारण मात्र

आदि सम्बन्ध लक्षित होते है, वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। जो यह कह कर शुक्ल जी का विरोध करते हैं कि प्रतीक विशिष्ट उपमान नही है, क्योंकि उपमान में सादृश्य की अपेक्षा होती है, किन्तु प्रतीक मे नहीं—वे भूल करते हैं। उपमान का प्रयोग मुख्य रूप से सादृश्य, साधर्म्य और प्रभावसाम्य के आधार पर किया जाता है। किन्तु प्रतीक में सादृश्य भले ही न हो, पर साधर्म्य या प्रभावसाम्य अवश्य गर्भित रहता है। गुण, जाति या क्रिया के साधर्म्य के बिना प्रतीक-रचना कैसे हो सकती है ? डॉ० नगेन्द्र के शब्दों मे "प्रत्येक प्रतीक अपने मूल रूप में उपमान होता है; धीरे-धीरे उसका बिम्ब-रूप या चित्र-रूप सचरणशील न रह कर स्थिर या अचल हो जाता है। अतः प्रतीक एक प्रकार का अचल बिम्ब है, जिस के आयाम सिमट कर अपने भीतर बन्द हो जाते हैं।"[११] प्रतीक के सम्बन्ध मे हम यह भी कह सकते है कि वे निश्चित उपमान होते है। छायावादी कविता मे 'उषा' और 'सन्ध्या' सुख-दुःख के प्रतीक हैं। 'वसन्त' यौवन का, 'मानस' हृदय का, 'नीलम की घाटी' नेत्र तथा 'छाया' विषाद के प्रतीक हैं। 'अश्रु' और 'हास' दुःख-सुख के प्रतीक हैं। जिस प्रकार एक 'आँसू' उपमान के लिए हिम हारक, नयनों के बाल और शीतल ज्वाला, आदि अनेक उपमानों का प्रयोग किया गया है, उसी प्रकार 'सूर्य' ज्ञान, नई चेतना, जागृति, विकास और प्यार तथा परमात्मा, आदि के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार भारतीय साहित्य मे 'दीपक' ज्ञान, निर्वाण, नेत्र-तारा और प्राण, आदि अनेक अर्थों मे प्रतीक के रूप मे प्रयुक्त होता रहा है। अतएव उपमान जब साहित्य में निश्चित और रूढ़ हो जाते है, तब वे ही प्रतीक बन जाते हैं।

श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ने प्रतीक के दो भेद माने है—भावोत्पादक (emotional) और विचारोत्पादक (intellectual)। किन्तु सहल ने उद्भावनाओं के आधार पर प्रतीक-विधान के तीन प्रकार बतलाए है[१६]—सादृश्य प्रतीक विधान, साधर्म्य प्रतीक विधान और विरोधमूलक प्रतीकविधान। काव्य मे प्रयुक्त प्रतीको के विभिन्न वर्गों का विभाजन करके उन्हे तीन भागो मे विभक्त किया गया है[१७]—वैयक्तिक प्रतीक, परम्परागत प्रतीक और प्रकृत प्रतीक। कुल मिला कर प्रतीको के आठ प्रकार कहे गए हैं। सास्कृतिक प्रतीको के अन्तर्गत पौराणिक, ऐतिहासिक और धार्मिक प्रतीकों का उल्लेख किया जाता है। प्रकृत प्रतीकों मे जड और चेतन प्रतीकों की गणना की जाती है। सैद्धान्तिक प्रतीकों मे वैज्ञानिक, दार्शनिक और राजनीतिक प्रतीक कहे गए हैं। वास्तव मे प्रतीकों के भेद-उपभेदो का पूर्णतया वर्णन कर सकना सम्भव नही है। तरह-तरह के प्रतीकों का प्रयोग काव्य और साहित्य मे आए दिन होता रहता है। उन सब का वर्गीकरण करना न तो अपेक्षित है और न वह इस पुस्तक का विषय ही है।

प्रतीकों से अर्थोद्भावना

प्रतीको का मुख्य कार्य भावोद्बोधन है। भावोद्बोधन की क्षमता उन में स्वाभाविक रूप से निहित रहती है। अतएव काव्य-जगत् मे ऋग्वेद से ले कर आज तक निरन्तर प्रतीकों का प्रयोग होता रहा है। इन प्रतीको की अर्थोद्भावना प्रायः प्रसंगगत होती है।

परन्तु कहीं-कहीं और विशेषकर वैदिक साहित्य में एक ही प्रतीक से विभिन्न अर्थों की उद्भावना की जाती है। ऐसी स्थिति में अर्थोद्भावना का प्रश्न जटिल हो जाता है। उदाहरण के लिए, ऋग्वेद की एक ऋचा है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महादेवो मर्त्यान् आ विवेश॥ (४, ५८, ३)

इस का वाक्यगत अर्थ है—महादेव ने मर्त्यलोक में प्रवेश किया। उस के चार सींग हैं, तीन पैर है, दो सिर हैं, सात हाथ हैं और तीनों ओर से बँधा हुआ साँड के समान उद्घोष करने वाला है। यहाँ पर चार सींग का अर्थ चार वेद या ब्रह्मा, उद्गाता, होता, अध्वर्यु अथवा अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त चारित्र और अनन्त सुख भी किया जाता है। क्योंकि जिस महादेव का वर्णन किया गया है, वह स्वयं प्रतीक है। इस-लिए उस के तीन पैर तीन सवनपाद या तीन वेद अथवा रत्नत्रय हो सकते है। इसी प्रकार दो सिर इष्टियाँ या हविर्धान, प्रवर्ग्य अथवा कैवल्य और मुक्ति कहे जाते है। उस के सात हाथ सात छन्द, या होता, छन्द, प्रातः, माध्यन्दिन, तृतीय, सवन, आदि अथवा सात व्रत कहे गए है। वह मन्त्र, ब्राह्मण, कल्प या प्रातः, मध्याह्न, सायकालों से अथवा मन, वचन, काय इन तीन योगों से बँधा हुआ है। इतना ही नहीं, इस की भाषापरक व्याख्या भी की गई है। वहाँ चार सींग का अर्थ नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात, तीन पैरों का अर्थ तीन पुरुष या तीन काल, दो सिर का अर्थ कार्यता ओर व्यंग्यता किया गया है। उस के सात हाथ सात विभक्तियाँ है और तीन वचनों से वह निबद्ध है। इस प्रकार महादेव का अर्थ प्रतीक रूप मे वेद, यज्ञ, वृषभ तथा भाषा किया गया है। उपनिषदों में भी ओम् वेद का, ख ब्रह्म का और आकाश का, अक्षर विद्या का और सत्य ब्रह्म का प्रतीक है। औपनिषदिक प्रतीक वस्तुतः बौद्धिक और ब्रह्मज्ञान से सम्बन्धित हैं। सूक्ष्म एव अव्यक्त विचारों के प्रकटीकरण के हेतु उन मे प्रतीकों का प्रयोग किया है। उपनिषदों का अधिकतर भाग प्रतीकात्मक है। अतएव प्रतीकों को समझे बिना औपनिषदिक विद्या का रहस्य विदित नहीं हो सकता।

हिन्दी के प्राचीनकाव्य मे भी सिद्ध, नाथ और सन्त-साहित्य में प्राचीन और नवीन प्रतीको के विविध प्रयोग लक्षित होते है। कबीर की कविताओं में तो विशेष रूप से प्रतीक गुम्फित है। प्रतीक-योजना की प्रमुखता के कारण ही कबीर की कविता क्लिष्ट मानी जाती है। उदाहरण के लिए, उन की कविताओं में 'खसम' शब्द व्यापक रूप से मिलता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि उपनिषद्-साहित्य में अक्षर स्वयं प्रतीक हैं। उस में 'ख' आकाश का प्रतीक है और 'सम' समान का वाचक है। इस प्रकार 'खसम' का अर्थ 'गगनोपम' है। किन्तु कुछ विद्वान् फ़ारसी 'खस्म' से हिन्दी के 'खसम' शब्द का विकास मानते हैं, जिस का अर्थ मालिक, स्वामी एवं पति है। श्री

परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार 'खसम' शब्द जीव के लिए प्रयुक्त लक्षित होता है। किन्तु डॉ० योगध्यान आहूजा 'पति' के अर्थ में प्रयुक्त मानते हैं।[११८] हमारे विचार में 'गगनगुफा' की भाँति 'खसम' शब्द भी ब्रह्मरन्ध्र के लिए प्रयुक्त प्रतीक है। श्री महेन्द्र कुमार ने कबीरदास के प्रतीकों को चार वर्गों में विभाजित किया है :—[११९]

(१) साधना-पद्धति से सम्बन्धित—गगनगुफा, गगनमडल, चाँद, सूर, औंधा कुआ, आदि।

(२) संख्यावाची शब्दों से युक्त प्रतीक—शरीर के लिए एक कुवाँ, इन्द्रियों के लिए पाँच पनिहारी, पच बलधिया, पाचउ लरिका, ब्रह्मरन्ध्र के लिए दसवाँ द्वार, इत्यादि।

(३) रूपक, अन्योक्ति के माध्यम से प्रस्तुत भावमूलक प्रतीक—आत्मा के लिए दुलहिन, घर के लिए घट, भरतार के लिए परमेश्वर, प्रेम भक्ति के लिए हिंडोलना, परमेश्वर के लिए नणद के बीर, शरीर के लिए कागद की पुड़िया, आदि।

(४) उलटबाँसियों के प्रतीक—सिंह (ज्ञान), गाय (इन्द्रिय), जल (माया), मछली (मन), मुरगा (ज्ञानी मन), कुत्ता (काल), उँदरी (आत्मा), मृग (विषय वासना), आदि।

छायावादी काव्य में प्रयुक्त कुछ प्रतीक निम्न-लिखित हैं :—

गीला गान—वेदना से पूर्ण। त्रिभुवन के मनोविकार—काम भाव। धूलि की ढेरी—असुन्दर वस्तुएँ। ललाट—भाग्य। खल रेखा—चिन्ता। तम के सुन्दरतम रहस्य—अन्धकार में प्रकाशित होने वाले तारे। वाडव ज्वाला—पूर्व कालिक स्मृतियाँ। जीवन की डाल—हृदय। हीरा—कठोर। कुमुद—उरोज। उरोजों का विकास—वयःसन्धि। तरगों में डूबे—आनन्द मग्न। मोती—आँसू। दीप—जीवन। मर्म-पीड़ा के हास—मेरे पीड़ित मन। आकाश—शून्यता, उदासी। शैशव—चपलता। बिन्दु—व्यक्ति। सिन्धु—समष्टि। अरुण ज्वाल—नवीन चेतना। अन्तर सौरभ—स्नेह। अमृत घन—आनन्द। कनक छाया—भोर। काँटे—दुःख। रस बूँद—आशा की किरण। झझा—क्षोभ, भावों का संघर्षपूर्ण तूफान। झकार—तड़पन। गर्जन—कचोट। बिजली—कसक, पीड़ा। नीरदमाला—पूर्ण निराशा। मधुराका—मिलन। मधुप—प्रेमी। नीलम की प्याली—आँख। तरी, तरणि—जीवन। तन्त्री—हृदय। जीवन—गति, विश्वास। झरना—प्रेम-प्रवाह। मद—यौवन। किसलय—नेत्र। निर्मोक—जीर्णता। चिरनिद्रा—मृत्यु। गुलाब—लालिमा। मधुकाल—शैशव। कलिका—प्रिया। बादल-विद्रोही।

इसी प्रकार प्रगतिवादी काव्य का प्रतीक-विधान है :—

शोषण के फौलादी हाथ—शोषकों के अत्याचार। उग रही तलवार की फसलें—हिंसामयी क्रान्ति जन्म ले रही है। पृथ्वी के गाल—धरातल। गोरे रग के अभिमान—आभिजात्य वर्ग। यौवन के सौदागर—धनी लोग। नशीला चाँद—विलास पूर्ण जीवन। जवान लाश—असमर्थ युवक। मिट्टी का पुतला—किसान। तथा—

तम के जो बन्दी थे,
सूरज ने मुक्त किए,

किरनों से रंग पीला
धरती को रंग दिये। —नरेशकुमार

प्रतीकों के विभिन्न प्रयोग

काव्य-रचना में कवि का मुख्य व्यापार सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में निहित रहता है। रचना की अन्तर्योजना में जिन शब्दों, ध्वनियों, नाद योजना तथा लय, आदि का प्रकृत विन्यास किया जाता है, उस भाषिक सरचना में कवि का ध्यान मुख्य रूप से सौन्दर्य पक्ष पर रहता है। भावो का सौन्दर्य भी शब्दों के उचित विन्यास से प्रकट होता है। साहित्य मे औचित्य का निर्वाह प्रत्येक स्थिति मे आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य माना गया है। काव्य मे उपमा या उपमान की योजना करते समय भी औचित्य का ध्यान अवश्य रखना पडता है। आचार्य शुक्ल जी ने अपने शब्दो मे इसे यों कहा है कि 'भारतीय काव्य-पद्धति मे उपमान चाहे उदासीन हों, पर भाव के विरोधी कभी नही होते। 'भाव' से मेरा अर्थ वही है जो साहित्य मे लिया जाता है। 'भाव' का अभिप्राय साहित्य मे तात्पर्य-बोध मात्र से नहीं है, बल्कि वह वेगयुक्त और जटिल अवस्था विशेष है, जिस मे शरीरवृत्ति और मनोवृत्ति दोनो का योग रहता है।'[१००] भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही काव्यशास्त्रियों की दृष्टि मे सौन्दर्य एक ऐसा तत्त्व है, जिसे काव्य की प्राण-धारा कहा जा सकता है। सौन्दर्य सदा प्रतीयमान होता है। सौन्दर्य की प्रतीति कराने के लिए रचनाकार सांकेतिक या बिम्बात्मक भाषा का प्रयोग करता है। हिन्दी की नई कविता तो प्रतीको की भाषा की कविता कही जाती है। वास्तव मे, प्रतीकात्मकता के सभी रूपो मे से भाषा सब से अधिक उन्नत, अत्यन्त सूक्ष्म और अत्यधिक जटिल है।[१०१] भाषा के श्रेष्ठतम बिम्बों मे प्रतीकात्मकता किसी न किसी रूप मे अन्तर्हित रहती है। क्योकि साहित्यिक रचना मे प्रयुक्त प्रतीक बीजगणितीय प्रतीक की भाँति शब्द मात्र या किसी विशिष्ट अर्थ का द्योतन नही करते, वरन् ध्वनियों तथा शब्दो के अनुषगों मे पूरा एक चित्र प्रस्तुत करते हैं। बिम्ब-विधान मे भी प्रतीकात्मक शब्द की भाँति पूरा वृत्तचित्र किसी मुख्य शब्द से संश्लिष्ट रहता है। इस प्रकार काव्य-निर्माण की प्रक्रिया में कला की सार्थकता इस मे है कि वह मूर्त तथा अमूर्त दोनो प्रकार के भावो को सौन्दर्य-बिम्बों में रूपायित करे। वास्तव मे, सौन्दर्य का कथन या वर्णन नही किया जा सकता, वह तो साकेतिक रूप से अभिव्यजित होता है। प्रतीको के विभिन्न प्रयोग वस्तुगत सौन्दर्य को साधर्म्य के आधार पर अभिव्यक्त करने के लिए किए जाते है। इन प्रतीको मे अधिकतर एक ही वस्तु विभिन्न प्रतीकों के रूप मे बिम्बित लक्षित होती है। इसलिए दीपक कही आस्था का प्रतीक है, तो कहीं व्यथा का दीप है। कहीं दीप मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रतीक है, तो कहीं मिट्टी-पत्थर का और कहीं निवेदन का दीप है। एक ही कवि की रचनाओ मे सन्ध्या के अनेक चित्र प्रतीको से अनुविद्ध संलक्षित होते हैं। अज्ञेय की कविताओ में सन्ध्या कही किरण परी है, कही ललाती साँझ है, अरुणाली है, कहीं जेठ की सन्ध्या का अव-

साद भरा धूमिल नभ है और कहीं सहमी सी बिजली है। न जाने ! उस के कितने रूप हैं। भोर के भी अनेक प्रतीकात्मक चित्र उन की रचनाओं में भरे पड़े हैं। इसी प्रकार एक अकेले सूरज को ले कर नई कविता मे अनेक प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। अज्ञेय जी की पश्यन्ती कल्पना मे सूरज नैवेद्य का जवा-कुसुम है, जिसे सागर अपने हाथो से अर्पित कर रहा है। किन्तु वैज्ञानिक युग मे सूर्य काल के समान है, जिस ने विज्ञान-लोक को जन्म दे कर अपनी ही किरणों से हिरोशिमा को सोख कर मटियामेट कर दिया। कवि के ही शब्दो मे—

मानव का रचा हुआ सूरज
मानव को भाप बना कर सोख गया।
पत्थर पर लिखी हुई यह
जली हुई छाया
मानव की साखी है। (हिरोशिमा)

किन्तु गिरिजाकुमार माथुर की कल्पना मे सूरज एक स्तनपायी शिशु है। यथा—

वत्सल छाती सी पहाडियॉ
दूध पिलाने आतुरा
बच्चे सा सूरज सो जाता
ले कर मुँह मे ऑचरा
नम रहती पलास की चोली
रिसती बूँदे दूध की। (शिलापख चमकीले)

दुष्यन्त सूर्योदयी भावना के कवि माने जाते है। उन का सूर्य ज्योति-किरणो से भरपूर है। उन की आस्था के स्वर है—

देखो ना।
मुझ मे ही डूबा था सूर्य कभी,
सूर्योदय मुझ मे ही होना है,

परन्तु नरेश मेहता समाज की घुटन और टूटन को बिखराव से भरे सूरज के रूप मे देखते हैं, जिस का वियोग नित्य अवश्यम्भावी है—

मध्यरात्रि के इस निर्णय से
जाने कितने सूर्य
आज ही कल के लिए मर चुके
जाने कितने अनागतों दिवसों की
घायल हसियॉ
रोती रहीं रात भर। (सशय की एक रात)

इसी प्रकार के अनेक अनुविद्ध चित्र अलबम की भाँति दिखलाई पडते हैं। एक यथार्थता का प्रतीक इन शब्दो मे रूपायित है—

मेरे हाथ में टूटा पहिया,
पिघलती आग-सी संध्या,
बदन पर एक फूटा कवच
सारी देह क्षत-विक्षत
धरती खून में ज्यों सनी लथपथ लाश
सिर पर गिद्ध-सा मँडरा रहा आकाश। (चक्रव्यूह : कुँवरनारायण)

कहीं-कहीं तो सवेदनाओं की तराश ही प्रतीक बन कर रूपायित परिलक्षित होती है। एक सरल और स्पष्ट रूप है—

यों भूखा होना कोई
बुरी बात नहीं है
दुनिया मे सब भूखे होते है
सब भूखे ....
—कोई अधिकार और लिप्सा का,
—कोई प्रतिष्ठा का
—कोई आदर्शों का
और कोई धन का भूखा होता है........
ऐसे लोग अहिंसक कहाते हैं
मास नही खाते है.....
मुद्रा खाते है
किन्तु जीवन की भूख
बहुत कम लोगो मे होती है।
(एक कठ विषपायी : दुष्यंतकुमार)

मुक्तिबोध के प्रतीक इन सबसे भिन्न है। उन की पश्यन्ती कल्पना अन्तर्रचना में अन्त-र्विरोधों से टकराती है। अतः उन्हें आधुनिक सभ्यता संकट की एक रेखा प्रतीत होती है—

नीचे उतरो, खुरदरा अंधेरा सभी ओर
वह बडा तना, मोटी डालें,
अधजले फिके कण्डे व राख
नीचे तल में।
वह पागल युवती सोई है
मैली दरिद्र स्त्री अस्त व्यस्त—
उस के बिखरे हैं बाल व स्तन लटका-सा
अनगिनत वासना-ग्रस्तों का मन अटका था!
(चाँद का मुँह टेढ़ा है : मुक्तिबोध)

अनुषंगों की अनुविद्ध प्रतीक-परम्परा का एक उद्धरण है—

विज्ञप्ति की भाषा मे
कालजयी पुरुष के—
शब्दो का,
कर रहे हम
एक अर्थवान सस्कार।

सास्कृतिक वर्ग मे प्रतीकों के पौराणिक, धार्मिक, सामाजिक और ऐतिहासिक विविध प्रकार के सफल प्रयोग लक्षित होते है। ऐतिहासिक प्रतीकगत एक उदाहरण है—

आदम का पुत्र बहुत
भटका अँधेरो मे
चगेजी न्यायो के
खून भरे घेरो मे।

इसी प्रकार दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रतीको के भी विभिन्न प्रयोग मिलते है। उन सभी के उद्धरण देना समुचित न होगा।

कोशविज्ञान

कोशविज्ञान शब्दो और अर्थों से सम्बन्धित व्यावहारिक भाषाशास्त्र का एक नवीन विषय है। बोल-चाल मे 'शब्दकोश' का सक्षिप्त शब्द-रूप 'कोश' का व्यवहार होता है। इसलिए इसे कोशविज्ञान कहने लगे है। सस्कृत मे कोश तथा कोष दोनो शब्दो का प्रयोग शब्दकोश के अर्थ मे लक्षित होता है। कोश या कोष शब्द के अनेक अर्थ सस्कृत के कोशो मे मिलते है। किन्तु मुख्य रूप से इस शब्द के दो ही अर्थ कहे गए है—शब्दपर्यायज्ञापक ग्रन्थ और भाण्डागार। मेदिनीकोश मे इस का अर्थ शब्दादिसग्रह है और अनेकार्थसग्रह मे कोष तथा अर्थचय है।'[१] यद्यपि सस्कृत के कोशो मे कोश और कोष समानार्थी शब्द है, किन्तु अर्थ-द्योतन की दृष्टि से हिन्दी मे अर्थ-भेद लक्षित होता है। अतएव 'कोश' शब्द 'शब्द-सग्रह' का और 'कोष' भाण्डागार या खजाने अर्थ का वाचक है। अग्रेजी मे इस के लिए 'डिक्शनरी' और 'लेक्सिकन' शब्द प्रचलित है। दोनो का अर्थ एक है। शब्दकोश मे अकारादि क्रम से शब्द-संयोजन किया जाता है। पहले इस का अर्थ एक पारिभाषिक शब्द सूची मात्र समझा जाता था। किन्तु अब 'डिक्शनरी' शब्द का अर्थ है—एक ऐसा सन्दर्भ ग्रन्थ जिस मे शब्द-रूपो की परिचिति, उच्चारण, कार्य, व्युत्पत्ति, अर्थ, वाक्यात्मक विन्यास तथा मुहावरे के प्रयोगो के साथ शब्दो का वर्णादि क्रम से सयोजन किया जाता है।'[२]

कोश का कार्य दुरूह एव जटिल समझा जाता है। क्योंकि उसमें शब्द के प्रत्येक अग की पूर्ण जानकारी प्रामाणिक स्रोतो से सकलित की जाती है। शब्द का साधु रूप, उस का उच्चारण, लिंग-निर्णय, व्युत्पत्ति, धातुगत अर्थ, पर्यायवाची शब्द, व्याकरणिक निर्देश, अनबूझ या अपरिचित वस्तुओ के अर्थ-बोध के लिए चित्र-अंकन तथा अर्थ-

भेदों के द्योतन के लिए शब्द-प्रयोग, लोकोक्ति, मुहावरे, आदि का संकलन कर संक्षिप्त व्याख्या शब्द-कोश में प्रस्तुत की जाती है।

कोशविज्ञान का और अर्थ-विज्ञान का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। शब्दकोश में केवल शब्दों का सकलन ही नही किया जाता, वरन् अर्थ-निर्धारण भी शब्द-संग्रह की प्रवृति में गर्भित रहता है। बिना अर्थ के जाने केवल शब्द-सग्रह कर देने से कोई कोश नहीं बन जाता। अर्थ भाषागत शब्दों के प्रयोग और व्यवहार में सलक्षित होता है। इसलिए एक ही शब्द विभिन्न सन्दर्भों में भिन्न-भिन्न अर्थ का बोध कराता है। कोशविज्ञान में शब्दो और अर्थों के सम्बन्ध मे मुख्य रूप से दो प्रकार के शब्दों का विश्लेषण करना पडता है। प्रथम, वे जो अनेकार्थक हैं। एक शब्द कई कारणो से अनेक अर्थों का वाचक होता है। कभी-कभी सादृश्य के कारण एक शब्द के अनेक अर्थ हो जाते हैं और कभी-कभी पुराना शब्द किसी दूसरे अर्थ मे प्रचलित हो जाने के कारण अपना संस्कारगत अर्थ समानार्थी शब्द के लिए छोड देता है। शब्दों और उन के अर्थों में उलट-पुलट हो जाने से भी एक शब्द के कई अर्थ हो जाते है। शब्दो के अर्थ बदल जाने पर भी परम्परागत अर्थ किसी न किसी रूप मे बने रहते हैं। दूसरे, वे शब्द हैं जो भिन्न-भिन्न होने पर भी एक ही अर्थ के व्यंजक है। इन मे कही न-कही अर्थगत सूक्ष्म भेद रहता है या किया जाता है, जो बौद्धिक नियमो के अन्तर्गत विश्लेषित किए जाते है। सिडनी एम० लेम्ब ने इस प्रकार के शब्दो और अर्थों के छह प्रकार के सम्बन्धो का विश्लेषण किया है[१४]: १. अनेकार्थक शब्द, २. विभिन्न शब्द एकार्थक, ३. सहयोगी विनिश्चयार्थक शब्द, ४. संयोगी शब्दो का अर्थ-निर्णय; जैसेकि—ऊष्मा-ताप, विध्वस-विस्फोट, लूटना और शोषण, आदि, ५. विपर्यय शब्द, और ६. सामान्य गर्भित अर्थ का द्योतन करने वाले शब्द; जैसे—'पेड' शब्द में पौधे का भाव भी निहित रहता है। वास्तव मे, जितने तरह के शब्द और उनके अर्थ-सम्बन्ध हो सकते हैं, उन सब का विचार कोश-विज्ञान मे किया जाता है। शब्दो का अर्थ-निर्णय करना अर्थ-विज्ञान का विषय है। मुख्य रूप से कोशविज्ञान अर्थविज्ञान से सम्बन्धित है। अर्थ-निर्णय के भी कई पक्ष होते है। कही वह सामाजिक, सास्कृतिक एव ऐतिहासिक, आदि तथ्यो से अनुबन्धित होता है, और कही शब्दो के मूल रूप से। शब्दों के मूल रूप का विश्लेषण करना व्युत्पत्तिमूलक अध्ययन कहा जाता है, जो कोशविज्ञान का प्रधान अग माना जाता है। जैसाकि हमारे बृहत् (Comprehensive) कोशों से ससूचित होता है, शब्द-सग्रह की मुख्य समस्याएँ अर्थविज्ञान (प्रत्येक शब्द के अर्थ) और व्युत्पत्ति (उन शब्दों का इतिहास, उद्‌भव और विकास) से सम्बद्ध हैं। इन दोनों में से विशेषकर दूसरा (व्युत्पत्ति) वर्णनात्मक भाषाविदों की अपेक्षा ऐतिहासिक भाषावैज्ञानिको के लिए विशेष रुचिकर विषय है।"[१५]

सामान्यतः कोशविज्ञान में शब्दकोश के सम्पादन या निर्माण-कार्य की पद्धति का अध्ययन किया जाता है। सिद्धान्ततः कोशविज्ञान भाषा के साकेतिक शब्द-रूपों या पदिमों के संग्रह के साथ भाषिक समुदाय (निकाय) में वह संयोजना है, जो अर्थपूर्ण

स्थितियों के सन्दर्भ में प्रकट होती है। सामान्य बोलचाल में हम कहते हैं कि कोश का शरीर शब्दों या पदों से निर्मित होता है, जो वर्णादि क्रम से शब्द-सूची के साथ अर्थगत सांकेतिक स्थितियों में संयोजित किए जाते हैं।[१२६] कोशगत शब्द यादृच्छिक उच्चार खण्ड कहा जाता है, जो भाषा के एक या एक से अधिक मुक्त रूपों से निर्मित होता है। पदिम भी न्यूनतम सांकेतिक या अर्थपूर्ण इकाई कही जाती है। कोश का कार्य एक शब्द-भाण्डार की भाँति अधिक से अधिक मुक्त रूपो का सकलन करना और सप्रेषण पद्धति मे शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्धो का निर्धारण करना है। इस प्रकार कोशविज्ञान को दूसरे शब्दो मे कोशरचना-शास्त्र भी कह सकते हैं।

श्री रामचन्द्र वर्मा के शब्दों मे "कोश-रचना एक कला है। अच्छा कोशकार वही हो सकता है जो अच्छा आलोचक भी हो। क्योकि कोश-रचना मे आदि से अन्त तक एकरूपता का निर्वाह करना पडता है।"[१२७] कोश की सकलना मे सकलित शब्दों की भिन्नता के सभी कारणो की छान-बीन कोशकार को करनी पड़ती है। वह शब्दो की विभिन्नता मे एकसूत्रता खोज कर साधु, सम्यक् और प्रचलित रूपो को विभिन्न वर्गों मे विभाजित करता है। एक ही शब्द के बोली तथा उपबोलियो तथा व्यक्तिगत बोलियो मे मिलने वाले अन्य रूपो को वह एक ही स्थान पर संयोजित करता है। इसी प्रकार समानार्थी शब्दो के सम्बन्ध मे अलग-अलग स्थानो पर विवरण न देकर सन्दर्भ मात्र से सूचित करता है। प्रत्येक कोशकार को उपबोली, बोली और मानक भाषा के शब्दो का आकलन करना पडता है। कोश मे सकलित शब्दो का अध्ययन दो स्तरो पर किया जाता है—समकालिक (synchronic) और ऐतिहासिक (diachronic)। समकालिक स्थिति का भी अध्ययन दो तरह की पद्धतियो से किया जा सकता है। यदि हम किसी जीवित स्थिति का अपने अनुभव से वर्णन कर रहे हो, जैसे किसी भाषा का—तो हम दो प्रकार से भाषा की आन्तरिक स्थिति तक पहुँच सकते है। वर्तमान भाषा का यदि कोई लिखित साहित्य न मिलता हो और वह केवल परम्परा से मौखिक प्रचलित हो, तो हम वास्तविक वाक्प्रवृत्तियो और उच्चारों के रूप मे सामग्री सकलित करेंगे। यदि वह बोली के साथ लिखित भाषा भी है, जो लिखित सकेतों मे और वास्तविक उच्चारो के रूप मे मिलती है, तो ऐसी दशा मे हमारी सामग्री मुख्य रूप से साहित्यिक मानक रूप पर आधारित होगी और प्रसंगतः उपमानक तथा क्षेत्रीय रूपों पर।[१२८] अतएव कोश-सम्पादन एक कला न हो कर वैज्ञानिक विधि है। इस मे एक विधि तथा पद्धति का अनुसरण किया जाता है। यद्यपि कोश का जन्म एक कला के रूप मे हुआ और दीर्घ काल से कोश-कला प्रचलित चली आ रही है। किन्तु आज कोश का सम्पादन एव रचना-कार्य एक वैज्ञानिक पद्धति से किया जाता है। यदि हम भाषा की वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार किसी भाषा के कोश का सम्पादन करना चाहते है, जिस भाषा की लेखन-पद्धति का आज तक चलन नही है, तो ऐसी दशा में हमें सर्वप्रथम व्यक्तिगत उच्चारो को अभिलेख के रूप में सग्रहीत कर सम्बद्ध ध्वनिग्रामीय,

ध्वनितत्त्वीय और पदध्वनिग्रामिक विश्लेषण कर परस्पर वक्ताओं के उच्चारों का परीक्षण करना चाहिए।[१२९] प्रत्येक भाषा के उच्चारों के विश्लेषण की एक पद्धति है, जिस का विस्तार से विवेचन भाषाशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है। प्रत्येक उच्चार का पूर्णतः वर्णन कोशीय तथा व्याकरणिक रूपों में किया जाता है। यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि अर्थों को विज्ञान के शब्दों में परिभाषित नहीं किया जा सकता। कोशीय रूपों में न्यूनतम अर्थवान इकाइयों को पदिमों के समान तथा उन के अर्थों को सक्रिय अर्थ-इकाइयों के समान और इसी प्रकार न्यूनतम अर्थवान व्याकरणिक रूप की इकाइयों को कारकों के समान एवं उन के अर्थों को सक्रिय अर्थवान इकाई के सन्निकट कहा जाता है।[१३०] भाषा का व्यावहारिक जगत् सक्रिय अर्थवान इकाइयों से निर्मित होता है। भाषिक सरचना मे हम पदिमो का विश्लेषण विभिन्न इकाइयों के रूप में करते हैं। भाषिक अध्ययन सदा ध्वन्यात्मक रूप से आरम्भ होता है; न कि अर्थ से। भाषाशास्त्र का मुख्य विषय है—पदग्रामिक अर्थ का विश्लेषण करना। पदिम का अर्थ ही सक्रिय अर्थ-इकाई (sememe) है। भाषाशास्त्री यह मान कर चलता है कि प्रत्येक सक्रिय अर्थवान इकाई पद के अर्थ की दृष्टि से स्थिर और निश्चित है। वह अपने अर्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ से अन्वित हो सकता है, किन्तु अन्य अर्थ के समान नही होता। भाषा का प्रत्येक मिश्र रूप पदिमों से बना हुआ होता है। पदिमों की रचना ध्वन्यात्मक रूपो से होती है। भाषा का सम्पूर्ण पदिम-भाण्डार कोश कहलाता है।[१३१] कोश-विज्ञान मे शब्दो की उत्पत्ति और उन के विकास के साथ ही शब्दों के अर्थों का इतिहास तथा उन के सायोगिक परिणामो की विवेचना की जाती है। भाषा-विज्ञान मे कोशरचनाशास्त्र सभी शाखाओ मे समन्वय सम्बन्ध बनाने वाला तथा प्रत्येक शब्द की उत्पत्ति और अर्थ निश्चित करने वाला, शब्द की प्राचीनता और उन का सम्बन्ध निरूपित करने वाला एव विशिष्ट वाक्य-विन्यास मे शब्द-प्रयोग के सम्बन्ध को निर्दिष्ट करने वाला शास्त्र है।[१३२]

यद्यपि शब्दकोश या कोश का निर्माण शब्दो से होता है, किन्तु कोशगत शब्दों मे तथा शब्द मे अन्तर किया जाता है। एक शब्द में जो कि पूर्णतः व्याकरणिक रूप (Lexeme) है और एक कोशगत शब्द मे निश्चित अन्तर है। 'मुझे फल खाने की चाह है' इस वाक्य मे 'चाह' एक कोशीय शब्द है। परन्तु 'वह फल खाना चाहता है' में 'चाहता' कोशीय शब्द नहीं है। यद्यपि वाक्यरचना मे दोनों समान स्थिति में है, किन्तु प्रथम 'चाह' शब्द मुक्त पदिम है और दूसरे 'चाहता' के 'चाह' शब्द में वह आबद्ध रूप है; इसलिए इन दोनों मे भेद है।[१३३] कोशरचना शास्त्र और व्याकरण शास्त्र में अभिन्न मौलिक सम्बन्ध है। कोशरचना एक प्रकार की नवीन व्याकरण की अनुक्रमणिका कही जा सकती है, जिस मे भाषा-संरचना का सभी प्रकार से अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार संरचना की दृष्टि से कोश और व्याकरण मे समानता सलक्षित होती है, किन्तु शब्द-व्यवस्था में दोनों भिन्न हैं। कोशीय शब्द-रूप व्याकरण की अपेक्षा

विन्यास में शैली के सन्निकट होते है।[२४] भाषिक संकेतों के अर्थवान लक्षण दो प्रकार के हैं—कोशीय रूप, जिन में ध्वनिग्राम और व्याकरणिक रूप एवं व्याकरणिक लक्षण (taxemes) भी व्याप्त हैं। प्रत्येक कोशीय रूप व्याकरणिक रूपों से दोनों ओर से सम्बद्ध है। एक ओर से, साराश रूप मे वह अर्थवान व्याकरणिक सरचना है, और दूसरी ओर से, भाषिक रूप मे वह वास्तविक उच्चार है, जो सदा व्याकरणिक रूप से समन्वित रहता है।[२५]

भाषाशास्त्र के विभिन्न रूपो के अध्ययन की भाँति कोशविज्ञान या कोशरचनाशास्त्र का अध्ययन मुख्यतः तीन रूपो मे किया जाता है—वर्णनात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक। इन तीनो ही रूपो का सामान्यतः उपर्युक्त समकालिक और ऐतिहासिक दोनो ही पद्धतियो से अध्ययन और विवेचन किया जाता है। केवल भाषिक सरचना की दृष्टि से मुक्त शब्द-रूप का अध्ययन किया जाता है। उस के मूल शब्द तथा सयोगी शब्द-रूपो को ध्यान मे रख कर शब्दाश एव सहयोगी शब्दो का अर्थ-निर्णय अर्थ-विज्ञान के आधार पर निश्चित किया जाता है, जो कोशगत सम्बद्ध पक्ष है। यह एक व्यावहारिक पद्धति है। इस के आधार पर प्रत्येक शब्दकोश का सम्पादन किया जाता है। किन्तु ऐतिहासिक पद्धति के अन्तर्गत कालक्रमानुसार शब्द तथा अर्थ का निर्धारण किया जाता है। इस के अतिरिक्त कोश-सम्पादन मे वर्णानुक्रम से प्रत्येक शब्द को व्यवस्थित रूप मे सयोजित किया जाता है। व्याख्यात्मक कोशो मे ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर ही उस के पूर्वरूपो का तथा ऐतिहासिक विवरण का उल्लेख किया जाता है। तुलनात्मक पद्धति मे शब्दो की उत्पत्ति तथा मूल स्रोत के आधार पर विकास की दिशा और आधुनिक भाषाओ के प्रचलित तथा विभिन्न परिवारो की अलग-अलग भाषाओ के कोशीय शब्द-रूपो का अध्ययन व विश्लेषण किया जाता है। परस्पर विरोधी भाषाओ के कोशगत शब्दो का अध्ययन भी इस पद्धति के अनुसार किया जाता है।

कोशीय शब्दो को अलग करने और उन को सयोजित कर कोश का रूप देने मे कई प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है। सर्वप्रथम, कोशीय शब्दो की पहचान करना और उन का समुचित सयोजन करना एक महान् कार्य है। प्रत्येक भाषा का अपना शब्द-भाण्डार होता है। उसके अपने शब्द कितने है और विदेशी भाषाओ के कितने शब्द किन-किन रूपो मे कब समा गए है, उन के आज तक के रूपो मे कितने परिवर्तन हुए है। मूल शब्द क्या था, किस भाषा का था, उस का क्या अर्थ था —इन सब बातो का विचार करना आवश्यक हो जाता है। एक-एक बात का पता लगाने मे कई प्रकार की कठिन समस्याओं का सामना करना पडता है। शब्दो के इतिहास का पता लगाते समय यह सदा ध्यान मे रखने योग्य है कि किसी शब्द के प्राचीन होने से वह प्राथमिक या श्रेष्ठ नही हो जाता। इसी प्रकार ऐतिहासिक कोश के सम्पादन मे स्पष्टता के साथ देखना चाहिए कि ऐतिहासिक दृष्टि से अनेकार्थक शब्दों का क्या इतिहास है

और उन की क्या व्याख्या है।[१३६] शब्दों के उच्चारण और उन के अर्थ में जहाँ व्याकरणिक संरचना का विचार किया जाता है, वहीं परम्परा और प्रचलन को भी ध्यान में रखना चाहिए; उदाहरण के लिए, 'जुहार' और 'जौहर' शब्द मूल में संस्कृत 'हु' धातु से निष्पन्न हुए हैं, जो होमना अर्थ का वाचक है। किन्तु परम्परा से गुहार या जुहारु शब्द का अर्थ प्रणाम प्रचलित रहा है। इस का सम्बन्ध सम्भवतः युद्ध-क्षेत्र में सर्वप्रथम बाण-सन्धान कर अपना परिचय देने से है। इसी प्रकार मूल शब्द के निर्धारण में भी बड़ी कठिनाई होती है। कभी-कभी उच्चारण-भेद से भी बोलियों के कई शब्द साहित्यिक भाषा में प्रचलित हो कर साहित्यिक शब्द बन जाते हैं; जैसेकि—अर्द्ध मागधी 'पल्लक' शब्द संस्कृत में 'पर्यङ्क, पल्यङ्क' हिन्दी में पालकी, बंगला में पाल्की, गुजराती में पालखी, उड़िया में पलक, मलयालम में पालकि और जावा में पर्यक है। कहीं यह पाल्की अर्थ का वाचक है और कहीं पलग का।[१३७] इसी प्रकार बहुत से द्रविड भाषाओं के शब्द संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं ने अपना लिए हैं। संस्कृत के बहुत से शब्द डच तथा इण्डोनेशिया की भाषाओं ने उधार ग्रहण कर लिए हैं। उन सब का ठीक से पता लगाना और प्रामाणिक तथा निश्चित जानकारी देना एक जटिल एवं महत्त्वपूर्ण कोश-कार्य है। समालोचनात्मक एवं व्याख्यात्मक कोशों का हिन्दी में नितान्त अभाव है। इस दृष्टि से भारतीय आर्यभाषाओं के शब्दकोशों में ट्रेन्कनर की 'ए क्रिटिकल पाली डिक्शनरी' एक मात्र शब्दकोश है। इसी प्रकार हिन्दी में निरुक्तिकोश का भी अभाव है। कोशरचना के क्षेत्र में पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण और शब्द-संग्रह के अतिरिक्त इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण कार्यों को, जो वास्तव में शोध व अनुसन्धान के लिए सर्वथा उपयुक्त है, कोई कार्य नहीं हो रहा है।

कोश-प्रकार

कोश-निर्माण का कार्य कई स्तरों पर कई प्रकार से किया जा सकता है। सामान्यतः कोश तीन प्रकार के कहे गए है—भाषाकोष, विषयकोष और लेखककोश। भाषाकोश भी कई प्रकार के हो सकते हैं—एक भाषाकोश, द्विभाषाकोश, त्रिभाषाकोश और अनेकभाषाकोश। आधुनिक आर्यभाषाओं के लिए ऐसे अनेक प्रकार के कोशों की आज आवश्यकता है।[१३८] अभी तो हमारे यहाँ विभिन्न बोलियों के क्षेत्रों का तथा बोलियों का न तो पुनः सर्वेक्षण कार्य हुआ है और न बोली कोशों का निर्माण ही। वास्तव में, भाषा के इतिहास को बताने के लिए बोलीकोश जीवित इतिहास के भाँति होते हैं। बोलीकोश का निर्माण केवल शब्द और उस के अर्थ पर ही आधारित नहीं हो, वरन् भाषिक दृष्टि से मूल उच्चारों को द्योतित करने वाले संकेतों के साथ ध्वनि-तत्त्वीय स्तर पर बोले जाने वाले शब्दों के मूल स्रोत तथा विभिन्न रूपों का आकलन करने वाला भी होना चाहिए। बोली भूगोल के रूप में हमें मानचित्र के साथ उस क्षेत्र का सभी दृष्टियों से अध्ययन करना पड़ता है, जहाँ कि बोली का अध्ययन किया जाता

है। बोलीशास्त्र (Dialectology) भाषाशास्त्र का एक स्वतन्त्र विषय है। इसका प्राचीनतम रूप कोशात्मक रहा है। ब्लूमफील्ड ने ठीक ही कहा है कि हम बोलीकोश में साहित्य की भाषा से भिन्न बोले जाने वाले एक ही शब्द के विभिन्न रूपों को यथार्थ ध्वन्यात्मक रूपो के साथ सभी शब्दो के उचित सावधानी से परिभाषित किए गए अर्थों को चाहते है।'[३९] वर्तमान कोशो मे वर्णानुक्रम, ठीक उच्चारण, निरुक्ति, इतिहास, शब्द-प्रयोग और पर्यायवाची शब्दों आदि का निर्देश किया जाता है; किन्तु प्राचीन काल के कोशों मे ये सभी बाते नही मिलती। सस्कृत के कोश मुख्य रूप से पर्यायवाची या समानार्थी और अनेकार्थक मिलते है। हिन्दी में भी यही परम्परा रही है। सस्कृत मे ही नहीं, ग्रीक भाषा मे पॉलेक्स का कोश, पुरानी अंग्रेजी मे एल्फ्रिक की शब्दावली, लैटिन पुरानी उच्च जर्मन मे 'हेर्नासी सुमेरियन', 'लैटिन कार्निस' मे कोट्टोनियन शब्दावली, इसी प्रकार के कोश है। वर्तमानकालीन प्रमुख यूरोपीय भाषाओं मे सादृश्यमूलक (analogical), वैश्लेषिक (analytical), सैद्धान्तिक (idealogical), रीत्यात्मक (methodical), साश्लेषिक (synthetic), विषयगत (topical) एव सर्वाधिक अनुकरण किया जाने वाला रॉजेट का 'थेसारस' विषयानुक्रम मे वर्गीकृत है।[४०] ससार के इतिहास मे सब से अधिक कोश संस्कृत के लिखे गए है। इनकी सख्या लगभग पॉच सौ कही जाती है। इन मे से अधिकतर अप्रकाशित है। दक्षिण भारत मे मिलने वाले सस्कृत कोशो की सख्या इन से भिन्न है—धनजयनिघटु, समन्तभद्रनिघंटु, हर्षकवि कृत द्विरूपकोशनिघटु, अभिधानमाला, इत्यादि।

भाषाकोशो के अन्तर्गत शब्दकोश, शब्दपरिवारकोश, पर्यायवाचीकोश, लोकोक्ति-मुहावरे कोश और प्रयोगकोश, आदि आते है। कोश की अपेक्षा शब्दकोश विशद तथा व्याख्यात्मक होते है। ये प्रायः साहित्य के आधार पर निर्मित होते है। इन मे शब्द की सक्षिप्त व्याख्या वेब्स्टर्स की इगलिश डिक्शनरी की समानता पर की जाती है। हिन्दी मे इस प्रकार का 'मानविकी पारिभाषिक कोश' है। भारतवर्ष मे बोलीकोश का कार्य उन्नीसवी शताब्दी मे प्रारम्भ हुआ। मद्रास से सन् १८२२ मे प्रकाशित सी० पी० ब्राउन कृत 'जिला डिक्शनरी' प्रथम बोलीकोश माना जाता है।[४१] सन् १८४५ में आगरा से एच० एम० इलियट विरचित 'ए ग्लासरी ऑव इंडियन टर्म्स' आठ जिल्दो मे प्रकाशित हुई[४२], जिस मे अनेक बोलियो के ठेठ बोली रूपो का अध्ययन किया गया है। डॉ० भारद्वाज कृत 'हरियाणा की सास्कृतिक शब्दावली' भी इसी प्रकार का अध्ययन है। इन मे जे० आर० रीड की 'आजमगढ ग्लासरी', जाविए, रेवरेड न्यूटन, आदि की 'लुधियाना पजाबी डिक्शनरी' विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। तुलनात्मक अध्ययन के रूप मे डॉ० हॉर्नले की 'ग्रैमर ऑव ईस्टर्न हिन्दी कम्पेयर्ड विद द अदर गौडियन लैंग्वेजेज', डॉ० अर्नेस्ट ट्रम्प की 'ग्रैमर ऑव द सिन्धी लैंग्वेज कम्पेयर्ड विद द सस्कृत प्राकृत एंड द काग्नेट इंडियन वर्नाक्युलर्स', सर जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन

की 'बिहार पैजेन्ट लाइफ' और आर० एल०टर्नर कृत 'नेपाली डिक्शनरी' इस दिशा मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय कार्य हैं।

विषय के अनुसार निर्मित हुए कोशों मे कई प्रकार के कोश मिलते हैं। इन में आयुर्वेद के वैद्यक शब्द-सिन्धु से ले कर विज्ञान, गणित, दर्शन, प्राकृतिक इतिहास, प्राणीशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, धातुविज्ञान, भवननिर्माण कला, रगसाजी, सगीत, भैषज, शल्यचिकित्सा, शरीरविज्ञान, राजनीति, कूटनीति, विधि, भूगोल, भौतिक, समाजशास्त्र, कृषि, ग्रामीण अर्थशास्त्र, बागवानी, वाणिज्य, समुद्री-विज्ञान, घुडसाजी, युद्धकला, भाषाविज्ञान, साहित्य एव मशीन (यन्त्रशिल्प), आदि विषयों के कोश निर्मित हो चुके है। इसी प्रकार से शब्दकोश भी प्रकाशित हो चुका है, जिस मे वार्षिकी घटनाओं का विवरण ऐतिहासिक सन्दर्भ मे प्रस्तुत किया गया है। भूगोलशास्त्र कोश 'भौगोलिकी' (Gazetteer) कहा जाता है। इस में समस्त विश्व, महाद्वीप, विशिष्ट देश, भूखण्ड, कस्बे, गॉव, गगनचुम्बी अट्टालिका, मठ, नगर, पर्वत तथा नदियो के सम्बन्ध मे मुख्य बातें निर्देशित की जाती है।[१७] इसी प्रकार 'जीवनी कोश' मे राष्ट्रीय व्यक्तियों के चरित्र, कार्य तथा विशेषताओ का वर्णन एव मूल्याकन किया जाता है। विषयकोशों मे मुख्य रूप से शब्द किसी ज्ञानविषयक पद्धति का द्योतन करता है। वर्तमान जीवन के विषयो को गिनाना सम्भव नही है, और जितने विषय हैं, उन सभी के कोश बन सकते है।

लेखककोशो मे प्रसादकोश, तुलसीकोश, सूरकोश, आदि की रचना हो चुकी है। इस प्रकार के कोशो मे एक लेखक की सम्पूर्ण रचनाओ के आधार पर शब्दो का सकलन तथा अर्थ-निर्देश किया जाता है। जब केवल एक ही कृति का कोश निर्मित किया जाता है, तो उसे कृतिकोश कहते है; जैसेकि—रामचरितमानसकोश, कामायनीकोश और साकेतकोश, आदि।

इन कोशो के अतिरिक्त विश्वकोश (Encyclopaedia) भी हिन्दी में लिखे गए हैं। विश्वकोश में ज्ञान की सम्पूर्ण शाखाओ की विशद जानकारी वर्णानुक्रम से प्रस्तुत की जाती है। अज्ञात एव अप्रसिद्ध वस्तुओ को चित्रों तथा रेखाचित्रो की सहायता से दर्शाया जाता है। विश्वकोश एक प्रकार से कोशों के ही विस्तृत रूप होते हैं, जिन मे अधिक से अधिक प्रामाणिक सामग्री एव जानकारी प्रस्तुत की जाती है।

व्युत्पत्ति-विज्ञान

व्युत्पत्ति शब्द का लभ्य अर्थ है—विशिष्ट उत्पत्ति। किसी शब्द के रूप-निर्माण में मूलाधार मूल शब्द होता है। मूल शब्द प्रकृति और प्रत्यय के योग से जिस रूप में आकार ग्रहण करता है, उसे व्युत्पन्न होना कहा जाता है। यह शब्द के निकास-विकास का निर्देश करती है। अंग्रेजी के 'इटिमालॉजी' (etymology) शब्द का समानार्थी व्युत्पत्तिविज्ञान शब्द है। इस की व्याख्या इस प्रकार की गई है—शब्द के रूप में भाषिक रूप का इतिहास निर्देश करते हुए प्राचीन अभिलेखों के आधार पर जहाँ वह शब्द मिलता

है, उस का विकास बताया जाता है और एक भाषा से दूसरी भाषाओं में स्थानान्तरित होने तथा मूल उत्पत्ति का स्रोत दर्शाया जाता है।[१४४] व्युत्पत्तिशास्त्र मे मुख्य रूप से शब्द की उत्पत्ति का इतिहास बताया जाता है। मूल शब्द के स्रोत का पता लगाने के लिए रूप-सम्बन्धो की स्थापना वशानुक्रम के स्तर पर की जाती है। डॉ० कत्रे के शब्दो मे "सजातीय रूपो की तुलना के द्वारा हम उस सामान्य स्रोत के ध्वन्यात्मक और पद-वैज्ञानिक स्वरूप तक पहुँच जाते है, जिस से कि वे पृथक् प्राप्त किए हुए रूप हैं। व्युत्पत्तिशास्त्र और ऐतिहासिक व्याकरण मे एक बहुत बडा अन्तर है। ऐतिहासिक अध्ययन मे जहाँ कालक्रमिक ध्वनि-प्रक्रिया एव पद-रचना सजातीय भाषाओ मे अधिक से अधिक सम्बन्धो का सचय करता है, वहाँ व्युत्पत्तिशास्त्र किसी शब्द के एक ही ऐसे पद से अथवा शब्द-रूपो के समूह से सम्बन्ध रखता है और उस पद का सम्बन्ध उन सम्भाव्य सजातीय पदो से करता है, जिस की मान्यता कालक्रमिक ध्वनि-प्रक्रिया एव कालक्रमिक पद-रचना के परिणामो को यथार्थरूपेण प्रयुक्त करने पर स्थिर किए गए हैं। यह अन्तर इस वक्तव्य से और भी स्पष्ट किया जा सकता है कि ऐतिहासिक व्याकरण किसी बडी पार्श्वभूमि पर किए गए रोगन के बड़े पर्त के समान है और व्युत्पत्तिशास्त्र उस रोगन के क्षुद्रतम बिन्दुओं मे बडी सफाई से की गई लघुतम रगसाजी है।"[१४५] हिन्दी शब्दो की व्युत्पत्ति जानने के लिए सर्वप्रथम हमे सजातीय रूपों से मिलान करना पडेगा और तब प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओ के क्रमिक विकास मे ध्वनि-प्रक्रिया और पद-रचना के स्तरों पर विभिन्न रूपो के कालक्रमिक भेदों का अन्तर निर्दिष्ट करना पडेगा। डॉ० कत्रे के शब्दों मे "यदि हमे आन्तरिक पुनर्निर्माण अथवा तुलनात्मक पुनर्निर्माण के द्वारा मध्यवर्ती शृखला-रूपो का पुनर्निर्माण आवश्यक प्रतीत होता है, जिस से कि प्रामाणिक सजातीय रूपों को जोडने वाले विकास का क्रम स्पष्ट किया जा सके, तो इन पुनर्निर्माणो मे काल की गहराई होनी चाहिए और इन्हे स्थान एव काल के प्रतिबन्धो से सन्तुष्ट करना चाहिए। प्रत्येक पग पर जहाँ हम व्युत्पत्तिशास्त्रीय समीकरणो की स्थापना करते है और पुनर्निर्मित रूपो को विच्छेदपूर्ति के हेतु बनाते है, वहाँ परिस्थितिगत सन्दर्भ मे स्थान, काल के विषय मे सचेत रहना चाहिए। ऐतिहासिक और तुलनात्मक व्याकरण उस विस्तृत रूप मे, जिस के द्वारा वे ऐतिहासिक ध्वनि-प्रक्रिया और ऐतिहासिक पद-रचना से सम्बन्धित वक्तव्यो की रचना करते है, हमारी सहायता कर सकेंगे,[१४६] उदाहरण के लिए—प्राचीन सस्कृत साहित्य मे 'उज्जयिनी शब्द का प्रयोग नही मिलता। 'उज्जेण' या 'उज्जेनी' शब्द मध्यकाल की देन है। प्राकृत-अपभ्रश साहित्य मे इसका प्रचुर प्रयोग मिलता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति न तो 'उत् + जयिनी' से निष्पन्न हुई है और न 'अवन्तिका' से। इस का इतिहास उदयन से सम्बद्ध है। सूर्योदय की भाँति उदयन ने इस राज्य को एक नई आभा और ज्योति प्रदान की थी, इसलिए यह उदैण या उगैण नाम से युग-युगों तक बोल-चाल मे प्रसिद्ध रही। बाद मे तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी मे जब 'द' ध्वनि का उच्चारण

'न' में परिवर्तित हो गया, तब 'उदैणी' उजैणी बन गई। वास्तव में, उजैणी या उयैणी का अर्थ उदित होना (सूर्योदय) है। इसी का पूरक शब्द 'आथूणी' है, जिस का प्रयोग बोलियों मे रहा है और जो सूर्यास्त का वाचक है। बुन्देलखंड मे शाम के भोजन के लिए 'अन्थउ' शब्द आज भी प्रचलित है। इस के सहवर्ती अत्थंगय, अत्यवण (अस्तगत, अस्तमन), आदि शब्द भी साहित्यिक रचनाओं मे मिलते हैं। इस प्रकार के शब्दों का अध्ययन और उन की निरुक्ति की वास्तविकता का पता हम ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की सहायता से ही लगा सकते हैं। हिन्दी में समागत अरबी, फारसी, पहलवी, तुर्की और पश्तो, आदि के मूल शब्दो का इतिहास जानने के लिए स्टाइनगास की बृहत् अरेबिक डिक्शनरी, पर्शियन डिक्शनरी, रेवर्टी की पश्तो डिक्शनरी, रेडहाउस की बृहत् तुर्की डिक्शनरी, काबा, भरूचा, आदि के पहलवी कोश, जहांगीर के समय में सकलित 'फ़रग-ए-पहलवीक', बार्थोलो माय कृत 'प्राचीन ईरानी कोश', अब्दुल हक द्वारा आठ जिल्दो मे सम्पादित 'फ़रहंग-ए-इस्तलाहात', आदि अत्यन्त उपयोगी कोश है।[१७]

व्युत्पतिमूलक अध्ययन के परिणामस्वरूप कोशीय शब्दो का अनुसन्धान फलित होता है, जो ऋण रूप में अधिगृहीत हुए हैं: असम्बन्धित भाषाओ से, पूर्वकालिक या समकालिक सम्बन्धित भाषाओ के सक्रमण से, पूर्व सक्रमित उधार लिए गए शब्दो के वंश परम्परागत रूप में। उधार लिए गए शब्दो की समस्या अत्यन्त कठिन है, और विशेषकर भारोपीय, द्राविडीय और आस्ट्रो-एशियाई परिवार के सम्बन्ध मे।[१८] कोशरचना करते समय कोशकार एक ही शब्द के मिलने वाले विभिन्न अर्थों को एक ऐतिहासिक क्रम मे सयोजित करता है, जो उन के विकास-क्रम के सूचक होते हैं। जब एक ही शब्द के कई अर्थ मिलते है, तब उन मे सामान्य या विशेष की विवक्षा अवश्य निहित रहती है। धातु के आधार पर निश्चित किया गया अर्थ विशेष की विवक्षा द्योतित करता है, किन्तु सामान्य की अपेक्षा शब्द और अर्थ के सादृश्य पर विभिन्न अर्थों का अभिधान किया जाता है। सामान्य की प्रवृत्ति व्यापक है। यह प्रवृत्ति केवल शब्द और उन के अर्थों में ही नही, निरुक्ति--निर्वचन मे भी परिलक्षित होती है। अतएव 'मङ्गल' शब्द की निरुक्ति कई प्रकार से की जाती है: जो सुख को देता है, पाप को नष्ट करता है, हित करता है, ससार-नाश करता है, आत्मा को भूषित करता है, पूज्य बनाता है और आनन्दित करता है।[१९] ये सभी अर्थ अलग-अलग निरुक्ति से ज्ञात होते है। एक शब्द मे इतने अर्थ वस्तु मे अनन्त गुणो की भाँति रहते हैं। जब इन मे से विशेष प्रधान हो जाता है, तो वह अर्थ (व्युत्पत्तिलभ्य) रूढ़ हो जाता है। अनेक शब्दों की निरुक्तियाँ कई प्रकार से की गई मिलती है। प्रवृत्ति के अनुसार उन मे वे सभी गुणमूलक अर्थ प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध रहे हैं। उन मे से आज भी कोई अर्थ प्रसिद्ध या गौण हो सकता है। इस अध्ययन से यह भी फलित होता है कि किसी भी शब्द का कोई एक मूल रूप या मूल अर्थ कभी नहीं रहा। यद्यपि महर्षि यास्क, भर्तृहरि, आदि

आचार्यों का यही कथन है कि शब्दो का विकास मूल धातुओं से हुआ है, शब्द आख्यातज है; किन्तु वास्तव मे शब्द और अर्थ लोक से उत्पन्न हुए हैं। उन का कोई न उत्पादक है और न नियन्ता। इसलिए शब्द किसी विशिष्ट अर्थ में सदा निश्चित नहीं रहते। समय और परिस्थिति के अनुसार उन मे परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन स्वाभाविक रीति और गति से जाने-अनजाने होता है। यदि इन का कोई नियन्त्रण या शासन करने वाला होता, तो एक शब्द सदा एक ही अर्थ में प्रचलित रहता और उस शब्द की निरुक्ति भी भिन्न-भिन्न नही होती। किन्तु यास्क के निरुक्त में एक 'अकूपार' शब्द के आदित्य, समुद्र, कच्छप, आदि अनेक अर्थ मिलते है।[१५०] इसी प्रकार 'हर' के निरुक्तिमूलक अनेक अर्थ है—जो तम का हरण करे ऐसी ज्योति का 'हर' कहते है, स्नेह को हरने वाले क्रूर को भी 'हर' कहते हैं, जल को और लोक को भी 'हर' कहते है।[१५१] इस प्रकार केवल शब्द ही नही, निरुक्ति मूलक शब्दार्थ भी विभिन्न अर्थो के वाचक होते है। एक ही शब्द की कई प्रकार से निरुक्ति की गई है: जैसे—कवच, कोश, आदि।'[१५२]

पाठालोचन

पाठालोचन के लिए हिन्दी में कई शब्दो का प्रयोग किया जाता है : पाठ-सम्पादन, पाठ-शोध, पाठानुसन्धान और पाठ-विज्ञान, आदि। विभिन्न हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर मूल रचना का जो पाठ सम्पादित किया जाता है, उसे पाठ-सम्पादन कहते है। प्राचीन कवियो तथा लेखकों की स्वहस्तलिखित मूल प्रतियाँ आज उपलब्ध नहीं होती। अधिकतर उन की प्रतिलिपियाँ ही मिलती हैं। प्रतिलिपि करते समय शब्द की अस्पष्टता, लिपि-दोष या विषय की अनभिज्ञता के कारण प्रतिलिपिकार से अशुद्धियो का रह जाना या हो जाना स्वाभाविक है। अतएव प्रत्येक हस्तलिखित प्रतियो मे पाठविषयक भिन्नता प्राप्त होती है। कोई भी दो हस्तलिखित प्रतियाँ आज तक अक्षरशः समान प्राप्त नही हुई। इस भिन्नता का एक कारण समय की भिन्नता भी है। विभिन्न युगो मे लिखी जाने वाली रचनाओ में ही नही, अलग-अलग युगो मे प्रतिलिपि की जाने वाली प्रतिलिपियो मे भी बोली भेद के कारण यत्किंचित् परिवर्तन अवश्य लक्षित होता है। इन परिवर्तनो को ध्यान मे रख कर और प्रमादवश होने वाली भूलो के प्रति सजग रह कर विविध पाठो मे जिस पद्धति से एकरूपता निर्धारित की जाती है, उस विधि को पाठालोचन कहते हैं। इस का पाठालोचन नाम इसलिए भी उपयुक्त है, क्योकि पाठ-भेद का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन करने के उपरान्त (प्रकरण, भाषा, विषय, आदि की सम्यक् आलोचना के बाद ही) तर्कपूर्ण अर्थान्वेषी पाठ निर्धारित किया जाता है। मूल मे पाठ अर्थानुगामी होता है। किन्तु अर्थानुगामी पाठ को मूल रूप मे ढूँढ़ पाने मे कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। अब तक पाठ-सम्पादनो के जो प्रयास हुए हैं, उन मे सर्वप्रथम डॉ० ग्रियर्सन ने ही प्राप्त प्रतियो के पाठो के विश्लेषण के द्वारा उन के सापेक्षिक महत्त्व के निर्धारण का प्रयत्न किया था और अपने विश्लेषण के

आधार पर उन्होंने कुछ व्यापक सिद्धान्तों का निरूपण किया था और पुनः उन सिद्धान्तों के आधार पर सम्पादन का प्रयास किया था।'[१४] संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय आर्य एवं आर्येतर भाषाओं मे प्रसूत साहित्य तथा भारतीय वाङ्मय के प्रामाणिक प्रकाशन के हेतु सम्पादन की इस विधि का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। इस नई विधि के आलोक मे ही ग्रन्थ-रचना में प्रक्षिप्त, अपूर्ण, अशुद्ध और प्रमादवश भ्रष्ट हुए पाठो का सम्यक् सशोधन किया जा सकता है। दूसरे शब्दों मे, पाठालोचन का उद्देश्य रचना के मूलपाठ का पुनर्निर्माण करना है।

भारतवर्ष मे पाठ सम्पादन के क्षेत्र में संस्कृतविषयक महत्त्वपूर्ण कार्य डॉ० डी० डी० कोसाम्बी द्वारा सम्पादित भर्तृहरि से सम्बद्ध सूक्तियाँ और डॉ० वी० एस० सुकठनकर द्वारा सम्पादित 'महाभारत' का आलोचनात्मक सस्करण हैं। सस्कृत में पूना से प्रकाशित रामायण और महाभारत के संस्करण वास्तव मे पाठ सम्पादन के उत्तम निदर्शन हैं। इसी प्रकार प्राकृत मे स्टेनकोनोव, डॉ० पी० एल० वैद्य, डॉ० ए० एन० उपाध्ये और डॉ० हर्मन जेकोबी द्वारा सम्पादित पाठ अच्छे कहे जा सकते हैं। अपभ्रश मे डॉ० अल्सडोर्फ, डॉ० हीरालाल जैन, और डॉ० ह० चू० भायाणी के सम्पादित संस्करण उत्तम कोटि के है। हिन्दी में प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कार्य उत्तम है।

हस्तलिखित प्राचीन प्रतियॉ प्रायः ताड़पत्र, भोजपत्र, हाथ के बने हुए कागज और कभी-कभी वस्त्र, लकडी, धातु, चमड़ा, पाषाण और ईंट, आदि पर भी लिखी हुई मिलती है। हस्तलिखित प्रति के आधार पर पाठ-सम्पादन करते समय कई बातो पर ध्यान दिया जाता है। उन मे से कुछ निम्नलिखित है—

१. किसी रचना की कितनी हस्तलिखित प्रतियॉ मिलती हैं। उन मे भी समान पाठ वाली कितनी हैं और भिन्न पाठ वाली कितनी प्रतियाँ हैं। विभिन्न पाठ वाली प्रतियों की स्थिति मे अध्ययन और अनुमान से मूल आदर्श प्रति का पता लगाया जाता है। फिर, पुनर्निर्माण की विधि से पाठ निश्चित किया जाता है।

२. जिस रचना की एक ही प्रति उपलब्ध होती है, उस की भाषा, रचना और शैली की दृष्टि से पाठ-सशोधन किया जाता है। अनेक पुस्तके एक ही प्रति के आधार पर प्रकाशित हो चुकी हैं। उन मे से कुछ के नाम है—विश्वनाथ का कोशकल्पतरु, भीमदेव का भारतभाष्य, धनपाल की भविसयत्तकहा (जर्मन सस्करण) और पृथ्वीराज-विजय, आदि।

३. जो प्रतियॉ प्रायः अशुद्ध होती हैं, उन में भी कहीं-कहीं शुद्ध और मौलिक पाठ मिलते हैं, इसलिए उन की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

४. प्रतिलिपि की प्रामाणिकता का परीक्षण बहुतकर लिपिकाल पर भी निर्भर रहता है। इसी प्रकार जिन स्थानों से प्रतिलिपियॉ प्राप्त हुई है, उन पर भी विचार करना कभी-कभी आवश्यक हो जाता है।

५. आलोचनात्मक सामग्री का चुनाव हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर ही किया

जाता है। जिन प्रतियों को सम्पादन के लिए अनुपयुक्त समझा गया है, उन के कारणों का भी उल्लेख करना नितान्त आवश्यक है।

६. अधिकतर हस्तलिखित प्रतियों के अन्त में प्रशस्तियाँ लिखी हुई मिलती हैं। इन प्रशस्तियों में प्रायः ऐतिहासिक एवं महत्त्वपूर्ण विवरण का उल्लेख किया जाता है। अतएव इन प्रशस्तियों का विस्तृत विवरण देना आवश्यक समझा जाता है।

७. विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों का पारस्परिक सम्बन्ध वंशपरम्परा के अनुसार किया जाना चाहिए।

८. प्रत्येक प्रति के लिए कोई-न-कोई सांकेतिक चिह्न का प्रयोग करना चाहिए; जैसे—क, ख, ग, घ अथवा अ, ब, स, द, आदि।

९. पाठों की समानताओं और असमानताओं का स्पष्ट और आलोचनात्मक निर्देश करना चाहिए।

१०. हस्तलिखित प्रतियों का सम्पादन जिस रीति से किया जाए, उस विधि का उल्लेख करना चाहिए।

श्री पॉल मास ने विशिष्ट प्रकार के विभिन्न पाठों के लिए निम्नलिखित चिह्नों के उपयोग का सुझाव दिया है[१४]:

१. ऊहात्मक संशोधनों का अंकन < > चिह्न द्वारा किया जाना चाहिए। अनुमान के आधार पर स्वीकृत सामग्री इस चिह्न के बीच में लिखी जानी चाहिए।

२. ऊहा के आधार पर अस्वीकृत पाठ को दोहरे कोष्ठकों ([ ]) में लिखा जाना चाहिए।

३. मैकेनिकल दोषों को हटा कर शुद्ध किए गए पाठ को वर्गाकार कोष्ठकों में □ लिखा जाना चाहिए।

४. भ्रामक स्थानीय दोषों से युक्त पाठ को प्रतीक + चिह्न द्वारा अंकित करना चाहिए।

प्रतियों में दोष और उन के कारण

प्रायः हस्तलिखित प्रतियों में बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार के दोष मिलते हैं। बाह्य दोषों में प्रति का त्रुटित होना, अत्यधिक जीर्ण होने से किनारे अथवा किन्हीं वर्णों का त्रुटित होना, सीलन नमी से या अन्य किसी प्रभाव से मसि का धूमिल हो जाना, अक्षरों की लिपि सुवाच्य न होना अथवा वर्णों का संकीर्ण होना सम्मिलित है। आन्तरिकदोष का सम्बन्ध मुख्य रूप से अज्ञानता या नासमझी से है। लिपिभ्रम, अक्रभ्रम, पुनरावृत्ति तथा अनुचित विग्रह के कारण जब पाठक सन्देह में पड जाता है, तब प्रायः ऐसी भूलें हो जाती हैं, जिन्हें हम आन्तरिक दोष कहते है। देवनागरी लिपि में प, य; घ, ध; ख, रव, भ, म, आदि में भ्रमवश विपर्यय हो जाता है। हस्तलिखित प्रतियों में व–च, द्ध–ब्ज, ड–ज, त्थ–च्छ और त–र मे प्रायः भ्रम परिलक्षित होता है। लिपि-भ्रम की भाँति शब्द-भ्रम भी हो सकता है। उदाहरण के लिए, रामचरितमानस के किन्हीं संस्करणों में :

'सकइ उठाइ सरासुर मेरू। सोउ हियं हारि गयउ करि फेरू।'

(बालकाण्ड, १, २९२, ७)

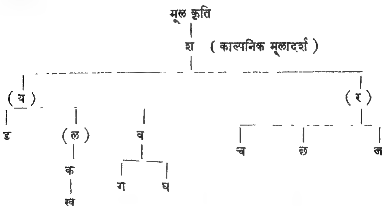
यहाँ पर सरा + असुर = बाणासुर शुद्ध पाठ है। किन्तु किसी ने 'सरासुर' को न समझ कर 'सुरासुर' कर दिया है, जो उपयुक्त नही है। इसी प्रकार लिपि के कुछ विशिष्ट प्रयोगों को न जानने अथवा न समझने के कारण भी भूलें हो जाती हैं। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा प्रकाशित 'तिल्हण कवि और उनका कुट्टनीरासक' के टिप्पण में श्री कपिलदेवगिरि, शोधसहायक, प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी ने 'लरकणु' शब्द को अशुद्ध मान कर 'लखणु' को शुद्ध माना है। वास्तव मे, लिपि मे 'लरकणु' लिखा जाता है और पढा जाता है—लक्खणु। अपभ्रंश के अधिकतर हस्तलिखित ग्रन्थों में ऐसा ही लिखा हुआ मिलता है। अतएव वह अशुद्ध नही है, वरन् 'लक्खणु' ही शुद्ध है। इसी तरह 'ष' का प्रयोग 'स' के लिए न हो कर 'ख' (खम्भु) के लिए मिलता है। 'तुज्झु' मे 'झ' दो न हो कर प्रथम 'ज्' को ही 'झ्' जैसा लिखा जाता है। इसी प्रकार एक ही शब्द विभिन्न प्रतियो मे भिन्न-भिन्न रूपो में मिलता है; यथा—ऊ, ज, डॅ, व, आदि।

अन्य आन्तरिक दोषो मे भाषागत ध्वनियों मे परिवर्तन, किसी अक्षर का बढ जाना, किसी वर्ण का लोप हो जाना, किसी वर्ण का विपर्यय हो जाना तथा किसी अक्षर की दो बार आवृत्ति हो जाना या भूल से दो बार किसी शब्द का लिखा जाना एव समान शब्दान्तर न्यास भी है। इसी प्रकार हाशिए के शब्दो, टिप्पणों, आदि का मूल पाठ मे समावेश हो जाना, वाक्य के अन्य शब्दो के प्रभाव से किसी शब्द के रूप मे परिवर्तन हो जाना, विचार-व्यतिक्रम से वाक्यगत शब्दों का आगे-पीछे हो जाना, व्याकरण, आदि के अशुद्ध प्रयोगों को प्रतिलिपिकार के द्वारा सुधार कर लिखा जाना, उच्चारण-भेद मिलना और भाषा की अनियमितता से एक ही शब्द के यहु, येह, यह, दुइ, दोउ, दोइ एव सुनाएउ, सुनायेहु, सुनायेउ, आदि रूप मिलना। इन के अतिरिक्त बाद मे मिलाए गए (प्रक्षिप्त) अश भी किसी-किसी प्रति मे मिलते हैं। सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रश के हस्तलिखित ग्रन्थो मे प्रायः एक ही लम्बी पक्ति में कई वाक्य लिखे हुए होने के कारण कभी-कभी समास-विग्रह तथा सन्धि-विच्छेद की असावधानी से भी पाठ-भेद और प्रतियो में कई प्रकार के परिवर्तनगत दोष लक्षित होते हैं। कहीं-कहीं मात्रा या अक्षर के छूट जाने के कारण भी दोष परिलक्षित होता है। इसी प्रकार कई बार गद्य को पद्य या पद्य को गद्य समझ लिया जाता है। प्राकृत, अपभ्र श की रचनाओं में ऐसे स्थल विशेष रूप से लक्षित होते है।

पुनर्निर्माण की विधि

किसी भी प्राचीन कवि की मूल कृति स्वहस्तलिखित नहीं मिलती। यही नहीं, प्रथम प्रतिलिपि भी उपलब्ध नहीं होती। प्रतिलिपि की प्रायः प्रतिलिपि मिलती है। प्रतिलिपिकार स्वेच्छा से या प्रमादवश कई प्रकार की विकृतियाँ जाने-अनजाने उत्पन्न कर देते हैं। उन विकृतियों को समझ कर किसी रचना के मूलपाठ का पुनर्निर्माण करना

पाठालोचन का उद्देश्य है। पाठालोचन एक से अधिक हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया जाता है। जिस की केवल एक ही प्रति मिलती है, उस में लेखानुसगत यथावश्यक संशोधन किया जा सकता है। किन्तु मान लीजिए जिस ग्रन्थ की आठ प्रतियाँ उपलब्ध है, उन में से पाँच प्रतियो का एक गण है और तीन प्रतियों का दूसरा गण। पाँचों प्रतियाँ काल्पनिक 'य' के आधार पर लिखित है और शेष 'र' के अन्तर्गत हैं। निरीक्षण व अध्ययन से यह भी पता चलता है कि 'य' गण के भी तीन उपगण है। क, ख, का काल्पनिक आदर्श 'ल' है और इन मे से भी ख 'क' की प्रतिलिपि है। ग, घ का काल्पनिक आदर्श 'व' है। सभी का मूल स्रोत काल्पनिक मूलादर्श 'श' है। इसे हम यों समझ सकते है :



इस उदाहरण मे सब प्रतियो को असकीर्ण माना गया है। यदि यह निश्चित है कि 'ख' 'क' की प्रतिलिपि है, तो पाठ-पुनर्निर्माण मे इसकी उपेक्षा हो सकती है। इस का प्रयोग केवल उन स्थानो मे किया जा सकता है, जहाँ 'ख' के लिपिकृत होने के पश्चात् 'क' त्रुटित हो गया है। अतः अब क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, (और उचित स्थल पर ख) प्रतियो के आधार पर काल्पनिक मूलादर्श 'श' का पुनर्निर्माण करना है। जो पाठ सब मे समान है, वही 'श' का पाठ है। यह सम्पादन का मूल सिद्धान्त है कि सब प्रतियों का समान पाठ मौलिक पाठ है। यदि 'य' गण मे एक पाठ है और 'र' गण मे दूसरा पाठ है, तो हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि 'श' का पाठ कौन-सा था, क्योंकि दोनों मे से कोई भी पाठ मौलिक हो सकता है। ऐसी स्थिति मे अधिकतर प्रतियों मे मिलने वाला पाठ ही मौलिक नही मान सकते। उन की विश्वसनीयता का परीक्षण कई दृष्टियो से आवश्यक हो जाता है। सकीर्ण धाराओ के आधार पर विभिन्न धाराओ को शुद्ध माना जाता है। उन भिन्न-भिन्न पाठो को देख कर हम नहीं कह सकते कि उन मे से कौन-सा मौलिक है। फिर भी, पुनर्निर्माण के हेतु कुछ नियमों का उल्लेख किया जाता है, जो इस प्रकार हैं[१५] :—

१. सुधार (सगत पाठ प्रकरणानुसार),

२. विषयानुसंगति (अर्थौचित्य के साथ ही भाव-भाषा, छन्दोभंग न हो, विचार-धारा न टूटे और पुनरुक्ति न हो),
३. लेखानुसंगति (जैसे : अविछिता लिखा हुआ देख कर प्रसंगोपात्त अधिछिता की संगति निश्चित करना),
४. प्रत्येक पाठ की परीक्षा के चार परिणाम लक्षित होते हैं :—
(क) स्वीकृति—अमुक पाठ रचयिता को अभीष्ट था ।
(ख) सन्देह—निर्णय न कर सकने की स्थिति मे सन्देह बना रहता है, किन्तु विषयानुसगति से एक पाठ ठीक होता है, तो लेखानुसगति से दूसरा पाठ ठीक हो सकता है । सम्पादक ऐसे पाठों को टिप्पणी मे विशेष रूप से दे सकता है ।
(ग) त्याग—किसी पाठ के औचित्य पर सन्देह होने पर उसे त्याग दिया जाता है । ऐसे पाठ को कोष्ठक में लिखा जाता है ।
(घ) सुधार—विषयानुसगति और लेखानुसगति को ध्यान मे रख कर सम्पादक यथावश्यक सशोधन व सुधार करने का प्रयत्न करता है । इस प्रकार के सशोधन तब और भी आवश्यक हो जाते हैं, जब प्रति भ्रष्ट मिलती है अथवा प्रतियो मे भाषा व व्याकरण-सम्बन्धी भूलो की भरमार होती है ।

पाठ की अर्थभेदगत समस्याएँ

अधिकतर लोग यह समझते है कि वैज्ञानिक पाठ-संशोधन मे शब्द की प्रधानता होती है और साहित्यिक सम्पादन मे अर्थ की । वास्तव मे, किसी भी रचना के सम्यक् सम्पादन के लिए शब्द और अर्थ दोनो की सगति पर ध्यान देना आवश्यक होता है । शब्द ओर अर्थ की संगति विषय तथा प्रसंग पर निर्भर रहती है । ठीक शब्द और अर्थ के आधार पर ही शुद्ध पाठ का निर्धारण किया जाता है । शब्द अर्थ से सश्लिष्ट होता है । रचना के मूल तक पहुँचने के लिए शब्द के अनुषंगो से अर्थ की उपलब्धि करना ही अध्येता एव पाठक का मुख्य उद्देश्य कहा जा सकता है । वस्तुतः रचनाकार की मनः-स्थिति तक पहुँचे बिना रचना का मूल अर्थ प्रकट नहीं होता । ऐसे स्थलो पर तो शब्द की अर्थविषयक समस्या ही उत्पन्न हो जाती है, जहाँ सामान्य शब्द भी किसी अप्रसिद्ध अर्थ मे रचनाकार जाने-अनजाने प्रयुक्त करता है । उदाहरण के लिए, सूरदास ने 'कज' शब्द का प्रयोग 'कुमोदनी' अर्थ मे, जायसी ने 'नाइत' शब्द का प्रयोग सामुद्रिक व्यापारी अर्थ मे, देव ने 'मजि' शब्द का प्रयोग 'कोश' (फूलो का गुच्छा) अर्थ मे, रहीम ने 'पामडी' शब्द का प्रयोग 'शाल' (बहुमूल्य ऊनी वस्त्र) अर्थ मे, जायसी ने 'ढुकत' शब्द का प्रयोग 'छुपने' अर्थ में, 'सर' शब्द का प्रयोग 'चिता' अर्थ मे, कबीर ने 'रोज' शब्द का प्रयोग 'विषाद' अर्थ में और घनानन्द ने 'छला' शब्द का प्रयोग 'अँगूठी' (छल्ला) अर्थ मे और 'बाखरि' घर अर्थ मे प्रयुक्त किया है । आज भी बुन्देलखंड मे छल्ला और बखरी शब्द प्रचलित हैं ।

एक शब्द के कई अर्थ होते हैं। रचनाकार एक ही रचना मे प्रसंगानुसार एक शब्द का विभिन्न अर्थों मे प्रयोग करता है। इसलिए कभी-कभी यह निर्णय करना भी कठिन हो जाता है कि अमुक स्थल पर अमुक शब्द का क्या अर्थ होना चाहिए। फिर भी, प्रसगतः अर्थ-निर्णय किया जाता है। कही-कही पर एक ही कवि की विभिन्न रचनाओ के टीकाकार समान अर्थ होने पर भी एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थों का उल्लेख करते है;[१९] जैसेकि :

१. रहिमनशतक—कुर—खराब (लाला भगवानदीन),
२. रहीमरत्नावली—कुर—मूढ (मायाशकर याज्ञिक),
३. रहिमनविलास—कुर—दुष्ट (बाबू ब्रजरत्नदास)।

इस तरह के एक नहीं, अनेक शब्द है। भाषा के तीव्र परिवर्तन के प्रवाह मे हम अपने ठेठ एव जनबोलियो के शब्दो से दिनोदिन अपरिचित होते जा रहे है, जिस से प्राचीन काव्यों की अर्थगत समस्या जटिल होती जा रही है। अवधी, ब्रज, बुन्देली, भोजपुरी, मगही और मैथिली, आदि भाषाओ के जब तक सभी शब्दों का बृहत् सकलन शब्दकोशो के रूप मे प्रकाशित नही हो जाता, तब तक अर्थभेदगत समस्या बनी ही रहेगी। यथार्थ मे, ऐसे पाठालोचनों मे बोलियो तथा भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन से बहुत योग मिलता है। एक ही भाषा की विभिन्न रचनाओं मे एक शब्द के विभिन्न अर्थगत प्रयोगो के उदाहरण हैं :[१७]

१. धुरते मधुर मधुरसहू विधुर करे, मधुरस बेधि उर गुरु रह फूली है।
—देव और विहारी (कृष्णबिहारी मिश्र)।

२. धुरही ते खोटो खायो है।—भ्रमरगीतसार (रामचन्द्र शुक्ल)।

३. धुरकी लगन लगी अति गाढी, गाढी चोप चटक अति प्यारी।
—घनानन्द।

४. भयो है उचाट करनाट नरनाहन, डोल उठी छाती गोलकुडा ही के धुरकी।
— भूषणग्रन्थावली।

५. उर सो लगी ही बधू विधुर अधर चूमि, मधुर सुधान बातें सुनिबे सुभाव की।
—देवसुधा (मिश्रबन्धु)।

पहली पक्ति मे 'धुरते' का अर्थ 'ठेठ' से है। दूसरी पक्ति मे उसका अर्थ प्रारम्भ से है। तीसरी पक्ति मे 'धुरकी' का अर्थ 'चरम सीमा' और चौथी पक्ति मे उसका अर्थ 'शीर्षस्थान' किया गया है। पॉचवी पक्ति मे 'विधुर' का अर्थ काँपना है।

यही नहीं, प्रचलित समान शब्दो में भी अर्थ की भिन्नता परिलक्षित होती है। इसलिए यदि किसी बोली विशेष मे कोई अर्थ प्रचलित रहा हो, तो यह आवश्यक नही है कि आज भी वही अर्थ चलता हो। शब्द कम हैं और अर्थ अधिक। अतएव शब्द नहीं बदलते या बहुत कम बदलते है, पर अर्थ बदल जाते हैं; उदाहरण के लिए—ब्रजभाषा मे 'अँचैना' का प्रयोग 'पीने' अर्थ में होता है, किन्तु बुन्देलखड और बघेलखंड

मे 'अँचैना' का अर्थ भोजन करने के उपरान्त हाथ-मुँह धोना है। इसी प्रकार ब्रजभाषा में 'खिस्यानो' और 'अकरी' के अर्थ मे क्रमशः 'लजाना' और 'मँहगा' शब्द प्रचलित हैं, परन्तु बुन्देली में क्रमशः 'नाराज होना' और 'ऐठायदी' या 'कसैली' वस्तु है। इसी तरह 'सुघर' शब्द ब्रजभाषा मे 'चतुर' अर्थ का वाचक है, किन्तु अवधी और बुन्देली में 'सुन्दर' अर्थ में प्रयुक्त होता है। बुन्देली मे 'जुहार' का अर्थ अभिवादन है, पर ब्रज मे 'गुहारना' या 'चिल्लाना' है। अपभ्रंश मे 'कल्होड' शब्द का प्रयोग युवा बछड़े के लिए परिलक्षित होता है।[१८] 'जबूसामिचरिउ' के अनुवाद मे :

कल्होडवइल्लें जायरेल्लु सघाडुल्लालिउ गयउ तेल्लु। ५. ७. २३ इस का अर्थ किया गया है—दुष्ट बैल के द्वारा (तेलवाहक बैलों की) जोडी को लात मार देने से तेल नष्ट हो गया।

इस अर्थ मे 'दुष्ट बैल' के साथ जुडा हुआ दुष्ट विशेषण अर्थ की दृष्टि से ठीक नहीं है, क्योंकि 'कल्होड' का अर्थ दुष्ट नही है। डॉ० विमलप्रकाश जैन ने अनुवाद करते समय 'दुष्ट' अर्थ किया है, पर शब्दकोश के अन्तर्गत लिखा हुआ है—

कल्होड—(दे०) वत्सतर, बछड़ा (दे०, पृ० ३०४)।

'वत्सतर' शब्द का अर्थ सस्कृत के कोशो में क्षुद्र वत्स है, परन्तु क्षुद्र वत्स का अर्थ दुष्ट नहीं होता। वाचस्पत्यकोश मे इसका विवरण इस प्रकार है :

वत्सतर पुस्त्री क्षुद्रवत्स अल्पत्वे तरप्। क्षुद्रवत्से।
अप्राप्तदशनकाले गवादौ अमर स्त्रियां ङीप्। वत्सतरी।
(पृ० ४८४४)।

वस्तुतः 'कल्होड' शब्द देशी है, इसलिए प्राकृत के शब्द-कोशो मे नहीं मिलता। 'पाइअसद्दमहण्णव' मे यह शब्द देशी नाममाला से सकलित किया गया है। उस मे इस का वत्सतर अर्थ ही दिया गया है। कहा भी है—

कल्होडा वच्छयरे वगम्मि कङ्करकाउल्ला। देशी० २,९।

'वत्सतर' का अर्थ क्षुद्र वत्स न हो कर जवान बछडा है या जिस के अभी दॉत नही निकले हैं। इस का एक अर्थ गाडी, हल, आदि मे जोतने योग्य बैल भी कहा गया है—

वत्सः शकृत्करिस्तर्णो दम्यवत्सतरौ समौ। अभिधानचिन्तामणि; ४,३२६।

अल्पावस्था वाले बच्छा-बछियो को वत्स, शकृत्कार तथा तर्ण कहते है। जुतने योग्य बैल को दम्य और वत्सतर कहते है। अतः यहॉ 'कल्होड' का अर्थ जोतने योग्य बैल है, दुष्ट बैल नहीं। अधिक से अधिक हम उसे युवा बैल कह सकते है। हमारे अर्थ की पुष्टि गोस्वामी तुलसीदास के प्रयोग से भी होती है। कवितावली की पक्तियॉ हैं—

सौहै सितासित को मिलिबो, तुलसी हुलसै हिय हेरि हलोरे।
मानों हरे तृन चारु चरैं बगरे सुरधेनु के धौल कलोरे॥ १४४॥

यहॉं पर 'कलौरे' शब्द जवान बछड़े के लिए प्रयुक्त है। शब्द-विकास की दृष्टि से 'कलौरा' शब्द 'कल्होड' का ही विकसित रूप है।

कल्होड > कल्लोड > कलोड > कलोर ।

इसी प्रकार—णाहल > णाहर > नाहर ।

इत्यादि उदाहरणों से स्पष्ट है कि अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्राचीन काव्य की अर्थ-विषयक समस्या को सुलझाने में उत्तर मध्यकालीन काव्यों के अध्ययन से भी अर्थ-निर्णय करने में बहुत सहायता मिलती है ।

— ——

सन्दर्भ-संकेत :

१ रॉबर्ट ए० हॉल जू० : इन्ट्रोडक्टरी लिंग्विस्टिक्स, पृ० २७८ ।

२. स्थाणुरय भारहर किलाभूत्,
वेदान्यधीत्य यो न जानात्यर्थम् ।

३ आकृतिभिश्च शब्दाना सम्बन्धो, न व्यक्तिभिः व्यक्तीनां आनन्त्यात् सम्बन्धाग्रेणानुपपत्तेः ।
—वेदान्तसूत्र-भाष्य, १,३,२८ ।

४ बर्ट्रेन्ट रसेल : एन इन्क्वारी इन टु मीनिंग एण्ड ट्रुथ, छठा संस्करण, १९६१, पृ० २४ ।

५. "एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ ।"—वाक्यपदीय, २,३१ ।

६ "यद्येकः शब्द एकस्मिन्नर्थे नियतः स्यात्, तत एतद् युज्यते वक्तुम्, यतस्त्वनियमः ततः प्रकृतेरेव सर्वे अर्थाः स्युः ।" प्रदीप, महाभाष्य, १,२,४५ ।

७ डीन एण्ट विल्सन (स०) : एसेज ऑन लैंग्वेज एण्ड यूसेज (के अन्तर्गत "ग्रैमर इन ए न्यु की" शीर्षक निबन्ध), ओ० यु० पी०, १९६३, पृ० २१० ।

८ शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ।
ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ॥ महाभारत, वनपर्व, २,१९ ।

९. 'अर्थस्य ।'—तत्त्वार्थवार्तिक, १,१७ ।

१० बर्ट्रेन्ड रसेल : एन इन्क्वारी इन टु मीनिंग एण्ड ट्रुथ, पृ० २७ ।

११ वही, पृ० ६७ ।

१२. जे० एन० फिन्डले : लैंग्वेज माइन्ड एण्ड वेल्यु, लन्दन, प्रथम संस्करण, १९६३, पृ० २०८-२०९ ।

१३ वही, पृ० २११ ।

१४ वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।—रघुवंश, १,१ ।
तथा—गिरा-अरथ जल-बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न ।
—रामचरितमानस, बालकाण्ड, १८ ।

१५. डॉ० गौरीनाथ शास्त्री : द फिलासफी ऑव वर्ड एण्ड मीनिंग, कलकत्ता, १९५९, पृ० १०५ ।

१६. वही, पृ० १०६ ।

१७ हरीश शर्मा : भाषा विज्ञान की रूप-रेखा, पृ० १९१ से उद्धृत ।

१८. आर० एच० रॉबिन्स : जनरल लिंग्विस्टिक्स, पृ० २२ ।

१९. वही, पृ० २२ ।

२० शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

२१ "चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः, जातिगुणक्रियायदृच्छाशब्दाश्चेति ।"

२२ शक्यसम्बन्धो लक्षणा । 'शक्यतावच्छेदकारोपो लक्षणा' इत्यपि केचित् ।
शक्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यमानस्य स्वीकारात् ।—रसगङ्गाधर, द्वितीयानन ।

२३. इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।
वाच्यातिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् ॥ काव्यप्रकाश, १, ४ कारिका।
२४. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता।—रसगङ्गाधर, १,१।
२५. यत्रार्थो वाच्यविशेषो वाचकविशेष शब्दो वा।
तमर्थव्यङ्क्तः सः काव्यविशेषो ध्वनिरिति ॥ ध्वन्यालोक, १,१३ कारिका।
२६. माध्वीकं पानस द्राक्ष खार्जूरं तालमैक्षवम्।
मैरेय माक्षिक टाङ्क मधूकं नारिकेलजम्।
मुख्यमन्नविकारोत्थ मद्यानि द्वादशैव तु ॥
२७ "गोल्लोतो गगा थई रे अङ्गे उजला थया छे केश।"—नरसिंह मेहता।
२८. "इन्दतीति इन्द्रः। इन्द्र आत्मा। इन्द्रियम्—" सिद्धहैमशब्दानुशासन, ७,१,१७४।
"कूपप्रवेशनमर्हतीति कौपीन।" वहीं, ६,४,१८५।
२९. 'सामीप्य देशकृता कालकृता वा प्रत्यासत्तिः।"—वहीं, ७,४,७९।
३० डॉ० आइ० जे० एस० तारापुरवाला : एलामेन्ट्स ऑव द साइन्स ऑव लैंग्वेज, १९६२ तृ० स०,पृ० ६५।
३१. वहीं, पृ० ६६।
३२ आर० एच० रॉबिन्स . जनरल लिंग्विस्टिक्स, पृ० २९।
३३ 'भाषा' वर्ष ५, अक ३, पृ० ११ मे उद्धृत।
३४. वहीं, पृ० १३ से उद्धृत।
३५ माईदयाल जैन . हिन्दी शब्द-रचना, पृ० १२९ से उद्धृत।
३६. 'भाषा', वर्ष ३, अक १, सितम्बर, १९६३, पृ० २५ से उद्धृत।
३७. वहीं, पृ० २९ से उद्धृत।
३८. डब्ल्यु० एच० हडसन इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑव इग्लिश लिटरेचर, पृ० ७९।
३९. डॉ० ब्रजाधीश प्रसाद . ए बेकग्राउण्ड टु द स्टडी ऑव इंग्लिश लिटरेचर, द्वितीय सस्करण, १९६१, पृ० २१२।
४०. आर० ए० स्कॉट-जेम्स . द मेकिंग ऑव लिटरेचर, लन्दन, १९६३, पृ० ३०४।
४१. ए मेरियम-वेब्स्टर : वेब्स्टर्स सेविन्थ न्यु कॉलिजिएट डिक्शनरी, भारतीय सस्करण, १९७१, पृ० ८७२।
४२ डॉ० शिवकरण सिंह : आलोचना के बदलते मानदण्ड और हिन्दी साहित्य, १९६७, पृ० १३८ से उद्धृत।
४३. रॉबर्ट ए० हॉल फ्र० . इन्ट्रोडक्टरी लिंग्विस्टिक्स, पृ० ४०९।
४४. ए मेरियम-वेब्स्टर . वेब्स्टर्स सेविन्थ न्यु कॉलिजिएट डिक्शनरी, भारतीय सस्करण, १९७१, पृ० ८७३।
४५ एल० कैसर : मेन्युल ऑव फोनेटिक्स, १९५७, पृ० ३९५।
४६. वहीं, पृ० ३९५।
४७. वहीं, पृ० ३९६।
४८. थॉमस ए० सेबाक (स०) . स्टाइल इन लैंग्वेज, न्यूयार्क, १९६०, पृ० १९।
४९. वहीं, पृ० १४५।
५०. वहीं, पृ० ४२१।

५१. सी० एफ० हॉकेट : ए कोर्स इन मॉडर्न लिंग्विस्टिक्स, १९७०, पृ० ५५६ ।

५२. नील्स एरिक एन्कविस्ट : लिंग्विस्टिक्स एण्ड स्टाइल, लन्दन, १९६७, पृ० २८ ।
"The style of a text is a function of the aggregate of the ratios between the frequencies of its phonological, grammatical and lexical items and the frequencies of the corresponding items in a contextually related norm."

५३. डॉ० रामअवध द्विवेदी : साहित्य-सिद्धान्त, १९६३, पृ० १५९ ।

५४. थॉमस ए० सेबाक (स०) : स्टाइल इन लेंग्वेज, न्यूयार्क, १९६०, पृ० २९३ ।

५५. डॉ० भोलानाथ तिवारी और डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव (स०) : साहित्यिकी, खण्ड एक, भारतीय भाषा-परिषद, १९७१, पृ० ९६ में उद्धृत ।

५६. सम्प्रति तत्र ये मार्गा: कविप्रस्थानहेतव: ।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मक: ॥ वक्रोक्तिजीवित, १,२४ ।

५७. असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता ।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सघटनोदिता ॥ ध्वन्यालोक, ३,५ ।
तथा—वही, ३,७ ।

५८. ग्राहम विलसन (स०) : ए लिंग्विस्टिक्स रीडर, न्यूयार्क, १९६७, पृ० ५० ।

५९. वही, पृ० ५१ ।

६०. ज० विलियम स्ट्रन्क एण्ड ई० बी० ह्वाइट : द एलीमेन्ट्स ऑव स्टाइल, न्यूयार्क, आठवाँ संस्करण, १९६०, पृ० १-७१ ।

६१. आइ० ए० रिचर्ड्स : प्रिन्सिपल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म, लन्दन, चौदहवाँ संस्करण, १९५०, पृ० १९२ ।

६२. वही, पृ० २४५ ।

६३. डॉ० केदारनाथ सिंह : आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्बविधान, १९७१, पृ० ८४-८५ में उद्धृत ।

६४. थॉमस डेविडसन (स०) : चेम्बर्सस् ट्वन्टीन्थ सेन्चुरी डिक्शनरी, लन्दन, १९३७, पृ० ७०७ ।
"Poetry is the art of expressing in melodious words the thoughts which are the creations of feeling and imagination."

६५. वही पृ० ३३४ ।
"Fancy is that faculty of the mind by which it recalls, represents, or makes to appear past images or impressions."

६६. डॉ० ब्रजाधीशप्रसाद : एन इन्ट्रोडक्शन टु इंग्लिश क्रिटिसिज्म, १९६५, पृ० १८९ ।

६७. वही, पृ० १८३ ।

६८. वही, पृ० १८१ ।

६९. वही, पृ० १८२-१८३ ।

७०. एस० टी० कोलरिज : बायोग्राफिया लिटरेरिया, अध्याय १३-१, पृ० २०२ ।

७१. वही, पृ० २०२ ।

७२. डेविड डायचेस : क्रिटिकल एप्रोचेज टु लिटरेचर, दिल्ली, १९६७, पृ० १०५ ।

७३. वही, पृ० १०७ ।

७४. वही, पृ० १०९ ।
"Fancy constructs surface decorations out of new combinations of memories and perceptions, while the imagination "generates and

produces a form of its own". The operation of the imagination can be compared to organic or biological growth and the forms it produces are organic forms, developing under its "shaping and modifying power" which is contrasted with "the aggregative and associative power" of the fancy.

७५. क्रिस्तियन स्मिट पोइट्री एण्ड बिलीफ इन द वर्क ऑव टी० एस० इलियट, लन्दन, १९६१, पृ० ११७।

७६. एस० मा० सेनगुप्ता : टुवर्ड्स ए थ्योरी ऑव द इमेजानेशन, कलकत्ता, १९५९, पृ० १४।

७७ टी० ई० ह्यूम . स्पेकुलेशन, पृ० १३५।
"Poetry is not a counter language, but a visual concrete one"

७८ डॉ० नगेन्द्र . काव्य-बिम्ब, १९६७, पृ० ५ से उद्धृत।

७९ डॉ० केदारनाथ सिंह : आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्बविधान, १९७१, पृ० २५ से उद्धृत।

८०. डॉ० नगेन्द्र काव्य-बिम्ब, १९६७, पृ० २७ से उद्धृत।

८१ एल० एम० व्यगोत्स्की . थॉट एण्ड लैंग्वेज (अंग्रेजी अनुवाद), तृतीय सस्करण, १९६७, पृ० ७२।

८२ "So God created man in his own image, in the image of God created he him, male and female created he them."—ओल्डटेस्टामेन्ट, १.२७।

८३. सी० डी० लेविस . पोइटिक इमेज, पृ० २६।

८४ वही, पृ० १७।

८५. डॉ० सुधा सक्सेना : जायसी की बिम्ब-योजना, १९६६, पृ० ४२ से उद्धृत।

८६ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रस-मीमासा, पृ० १६७ से उद्धृत।

८७ डॉ० नगेन्द्र : काव्य-बिम्ब, १९६७, पृ० ५२-५३ से उद्धृत।

८८. ए० मेरियम-वेब्स्टर . वेब्स्टर्स सेविन्थ न्यू कॉलेजिएट डिक्शनरी, द्वितीय भारतीय सस्करण, १९७१, पृ० ६१८।

८९. डॉ० बच्चन सिंह आलोचक और आलोचना, १९७०, पृ० ७६ से उद्धृत।

९०. आर० ए० स्कॉट-जेम्स . द मेकिंग ऑव लिटरेचर, लन्दन, १९६३, पृ० २४२।

९१. डॉ० केदारनाथ सिंह : आधुनिक हिन्दी कविता मे बिम्बविधान, १९७१, पृ० ८६ से उद्धृत।

९२. डॉ० बच्चन सिंह . आलोचक और आलोचना, १९७०, पृ० ८८ से उद्धृत।

९३. डॉ० लोठार लुत्से . साहित्य . विविध सदर्भ, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, १९६८, पृ० १८-१९ मे उद्धृत।

९४. रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, पहला भाग, १९६६, पृ० २३२-२३३ से उद्धृत।

९५. हर्बर्ट रीड . इंग्लिश प्रोज स्टाइल, लन्दन, पुनर्मुद्रित, १९५६, पृ० ८९ से उद्धृत।
"This process involves more than a power of generalization, more than the scientific methods of induction and deduction, it involves also the capacity to discern a pattern in events (which power we might perhaps call 'intution' if intution is to have any meaning not covered by the word 'perception'), and it also involves the capacity to see the significant among a series of events (which power we might call 'insight'). (p. 89).

९६. मार्ग्रेट एम० ब्रिएन्ट : मॉडर्न इंग्लिश एण्ड इट्स हेरिटेज, न्यूयार्क, आठवाँ संस्करण, १९५९, पृ० २१७।

९७. हेनरी एम० होइग्सवाल : लैंग्वेज चेन्ज एण्ड लिंग्विस्टिक रिकन्सट्रक्शन, शिकागो विश्वविद्यालय, १९६०, पृ० ७९ से उद्धृत।

"The replacement pattern of change–or of the hypothetical replacement pattern of changes which have not occured–may itself be looked upon as another factor favorable or unfavorable to sound change" (p. 79)

९८. विलियम के० विम्सॉट, ज० एण्ड क्लीन्थ ब्रुक्स लिटररी क्रिटिसिज्म ए शॉर्ट हिस्ट्री, येल यूनिवर्सिटी, पृ० ६२७ से उद्धृत।

"Ransom drew a crucial distinction between the texture and the structure of a poem The texture of a poem is constituted of its rich local valnes, the quality of things in their "thinginess" The structure is the "argument" of the poem It gives the poem such shape as it has; it regulates the assemblage of sensory date, promiding order and direction." (p. 627).

९९. एतत्त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम्।
पदवाक्यप्रबन्धाना व्यापकत्वेन वर्तते॥ वक्रोक्तिजीवित १/५७।

१०० अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥—आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक।
तृतीय उद्योत, १४ कारिका की दीपिका।

१०१ रामचन्द्र शुक्ल - चिन्तामणि, पहला भाग, प्रयाग, १९६६, पृ० २३०।

१०२. वही, पृ० २३१ से उद्धृत।

१०३ कैलाश वाजपेयी : आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प, १९६३ पृ० १०४ से उद्धृत।

१०४ आई० ए० रिचर्ड्स - प्रिन्सिपल्स ऑव लिटररी क्रिटिसिज्म, लन्दन, चौदहवाँ संस्करण, १९५५, पृ० ११९ से उद्धृत।

"The sensory qualities of images, their vivacity, clearness, fullness of detail and so on, do not bear any constant relation to their effects. Images differing in these respects may have closely similar consequences" (p 119).

१०५. कैलाश वाजपेयी आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प, १९६३, पृ० ११८ से उद्धृत, विशेष जानकारी के लिए पृ० २१८–२२९ द्रष्टव्य है।

१०६. विलियम के० विम्सॉट, ज० एण्ड क्लीन्थ ब्रुक्स - लिटररी क्रिटिसिज्म, येल यूनीवर्सिटी, पृ० ६४२।

१०७ अज्ञेय (सं०) तारसप्तक, पृ० ३०९ से उद्धृत।

१०८. क्रिस्तियन स्मिट : पोइट्री एण्ड बिलीफ इन द वर्क ऑव टी० एस० इलियट, लन्दन, १९६१, पृ० ११० से उद्धृत।

"Poetry is the language of actual thought, or actual ideas. Its actuality is not merely contingent, and does not merely lie in its

faithfulness to an external subject-matter; it resides for more in its faithfulness to the movements of the mind and spirit of the poet. And this is manifested in the poetic use of imagery." (p.110)

१०९. सुरेशचन्द्र सहल : नयी कविता और उसका मूल्याकन, १९६३, पृ० ४१ से उद्धृत।

११०. डॉ० केदारनाथ सिंह : आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्बविधान, १९७१, पृ० ३० से पूर्ण उद्धृत।

१११. वेल्लक एण्ड वारन : थ्योरी आव लिटरेचर, पृ० १९३, जायसी की बिम्ब-योजना, पृ० ९६ द्रष्टव्य है।

११२. ए मेरियम वेब्स्टर : वेब्स्टर्स सेवन्थ न्यू कॉलेजिएट डिक्शनरी, १९७१, पृ० ८९२ से उद्धृत।
"Symbol something that stands for or suggests something else by reason of relationship, association, convention, or accidental resemblance, especially a visible sign of something invisible." (p. 892)

११३. एडवर्ड सैपीर : लैंग्वेज एन इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑव स्पीच, न्यूयार्क, १९४९, पृ० ८ से उद्धृत।
"Language is a purely human and non-instinctive method of Communicating ideas, emotions and desires by means of a system of voluntarily produced symbols." (p. 8).

११४. रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, पहला भाग, १९६६, पृ० २५७ से उद्धृत।

११५. डॉ० नगेन्द्र काव्य-बिम्ब, १९६७, पृ० ८ से उद्धृत।

११६ सुरेशचन्द्र सहल : नया कविता और उसका मूल्याकन, १९६३, पृ० ४२।

११७. कैलाश वाजपेयी . आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प, १९६३, पृ० ७७-७८।

११८. हिन्दुस्तानी भाग १९, अंक ४, पृ० ४३।

११९. विजयेन्द्र स्नातक (स०) : कबीर, पृ० २१६।

१२०. रामचन्द्र शुक्ल : जायसी-ग्रथावली, भूमिका, पृ० १०३ से उद्धृत।

१२१. एस० आइ० हायाकावा . लैंग्वेज इन थॉट एण्ड एक्शन, लन्दन, द्वितीय सस्करण, १९५९, पृ० २७ से उद्धृत।
"Of all forms of symbolism, language is the most highly developed, most subtle, and most complicated." (p 27).

१२२. "जातिकोपेऽर्थसङ्घाते पेश्या शब्दादिसङ्ग्रहे।" मेदिनीकोश, ३०,६।
"कोष इवाण्डके। कुड्मले चषके दिव्येऽर्थचये योनिशिम्बयोः।"—अनेकार्थसग्रह, २,५६०।

१२३. ए मेरियम–वेब्स्टर : वेब्स्टर्स सेवन्थ न्यू कॉलेजिएट डिक्शनरी, १९७१, पृ० २३१।

१२४. ए० ए० हिल (स०) : लिंग्विस्टिक्स, १९६९, पृ० ४५।

१२५. मेरियो पेई : इन्विटेशन टु लिंग्विस्टिक्स, लन्दन, १९६५, पृ० १९ से उद्धृत।
"As indicated by our comprehensive dictionaries, the main problems connected with vocabulary are semantics (the meaning of individual words) and etymology (their history, evolution, and development). Both there topics, especially the second, are of greater interest to the historical than to the descriptive linguist." (p. 19).

१२६. डॉ सुमित्र मगेश कत्रे : लेक्सिकोग्राफी, १९६५, पृ० ११ से उद्धृत।

"Lexicography principally deals with the collection of the significant forms or morphemes of the language and their ordening in the linguistic corpus with reference to the meaningful situations in which each occurs In common parlance we say that a lexicon consists of a body of words or vocables (whence vocabulary) alphabetically arranged, with a list of meanings which they bear in significant situations." (p 11)

१२७. रामचन्द्र वर्मा कोश कला, वि० स० २००९, पृ० १३।

१२८. डॉ० सुमित्र मगेश कत्रे लेक्सिकोग्राफी, १९६५, पृ० ११-१२।

१२९ वही, पृ० १३।

१३० लिओनार्ड ब्लूमफील्ड लैंग्वेज, लन्दन, १९५८, पृ० १६६ से उद्धृत।

"In the case of lexical forms, we have defined the smallest meaningful units as morphemes, and their meanings as sememes, in the same way, the smallest meaningful units of grammatical form may be spoken of as tagmemes, and their meanings as episememes.' (p 166)

१३१ वही, पृ० १६२।

१३२ विलियम जे० एन्टविस्ले ऑस्पेक्ट्स ऑव लैंग्वेज, लन्दन, १९५१, पृ० २५७ से उद्धृत।

'Lexicography It is a co-ordination of all branches of linguistic science to determine the origin and meanings of each word, their dates and relations, and the use of the word in typical sentences" (p 257)

१३३ मेरियो पेई इन्विटेशन टु लिंग्विस्टिक्स, लन्दन, १९६५, पृ० ६९।

१३४ ऑटो जेस्पर्सन द फिलासफी ऑव ग्रेमर, आठवाँ संस्करण, १९५८, पृ० ३४०।

'In the matter of word-order there are a great many similar conflicts many of which fall under the head of style rather than of grammar" (p 340).

१३५ लिओनार्ड ब्लूमफील्ड लैंग्वेज, लन्दन, १९५८, पृ० २६४-६५।

१३६ डा० सुमित्र मगेश कत्रे - लेक्सिकोग्राफी, १९६५, पृ० १९ से उद्धृत।

"It seems obvious that an historical dictionary must apply the historical view point also to the exposition of the different meaning of the polysemantic word. The oldest meaning is not necessarily the primary or the dominant one" (p.19).

१३७ डॉ० जे० गोंडा संस्कृत इन इण्डोनेशिया, नागपुर, १९५२, पृ० ९७।

१३८ डॉ० सुमित्र मगेश कत्रे - लेक्सिकोग्राफी, १९६५, पृ० ४६ से उद्धृत।

"We may have for the modern lexicons in the Indian as in other fields, either mono-,bi-, tri-or quadrilingual or polyglot dictionaries." (p 46)

१३९. लिओनार्ड ब्लूमफील्ड लैंग्वेज, लन्दन, १९५८, पृ० ३२३ से उद्धृत।

"Today we expect a dictionary of a local dialect to give all the words that are current in non-standard speech, with phonetic accuracy and with reasonable care in the definition of meanings." (p.323).

१४०. डॉ० अचलानन्द जखमोला : मध्यकालीन हिन्दी कोश-साहित्य, 'हिन्दुस्तानी', भाग २१, अंक १, पृ०५९ से उद्धृत।

१४१. भाषा, वर्ष ८, अंक २, पृ० १५४।

१४२. रामप्रकाश कुलश्रेष्ठ : "अध्ययन और अन्वेषण" के अन्तर्गत हिन्दी के कृषि-कोश, पृ० १५८।

१४३ डा० अचलानन्द जखमोला : कोशविज्ञान : एक परिचय, 'हिन्दुस्तानी,' भाग २६, अंक १-२, पृ० ८१ से उद्धृत।

१४४ लिओनार्ड ब्लूमफील्ड . लैंग्वेज, १९५८, पृ० ४।
"The analogists believed that the origin and the true meaning of words could be traced in their shape; the investigation of this they called etymology."

१४५ डॉ० सुमित्र मंगेश कत्रे : व्युत्पत्तिशास्त्र और ऐतिहासिक व्याकरण, भारतीय साहित्य, वर्ष ३, अंक ४, अक्तूबर, १९५८, पृ० ६ से उद्धृत।

१४६ वहीं, पृ० ७ से उद्धृत।

१४७. भाषा, अगस्त, १९६१, पृ० ५३ से उद्धृत।

१४८ डॉ० सुमित्र मंगेश कत्रे : लेक्सिकोग्राफी, १९६५, पृ० ३२।

१४९. अङ्गं सुखं लाति ददातीति मङ्गलम्।—आप्तपरीक्षा।
मग्यते अधिगम्यते हितमनेन इति मङ्गलम्। (आ० हरिभद्रसूरि दशवैकालिक टीका)।
मां गालयति भवादिति मङ्गलं संसारादपनयति।
मग्यते अलक्रियते आत्मा इति मङ्गलम्।—विशेषावश्यक भाष्य,
मोदन्ते अनेन इति मङ्गलम्। महान्ते पूज्यन्ते अनेन इति मङ्गलम्।

१५० आदित्योऽप्यकूपार·, समुद्रोऽप्यकूपार·, कच्छपोऽप्यकूपारः—इत्येतेषु निगमा· पर्येष्याः।—निरुक्त, नैगमकाण्ड, ४ अ०, ३ पा०, २ खण्ड।

१५१. "हर (४०)"—इत्येतदनेकार्थम्। 'हरते' इति व्युत्पत्ति·। "ज्योतिर्हर उच्यते" तद्धि ह्रियते, हरति वा स्नेहम्, विरूक्षी करोति। हरति वा तम इति हर·। "उदकं हर उच्यते" तद्धि ह्रियते प्राणिभि जीवनाय। "लोका हरास्युच्यन्ते" तेभ्यो हि क्षीणपुण्या· प्राणिनो ह्रियन्ते।—निरुक्त, नैगमकाण्ड, ४ अ०, ३ पा०, ३ खण्ड।

१५२ "धनुर्वा कवचं वा कवचं कु अञ्चितं भवति कांञ्चित भवति कायेऽञ्चितं भवतीति वा।—निरुक्त, नैगमकाण्ड, ५ अ०, ४ पा०, ७ ख० तथा—"कोशः कुष्णातेर्विकुषितो भवत्ययमपीतर· कोश एतस्मादेव सञ्चय आचितमात्रो महान् भवति।" वहीं ५, अ०, ४ पा०, ८ खण्ड।

१५३. कन्हैयासिंह—वैज्ञानिक पाठ-सम्पादन—एक विमर्श, हिन्दुस्तानी, भाग २५, अंक १-४, जन०-दिस० १९६४, पृ० २०७ से उद्धृत।

१५४ डॉ० एस० एम० कत्रे (अनु०—डॉ० उदयनारायण तिवारी)—भारतीय पाठालोचन की भूमिका, १९७१, पृ० ९८ से उद्धृत।

१५५. मूलराज जैन : भारतीय सम्पादन-शास्त्र, ओरियन्टल कॉलेज मेगजीन, लाहौर, नव० १९४२, पृ० ५०-५१ से उद्धृत।

१५६. हिन्दुस्तानी, भाग २६, अंक १-२, जन०—जून, १९६५, पृ० १२२ से उद्धृत।

१५७. वहीं, पृ० १२० से उद्धृत ।

१५८. देवेन्द्रकुमार शास्त्री—अपभ्रंश कोश - एक परिचय, हिन्दुस्तानी, भाग ३१, अंक १-२, जन० जून, १९७०, पृ० २६-२७ ।

अध्ययन व विमर्श के लिए पठनीय पुस्तकें :

(१) रॉबर्ट ए० हॉल जू० इन्ट्रोडक्टरी लिंग्विस्टिक्स ।
(२) आर० एच० रॉबिन्स जनरल लिंग्विस्टिक्स ।
(३) डॉ० आइ० जे० एस० तारापुरवाला - एलीमेन्ट्स ऑव द साइन्स ऑव लैंग्वेज ।
(४) डॉ० गोपीनाथ शास्त्री द फिलासफी ऑव वर्ड एण्ड मीनिंग ।
(५) डॉ० कपिलदेव द्विवेदी अर्थ विज्ञान और व्याकरण-दर्शन ।
(६) आइ० ए० रिचर्ड्स प्रिन्सिपल्स आव लिटररी क्रिटिसिज्म ।
(७) आइ० ए० रिचर्ड्स - प्रेक्टिकल क्रिटिसिज्म ।
(८) डेविड डायचेस क्रिटिकल एप्रोचेज टु लिटरेचर ।
(९) डॉ० ब्रजधीशप्रसाद एन इन्ट्रोडक्शन टु इंग्लिश क्रिटिसिज्म ।
(१०) डब्ल्यु० एच० हडसन इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑव इंग्लिश लिटरेचर ।
(११) डॉ० रामअवध द्विवेदी साहित्य सिद्धान्त ।
(१२) थामस ए० सेबाक स्टाइल इन लैंग्वेज ।
(१३) एस० उल्मन लेंग्वेज एण्ड स्टाइल ।
(१४) एस० उल्मन द प्रिन्सिपल्स आव सीमेन्टिक्स ।
(१५) आर० फाउलर (स०) एसेज ऑन स्टाइल एण्ड लैंग्वेज ।
(१६) डोनाल्ड सी० फ्रामेन - लिंग्विस्टिक्स एण्ड लिटरेरी स्टाइल ।
(१७) डॉ० बच्चन सिंह - आलोचक और आलोचना ।
(१८) डॉ० सुमित्र मंगेश कत्रे लेक्सिकोग्राफी ।
(१९) रामचन्द्र वर्मा कोश-कला ।
(२०) एल० ब्लूमफील्ड लंग्वेज ।
(२१) डॉ० एस० एम० कत्रे (अनु०—डॉ० उदयनारायण तिवारी) भारतीय पाठालोचन की भूमिका ।
(२२) कन्हैयासिंह पाठ-सम्पादन के सिद्धान्त ।
(२३) एफ० एडगर्टन पञ्चतन्त्र रिकन्स्ट्रक्टेड ।
(२४) वी० एस० सुकठनकर प्रोलेगमना टु द क्रिटिकल एडिशन ऑव द आदिपर्वन् ऑव द महाभारत ।
(२५) डॉ० भोलानाथ तिवारी अनुवाद-विज्ञान ।
(२६) डा० सिंघल और विमलेश कान्ति पाठालोचन ।
(२७) देवेन्द्र नाथ शर्मा भाषा-विज्ञान की भूमिका ।

५

राष्ट्रभाषा हिन्दी और देवनागरी लिपि

संसार मे अनगिनत भाषाएँ हैं। यद्यपि अनेक बार विश्व की भाषाओं और बोलियों का पता लगाया गया, किन्तु वास्तविकता यही है कि सभी बोलियों की परिगणना आज तक नहीं हो सकी है। कहा जाता है कि संसार की भाषाएँ लगभग २,७९६ है। बोलियाँ इन से पृथक् है। बोली जाने वाली भाषाओं मे १३ भाषाएँ सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इन के नाम है—चीनी, अंग्रेजी, हिन्दी, रूसी, स्पेनी, जर्मन, जापानी, फ्रांसीसी, हिन्देशियाई, पुर्तगाली, बंगला, इतालवी, और अरबी। उक्त लगभग तीन सहस्र भाषाओ मे एक सहस्र से अधिक अमेरिकी-इण्डियन भाषाएँ सम्मिलित है, जिनके बोलने वाले वर्तमान मे कुछ ही हजार अथवा प्रत्येक भाषा के कुछ ही सौ है। पॉच सो से अधिक भाषाओं के बोलने वाले अफ्रीका की नीग्रो जाति के है और लगभग पॉच सौ या उस से कुछ अधिक भाषाओ का उपयोग करने वाले आस्ट्रेलिया, न्यू गाइनिया एव प्रशान्तसागरीय द्वीपो के मूलनिवासी हैं। कुछ सैकडो भाषाएँ एशिया मे पृथक् वर्गो मे बोली जाती है, जिन की लोगों को बहुत कम जानकारी है।[1] विश्व के भाषाई प्रदेशों का जो भौगोलिक सर्वेक्षण किया गया है, उस के अनुसार चार क्षेत्र बतलाए गए हैं[2] १. अमेरिका, २. प्रशान्तमहासागर, ३. अफ्रीका, और यूरेशिया। अमेरिका के दो भाग है—उत्तरी और दक्षिणी। अमेरिका की लगभग चार सौ छोटी-बडी भाषाएँ तीस वर्गों मे विभाजित की जाती हैं। प्रशान्त महासागर के क्षेत्र मे अनेक भाषाएँ, विभाषाएँ, तथा बोलियाँ बोली जाती है, जिन सब का भली-भॉति अध्ययन नही हो सका है। ये पॉच वर्गो मे विभक्त की गई हैं :—

१. इन्डोनेशियाई अथवा मलयाई कुल,
२. मलेनेशियाई कुल,
३. पालीनेशियाई कुल,
४. पापुआई कुल,
५. आस्ट्रेलियाई कुल।

अफ्रीकी परिवार की भाषाओं मे कई विलक्षण बाते मिलती हैं। इस परिवार की भाषाओं मे अत्यन्त विविधता भी परिलक्षित होती है। इस विविधता के कारण ये भाषाएँ दस कुलों मे विभक्त की गई है, जिन मे से मुख्य निम्नलिखित हैं :—

१. बुशमैन कुल,
२. बाटू कुल,
३. सूडान कुल,

४. हैमेटिक या हामी कुल,
५. सैमेटिक या सामी कुल।

अत्यन्त प्राचीन काल से यूरेशिया का एक बहुत बडा भू-भाग महान् जातियों के सांस्कृतिक एव मानवीय कार्यों के उत्थान की दिशा में प्रगतिशील रहा है, इसलिए यदि इस क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भाषाकुल मिलते हैं, तो इस में आश्चर्य की कोई बात नहीं है। यहाँ की अधिकाश भाषाएँ सन्तोषजनक रीति से वर्गीकृत की गई है। यह क्षेत्र एक प्रकार से प्राचीन और बर्तमान भाषाओ के बीच में असमान भाषाओ का प्रदेश है। यूरेशिया के महत्त्वपूर्ण भाषाई कुल है[1] :—

१ सुदूर उत्तर की भाषाएँ (अमरीकी समुदाय की आर्कटिक),
२. यूराल कुल (फि नो-उग्री, समोयद),
३. अल्ताई कुल (तुर्की, मगोल, मचू),
४. काकेशस कुल (किरकेशियाई, करतेवेलियाई),
५. तिब्बत-चीनी कुल (येनिस्सी-ओस्त्यक, थाई चीनी, तिब्बत-बर्मी),
६. सैमेटिक या सामीकुल (पूर्वी सामी, पश्चिमी सामी, उत्तरी वर्ग, दक्षिणी वर्ग),
७. भारोपीय कुल (केन्टुम वर्ग, शतम् वर्ग),
८. द्रविड़ कुल (तामिल, मलयालम, कन्नड, तुलु, गोंडी, तेलगू, और ब्राहुई, आदि),
९. आस्ट्रियाई कुल अथवा मले-पालीनेशियाई कुल (इडोनेशियाई या मलयाई),
१०. अवर्गीकृत भाषाएँ।

भारोपीय भाषाएँ

भौगोलिक दृष्टि से लगभग सम्पूर्ण यूरोप, दक्षिण-पश्चिमी एशिया तथा उत्तर-पूर्वी भारत, सम्पूर्ण पश्चिम के अर्द्धक्षेत्र, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, तस्मानिया, दक्षिण अफ्रीका, पूरे अफ्रीका, भारत, दक्षिण-पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के द्वीपो में भारोपीय भाषाएँ बोली जाती है। इन के बोलने वालो की सख्या लगभग एक अरब है। इन भाषाओं की बनावट मूलतः प्रत्ययमूलक और सश्लिष्ट है। इन की मुख्य शाखाएँ है[1]:—

१. जर्मनिक : उत्तरीय (या स्केन्डेनेवीय) : आइसलैंडिक, दनो-नार्वेजियन, स्वीडिश पश्चिमीय : अग्रेजी, उच्च और निम्न जर्मन, डच-फ्लेमिश,
२. रोमास : हिस्पेनिक, स्पेनिश, पुर्तगाली, केटलन, फ्रेन्च, इतालिक, रूमानी,
३. केल्टिक . आयरिश, वेल्श, आदि,
४. बाल्तोस्लाविक : बाल्तिक : लिथुआनी, लेट्टिश,
   स्लाविक : पूर्वी : रूसी, उक्रिआनी, श्वेत रूसी,
   पश्चिमी : पोलिश, चैक, स्लोवाक,
   दक्षिणी : सरबो-क्रोतियन, स्लोवेनी, बुल्गारी,
५. ग्रीक,

६. आल्बनीय,
७. आर्मेनीय,
८. ईरानीय : फारसी, कुर्दी, बलोची, पश्तो,
९. भारतीय आर्य भाषाएँ और दक्षिणी सिंहली।

डॉ० उदयनारायण तिवारी के अनुसार भारोपीय परिवार के अन्तर्गत दश भाषाओ की गणना की जाती है, जो इस प्रकार है[५] :—
१. केल्तिक, २. इतालिक, ३. जर्मनिक अथवा ट्यूटनिक, ४. ग्रीक, ५. बाल्तो-स्लाविक, ६. आल्बनीय, ७. आर्मेनीय, ८. खत्ती अथवा हत्ती, ९. तुखारीय १०. भारत-ईरानी अथवा आर्य। इन मे से खत्ती और तुखारीय भाषाएँ लुप्त हो चुकी हैं। आज केवल आठ भाषाएँ ही प्रचलित है।

भारोपीय परिवार की भाषाएँ दो समूहो मे विभक्त है : केन्टुम् और शतम्। मूल भारोपीय भाषाओ की पुरःकण्ठ्य स्पर्शव्यंजन ध्वनियाँ जिन भाषाओ मे सुरक्षित रह गई, वे केन्टुम् समूह की भाषाएँ है। आगे चलकर वे ही ध्वनियाँ पश्चात्कण्ठ्य ध्वनियो मे परिणत हो गई। परन्तु जिन भाषाओ मे मूलभाषा की 'क' ध्वनि 'स' या 'श' मे परिणत हो गई, वे शतम् वर्ग की भाषा कहलाईं। इस प्रकार का विभाग सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से सन् १८७० मे अस्कोली ने किया था। उस का कथन है कि पैतृक भारोपीय बोली मे तालव्य ध्वनिवर्ग सुरक्षित था। उन मे से 'क' ध्वनि का विकास विभिन्न शाखाओ मे दो रूपो मे हुआ। एक समूह की भाषाओ मे उस का विकास कण्ठ्य या 'क्' ध्वनि के रूप मे और दूसरे समूह में उस को ऊष्म (श् या स्) हो गया। 'शत' (सौ) शब्द के वाचक इन दो शब्दो को ले कर सर्वप्रथम पश्चिमी और पूर्वी भाषाओ को ध्यान मे रख कर यह विभाग किया गया था; किन्तु बाद में तुखारी और हित्ती की खोज से यह निर्णय बदल देना पडा, क्योकि केन्टुम् भाषाएँ भी पूर्व मे पाई जाने लगी।[६]

यद्यपि भाषावैज्ञानिक अध्ययन से यह सिद्ध हो चुका है कि मूल भारोपीय भाषा के ह्रस्व ए ओ तथा उदासीन अर्द्धस्वर अ (ə) ग्रीक, लैटिन, आदि भाषाओ मे सुरक्षित है, और इन ए, ओ के स्थान पर आर्यभाषा मे ह्रस्व अ एव अ हो जाता है, किन्तु इसे अन्तिम तथ्य के रूप में स्वीकार नही किया जा सकता। भले ही तालव्य नियम की खोज से ग्रीक, लैटिन, आदि भारोपीय भाषाओं मे पाई जाने वाली मूल ध्वनि सिद्ध हो गई हो; किन्तु भाषा की रचना और उस की विकास-धारा का अध्ययन करने से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि मूल भारोपीय भाषा की मूल ध्वनि उदासीन अर्द्धस्वर अ (ə) रही होगी। मूल स्वर 'अ' ही है। विकास-क्रम के अध्ययन में इस के विभिन्न रूपों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन कर अनुसन्धान किया जा सकता है कि वास्तव में मूल भारोपीय भाषाओं की मूलध्वनि 'अ' स्वर थी, न कि इ (e)। आज ही नहीं, लगभग पाँच हजार वर्षों के इतिहास में भारतीय संस्कृति की उत्तम निदर्शन आर्यभाषा अपने कुल मे सर्वोत्कृष्ट रही है। अतएव कुछ भारतीय

विद्वानों का यह भी कथन है कि संस्कृत में 'ट' वर्ग द्रविडो के सम्पर्क से और 'च' वर्ग तालव्यीकरण की प्रक्रिया से नहीं आए है। वस्तुतः ये उस के मौलिक वर्ग हैं। परन्तु उनका यह विचार चिन्तनीय है।

भारोपीय भाषा-परिवार में हिन्दी

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का कथन है कि यूरोप, एशिया, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, आशेनिया एवं अमरीका में जिन विभिन्न भाषा-कुलों से संबंधित भाषाएँ तथा बोलियाँ बोली जाती हैं, उन में सब से महत्त्वपूर्ण भारतीय आर्यभाषा ही है। पृथ्वी पर इस के बोलने वालों की संख्या सब से अधिक है और इस के अन्तर्गत कुछ ऐसी अत्यन्त प्रभावशाली प्राचीन एवं अर्वाचीन भाषाएँ आती है, जिनका स्थान मानव की प्रगति के इतिहास मे पिछले पचीस सौ वर्ष से सर्वाग्र रहा है।[*] भाषावैज्ञानिक, समाजविज्ञानी, इतिहासविद् और नृतत्त्वज्ञानी, आदि सभी एक स्वर से यह मानते है कि भारतवर्ष में आर्य लोग बाहर से, मध्य एशिया से आए थे। यह भी कई प्रकार के अध्ययनों से स्पष्ट हो चुका है कि ई० पू० १,५०० के लगभग ईरानी और भारतीयों की भाषा और संस्कृति में बहुत कुछ समानता थी। भारोपीय भाषा-परिवार की एक शाखा का नाम आर्य या भारत-ईरानी भी है। आर्य लोग अपने मूल स्थान से भ्रमण करते हुए जब ओक्सस-घाटी के पास पहुँचे, तो उन का एक समुदाय ईरान चला गया, दूसरा कश्मीर में और उस के आसपास तथा तीसरा भारत में आ बसा था। भारत-ईरानी शाखा के विषय में तीन प्रकार के मत है। स्टेन कोनोव भारतीय और ईरानी ये दो शाखाएँ मानते है। वे दरद को ईरानी के अन्तर्गत ही मानते है। ज्यूल ब्लॉख तथा कुछ अन्य विद्वान् भी इस की दो शाखाएँ मानते है, किन्तु दरद को भारतीय शाखा में स्थान देते है। तीसरा मत ग्रियर्सन का है। वे भारत-ईरानी की तीन शाखाएँ मानते हैं—भारतीय, ईरानी और दरद। प्रथम आर्यशाखा की भाषा है—वेद और दूसरी शाखा की अवेस्ता है। इन दोनों में परस्पर बहुत साम्य है। यथार्थ में, ईरानी जाति एक आर्य जाति कही जाती है। इस की भाषा प्राचीन फारसी है। लिखित रूप में इस का प्राचीनतम रूप शिलालेखों में सम्राट् दारिउस के काल में ई० पू० ५२२–४८६ में मिलता है। हिटाइट के कुछ नमूनों को छोड कर भारोपीय भाषा का यह प्राचीनतम लिखित साहित्य माना जाता है। पारसियों का प्राचीनतम धार्मिक ग्रन्थ अवेस्ता है। अवेस्ता समग्र एक ग्रन्थ नहीं है। इस साहित्य का संकलन छठी शताब्दी में सासानी काल में हुआ, कहा जाता है। इसके तीन भाग अत्यन्त प्रसिद्ध है—यसन, विस्पेरेद और वेन्दीदाद। यसन में गाथा भाग सर्वप्राचीन है। गाथाएँ छन्दों में है। इन की उत्पत्ति पारसी-महर्षि जरथुस्त्र के श्रीमुखवाक्य से मानी जाती है। गाथाओं की भाषा वैदिक संस्कृत से बहुत कुछ मिलती है। प्रो० जैक्सन के अनुसार गाथाओं के छन्द नियमित वर्ण-परिवर्तन के साथ वैदिक छन्द बन जाते है। अवेस्ता भाषा की कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

१. एक ही शब्द कई रूपों में मिलता है; जैसे कि—आयु-अयु, हॅमो-हामो, हुतक्त्तम्-हुताश्तम्, अद्वानम्-अद्वनम्, इत्यादि ।

२. वैदिक संस्कृत के अन्त्य आस् का प्रतिनिधि अवेस्ता मे 'आ' होता है; यथा—सेनायास्—हएनया, भूयास्—बुया (तू हो) ।

३. संस्कृत अन्त्य अस् अवेस्ता मे प्राकृत की भाँति 'ओ' हो जाता है—नो (हमारा), वो (तुम्हारा), आदि ।

४. संस्कृत के स्, त्, ग्, म, ऋ और द् को क्रमशः ह्, थ्, ग्, ब्, अर तथा त् हो जाता है; उदाहरणार्थ—हॅम (सम), पुथ (पुत्र), गरॅमो (घर्मम्), बूमी (भूमि), मातर (मातृ) और चित् (चिद्) ।

५. संस्कृत के दीर्घ ई, ऊ, स्वर अवेस्ता मे ह्रस्व इ, उ, हो जाते हैं, यथा—तनुनाम् ।

६. अवेस्ता मे स्वरभक्ति की बहुलता है। सौवरी (इ, उ,) वैयजनी और सायोगिकी तीनो प्रकार की स्वरभक्ति अवेस्ता मे परिलक्षित होती है ।

शिलालेखो की भाषा पश्चिमी ईरान की भाषा है। इसे ही पुरानी फारसी कहते है। इस से पहलवी और पहलवी से वर्तमान फारसी का विकास हुआ है। अवेस्ता के पहलवी अनुवाद तथा भाष्य का नाम जेन्द है। इस की लिपि बाएँ से दाएँ लिखी जाती है।

भारत मे आए हुए आर्यों का प्राचीनतम साहित्य वेद है। प्रो० हर्टेल की यह निश्चित धारणा है कि आर्यों के भारत-आगमन के पूर्व ही ऋग्वेद की प्राचीनतम ऋचाओ की रचना ईरान मे हो चुकी थी। कतिपय ऋचाओ की रचना आर्कोशिया (वर्तमान अफगानिस्तान) मे हुई थी, किन्तु कुछ ऋचाएँ यमुना के तटवर्ती प्रदेशो मे रची गई थी।[१०] यथार्थ मे, ऋग्वेद एक व्यक्ति या एक काल का साहित्य नहीं है। भिन्न-भिन्न ऋषि-द्रष्टाओ के द्वारा वेद-साहित्य विभिन्न स्थानो पर विभिन्न-कालो मे लिखा गया था। जब आर्यप्रजाएँ भारत मे आई, तब उन के पास जो परम्परागत मान्यताएँ थीं, देव-सृष्टि की जो कल्पनाएँ थी और यज्ञयाग की जो पद्धतियाँ था, वे सभी आर्यभाषा की भाँति आर्य-ईरानी काल की देन थी। वेदो का भलीभाँति अध्ययन-परीक्षण करने पर यह निश्चित हो चुका है कि वेद आम जनता की रचना नही है। 'ऋग्वेद रिपीटीशन्स' मे ब्लूमफील्ड ने यह स्पष्ट रूप से बताया है कि ऋग्वेद मे लगभग १।५ पाद का पुनरावर्तन हुआ है। इस से यह निष्कर्ष फलित होता है कि ऋग्वेद की भाषा वर्गविशेष की साहित्यिक भाषा थी। ऋग्वेद का कवि बार बार यह कहता है कि जैसे कोई बढई विभिन्न काष्ठ-उपकरणों को आकलित कर रथ का निर्माण करता है, उसी प्रकार मैं अपना काव्य बनाता हूँ।[११] आर्य जाति आज भी विशुद्ध रूप मे जर्मन मे पाई जाती है। जर्मन के लोग अपने को विशुद्ध आर्य जाति का मानते है। ऐतिहासिक और सास्कृतिक अध्ययन से भी पता चलता है कि 'जर्मन' 'शर्मन' शुद्ध आर्य रहे है, जब कि भ्रमणशील

आर्य जाति विविध प्रदेशो में विस्थापित हो कर अनेक जातियों के सगम से मिश्रण को प्राप्त हो गई। अतएव उन की विचारधारा, रहन-सहन, शारीरिक-रचना, वर्ण, आदि मे परवर्ती काल मे अत्यधिक अन्तर परिलक्षित होता है। अनुसन्धानो से प्राप्त तथ्यों से भी इस की पुष्टि होती है। इन सब परिवर्तनों के कारण भाषा मे परिवर्तन होना भी स्वाभाविक था।

आर्यों के आगमन के पूर्व और भाषास्तरों—आस्ट्रिक, किरात तथा द्रविड ने नेग्रिटो भाषा को बिलकुल ढक लिया था, इसलिए कुछ भी अवशिष्ट बचा प्रतीत नही होता। आर्य लोग जो इन से बहुत पीछे आए, शायद इन्हे नही मिले, कम से कम पजाब और गगा के समतल क्षेत्रों मे तो नही ही मिले; उन की भाषा मे इन के लिए नाम ही नही है।[१२] यथार्थ मे, सहस्र वर्षों की सीमाओ मे भारतवर्ष एव आर्यावर्त की सीमाएँ बदलती रही है। इस देश मे न जाने कितने मार्गों से कितनी ही प्रकार की जातियाँ आती रही है। उन सब का सम्मिश्रण और सगम विभिन्न युगो मे होता रहा है। इस सम्बन्ध मे कई विद्वानो की लिखी हुई अनेक पुस्तके मिलती है। किन्तु अभी तक यह ठीक से निश्चय नही हो पाया है कि कितनी जातियाँ और कब-कब भारत मे आती रही। डॉ० चटर्जी के अनुसार भूमध्य जातियो की विभिन्न शाखाओ के प्रतिनिधि द्रविड दक्षिण-देशियो के पश्चात् आए प्रतीत होते है। यह भी सम्भव है कि द्रविड लोग दक्षिण-देशियो से पहले आए हो। आधुनिक द्रविड भाषाओ का अपना बिलकुल अलग ही एक समूह है। तमिल, मलयालम, कन्नड, टोडा, कोडगु, तुलु, तेलुगु, कुइ, गोड, कुडुख और माल्तो भाषाएँ क्रमशः भारत के दक्षिणी, मध्य तथा पूर्वी अन्तः प्रदेश मे बोली जाने वाली द्रविड भाषाएँ है। इन के अतिरिक्त बिलोचिस्तान मे क्वेटा के आस-पास बोली जाने वाली ब्राहुई भाषा है, जो कि ईरानी कुल की पश्तो एव बलोची तथा भारतीय आर्य सिन्धी के निकट या बीचों-बीच बोली जाने वाली एक पृथक् द्रविड भाषा है। द्रविड के योगात्मक गठन की तुलना अल्ताई-यूराली भाषाओ से हो सकती है, परन्तु द्रविड के शब्द-रूप, धातुएँ, प्रत्यय, आदि किसी भी निकट या दूरस्थ भाषा के कुल से नहीं मिलते।[१३] किन्तु यह मत अब मान्य नहीं है। कारण कि आर्य तथा आर्येतर प्रजाओ के सगम से आर्य प्रजा के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद मे 'गगा, शाल्मलि, शिम्बल, कपोत, मयूर, लागल', आदि मुण्डा भाषाओ के शब्द माने जाते है। इसी प्रकार द्रविड भाषाओ के अनेक शब्दों का प्रयोग ऋग्वेद मे परिलक्षित होता है।[१४] इस अध्ययन के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आर्य तथा आर्येतर प्रजाओ का समय-समय पर सम्मेलन होता रहा है और केवल रीति-रिवाज तथा धार्मिक विश्वासो को ही नही, भाषा को भी बहुत कुछ अशो मे आर्येतर प्रजाओ ने प्रभावित किया था।

अब प्रश्न यह है कि जब आर्यों के इस देश मे आने के पूर्व यहाँ पर आदिवासी निषाद, भील, कोल, शबर, आदि अनेक आर्येतर प्रजाएँ बसी हुई थी, तो उन को

पराजित कर आर्य लोग किस प्रकार इस देश में बस गए ? इस के तीन मुख्य कारण कहे जाते हैं—आर्यों का सुसंगठित हो कर एक ही भाषा को निश्चित रूप में 'बोली' के रूप में प्रयोग करना, बहुत अच्छी घोड़े की सवारी करना और धनुर्विद्या में पारगत होना। भारतीय संस्कृति की पुरस्कर्त्ता मूल चार जातियाँ कही जाती हैं : निषाद, द्रविड, किरात, और आर्य। इन सब मे आर्य जाति मुख्य रही है—ज्ञान और विज्ञान की उन्नति के कारण।

कालान्तर मे आर्य तथा आर्येतर प्रजाओ मे सामाजिक एवं सांस्कृतिक विरोध होने के साथ ही साथ भाषागत भेद भी परिलक्षित होने लगा। अतएव पतंजलि महाभाष्य से ले कर मीमांसा-दर्शन मे और पुराणो से ले कर भरतमुनि के नाट्यशास्त्र और आचार्य व्याडि तक भाषा-भेद की एक अविरत परम्परा की चर्चा मिलती है। सामान्य रूप से भाषाओ की मुख्य दो कोटियाँ मानी गई हैं—साधुभाषा और म्लेच्छभाषा। म्लेच्छभाषा मे न केवल द्रविड़ भाषाओं, पारसी, बर्बर, यवन, और रोमकादि भाषाओं का उल्लेख किया गया है, वरन् प्राकृत, अपभ्रंश, आदि अपशब्दजनित भाषाएँ भी म्लेच्छ कही गई है। शबरमुनि का कथन है कि जिन शब्दो का प्रयोग आर्य लोग किसी अर्थ मे नही करते, किन्तु म्लेच्छ लोग किसी अर्थ मे उन का प्रयोग करते है; जैसेकि : पिक, नेम, सत, तामरस, आदि शब्दो मे सन्देह है।[१५] खत्ति और मित्तान्नि भाषाएँ जोकि आर्य-भाषाएँ मानी जाती है, लगभग ४,००० वर्ष प्राचीन कही जाती है। इन भाषाओ मे आर्यभाषा के प्राचीनतम रूप आज तक सुरक्षित है। बोगाजकोई मे ईंटो पर उत्कीर्ण खत्तियो की तेरह सौ पुस्तके तथा मिश्र, सीरिया, बैबलिन, आदि मे जो उत्कीर्ण स्तम्भ मिले है, उनके अध्ययन से पता चलता है कि इन के रचयिता खत्ति या क्षत्रिय वीर थे, जिन के समक्ष महाप्रतापी मिश्र को झुकना पड़ा और बैबलिन ने माथा टेक दिया था। खत्तियों की वीर नारियाँ भी रण-कौशल दिखाने मे निपुण थीं। इस अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि आर्य जाति किसी समय पश्चिमी एशिया मे राज्य करती थी।[१६] आर्यों का प्रसार पश्चिम से पूर्वी एशिया तक रहा है। भारत मे भी उत्तर पश्चिम से ले कर पूर्वी प्रदेशो मे उन का वर्चस्व रहा है।

जहाँ तक ऋग्वेद की भाषा का प्रश्न है, भाषावैज्ञानिक यह स्पष्ट एव निश्चित रूप से मानते हैं कि वेदो की भाषा साहित्यिक है। सामान्य रूप से भी वेदों की अलकृत भाषा को देख कर यह कथन उचित जान पडता है। वेदो के अधिकतर वर्णन प्रतीकात्मक हैं, जो उसकी साहित्यिकता को भलीभाँति सूचित करते हैं। भाषा-विकास की दृष्टि से भी स्टेनली रुन्डले का यह कथन कि वर्तमान मे जो भी बोलियाँ परिलक्षित होती हैं, वे किसी न किसी परम्परागत ऐतिहासिक क्रम मे अनुस्यूत हैं, उन के पीछे सास्कृतिक, राजनैतिक एवं भौगोलिक कारण निहित हैं, बोली के स्वतन्त्र अस्तित्व का निर्देशक है। संस्कृत भाषा के रूप में परिपूर्णता तक पहुँचाई गई, सँवारी हुई भाषा है, जो आरम्भ से ही साहित्य के पद पर आसीन रही है। अतएव वैदिक युग की

बोली जाने वाली स्वाभाविक बोलियाँ प्राकृत कही जाती थी। जब इन प्राकृतों का भी साहित्यिक रूप में विकास हुआ, तब वे साहित्यिक सस्कृत से प्रभावापन्न रहीं। यथार्थ मे, उस युग के वैयाकरणों ने ऐसे विशिष्ट नियमो का वर्तन किया, जिन से सस्कृत प्राकृतो मे परिवर्तित की जा सके, जिस से यह पता लग सके कि वास्तविक प्राकृत खो गई है और साहित्यिक प्राकृत सस्कृत का भ्रष्ट या तोड़ा-मरोड़ा निश्चित रूप है।[१७]

ज्यूल ब्लॉख ने भारतीय आर्यभाषा की जिन दो मुख्य विशेषताओं—मूर्धन्यो के नवीन वर्ग की उत्पत्ति और ज् एव जॅ् का लोप—का उल्लेख किया है,[१८] वस्तुतः उन का सम्बन्ध प्राकृत बोलियों से है। वैदिक युग मे एक ओर ईरानी और दूसरी ओर प्राकृत बोलियाँ जनप्रचलित थी। इन प्राकृत बोलियों की विकास-परम्परा से ही हिन्दी का जन्म हुआ। भारतवर्ष मे जितनी आर्यभाषाएँ है, वे साहित्यिक और भाषिक परम्परा के रूप मे सस्कृत से विकसित हुई हैं, किन्तु जहाँ तक बोलियों का प्रश्न है, उन का विकास बोल चाल की प्राकृतो या अपभ्रंशों से हुआ है। हिन्दी का जन्म न तो सस्कृत से हुआ है और न किसी अरबी फारसी से। ठेठ हिन्दी का एक भी ऐसा शब्द नहीं है, जो परम्परा से आगत न हो, उदाहरण के लिए, हिन्दी का अचानक शब्द लीजिए—इस शब्द का निकास अपभ्रंश के अजाणक (जाना हुआ नहीं) शब्द से हुआ है। सस्कृत मे इस का मूल रूप नहीं मिलेगा। इसी प्रकार के अनेक शब्द है, जिन मे से कुछ निम्नलिखित है :—

झगल (झगड़ा), डुग, डुगर, ताल, तल, तल्लर, (ताल, तालाब), बप्पीह, (पपीहा), टोप्प, टोप्पी, टाप्पर (टोप, टोपी, टोकरा), झुप्पड (झोपड़ी), रालि (रोला), साह (माडी, मलाई), हल्लोहल्ल (होहल्ला), णाहल (नाहर), कल्होड (कलोर), टिविल (तबला), गोल्ली, पहाड, गूडर (गूदड) घाड (घाटी), लुल्ल (लूला), ढोर (पशु), टक्कुर (टाकुर) हुड्ड (होड), कडय (कड़ा), टिट्टर (टिटहरी), आदि।[१९] हिन्दी का विकास इसी शब्द परम्परा से हुआ है। यद्यपि खड़ी बोली से हिन्दी भाषा मे और हिन्दी मे वर्तमान हिन्दी मे बहुत परिवर्तन लक्षित होता है। अनेक पुराने शब्दो का आज हिन्दी मे प्रयोग ही नहीं होता है। दिनोदिन नई शब्द तथा भाव-सम्पदा हिन्दी मे वृद्धिगत होती जा रही है। फिर भी, हिन्दी की अपनी एक परम्परा है और उस के विकास-क्रम की एक धारा है, जिस से हिन्दी का निकास विकास हुआ। लग-भग पचास वर्ष पूर्व हिन्दी मे जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता था, आज उन मे बहुत परिवर्तन लक्षित होता है। हिन्दी के कुछ भूले हुए शब्द निम्नलिखित है :—

इडुआ (इडुरी), अकना (भूल करना), औगाह (गहरा), बाछना (चुनना), भकुआ (बेवकूफ), पिडाना (दर्द करना), अबेराना (घबडाना), अर्कट (चतुरता), अर्गनी (कपड़े सुखाने की रस्सी), अडैच (दुश्मनी), उजवाना (उड़ेलवाना), उरेब (धोखा), उपराला (सहायता), भदेसल (भद्दा), भोकस (जादूगर),

बात फेकना (चिढाना), अगोरिया (चौकीदार), पोढ़ना (लेटना), फर्फंद (धोखा), फफसा (बेस्वाद), टपूर (सर चकराना), ठेसरा (ताना), छतनार (चिपटा), दिगवार (चौकीदार), डुकरिया (बुढिया), और कटर (कंजूस), इत्यादि ।[२०] ये तो अभी कुछ वर्षों के ही शब्द है, जिन का प्रचलन उठ गया है। इस से ही पाठक अनुमान लगा सकते है कि प्राकृत-अपभ्रश की परम्परा से चले आ रहे देशी एव ठेठ शब्द ही यथार्थ में हिन्दी की अपनी सम्पदा थे। अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने भी 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' लिख कर यही सिद्ध किया है। वास्तव मे, हिन्दी किसी फारसी या उर्दू भाषा से न निकल कर परम्परागत भाषा है।

हिन्दी और उस का महत्त्व

हिन्दी की अपनी परम्परा और उस का क्रमबद्ध इतिहास है। सामान्यतः हिन्द की भाषा को हिन्दी कहा जाता रहा है। लगभग पचीस सौ वर्ष पूर्व के शिलालेखो मे, जो डेरियस नामक ईरान के प्रतापी सम्राट् ने उत्कीर्ण कराए थे, हिंद, हिन्दु, शब्द लिखे हुए मिलते है। इस शब्द का प्रचार अरब मे भी सैकडो वर्षों से प्रचलित है। जब भारतीय अक अरब पहुँचे तो अरब वालो ने उन अकों का नामकरण 'हिंद-सा' किया। भारतीय ज्योतिष के एक अनूदित ग्रन्थ को अरबी मे 'हिंद-सिंध' कहते है। इसी प्रकार लगभग ग्यारह सौ वर्ष पहले इब्नबतूता ने अपनी भारत-यात्रा का वर्णन जिस अरबी पुस्तक मे किया है, उसका नाम है—तवारीख-उल-हिंद। उपलब्ध भारतीय साहित्य मे आज तक 'भारत' के लिए 'हिंद' शब्द का प्रयोग किसी भी पुस्तक मे नही मिलता है। इस से स्पष्ट है कि भारत देश के लिए 'हिंद' शब्द का प्रयोग लगभग ढाई हजार वर्ष से ईरानी, अरबी, तथा अन्य विदेशियो के द्वारा प्रयुक्त चला आ रहा है। वास्तव मे, हिंदी, हिंदवी, और हिन्दू शब्द फ़ारसी के है। भाषा के लिए 'हिन्दी' शब्द के प्रयोग का इतिहास भी फारस और अरब से ही आरम्भ होता है। छठी सदी ई० के कुछ पूर्व से ही ईरान मे 'जबान ए-हिंदी' का प्रयोग भारत की भाषाओ के लिए होता रहा है।[१] डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के शब्दो मे "१२वीं-१३वीं शती की तुर्की विजय के पश्चात् (पूर्वी पजाब से बगाल तक के) उत्तर-भारत मे बोली जाने वाली सब बोलियां तथा भाषाओ का प्राचीनतम एव सरलतम नाम 'हिन्दी' ही है।"[२२] भौगोलिक दृष्टि से प्राचीन परम्परागत सम्पूर्ण मध्यदेश की साहित्यिक भाषा का नाम हिन्दी है। व्यापक अर्थ मे, भारतवर्ष के उत्तर मे गढवाल, अल्मोडा, नैनीताल, पश्चिम मे बीकानेर और जैसलमेर, तथा दक्षिण मे खण्डवा व निमाड प्रदेश मे एव मैथिली और छत्तीसगढ प्रदेशों मे भी साहित्यिक रूप मे जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है, वह हिन्दी है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों मे "आज बीसवी सदी ईसवी मे भागलपुर तक समस्त गगा की घाटी मे केवल एक साहित्यिक भाषा हिन्दी है, जिस का मूलाधार मेरठ-बिजनौर प्रदेश की खडी बोली है। किन्तु साथ ही मारवाडी, ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, बुदेली, आदि अनेक बोलियाँ अपने-अपने प्रदेशो मे जीवित अवस्था में मौजूद

है।[३] २६ जनवरी, १९५० में हिन्दी सम्पूर्ण भारत देश की सवैधानिक राष्ट्रभाषा के रूप में समस्त जनवासियों की गरिमामण्डित, एकता के सूत्र में बाँधने वाली एक प्रमुख भाषा के रूप में अपना स्थान अपना चुकी है। संविधान के अनुच्छेद ३५१ में यह स्पष्ट उल्लेख किया गया था कि संविधान की व्यवस्था के अनुसार पन्द्रह वर्षों के भीतर १९६५ ई० तक हिन्दी का विकास इस प्रकार किया जाएगा कि राष्ट्रभाषा हिन्दी का व्यवहार सम्पूर्ण देशवासियों के लिए अनिवार्य हो जाएगा। वस्तुतः हिन्दी को यह गौरवपूर्ण स्थान इसलिए मिल सका, क्योंकि यह बीस करोड जनता की बोली या समझी जाने वाली भाषा है और राष्ट्र की तात्कालिक आवश्यकता के अनुसार देश में एक ऐसी जनभाषा की आवश्यकता थी, जो संयोजक-सम्पर्क भाषा बन सके। स्पष्ट रूप से हिन्दी का चुनाव इस कारण से नहीं किया गया कि कुछ लोग इसे भारत की सब से समृद्ध या सर्वोत्तम भाषा मानते है, बल्कि इसका कारण तो यह है कि अन्य प्रादेशिक भाषाओ की अपेक्षा हिन्दी समझने और बोलने वाले व्यक्तियो की सख्या सब से अधिक है। हिन्दीभाषी क्षेत्रों के बाहर भी हिन्दी समझी जाती है और यह बहुत समय से बडे-बडे नगरो के बाजारो तथा तीर्थस्थानो की भाषा रही है। उत्तरी भारत की अधिकतर भाषाओ के यह बहुत निकट है।[४]

खड़ी बोली और हिन्दी

डॉ० चटर्जी ने 'पडी' शब्द के रूप-सादृश्य पर 'खडी' शब्द का अनुमान करते हुए कहा है कि सस्कृतपूर्ण नागरी-हिन्दी तथा फारसी-अरबी मय उर्दू दोनो के ही देशज रूपो का व्याकरण लगभग एक ही है। इन दोनो भाषाओं में समान रूप से निहित इस मूल भाषा को 'खडी बोली' कहा गया है, और हिन्दी-उर्दू खडी बोली समूह से पृथक् व्याकरण वाली प्रत्येक उत्तर-भारतीय भाषा या बोली 'पडी बोली' कही जाती है।[५] वास्तव में खडी और पडी शब्द का यह अर्थ अनुमान पर आधारित है। क्योंकि उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद से ले कर पश्चिम में दिल्ली, मेरठ, सहारनपुर, आदि के निकटवर्ती क्षेत्रों की जनबोली को खडी बोली कहा जाता रहा है। खडी बोली किसी प्रदेश विशेष की बोली नहीं थी, हालाँकि प० किशोरीदास वाजपेयी ने उत्तर-प्रदेश के मुरादाबाद से पश्चिम में मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, मेरठ तथा देहरादून के जिलो का 'कुरुजनपद' के नाम से उल्लेख किया है और कुरुजनपद की भाषा को कौरवी तथा खडी बोली का विकास माना है।[६] भाषाशास्त्रीय दृष्टि से यह क्षेत्र खड़ीबोली क्षेत्र (जिला मेरठ) तथा ब्रजभाषाभाषी क्षेत्र (जिला अलीगढ) के मध्य स्थित है और इसी कारण यह पश्चिमी हिन्दी की दो प्रमुख बोलियों का संक्रान्तिक्षेत्र है। ब्रजभाषा एव खडीबोली के सक्रान्तिक्षेत्र में कई बोलियाँ है।[२०] इसलिए केवल उक्त प्रदेश को ही किसी अमुक प्रदेश का क्षेत्र न मान कर खडी बोली और ब्रजभाषा का विचार प्राचीनतम ध्वनियों के अध्ययन के आधार पर किया जाना चाहिए। खडी बोली की प्राचीनतम सामग्री शिलालेखो तथा अप्रकाशित हस्तलिखित पुरानी हिन्दी की

रचनाओं मे उपलब्ध होती है। बारहवीं शताब्दी से पूर्व का अभी तक कोई शिलालेख नही मिल सका है। हिन्दी की प्राचीन सामग्री मे 'खड़ी' के लिए 'खरी' शब्द का प्रयोग मिलता है, 'र' और 'ड' का अभेद अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा था। हिन्दी मे नारी-नाडी, मारी-साडी, जरी-जडी, खरी-खडी आदि, शब्द प्रयोग व्यापक रूप से मिलते हैं। जैन कवियो की हिन्दी-रचनाओ में 'खरो', 'खरी', शब्द के प्रचुर प्रयोग मिलते है। अधिकतर प्रयोगों मे 'अत्यन्त' अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया गया है।[२८] अतएव हमारे अध्ययन के अनुसार 'खडी' शब्द मूल मे 'खरी' या 'खडी' शब्द था, जिस मे 'ड' के नीचे बिन्दी फारसी-लेखन के प्रभाव से हिन्दी मे आई और जो उत्तर प्रदेश की बहुभाग की सर्वप्रचलित भाषा थी, उसे खरी या खड़ी बोली कहा गया। 'खरी' का अर्थ यहाँ 'शुद्ध' या 'खड़ी हुई' भाषा नही है; जैसी कि विद्वानो की मान्यता है। डॉ० ग्राहम बेली ने 'खडी' का अथ प्रचलित (current) किया है। यथार्थ मे, विभिन्न सन्दर्भों मे प्रयुक्त 'खरी' शब्द 'अत्यन्त' या 'ठीक' अर्थ का वाचक है, जिस से यही समझना चाहिए कि 'अत्यन्त प्रचलित' या 'साधु' बोली को 'खडी बोली' कहते आ रहे है। यह बोली उस समय की टकसाली थी, जब देश मे आक्रामक मुस्लिम सैनिक विजेता बन कर मेरठ के आस-पास की छावनियो मे बसे हुए थे और उस प्रदेश की प्रचलित भाषा को विचारो के आदान-प्रदान के लिए अपनाने लगे थे। हिन्दी शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किस ने किया, यह अज्ञात है। सम्भवतः भारतीय मुस्लिम कवियों ने ही इस शब्द का प्रयोग अपनी कविताओ मे किया है। साहित्य की भाषा के रूप मे खडी बोली का आरम्भिक प्रयत्न भी मुसलमान कवियों के द्वारा किया गया। खुसरो को हिन्दी का प्रथम कवि कहा जाता है, पर इस मे सन्देह है। श्री राहुल साकृत्यायन के शब्दों मे "खुसरो का समय अर्थात् तेरहवीं सदी का अन्त अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं का सन्धि-काल था। उस समय प्राकृत (अपभ्रंश) तत्सम शब्दों का प्रयोग ज्यादा होता था। खुसरो के समकालीन फारसी इतिहासकार राजपूत के लिए 'राउत' शब्द का प्रयोग करते है, जो स्पष्ट रूप से राउत का ही अरबी लिपि द्वारा भ्रष्ट लेख है। ऐसे शब्दो का खुसरो की कविता मे अभाव है। दूसरे, खुसरो की कविताओ का कोई भी समकालीन या उस के तीन-चार सौ वर्ष बाद के हस्तलेख नहीं मिलते। इस प्रकार खड़ी बोली हिन्दी के सर्वप्रथम कवि यही दक्खिनी कवि थे। एक ओर उन्होने बोलचाल की कौरवी को साहित्यिक भाषा का रूप दिया, तो दूसरी तरफ उन की कृतियो ने उर्दू कविता का प्रारम्भ किया।"[२९] डॉ० भोलानाथ तिवारी ने स्पष्ट रूप से 'खालिकबारी' को खुसरो की रचना नही माना है। उन के अनुसार वह खुसरो के बहुत बाद के किसी खुसरोशाह की रचना है।[३०] अतः खुसरो को हिन्दी का प्रथम कवि नहीं माना जा सकता है। दक्खिनी हिन्दी कवियों का रचना-काल लगभग चौदहवी शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक माना जाता है। इन कवियों की भाषा से ही दक्षिण मे हिन्दी का विकास हुआ। मुहम्मद हुसैन आजाद उर्दू को ब्रजभाषा की पुत्री बताते हैं और खड़ी बोली को उर्दू और ब्रज के मिश्रण से

निर्मित मानते है।[३१] हिन्दी की मूल भाषा अब कौरवी बोली मानी जाती है, जो ब्रजबोली से सर्वथा भिन्न है। यद्यपि कौरवी और ब्रज का कुछ प्रदेश सामान्य रहा है और वहाँ कई बोलियाँ बोली जाती रही है, पर राहुल सांकृत्यायन, पं० किशोरीदास वाजपेयी, आदि विद्वान् खड़ी बोली का जन्म कौरवी बोली से मानते हैं। यह कौरवी और कुछ नहीं कुरुजनपद की अपने युग की प्राकृत बोली थी। खड़ी बोली अपने जन्म-काल से ही ब्रजभाषा से भिन्न रही है। अतएव जो लोग यह मानते हैं कि ब्रज से खड़ी बोली का जन्म हुआ, किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के विचार में खड़ीबोली उत्पन्न होने की स्थिति से ही बोली के रूप में ब्रज और कन्नौजी से भिन्न रही है, जो कि 'अउ' या 'ओ' बोलियाँ है। इस का कारण यह है कि खड़ी बोली पूर्वी पंजाबी की निकटता से अधिक सम्बद्ध परिलक्षित होती है। सम्भवत. यह खड़ी बोली की पूर्वज एक प्रकार की पश्चिमी अपभ्रंश थी, जो कि अन्त्यस्वर-स्थिति में राजस्थानी और ब्रज की बोलियों से भिन्न हो गई थी।" आधुनिक सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि एक समय था, जब ब्रजभाषा खड़ीबोली (कौरवी) का अतिक्रमण करती जा रही थी, जिस से ब्रज के क्षेत्र-विस्तार में अभिवृद्धि हुई। किन्तु परवर्ती काल में कौरवी के साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर ब्रजभाषा का क्षेत्र कम हो कर अत्यन्त सीमित हो गया। आज ब्रज तथा खड़ी बोली के संक्रमण-क्षेत्र में वाक्य रचना के अध्ययन से पता चलता है कि दोनो मे वाक्य-स्तर पर उच्चारणगत भेद ही नहीं, कतिपय इकाईगत भेद भी परिलक्षित होते है। दोनों बोलियों के सम्मिश्रण से निश्चयात्मक रूप मे अनेकानेक परिवर्तन उपस्थित होते जा रहे है।[३३]

प्रत्येक भाषा की कोई न कोई निजी विशेषता होती है। संसार की ऐसी कोई भाषा नहीं है, जो अपनी किसी विशेषता के कारण अन्य भाषा से भिन्न न हो। भाषा की मूल विशेषता उस की प्रकृति में निहित रहती है। इसी को प० किशोरीदास वाजपेयी ने 'चाल' नाम से अभिहित किया है। उन के ही शब्दों में "सो, प्रत्येक भाषा की अपनी प्रकृति होती है, अपनी चाल होती है। उस के विरुद्ध कोई जा नहीं सकता। हिन्दी में 'जरूरत' आदि तद्रूप फारसी शब्दो का प्रयोग अब कहाँ होता है? कोई समय था, जब बड़े बड़े महारथी वैसे प्रयोग करते थे। परन्तु हिंन्दी की प्रकृति ने उसे स्वीकार नहीं किया।"[३४] किन्तु यह ध्यान मे रखने योग्य है कि यह चाल भाषा की बाहरी चाल न हो कर भीतरी होती है। क्योंकि व्यक्ति और जाति के गुणो की भाँति भाषा में भी कुलगत तथा वैयक्तिक गुण निहित रहते है। अतएव प्रकृति किसी भिन्न वस्तु या अमुक गुण का नाम नहीं है। भाषा की व्यवस्था, उस के चलने के अपने नियम और अभिव्यंजक प्रवृत्तियो से ही प्रकृति का ज्ञान होता है। श्री रामचन्द्र वर्मा के अनुसार प्रत्येक भाषा की प्रकृति उस के व्याकरण, भाव-व्यंजन की प्रणालियाँ, मुहावरों, क्रिया-प्रयोगो और तद्भव शब्दो के रूपों या बनावटो, आदि मे निहित रहती है।[३५] भाषा की प्रकृति उस की जीवन्तशक्ति होती है, जिस से वह किसी भाषा के शब्दो को अपनाने और नए शब्दो की रचना में सक्षम देखी जाती है। भाषा की सहज गति

और परिवर्तनशीलता भी उस की प्रकृति के मौलिक गुण के अनुसार प्रवृत्ति रूप मे लक्षित होती है। इस प्रकार प्रकृति प्रत्येक भाषा की मूल एव आन्तरिक गुणात्मक शक्ति होती है। अतएव किसी भाषा के मौलिक गुणों को समझने के लिए उस की प्रकृति का परिज्ञान आवश्यक हो जाता है। हिन्दी की प्रकृति को ध्यान मे रख कर उस के निम्नलिखित गुणो का निर्देश किया जा सकता है :—

१. हिन्दी एक विश्लिष्ट भाषा है। इस मे विभक्तियो का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से किया जाता है। दक्खिनी हिन्दी कवियो की भाषा मे हमे स्पष्ट रूप से कूँ, से, तै, का, की, के, मै, को, आदि का प्रयोग विश्लिष्ट विभक्तियो के रूप मे लक्षित होता है। वास्तव में, पुरानी हिन्दी से ही भाषा मे परसर्ग विकसित हो चले थे। हिन्दी मे इन की स्थिति परसर्ग की है।

२. हिन्दी की प्रवृत्ति आकारान्त है। यद्यपि पुरानी हिन्दी मे आकारान्त रूप विकल्प से बनने लगे थे, यानी लोक-जीवन मे उन का प्रचलन हो चुका था, किन्तु भाषा और साहित्य मे इस की पूर्ण प्रतिष्ठा खडी बोली मे साहित्य-रचना के साथ ही हुई। खडी बोली मे आकारान्त प्रवृत्ति वस्तुतः अपभ्रंश से आई है।[३६]

३. हिन्दी मे कृदन्त रूपो की बहुलता है। क्रियारूपों मे वर्तमान काल तथा भूतकाल मे कृदन्त और सहायक क्रिया का प्रयोग होता है। अपभ्रंश भाषा मे वर्तमान काल मे तिङन्त और कृदन्त दोनो रूप मिलते है, किन्तु भूतकाल मे कृदन्त रूप ही प्रयुक्त होते है।

४. हिन्दी मे अपभ्रंश की भाँति 'ह्रस्वादेश' की प्रवृत्ति है। भाषा की यह प्रवृत्ति इतनी स्पष्ट है कि हम देखते है कि दिनोदिन दीर्घ उच्चारण भी ह्रस्व उच्चरित होने लगे है, जैसेकि : नाई को नाइ, बाजार को बजार और ओरत को ओरत सामान्यतः बोलते है।

५. हिन्दी मे दो स्वरो का सयोग मिलता है। अपभ्रंश और हिन्दी मे ही स्वर के पश्चात् स्वर देखा जाता है, किन्तु सस्कृत मे स्वर के पश्चात् स्वर का प्रयोग नही होता, उदाहरण के लिए—गई, आई, नहाई, खाओ, पिओ, नाई, बाई, आदि।

६. आकारान्त पुल्लिंग शब्द हिन्दी मे अधिकृत रूप मे प्रयुक्त होते है। अपभ्रंश और दक्खिनी हिन्दी मे भी यही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

७. हिन्दी भाषा की प्रवृत्ति सरलीकरण की है। उस की ध्वनियाँ, वर्णमाला, शब्द और अर्थ एव उस की अभिव्यजना स्पष्ट और निश्चित है। केवल मनुष्य की वाक्-उच्चरित ध्वनियो को ही नहीं, पशु-पक्षियो की ध्वनियो को भी ठीक से निरूपित करने के लिए हिन्दी मे ध्वनि-सकेत विद्यमान है।

८. हिन्दी एक अर्जनशील भाषा है। विदेशी ध्वनियों, शब्दो और उन के रूपो को अपनाने और अपनी प्रकृति मे ढालने के लिए हिन्दी पूर्ण सक्षम भाषा है। गत दो शताब्दियों में हिन्दी ने विभिन्न जातियो और उन के भाषा-साहित्य के सम्पर्क से इतना अधिक ग्रहण कर उसे रचा-पचा कर अपनी प्रकृति मे ढाल लिया है कि अब उन के मूल स्रोतो को खोजने मे कठिनाई होती है।

९. हिन्दी अब भी एक सजीव भाषा है। भाषा की परिवर्तनशीलता ही इस का सब से बडा प्रमाण है।

१०. यद्यपि हिन्दी को पराश्रयी भाषा कहा जाता है, क्योंकि वह अन्य भाषाओ से नए शब्दो को उधार ले कर अपना काम चलाती है, नए शब्दो को प्रायः नही गढना चाहती। डॉ० चटर्जी ने आधुनिक भारतीय भाषाओ, अग्रेजी और जापानी भाषा को भी पराश्रयी भाषाएँ माना है। उन के ही शब्दो मे "विशुद्ध अग्रेजी शब्द-धातु प्रत्यय जोड कर अब वह प्रायः नए शब्दो को नही गढ पाती। उसे पग-पग पर फ्रासीसी, लातीनी तथा ग्रीक का दरवाजा खटखटाना पडता है। जापानी भाषा भी उसी प्रकार चीनी की कृपा पर निर्भर है। जापानी लोग किसी भी चीनी शब्द को सानन्द स्वीकार कर लेते है। उन की अपनी भाषा मे नए शब्द गढने की शक्ति अब नहीं है। आत्मवश भाषा मे जर्मन का नाम लिया जा सकता है।"[१] किन्तु इसे नकारा नहीं जा सकता है कि हिन्दी मे शब्द-निर्माण की क्षमता नहीं है। वास्तव मे हिन्दी का वैसा विकास ही नही हुआ। आज भी देश के विद्वान्, पण्डित, वैज्ञानिक, शिक्षक, आदि सस्कृत का पल्ला पकड कर ही हिन्दी का विकास करना चाहते है, क्योकि लोक-बोलियों मे उन की निष्ठा नही है। परन्तु उक्त अध्ययन से पता लगता है कि हिन्दी की अपनी परम्परा और विशेष चाल-ढाल है। इसीलिए सस्कृत का ज्ञान प्राकृत-अपभ्रश की परम्परा से होता हुआ कहीं ग्यान हो जाता है तो कही जानना। पुरानी हिन्दी के 'जाणउँ, जाण्यो, जाणे' आदि रूप हिन्दी मे आ कर 'जानउँ, जानूँ, जान्यो, जानें', आदि रूप बन जाते है।

११. वर्तनी की दृष्टि से हिन्दी अपने परिवार की सभी भाषाओ मे महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस भाषा की विशेषता है कि जैसा उच्चारण करते है, वैसा ही लिखते हैं।

१२. हिन्दी मे लिंग भेद भी विशिष्ट है। सस्कृत मे तीन लिग है और अग्रेजी मे चार, किन्तु हिन्दी मे दो ही लिग है। अपभ्रश की उत्तरकालिक स्थिति मे ही दो लिंग रह गए थे। इसलिए अपभ्रश मे लिंग सम्बन्धी अनिश्चित एव अतन्त्र-व्यवस्था मिलती है, किन्तु हिन्दी मे वह निश्चित और व्यवस्थित है। अपभ्रश की भाँति हिन्दी मे भी सस्कृत के कुछ नपुसक लिग शब्द पुलिग मे परिवर्तित हो गए और कुछ स्त्रीलिग मे। 'काव्य की आत्मा' और 'काव्य का आत्मा' जैसे प्रयोगो की अनिश्चितता का मूल कारण अपभ्रश की परम्परा रही है। और इस का एक मात्र समाधान यही है कि सस्कृत के कर्मन्, शर्मन्, ब्रह्मन् और आत्मन् जैसे नकारान्त नपुसक लिग शब्द हिन्दी मे पुलिग हो जाते है।

हिन्दी की लिग सम्बन्धी दूसरी विशेषता है कि क्रिया मे भी लिग की व्यवस्था देखी जाती है। सस्कृत के क्रियापदो मे लिंगभेद नही है। अग्रेजी मे भी इस प्रकार का लिग भेद नहीं है। यह केवल हिन्दी की अपनी विशेषता है। अपभ्रंश की क्रियाओ मे भी लिंग भेद नहीं है। हिन्दी मे क्रियाविषयक लिग-भेद अपभ्रश के कृदन्त बहुल प्रयोगों से आया हुआ जान पड़ता है। क्योकि अपभ्रंश की भाँति हिन्दी में भी कृदन्त

रूपों की प्रचुरता है। अतएव अपभ्रंश के 'माँगियउ' से 'माँगा' और 'मेल्लतिय, चल्लतिय' से मेलती, चलती हुई, आदि का विकास हुआ।

१३. हिन्दी में स्वराघात में भी विशेषता है। हिन्दी के शब्दों में बलात्मक स्वराघात वैदिक संस्कृत, अंग्रेजी, आदि से बिल्कुल भिन्न है। प्रो० पल के शब्दों में "कुछ भाषाएँ ऐसी होती हैं, जिन के शब्दों में बलाघात के स्थान को परिवर्तन कर देने से उन के अर्थ में भेद पड़ जाता है। जिन भाषाओं में इस प्रकार का भेद नहीं उत्पन्न होता, उन्हें बलाघातहीन भाषाएँ कहा जाता है। बलाघातहीन भाषाओं में हिन्दी, मराठी, उड़िया, और जापानी, आदि आती है।"[८]

१४. हिन्दी के क्रिया-रूपों में भी विशेषता लक्षित होती है। संस्कृत-प्राकृत तथा अन्य भाषाओं के स्रोत से आगत विभिन्न धातुओं के तद्भव क्रिया-रूप हिन्दी में विकसित हो चुके हैं। अंग्रेजी 'फिल्म' संज्ञा शब्द से 'फिल्माना', संस्कृत के 'विलम्ब' शब्द से 'बिलमाना', नहलाना, दहलाना, दफनाना और कबूलना, आदि क्रियाओं का हिन्दी में बहुत प्रयोग होता है।

हिन्दी क्रियाओं की एक अन्य विशेषता है कि उन के साथ सहायक क्रियाओं का भी प्रायः प्रयोग होता है, जैसेकि : ले लेना, ले देना, ले जाना, ले जमना, ले मरना, ले पड़ना, ले आना, ले सकना, ले पाना, ले गिरना, इत्यादि।

१५. हिन्दी की सब से बड़ी विशेषता उसकी उदारता है। भाषा की सजीवता और उदारता के कारण ही हिन्दी में अनेक भाषाओं और बोलियों के शब्द समा गए है। केवल शब्द ही नहीं, विभिन्न वचोभंगियों का समावेश भी हिन्दी में लक्षित होता है। हिन्दी में मूलतः दो प्रकार की वचोभंगियाँ कही जाती है। प्रथम प्रकार की वचोभंगी पौर्वात्य है। इस के अन्तर्गत भारतीय परिवार की सम्पूर्ण भाषाओं की वचोभंगियों का समावेश हुआ है। दूसरे प्रकार की पाश्चात्य वचोभंगी है, जिस में भारोपीय परिवार की भाषाओं के वाक्य-विन्यास का अनुसरण परिलक्षित होता है।

हिन्दी और उस की बोलियाँ

१८८० ई० में डॉ० हॉर्नले ने ऐतिहासिक अध्ययन के फलस्वरूप यह विचार प्रतिपादित किया था कि आर्य लोग मध्य एशिया से भारतवर्ष में कम से कम दो बार में आए। आर्यों का प्रथम दल गिलगित और चित्राल के मार्ग से मध्य देश में आ कर बस गया और दूसरा दल विभिन्न जातियों के संघर्षों के कारण कई दिशाओं में विभाजित हो कर पूर्वी, दक्षिणी, तथा पश्चिमी भागों में स्थापित हो गया। डॉ० उदयनारायण तिवारी के शब्दों में "इन नवागत आर्यों ने ही वस्तुतः सरस्वती, यमुना, तथा गंगा के तट पर यज्ञपरायण संस्कृति को पल्लवित किया। उन्हे मध्यदेश अथवा केन्द्र में होने के कारण केन्द्रीय या भीतरी आर्य के नाम से अभिहित किया गया और चारों ओर फैले हुए पूर्वागत आर्य बाहरी आर्य कहलाए।"[९]

डॉ० जॉर्ज ग्रियर्सन के अनुसार समस्त भारतीय आर्यभाषाओं को सामूहिक रूप से निम्नलिखित समुदायों में विभाजित किया जा सकता है:—

अ — बाहरी उपशाखा

(क) उत्तर पश्चिमी समुदाय

१. लहदा या पश्चिमी पजाबी,

२. सिन्धी,

(ख) दक्षिणी समुदाय

३. मराठी,

(ग) पूर्वी समुदाय

४. उडिया,

५. बिहारी,

६. बगाली,

७. असमी,

आ — मध्य उपशाखा

(घ) बीच का समुदाय

८. पूर्वी हिन्दी,

इ — भीतरी उपशाखा

(ङ) केन्द्रीय अथवा भीतरी समुदाय

९. पश्चिमी हिन्दी,

१०. पजाबी

११. गुजराती,

१२. भीली,

१३. खानदेशी,

१४. राजस्थानी,

(च) पहाडी समुदाय

१५. पूर्वी पहाडी या नेपाली,

१६. मध्य या केन्द्रीय पहाड़ी,

१७. पश्चिमी पहाडी।

इस सूची मे मराठी तथा पूर्वी हिन्दी बोलियों के समुदाय हैं; न कि भाषाओं के। पहाडी समुदाय की भाषाएँ हिमालय की तराई मे बोली जाती है। पूर्वी पहाडी अथवा नेपाली को वहाँ के बोलने वाले 'खसकुरा' नाम से पुकारते हैं। केन्द्रीय पहाडी के अन्तर्गत नैनीताल तथा मसूरी के आस-पास की पर्वतीय बोलियाँ भी सम्मिलित हैं। ये हैं—कुमायूँनी और गढवाली। पश्चिमी पहाड़ी से तात्पर्य पंजाब के उत्तर मे स्थित पर्वतीय बोलियों के समुदाय से है। ये हैं—जौनसारी, सिरमौरी, क्योंठाली, कुल्लुई तथा चमआली। भारतीय आर्यभाषाओं की सम्पूर्ण संख्या प्रायः यूरोप की अनुमानित जनसख्या की आधी से अधिक है।[७०]

ध्वनितत्त्व और रूपतत्त्व के अध्ययन के साथ डॉ० चटर्जी ने भाषाओं के विकास

की परम्परा को ध्यान में रखते हुए आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया है :—

(क) उदीच्य (उत्तरी)
१. सिन्धी,
२. लहंदी,
३. पूर्वी पंजाबी,

(ख) प्रतीच्य (पश्चिमी)
४. गुजराती,
५. राजस्थानी,

(ग) मध्य देशीय
६. पश्चिमी हिन्दी,

(घ) प्राच्य (पूर्वी)
(अ) ७. कोशली या पूर्वी-हिन्दी,
(आ) मागधीप्रसूत
८. बिहारी,
९. उड़िया,
१०. बगला,
११. असमिया,

(ङ) दाक्षिणात्य (दक्षिणी)
१२. मराठी।

कश्मीरी, पूर्वी पहाडी और पश्चिमी पहाडी की उत्पत्ति डॉ० चटर्जी खस अथवा दरदीय भाषा से मानते हैं।[१] उन का यह वर्गीकरण भाषागत क्रमिक विकास की दृष्टि से प्रामाणिक तथा उचित जान पडता है। क्योंकि वैदिक काल से ही भारतीय आर्य-भाषाओं में पूर्वी और पश्चिमी भेद चले आ रहे थे।[२] मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं में इस प्रकार के विभिन्न रूप अत्यन्त स्पष्टता से मिलते हैं। आ० भरतमुनि इन भेदो की चर्चा बहुत पहले कर चुके थे। विष्णुधर्मोत्तर तथा अन्य पुराणो में भी भाषा-भेद के उल्लेख मिलते हैं। पतंजलि के महाभाष्य मे कई स्थलो पर भाषा-भेद का विवेचन मिलता है। महाभाष्य का आरम्भ ही असुर लोगों के उच्चारण-भेद के उल्लेख से होता है। लोक में भाषा-भेद होना स्वाभाविक है। इस मे किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं होना चाहिए। हमारे विचार मे तो भाषा-भेद सदा से रहा है और अनन्त काल तक रहेगा।

भाषावैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी प्रदेश की उपभाषाओं और बोलियों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है—पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी। पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी नाम की कोई उपभाषाएँ नहीं हैं। वास्तव में, प्रदेश विशेष की समान बोलियों के समुदाय के लिए यह नाम रख लिया गया है। पश्चिमी हिन्दी पंजाब स्थित

सरहिन्द तथा उत्तरप्रदेश स्थित इलाहाबाद के मध्यवर्ती क्षेत्र की भाषा है। वस्तुतः यह भूभाग प्राचीन काल का मध्यदेश है, जो आर्यों की पवित्र जन्मभूमि भी है। उत्तर में पश्चिमी हिन्दी तराई तक यह विस्तृत है, किन्तु दक्षिण में पूर्व दिशा के अतिरिक्त, जहाँ यह बुन्देलखण्ड के अधिकांश भाग तथा मध्यप्रदेश के कुछ भाग को आवृत करती है, वहाँ यह यमुना के काँठे में अधिक दूर नहीं जाती।"[३] पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत हिन्दुस्तानी, ब्रज कनौजी, बुन्देली और बांगरू बोलियाँ गिनी जाती हैं। पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत जिन पाँच उपभाषाओं अर्थात् ग्रामीण बोलियों को लिया गया है, उन्हें हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—प्रथम वर्ग में हरियानी और खड़ी बोली आती है तथा द्वितीय वर्ग में ब्रज, कन्नौजी और बुन्देली गृहीत हैं। यह वर्गीकरण भाषा की प्रकृति को ध्यान में रखकर किया गया है। पश्चिमी हिन्दी के मूल रूप के दर्शन जिस प्राचीनतम प्राप्त पुस्तक में किए जा सकते हैं, वह 'प्राकृतपैंगलम्' है। इस में हमें खड़ीबोली और ब्रजभाषा के मूल रूपों के स्पष्ट उदाहरण प्राप्त होते हैं। यद्यपि इस में यत्र-तत्र पूर्वी हिन्दी के बीज भी दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु प्रमुख रूप से इस में पश्चिमी हिन्दी (खड़ीबोली और ब्रजभाषा) की ही संज्ञाओं और क्रियाओं के मूल प्राकृत-रूपों के स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं।"[४] जिस प्रकार ब्रजभाषा साहित्यिक पद प्राप्त करने पर केवल ब्रज-प्रदेश तक ही सीमित नहीं रही, अपितु सारे उत्तरी भारत की कण्ठहार बनी, उसी प्रकार शौरसेनी प्राकृत ने भी महाराष्ट्री नाम से महाराष्ट्रता प्राप्त की और साहित्य के उच्चासन को सुशोभित किया। डॉ० व्लनर ने 'इन्ट्रोडक्शन टु प्राकृत' में महाराष्ट्री प्राकृत को शौरसेन (मध्यदेश) की ही भाषा बताया है। उन का कथन है कि महाराष्ट्री प्राकृत महाराष्ट्र की भाषा नहीं है। यह तो मध्यप्रदेश की भाषा के लिए स्तुतिमय पद था। वास्तव में, शौरसेनी और महाराष्ट्री विभिन्न प्रदेशों में और विभिन्न लोगों के द्वारा व्यवहार में लाई गई भाषाएं न थीं, अपितु विभिन्न रचनाओं की सूचक थीं। गद्य-रचना के लिए 'शौरसेनी' शब्द का तथा पद्य-रचना के लिए 'महाराष्ट्री' शब्द का व्यवहार होता था। भाषाशास्त्रियों ने अब 'महाराष्ट्री' को 'शौरसेनी' प्राकृत के रूप में मध्यप्रदेश अथवा गंगा-यमुना के मध्यवर्ती विशाल प्रदेश की भाषा स्वीकार कर लिया गया है। शौरसेनी प्राकृत की ही विकास-परंपरा में शौरसेनी अपभ्रंश से 'पश्चिमी हिन्दी' का जन्म हुआ।"[५] पश्चिमी हिन्दी की हरियानी और खड़ी बोली को छोड़ कर शेष जनपदीय बोलियाँ नाम और आख्यात रूपों में ओकारान्त या औकारान्त हैं; जैसे : छोटो, कारौ (ब्रज), छोटो, कारो (कन्नौजी), छोटो, कारो (बुन्देलखंडी)। केवल हरियानी और खड़ीबोली ही आकारान्त हैं। इस आकारान्तता का कारण पंजाबी का प्रभाव नहीं है, जैसा कि डॉ० उदयनारायण तिवारी, डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन' और अन्य विद्वान् मानते हैं। किन्तु बाबू श्याम-सुन्दरदास, डॉ० टेस्सिटरी, डॉ० भोलानाथ तिवारी, डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री तथा अन्य कुछ विद्वान् इसे अपभ्रंश की देन मानते हैं। डॉ० भोलानाथ तिवारी ने हिन्दी

के लगभग सभी व्याकरणिक रूपो में खड़ी बोली की आकारान्त प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए अपभ्रंश का एक उदाहरण दिया है[४६] :—

तहअ गंध सज्जा किया, अम्बणु लाइवि जे गया।
जो गुण गोवइ अप्पणा, ढोल्ला मइ तुहुं वारिया॥

अपभ्रंश तथा पुरानी हिन्दी मे इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। अतएव खड़ी बोली मे यह प्रवृत्ति परम्परागत है।

डॉ० सुमन ने पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी की भेदक रेखा विवृत्ति मानी है। उन के ही शब्दो मे "पश्चिमी हिन्दी की बोलियो मे विवृत्ति नही पाई जाती अर्थात् दो स्वर पृथक् रूप से साथ साथ नहीं देखे जाते, जिस तरह कि पूर्वी हिन्दी की बोलियो मे देखे जाते है; जैसे 'स्यार' (खड़ीबोली, हरियानी, ब्रजभाषा, कन्नौजी और बुंदेलखंडी मे) और 'सिआर' (अवधी मे)। इसी विवृत्तिहीनता की प्रवृत्ति के आधार पर हरियानी, खड़ी बोली, ब्रज, कन्नोजी और बुंदेलखंडी उपभाषाएँ पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत मानी जाती है। पश्चिमी हिन्दी सज्ञा और विशेषणो म जहॉ आकारान्त या औकारान्त (ओकारान्त भी) है, वहॉ पूर्वी हिन्दी अकारान्त है, जैसे : खोटा, खोटौ, खोटो (पश्चिमी हिन्दी मे) और खोट (पूर्वी हिन्दी मे)।"[४७] लेकिन वास्तव मे यही एक मात्र कारण नही माना जा सकता। क्योकि प्रथम खड़ी बोली और हरियानी को छोड़ कर ब्रज, कन्नौजी और बुंदेली मे भी कुछ ऐसे शब्द रूप मिलते है, जिन मे दो पृथक् स्वरों का सयोग मिलता है, जैसे : भइया, पइसा, गउअन, सिआनपन, ठिया, बताउत, चाउत, टुपिया, लगाउत, कोउ, अइसो, 'कोउ बताउत नइयॉ,' रुपइया, मढइया, दाउ, इत्यादि। यह सच है कि पूर्वी हिन्दी मे इन की बहुलता है, पर पश्चिमी हिन्दी मे भी इस प्रकार के कुछ रूप आज भी बोलियो मे प्रयुक्त होते है। अत्यन्त प्राचीन काल से सस्कृत का प्रदेश पश्चिमी-भारत रहा है, इसलिए उसमे कर्मणि प्रयोग प्रचलित है। परन्तु पूर्वी प्रदेश पालि और प्राकृत का प्रधान क्षेत्र रहा है। अतएव पूर्वी क्षेत्र मे प्रचलित बगाली, बिहारी, भोजपुरी, आदि भाषाओ मे कर्मणि प्रयोग नही है। हिन्दी की वर्तमान बोलियो मे पूर्वी क्षेत्र की किसी भी बोली मे कर्मणि प्रयोग नही रहा है। यही कारण है कि पूरब वाले 'ने' का प्रयोग ठीक से नहीं करते। हिन्दी मे 'ने' परसर्ग का प्रयोग प्रायः कर्मणिवाच्य मे होता है। दूसरे, पश्चिमी हिन्दी की 'ड' और 'ढ' मूर्धन्य ध्वनियॉ 'र' तथा 'रह' हो जाती हैं। किन्तु इस के अपवाद भी मिलते हैं। इसी प्रकार 'र' और 'ल' के परिवर्तन मे पर्याप्त भेद प्राप्त होते है। तीसरे, पश्चिमी हिन्दी के अकारान्त, औकारान्त तथा ओकारान्त शब्द पूर्वी हिन्दी मे अकारान्त या व्यंजनान्त हो जाते है। डॉ० तिवारी के अनुसार पश्चिमी हिन्दी मे आकारान्त शब्द का रूप कर्त्ता में सुरक्षित रहता है; किन्तु तिर्यक् मे 'आ' 'ए' मे परिणत हो जाता है। पूर्वी हिन्दी तथा भोजपुरी में कर्त्ता तथा तिर्यक् दोनों में आकारान्त रूप सुरक्षित रहता है, उस मे परिवर्तन नही होता है।[४८]

हिन्दुस्तानी

यह मेरठ, सहारनपुर, रामपुर, अम्बाला, मुजफ्फरपुर, मुरादाबाद और बिजनौर, आदि प्रदेशों की बोली है। इसे खड़ीबोली, नागरी हिन्दी, सरहिन्दी तथा वर्नाक्युलर हिन्दुस्तानी भी कहा जाता है। इसकी चार उपबोलियाँ मानी गई हैं—पूर्वी, पश्चिमी, पहाड़ताली और बिजनौरी। साहित्यिक स्तर पर इस के चार विकसित एवं स्वतंत्र रूप परिलक्षित होते हैं—हिन्दी, उर्दू, दक्खिनी और रेख़्ता। यद्यपि खड़ी बोली किन्हीं विशिष्ट जनपदों की बोली रही है, किन्तु हिन्दी सम्पूर्ण उत्तरभारत की आधुनिक साहित्यिक भाषा है। ग्यारहवी शताब्दी के 'राउलवेल' शिलालेख में मालवी, मराठी, गौड़ी (बंगला), ब्रज तथा अवधी के अतिरिक्त राउली (पश्चिमी राजस्थानी) एवं टक्की के प्राचीनतम रूप उपलब्ध होते हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त के शब्दों में "यह वर्णन कुछ पंक्तियों का ही होते हुए भी खड़ी बोली का प्राचीनतम रूप हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इस से ज्ञात होता है कि खड़ी बोली केवल दिल्ली मेरठ की ही भाषा नहीं थी, वह टक्क की भी भाषा थी, जो पहले पंजाब और अब हरियाणा प्रदेश में आता है। इस से यह भी प्रमाणित होता है कि खड़ी बोली भाषा और साहित्य का इतिहास उतना ही प्राचीन है, जितना कि उत्तरभारत की अन्य आधुनिक भाषाओं का है।"[९] दक्षिण भारत की मध्ययुगीन मुसलमानी रियासतों में इसी भाषा को साहित्यिक भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया गया था और इस में साहित्य-रचना भी की गई थी। बाद में इसे ही 'दक्खिनी' कहा जाने लगा था[१०]। डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार उर्दू के लिए विभिन्न कालों में हिन्दुस्तानी, हिन्दवी, रेख्ता, हिन्दी तथा हिन्दवी, उर्दू, आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता रहा है। रेख्ता या रेख़ता शब्द का प्रयोग उर्दू में एक प्रकार की 'गजल' तथा एक प्रकार की भाषा के लिए मिलता है। मूलतः यह शब्द फ़ारसी के 'रेख़तन्' मस्दर से बना है, जिस का अर्थ रचना, बनाना, डालना, मिलाना, तोड़ना, आदि होता है। 'रेख्ता' का फारसी में अर्थ 'गिरा हुआ' है।[११] भावार्थ की दृष्टि से फारसी-हिन्दी शब्दों, रूपों, छन्दों, आदि के मिश्रित रूप को 'रेख्ता' कहा गया है। रेख्ता उर्दू-मिश्रित हिन्दी-रूप समझना चाहिए। डॉ० चटर्जी फारसी शब्द-मिश्रण के विकीर्ण रूप को रेख्ता मानते हैं। उन के ही शब्दों में 'दिल्ली की हिन्दुस्तानी के फारसीमय रूप के सर्वप्रथम कवि वली माने जाते हैं। वे दक्खिन में रह चुके थे। उस समय की भाषा परवर्ती उर्दू की भाँति फारसी से बिलकुल लदी हुई न थी। फारसी के शब्द अपेक्षाकृत कम संख्या में मिलाए जाते थे, जो एक पंक्ति में कहीं-कहीं छितरे हुए (रेख्ता) रहते थे। इसलिए आधुनिक उर्दू-हिन्दुस्तानी पद्य की भाषा का आद्य रूप 'रेख्ता' कहलाता था। १५वी शती के कबीर के कुछ पद ही नहीं, १२-१३वी शती के बाबा फरीद के पद्य भी 'रेख़्ता' के कह कर पुकारे जा सकते हैं'।[१२]

प्रायः 'दक्खिनी हिन्दी' से दक्षिण की हिन्दी अर्थ लिया जाता है, किन्तु इस का मूल खड़ी बोली या देहलवी (दिल्ली जनपद की हिन्दुस्तानी) है। हैदराबाद और

उस के निकटवर्ती क्षेत्रों में जिस 'हिन्दवी' का साहित्य के रूप में प्रयोग किया गया, उस के कवि और शायर लखनऊ से आते समय मातृभाषा के रूप में जिस बोली को साथ मे लेते गए थे, वही मध्यकालीन हिन्दी भाषा 'दक्खिनी हिन्दी' कही जाती है। इस भाषा का विकास विशेष रूप से दक्षिण के कवियों के द्वारा हुआ। लेकिन उत्तरभारत में भी इस प्रकार की भाषा का लोक मे और साहित्य मे प्रचलन रहा है। 'कुतुबशतक' की 'हिन्दुई' इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है। विषय-वस्तु की दृष्टि से ही नही, भाषा और रूप-रचना की दृष्टि से भी यह 'दक्खिनी हिन्दी' के समान ही है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इस रचना के अध्ययन मे स्थान-स्थान पर यह निर्दिष्ट किया है कि दक्खिनी हिन्दी की मूलभूत प्रवृत्तियाँ खड़ी बोली से ही परम्परा रूप मे उसे प्राप्त हुई है। इस के अन्य नाम हिन्दी, हिन्दवी, दकनी, दखनी, दक्खिनी, देहलवी, गूजरी, हिन्दुस्तानी, जबाने हिन्दुस्तान, दक्खिनी हिन्दी, दक्खिनी उर्दू, मुसलमानी, दक्खिनी हिन्दुस्तानी, आदि हैं। दक्खिनी मूलतः हिन्दी का ही एक रूप है। इस का मूल आधार दिल्ली के आसपास प्रचलित १४वी–१५वी सदी की 'खडी बोली' है। मुसलमानों ने भारत मे आने पर इस बोली को अपनाया था। मसऊद, इब्नसाद, खुसरो तथा फरीदुद्दीन शकरगजी, आदि ने अपनी हिन्दी कविताएँ इसी मे रची थी। १५वी–१६वी सदी मे फौज, फकीरो तथा दरवेशों के साथ यह भाषा दक्षिण भारत मे पहुँची और वहाँ प्रमुखतः मुसलमानो मे, तथा कुछ हिन्दुओ मे जो उत्तर-भारत के थे, प्रचलित हो गई। इस के क्षेत्र मुख्यतः दक्षिण भारत (बीजापुर, गोलकुण्डा, अहमदनगर, आदि), बरार, बम्बई तथा मध्यप्रदेश, आदि हैं।[५]

'उर्दू' का अर्थ 'लश्करी' है। मुसलमान फोजी पडाव मे, छावनी या लश्कर के बाजार मे जिस भाषा का प्रयोग किया जाता था, उसे 'उर्दू' कहते है। यह भाषा मूल मे खडीबोली ही थी, जो अरबी-फारसी-तुर्की शब्दो से सम्पन्न और कहीं-कही पंजाबी या ब्रज से मिश्रित तथा बागरू से प्रभावापन्न थी। देश के अधिक तर विद्वान् उर्दू को हिन्दी की एक शैली विशेष मानते हैं। कुछ विद्वानो का यह भी कथन है कि उर्दू और हिन्दी मे केवल लिपि का भेद है। हिन्दी का झुकाव सस्कृत-शब्दो की ओर है और उर्दू का अरबी-फारसी शब्दो की ओर। परन्तु केवल शब्द-भेद या लिपि-भेद कह देने से किसी भाषा का अस्तित्व सिद्ध नही हो जाता। फिर, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से प्रत्येक भाषा का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। उसकी अपनी स्वतन्त्र प्रवृत्ति और व्यवस्था होती है। वास्तव मे, उर्दू मे सर्वनाम, क्रियापद और वाक्य-रचना खड़ीबोली या हिन्दुस्तानी की परिलक्षित होती है। लिपि फारसी है, कहने का ढग और लहजा फारसी का है और कहीं-कहीं वाक्यो की बनावट भी अरबी-फारसी जैसी देखी जाती है। उर्दू के सम्बन्ध में जिन विभिन्न मतो का उल्लेख किया जाता है, उन का साराश यही है कि खड़ीबोली या हिन्दुस्तानी अरबी-फारसी से मिश्रित हो कर उर्दू तथा संस्कृत का आँचल पकड़ कर साहित्यिक हिन्दी में परिणत हो जाती है। वास्तव मे, हिन्दी और उर्दू का नामकरण भी

मुसलमानों के द्वारा किया गया। जहाँ तक हमारी जानकारी है उस के अनुसार ब्रज-भाषा, खड़ीबोली, हिन्दी और उर्दू, आदि नाम सत्रहवी शताब्दी मे प्रकट हुए। हिन्दी के प्राचीनतम नमूने ग्यारहवी शताब्दी के पूर्व के नही मिलते। उर्दू हिन्दी के जन्मकाल के बहुत बाद मे प्रचलित हुई। लगभग दो सौ वर्षों का अन्तर इन दोनो भाषाओं मे निश्चित रूप से है। 'उर्दू की जबान' वस्तुतः एक वर्ग विशेष की भाषा है और यह नितान्त कृत्रिम ढग से हिन्दुस्तानी अथवा ठेठ हिन्दी या खडीबोली मे अरबी-फारसी शब्दों तथा मुहावरों का सम्मिश्रण करके बनाई गई है। यह कार्य भी दिल्ली मे ही किला मुअल्ला मे सम्पन्न हुआ। यही कारण है कि इस का नाम जबाने-उर्दू-ए-मुअल्ला पड़ा। 'दरिया-ए लताफत' से उद्धृत सैयद इशा अल्ला के शब्दो मे :"

"यहाँ (शाहजहानाबाद) के खुशबयानो (साधु-वक्ताओं) ने मुत्तफिक (एकमत) हो कर मुतादिक (परिगणित) जबानों से अच्छे-अच्छे लफ्ज निकाले और बाजी इबारतो (वाक्यों) और अल्फाज (शब्दों) मे तसर्रुफ (परिवर्तन) करके और जबानों से अलग एक नई जबान पैदा की, जिस का नाम उर्दू रखा।"

अमीर खुसरो ने अपने समय की प्रचलित भाषाओं का उल्लेख करते हुए 'हिन्दुई' को हिन्द की मुख्य और जीवित भाषा कहा है। वे कहते है कि हिन्दुई भाषा का अस्तित्व पहले भी था और अब भी है। उन के ही शब्दों मे :

हिन्द हमीन काइदह दरद ब-सुखुन
हिन्दुई बूद अस्त दर अय्यामे-कुहन ॥५९॥

अमीर खुसरो का यह भी कथन है कि यद्यपि फारसी ईरान मे उत्पन्न हुई, किन्तु उस का शुद्ध स्वरूप वहाँ नहीं मिलता। उस का शुद्ध रूप तो दरी के रूप मे मावरा-उन्नहर अर्थात् बलख, बुखारा, आदि प्रदेशों मे पाया जाता है। दरी भाषा को खुसरो ने एक श्रेष्ठ और शक्कर के समान मधुर भाषा बताया है। उर्दू का जन्म इस से ही मानना चाहिए। दरी और फारसी दोनों ही भारत-ईरानी आर्यभाषाएं कही जाती है। यह फारसी की एक बोली है। इस का प्रयोग बलख, बदख्शान, बुखारा, आदि प्रदेशों मे किया जाता है। जब फारसी ने राजकीय विस्तारों के साथ हाथ-पैर फैलाए, तब दरी भाषा प्रभावित हुई। यही आगे चल कर फारसी बन गई।[६०] भारत मे भी इस दरी भाषा से उर्दू का जन्म हुआ, प्रतीत होता है। क्योंकि राज-काज की भाषा मे मुसलमान राजाओं के समय मे यही फारसी प्रचलित थी। जब यह आम जनता की जबान बनी, तब हिन्दू-मुसलमानो के मेल-जोल से इस का जो सरल प्रचलित रूप बना, वह 'उर्दू' का था। किन्तु उसे कोई नाम नहीं दिया गया था। इसीलिए खुसरो ने जिन अवधी, बगला, आदि भाषाओं का उल्लेख किया गया है, उन मे उर्दू का नाम नही है।

बांगरू

'बागरू' शब्द 'बागर' से बना है, जिस का अर्थ है—ऊँची-नीची पथरीली भूमि। यह प्रदेश सतलज-सिन्धु और गगा-यमुना के मध्य का क्षेत्र है। इसे प्राचीन काल मे 'सारस्वतप्रदेश' कहा जाता था। बागर देश की बोली को बागरू कहा जाता है। इस

के बोलने वालों की संख्या लगभग २५-३० लाख है। इस के कई स्थानीय नाम भी हैं। हरियाना से सम्बद्ध क्षेत्रों में यह हरियानी, देसवाली, देसी या देसडी, कहलाती है। इसी प्रकार जाटो के प्रदेश में जाटू और दिल्ली के चमारो के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसे चमरवा भी कहते है। यह दिल्ली के ग्रामीण क्षेत्र, रोहतक, करनाल, नाभा, पटियाला के पूर्वी भाग तथा हिसार जिले के पूर्वी भाग मे बोली जाती है। स्थानीय भेद के कारण इस की चार प्रमुख उपबोलियॉ कही जाती है। इन के नाम हैं—हरियानी, जाटू, चमरवा और बागडी।

ब्रजभाषा

यह पश्चिमी हिन्दी की पुरानी बोली मानी जाती है। यह प्रमुख रूप से ब्रजमण्डल की भाषा है, जो लगभग ५००-६०० वर्षों तक साहित्य के पद पर समासीन रह चुकी है। इस का जन्म शौरसेनी अपभ्रंश से माना जाता है। इस के अन्तर्वेदी, माथुरी, ब्रिजकी और ब्रजभाखा, आदि नाम भी है। आगरा, एटा, मैनपुरी, फर्रुखाबाद और इटावा की बोली को अन्तर्वेदी कहा जाता है। ब्रजभाषा मथुरा, आगरा, अलीगढ, एटा, बदायूँ, बरेली, धोलपुर, भरतपुर, ग्वालियर, बुलन्दशहर, मैनपुरी, पीलीभीत, आदि क्षेत्रों मे बोली जाती है। इस के तीन उपरूप माने जा सकते है : पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी। इस की निम्नलिखित उपबोलियाँ कही जाती है :—

१. गावबारी, २. ढोलपुरी, ३. भरतपुरी, ४. जादोबाटी, ५. सिकरबाडी, ६. कठेरिया, ७. डागी. ८. का-कछु-की, ९. माथुरी।

कन्नौजी

कन्नौज देश मे बोली जाने के कारण इसे कन्नौजी या कनौजी कहते है। इस का जन्म पाञ्चाली प्राकृत की अपभ्रंश शाखा से माना जाता है। यह उत्तरप्रदेश के इटावा, फर्रुखाबाद, शाहजहाँपुर, पीलीभीत, हरदोई के पश्चिमी भाग तथा कानपुर जिले मे बोली जाती है। वास्तव मे, यह शौरसेनी का ही प्रदेश है। १,००० ई० के पूर्व ब्रज, कन्नौजी और बुन्देली तीनों एक थीं। बाद मे राज्य-प्रभाव और विस्तार के कारण 'कान्यकुब्ज' और वहाँ की जनप्रचलित बोली विकसित होते-होते कनोजी या कन्नौजी बन गई। इस की उपबोलियाँ है :—

१. तिरहारी, २. तिघारी, ३. पचरुआ, ४. भुक्सा, ५. सडीली, ६. इटावी, ७. बगराही, ८. शाहजहाँपुरी, ९. कानपुरी, १०. पीलीभीती।

कन्नौजी की प्रवृत्ति उकारान्त कही जाती है। कहीं-कहीं ओकारान्त शब्दों की भरमार भी मिलती है। यथार्थ मे, औ और ओ की ह्रस्वान्त प्रवृत्ति कन्नौजी मे है। कन्नौजी का क्षेत्र ब्रज और बुन्देली के बीच का है।

बुन्देली

बुन्देलखण्ड की बोली बुन्देली है। बुदेले राजपूतों की भूमि बुन्देलखण्ड कही जाती है। यह उत्तरप्रदेश के हमीरपुर, बादा, जालौन, झाँसी तथा मध्यप्रदेश के ग्वालियर,

सागर, भोपाल, ईसागढ, विदिशा, टीकमगढ, पन्ना, छतरपुर, चरखारी, समथर, दतिया ओरछा, बिजावर, अजयगढ, दमोह, जबलपुर, नरसिहपुर, सोहागपुर, होशंगाबाद, सिवनी, छिदवाडा और बालाघाट आदि स्थानो मे बोली जाती है। कन्नौजी की भाँति बुन्देली साहित्य को भी ब्रज के अन्तर्गत माना जाता है। बुन्देली कवियो में आचार्य केशवदास, भूषण और पद्माकर, आदि अत्यन्त ख्यातिप्राप्त हुए। बुन्देली बोलने वालों की सख्या लगभग एक करोड से ऊपर है। बुन्देली की उपबोलियों मे पाँच मुख्य मानी जाती हैं—

१. पवारी—यह ग्वालियर के उत्तर-पूर्व और दतिया-टीकमगढ की ओर बोली जाती है।
२. राठौरी या लोधाँती—हमीरपुर और जालौन के कुछ भाग मे तथा चरखारी के निकटवर्ती प्रदेश में यह बोली जाती है।
३. खटोली—सागर, दमोह, अजयगढ, पन्ना, छतरपुर, के अन्त तक के क्षेत्र की बोली है।
४. भोपाली—विदिशा से भोपाल तक के क्षेत्र मे बोली जाती है।
५. नारमदी—नर्मदा-संभाग मे होशगाबाद से सुहागपुर, गाडरवारा, नरसिहपुर और जबलपुर तक इस का क्षेत्र-विस्तार है।

सीमान्त क्षेत्रो की मिश्रित बोलियो की दृष्टि से यदि सर्वेक्षण किया जाए तो तिरहारी कुण्डी, निमट्टा, बनाफरी, भदावरी-तोवरगढ़ी, गोंडी और भोपाली विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

'तिरहारी' का क्षेत्र हमीरपुर जिले के किनारे यमुना नदी का तटवर्ती है, जो आगे जालौन तक विस्तृत है। बांदा और हमीरपुर जिलो को बाँटने वाली केन नदी के दोनो ओर के प्रदेशो मे 'कुण्डी' का बोली-क्षेत्र है। हमीरपुर के 'तिरहारी' बोली के प्रदेश जालौन जिले के विशुद्ध बुन्देली क्षेत्र के मध्यभाग की बोली का नाम 'निमट्टा' है। हमीरपुर के दक्षिण-पूर्व और बुन्देलखण्ड के पूर्वी भाग मे जो बोली जाती है और जिस मे 'आल्हा' काव्य लिखा हुआ मिलता है, वह 'बनाफरी' बोली है। 'भदावरी' और 'तोवरगढी' उस भाग की बोलियाँ है, जहाँ चम्बल नदी ग्वालियर की ओर आगरा-इटावा की सीमा-निर्धारित करती है। इन बोलियो का प्रवेश सीमा-पार आगरा-इटावा के कुछ भाग तक है। बुन्देली का वह क्षेत्र जो बालाघाट और मडला की सीमा को स्पर्श करता है, 'गोंडी' मिश्रित बोली का क्षेत्र है। 'भोपाली' मालवी-बुन्देली की एक मिश्रित बोली है, जिस पर उर्दू-हिन्दी का रग भी चढा हुआ है। इन बोलियो के और भी क्षेत्रीय रूप है, जिन्हे उपबोलियो मे विभाजित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, नारमदी-बुन्देली में नरसिहपुरी, सुहागपुरी और जबलपुरी भेद भी है। आगे इन के भी उपभेद हैं; जैसे—जबलपुरी-बुन्देली मे पचेली, हवेली, आदि अलग-अलग प्रकार है। इसी प्रकार दक्षिण की लोधी, कोष्टी, कुम्भारी तथा नागपुरी बोलियाँ वास्तव मे मराठी और बुन्देली का सम्मिश्रण हैं।

कुछ विद्वान् निमाडी को भी पश्चिमी हिन्दी की एक बोली मानते हैं। हमारे विचार में निम्नलिखित कारणों से निमाड़ी को पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत मानना उचित है :—

१. निमाडी का क्षेत्र मालवी है। मध्यवर्ती मालवी के अन्तर्गत 'निमाड़ी' को 'दक्षिण मालवी' माना गया है। यह निमाड और नर्मदा-उपत्यका की बोली है।

२. मालवी और निमाड़ी का सीधा सम्बन्ध अवन्ती-अपभ्रंश से है। निमाड़ी मध्य-भारत के दक्षिणी क्षेत्र में बोली जाती है। भौगोलिक स्थिति के अनुसार निमाड़ क्षेत्र मालवा के अन्तर्गत ही रहा है। किन्तु भाषिक दृष्टि से यह बुन्देली क्षेत्र के दक्षिण-पश्चिम में बोली जाती है। यह बुन्देली और मालवी दोनों से आक्रान्त है।

३. निमाडी न तो पूर्वी क्षेत्र में प्रचलित है और न भाषा-रूप की दृष्टि से पूर्वी भाषाओं से कुछ साम्य रखती है। यह राजस्थानी की अपेक्षा पश्चिमी हिन्दी की बोलियों के अधिक निकट है। भीली और मालवी का झुकाव भी ब्रजभाषा, बुन्देली तथा खडीबोली की ओर रहा है।

४. मालवी की प्रवृत्ति ओकारान्त है, जो पश्चिमी हिन्दी की सामान्य विशेषता है। मालवी और निमाडी दोनों का विकास उस पश्चिमी अपभ्रंश से हुआ, जो विक्रम की दसवीं शताब्दी से ले कर चौदहवीं शताब्दी के बीच गुजरात से ले कर मेरठ-सहारनपुर तक विकसित हो चुकी थी।

निमाड़ी

मालवी के अन्तर्वर्ती विभाजन में काठल, बागड, राठ, सोंधवाड, उमठवाड, खिची-वाडा और निमाड, आदि का उल्लेख किया जाता है। डॉ० ग्रियर्सन इस की आधारभूत भाषा मालवी मानते है। उन के अनुसार उत्तरी निमाड तथा मध्यभारत की भोपवर एजेन्सी के सीमावर्ती प्रदेशों में मालवी का खानदेशी तथा भीली भाषाओं से इतना अधिक मिश्रण होता है कि वहाँ यह एक नवीन भाषा 'निमाडी' का रूप धारण कर लेती है। इसकी कुछ अपनी निजी विशेषताएँ है। जिस अर्थ में हम मारवाडी, जयपुरी, मेवाती और मालवी को राजस्थानी की विभाषाएँ मानते है, उस अर्थ मे निमाडी को हम बड़ी कठिनता से एक शुद्ध विभाषा की सज्ञा दे सकते है।"[१] इस बोली के बोलने वालों की सख्या लगभग पैतीस लाख कही जाती है। इस की निम्नलिखित उपबोलियाँ है :—

१. बजारी, २. कुनबी, ३. गूजरी, ४. नागरी, आदि।

डॉ० ग्रियर्सन ने पूर्वी हिन्दी की तीन विभाषाएँ मानी है—अवधी, बघेली और छत्तीसगढी। उन्होंने यह भी निर्देश किया है कि पूर्वी हिन्दी की तीनों बोलियाँ एक दूसरी से अत्यधिक मिलती जुलती है। वास्तव में, बघेली तथा अवधी में इतना कम अन्तर है कि यदि पृथक् विभाषा के रूप मे बघेली का अस्तित्व जनता मे स्वीकृत न होता तो मैं इसे अवधी की ही एक बोली मानता।"[१] डॉ० बाबू राम सक्सेना ने अवधी की तीन उपभाषाएँ मानी हैं—१. पश्चिमी अवधी, २. केन्द्रीय अवधी, और ३. पूर्वी

अवधी । खीरी (लखीमपुर), सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव तथा फतेपुर की अवधी पश्चिमी अवधी के नाम से प्रसिद्ध है । बहराइच, बाराबंकी तथा रायबरेली की बोली को केन्द्रीय अवधी कहते हैं और गोंडा, फैजाबाद, सुल्तानपुर, इलाहाबाद, जौनपुर और मिर्जापुर की बोली पूर्वी अवधी के अन्तर्गत आती है। वस्तुतः अवधी और बघेली एक है। इन सब का जन्म मागधी अपभ्रंश से हुआ है। डॉ० ग्रियर्सन और डॉ० उदयनारायण तिवारी के अनुसार मागधी अपभ्रंश की परम्परा में मैथिली, मगही और भोजपुरी की भी गिनती की जाती है। हिन्दी प्रदेश के प्रसंग में भोजपुरी का भी क्षेत्र है। यह मुख्य रूप से उत्तरप्रदेश के गोरखपुर और बनारस संभाग में तथा बिहार प्रान्त के शाहाबाद, चम्पारन और सारन, जिलों में बोली जाती है। मैथिली और मगही तो आपस में मिलती जुलती सी हैं, किन्तु भोजपुरी इन दोनों से भिन्न है। क्रिया, विभक्ति, परसर्ग और सर्वनाम शब्दों में भोजपुरी पूर्वी हिन्दी की उपभाषाओं के निकट बैठती है।[८] अतः पूर्वी हिन्दी की उपभाषाओं के अन्तर्गत इस का विवरण प्रस्तुत करना तर्कसंगत प्रतीत होता है। यह उत्तरप्रदेश के कुछ भाग और नेपाल की तराई से ले कर मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ एवं बस्तर जिले तक तथा राजस्थान के कुछ भागों में बोली जाती है। बिहार के मगही तथा मैथिली क्षेत्रों के मुसलमान भी इस बोली का प्रयोग करते है।

अवधी

पूर्वी हिन्दी की यह सब से महत्त्वपूर्ण बोली है। अवध की मुख्य बोली होने के कारण यह अवधी कहलाती है। हरदोई जिले को छोड़ कर यह अवध के लखीमपुर, बहराइच, गोंडा, बाराबंकी, लखनऊ, सीतापुर, उन्नाव, फैजाबाद, सुल्तानपुर, रायबरेली, जौनपुर और मिर्जापुर के पश्चिमी भाग में तथा फतेहपुर और इलाहाबाद में भी अवधी बोली जाती है। इस के बोलने वालों की संख्या लगभग दो करोड़ है। इस के अन्य नाम पूर्वी और कोसली भी कहे जाते है। इस के पूर्वी, पश्चिमीय और केन्द्रीय तीन रूप माने गए है। इस की छह उपबोलियाँ कही जाती है :—[९]

१. मिर्जापुरी, २. बिहारी, ३. बनोधी, ४. पूर्वी, ५. उत्तरी, तथा ६. बैसवाड़ी। गोस्वामी तुलसीदास तथा अनेक सूफी कवियों की प्रबन्धकाव्य-रचनाएँ अवधी भाषा में लिखी हुई मिलती है। साहित्य की दृष्टि से यह अत्यन्त सम्पन्न भाषा है।

बघेली

बघेलखण्ड में बोली जाने के कारण इसे बघेली कहते है। इस का मुख्य केन्द्रीय स्थान रीवा है। कुछ विद्वान् इसे स्वतन्त्र बोली नहीं मानते। यह रीवा, दमोह, जबलपुर, मंडला, बालाघाट, फतेहपुर तथा मिर्जापुर और बांदा, हम्मीरपुर जिलों के कुछ भागों में बोली जाती है। इस की ग्यारह उपबोलियाँ कही जाती है, जो इस प्रकार हैं :—[१०]

१. तिरहारी, २. बुन्देली, ३. गहोरा (पथा-अतरपथा), ४. जुडार (कुड़ी, बग्रावल, अधर), ५. बनाफरी, ६. मरारी, ७. पोवारी, ८. कुमारी, ९. ओझी, १०. गोडवानी, ११. केवटी।

छत्तीसगढ़ी

मध्यकाल में दक्षिण कोशल के दण्डकारण्य के निकटवर्ती जनपदों में छत्तीस मुख्य जनपदों की गणना की जाती थी। इन सभी प्रदेशों में छोटे-छोटे माडलिक दुर्ग थे, इस लिए इन की सामूहिक संज्ञा 'छत्तीसगढ' थी। छत्तीसगढ की बोली छत्तीसगढी कहलाती है। यह रायगढ एवं सारंगगढ के कुछ भागों से लगा कर बिलासपुर, रायपुर, सबलपुर, के पश्चिमी भाग, कांकेर, नान्दि, दुर्ग, कवर्धा, खैरागढ, बस्तर, बिहार और बालाघाट के पूर्वी भागों में, तथा चांदा के उत्तर-पूर्वी भाग में बोली जाती है। इस के बोलने वालों की संख्या लगभग ४० लाख कही जाती है। इस की दस उपबोलियाँ कही जाती हैं[६२]:—

१. सरगुजिया, २. सदरी कोरवा, ३. बैगानी, ४. बिंझवारी, ५. कलगा, ६. भुलिया, ७. सतनामी, ८. कांकेरी, ९. बिलासपुरी, १०. हल्बी।

राजस्थानी

राजस्थान प्रदेश की भाषा राजस्थानी है। यह राजपूताना, मध्यभारत के पश्चिमी भाग, मध्यप्रदेश सिन्ध तथा पंजाब के निकटवर्ती क्षेत्रों में बोली जाती है। मुख्य रूप से यह मरुभूमि की भाषा है। डॉ० ग्रियर्सन ने इसे चार विभागों में विभक्त किया है[६३]:— मारवाडी, मध्य पूर्वीय समुदाय (जिस की विशिष्ट बोली जयपुरी है), पश्चिमोत्तरी समुदाय (जिस की विशिष्ट बोली मेवाती है) तथा मालवी। इन्हीं चारों को राजस्थानी की चार मुख्य विभाषाओं के रूप में स्वीकार किया गया है। डॉ० चटर्जी ने राजस्थानी बोलियों को पश्चिमी और पूर्वी इन दो वर्गों में समाहित किया है। किन्तु डॉ० तिवारी इन के चार वर्ग मानते हैं[६४]—१ पश्चिमी राजस्थानी-मारवाडी, २. पूर्वी राजस्थानी-जयपुरी, किशनगढी, अजमेरी, हाडौती, आदि, ३. दक्षिणी-पूर्वी राजस्थानी-मालवी, ४. दक्षिणी राजस्थानी-भीली, सौराष्ट्री। इन के अन्तर्गत प्रसिद्ध उपबोलियाँ है[६४] :—पूर्वी मारवाडी—मगरा की बोली, मेरवाडी, मारवाडी, गिरासिया की बोली, मारवाडी ढुढारी, गोड़वाटी, मेवाडी तथा मेरवर-मारवाड़ी, दक्षिणी मारवाडी-गोडवाटी तथा मारवाडी गुजराती; पश्चिमी मारवाडी-थली तथा ढटकी; उत्तरी मारवाडी-बीकानेरी शेखावाटी तथा बागडी। साहित्यिक दृष्टि से मारवाडी समृद्ध है।

जयपुरी की प्रमुख उपबोलियाँ निम्नलिखित हैं[६५] :—

१. तोरावाटी, २. काटैडा, ३. चौरासी, ४. नागरचाल, ५. राजावाटी।

मेवाती

यह उत्तरी-पूर्वी राजस्थानी की एक बोली मानी गई है। यह पश्चिमी हिन्दी के अत्यन्त निकट है। इस की उपबोलियाँ है :—

१. राठी मेवाती, २. नहेड़ा मेवाती, ३. कठेर मेवाती, ४. गूजरी।

मालवी

मालवी दक्षिणी-पूर्वी राजस्थानी की प्रतिनिधि बोली मानी जाती है। मालवी में गुजराती, राजस्थानी और बुन्देली का पुट है। भोपाल की ओर का बुन्देली-क्षेत्र मालवीपन

लिए हुए है, दक्षिण की ओर का राजस्थानी क्षेत्र मालवी से आक्रान्त है और मालवा का दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्र गुजराती से प्रभावापन्न है। अत्यन्त प्राचीनकाल से इस क्षेत्र का मुख्य केन्द्र अवन्ती रहा है। आ० भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में जिस 'ओकारबहुला' और 'आवन्ती' का उल्लेख किया है, उसी से मालवी का विकास हुआ है। मालवी दक्षिण में नर्मदा नदी के और मध्य में निमाड, भोपाल, नरसिंहगढ, राजगढ़, दक्षिण झालावाड, मन्दसौर, नीमच, रतलाम, पूर्व झाबुआ, धार, इन्दौर, देवास, उज्जयिनी, राजगढ़ और शाजापुर, आदि क्षेत्रो मे बोली जाती है। कोटा के डॉग प्रदेश मे भी मालवी बोलने वालों की बस्ती है। यहाँ की बोली को डगेसरी कहते है। रतलाम के निकट बोली जाने वाली 'डूगरी' बोली का स्वरूप भी इस के अनुरूप है। मालवी भाषा के प्राचीनतम प्रयोग आठवी सदी के प्राकृतकवि उद्योतनसूरि की 'कुवलयमालाकथा' मे उपलब्ध होते हैं। डॉ० श्याम परमार ने इस के चार रूपो का निर्देश किया है[66]—उत्तरी मालवी, दक्षिणी मालवी, पूर्वी मालवी और पश्चिमी मालवी। इस की उपबोलियाँ हैं :—

उत्तरी मालवी-सोदवाडी (उत्तरपूर्व), मन्दसौरी, डगेसरी (डूगरी), और रतलामी।
दक्षिणी मालवी—निमाडी।
पूर्वी मालवी—उमटवाडी।
पश्चिमी मालवी—बागडी।

इन के अतिरिक्त रजवाडी या रागड़ी को भी मालवी की उपभाषा माना जाता है। यह मुख्य रूप से मालवा के राजपूतो की बोली रही है, जो राजस्थानी से प्रभावित है। मालवी की कुछ अन्य बोलियो का भी उल्लेख किया जाता है, जिन में धोलेवाडी, भोयारी, पाटवी और कटियाई का नाम लिया जा सकता है।

डिंगल

ब्रज की साहित्यिक भाषा को 'पिंगल' और राजस्थान की साहित्यिक भाषा को 'डिंगल' कहा जाता है, जो आरम्भ मे एक ग्राम्यभाषा समझी जाती थी। टेस्सिटरी के अनुसार 'डिंगल' शब्द का अर्थ है—गॅवारूभाषा डिंगल को 'भाटभाषा' भी कहते है। प्रारम्भ में चारण-भाटो का ही डिंगलकाव्य-रचना पर एकाधिकार था। डिंगल के प्रसिद्ध कवियो मे पृथ्वीराज, बाकीदास, दुरसा जी, सूरजमल एवं नरपति नाल्ह, आदि की गणना की जाती है। डिंगल का साहित्य समृद्ध है।

सौराष्ट्री

सौराष्ट्र के जो लोग अपने प्रान्त के बाहर बस गए है, वे जिस बोली का प्रयोग करते हैं, उसे सौराष्ट्री कहते है। इसे 'पटलूणी' भी कहते हैं। यह लगभग छह हजार लोगो की बोली है।

बंजारी

राजस्थान की बजारा जाति की यह बोली है। इसे 'लभानी' भी कहते हैं।

भीली

यह भी राजस्थानी जाति की एक मुख्य बोली है। इसे 'भिलोदी' भी कहते हैं। इस की दो उपबोलियाँ हैं—राठवी और भिलाली।

पहाड़ी

पहाडी प्रदेशों में प्रयुक्त होने के कारण इसे 'पहाड़ी' कहा जाता है। इस का क्षेत्र हिमाचल प्रदेश में भद्रवाह के उत्तर-पश्चिम से ले कर नेपाल के पूर्वी भाग तक माना जाता है। इस के तीन प्रमुख रूप हैं—पश्चिमी पहाडी, माध्यमिक पहाडी और पूर्वी पहाड़ी। यह सम्पूर्ण क्षेत्र भाषा-स्थिति की दृष्टि से पहले शूरसेन प्रदेश से सम्बन्धित था। इसलिए विद्वानो का अनुमान है कि पहाड़ी बोलियो का जन्म शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। डॉ० चटर्जी इस का मूल आधार पैशाची अपभ्रंश से मानते है, जो उचित जान पड़ता है। इसकी निम्न-लिखित उपबोलियाँ है :—

माध्यमिक पहाड़ी—कुमायूनी, गढवाली। कुमायूनी की भी उपबोलियॉ विकसित हो गई है, जिन मे मुख्य हैं"—खसपरजिया, कुमयॉ या कुमैयॉ, फल्दकोटिया, पछाई, चौगरखिया, गगोला, दानपुरिया, सीराली, सोरियाली, अस्कोटी, जोहारी, रउचोभैंसी तथा भोटिआ हैं। कुमायूनी पर राजस्थानी का इतना अधिक प्रभाव है कि वे दोनों समान प्रतीत होती हैं। कुमायूनी की भाँति गढ़वाली मे भी कई उपबोलियॉ विकसित हो चुकी हैं। उन मे से प्रमुख हैं"—श्रीनगरिया, राठी, लोहब्या या लोबयाली, बधानी, दसौलया, मॉझ-कुमैया, नगपुरिया, सलानी और टेहरी। कुमायूंनी मे साहित्य लिखा हुआ मिलता है, पर गढवाली मे केवल लोक-साहित्य उपलब्ध होता है। गत दो दशको से इन मे अच्छा साहित्य लिखा जा रहा है। साहित्य-रचना के कारण ये बोलियाँ पश्चिमी वर्ग के कुछ निकट जान पड़ती हैं। आज भी इन पर प्राकृत-अपभ्रंशो का बहुत प्रभाव लक्षित होता है।

पश्चिमी पहाड़ी की प्रमुख बोलियाँ हैं"—जौनसारी, सिरमौरी, बघाटी, चमेआली, और क्योठली। इन के अतिरिक्त सतलुज वर्ग की बोलियॉ (बाहरी सिराजी, शोदोची), कुल वर्ग की बोलियॉ (कुलुई, भीतरी सिराजी), मंडी वर्ग की बोलियॉ (मडेआली, मडेआली पहाडी, सुकेती) तथा भद्रवाह वर्ग की बोलियाँ (पाडरी, भलेसी, भद्रवाही) भी इसी के अन्तर्गत आती है। इन के अतिरिक्त लोहुली और हमीरपुरी भी पश्चिमी पहाड़ी की उपबोलियॉ मानी जाती है। पश्चिमी पहाडी पजाब के उत्तरी-पूर्वी पहाड़ी भाग में भद्रवाह, चंबा, मडी, शिमला, चकराता और लाहुल-स्पिति, आदि में बोली जाती है। किन्तु पूर्वी पहाड़ी भारतवर्ष के पूर्वी भाग की नेपाली भाषा कही जाती है। डॉ० ग्रियर्सन के अनुसार इस राज्य की मुख्य भाषा तिब्बती-बर्मी परिवार की है, जिस में 'नेवारी' का प्रमुख स्थान है। 'नेवार' नाम भी नेपाल से ही निकला है। पूर्वी पहाड़ी के अन्य नाम हैं—परबतिया, गोरखाली तथा खसकुरा। यह नेपाल राज्य में बोली जाती है। इस की चार उपबोलियाँ है : पाल्पा, दही (दढ़ी), देनवार (दोनवार) और कुरुवार (करुवार)।

बिहारी

हिन्दी प्रदेश की यह मुख्य उपभाषा मानी जाती है। प्रमुख रूप से यह बिहार, छोटा नागपुर और उत्तर प्रदेश के बलिया, गाजीपुर, पूर्वी फैजाबाद, पूर्वी जौनपुर, आजमगढ़, वाराणसी, देवरिया और गोरखपुर आदि जिलों में बोली जाती है। डॉ० तिवारी ने बिहारी को पूर्वी बिहारी और पश्चिमी बिहारी इन दो वर्गों में विभाजित किया है। पूर्वी बिहारी के अन्तर्गत वे मैथिली और मगही को मानते हैं तथा पश्चिमी बिहारी में केवल भोजपुरी को। डॉ० चटर्जी भी भोजपुरी को मैथिली और मगही से भिन्न मानते हैं।[७०] अतः पूर्वी और पश्चिमी भेद ही इन बोलियों का मूल आधार माना जा सकता है।

भोजपुरी

भोजपुरी यह नाम जिला शाहाबाद के 'भोजपुर' परगने के एक छोटे से कस्बे के नाम से प्रचलित हुआ। इसे पूरबी भी कहते हैं। यह उत्तर में नेपाल की दक्षिणी सीमा रेखा के आसपास से ले कर दक्षिण में छोटे नागपुर तक और पश्चिम में पूर्वी मिर्जापुर, वाराणसी, एवं पूर्व में पूर्वी पंजाबाद से ले कर राँची और पटना के पास तक बस्ती (कुछ भाग), गोरखपुर, देवरिया, सारन, मिर्जापुर (दक्षिणी-पूर्वी), वाराणसी, जौनपुर (पूर्वी), गाजीपुर, बलिया, शाहाबाद, पालामऊ तथा राँची (कुछ पूर्वी भाग छोड़ कर) में बोली जाती है। भोजपुरी की चार प्रमुख उपबोलियाँ हैं[७१] —उत्तरी भोजपुरी, दक्षिणी भोजपुरी, पश्चिमी भोजपुरी, और नगपुरिया। इन के अतिरिक्त थारु भोजपुरी, मधेसी, बगरही और सारन बोली का भी उल्लेख किया गया है।

मगही

'मागधी' प्राकृत-अपभ्रंश से विकसित तथा मगध प्रदेश की बोली मगही कही जाती है। आज भी पढ़े-लिखे लोग इसे मागधी कहते हैं। यह सम्पूर्ण गया जिले में तथा पटना, हजारीबाग, मुंगेर, पालामऊ, भागलपुर और राँची के कुछ क्षेत्रों में बोली जाती है। इस का मुख्य केन्द्र गया है। इस की प्रमुख बोलियाँ निम्नलिखित हैं[७२] :—

१. आदर्श मगही—यह वर्तमान पटना और गया जिले से ले कर राजगृह, हजारीबाग, मुंगेर के कुछ भाग, दक्षिणी-पश्चिमी भागलपुर, सरायकेला, सिंहभूमि, खारसावाँ, पुरुलिया और मानभूम के सभाग में प्रयुक्त होती है।

२. पूर्वी मगही—यह हजारीबाग (दक्षिण-पूर्वी भाग), मानभूम, माल्दा (जिले का पश्चिमी भाग), राँची, खारसावाँ, बामरा और मयूरभंज क्षेत्रों में बोली जाती है। इस की प्रमुख उपबोलियाँ कुड़माली, खोटाली, पाचपरगनियाँ तथा सदरी कोल है।

३. जंगली मगही—यह गया, राजगिर, और छोटे नागपुर के जंगलों में प्रयुक्त होती है।

४. टल्हा मगही—यह पूर्ण मोकामा, बड़हिया थाना, बढ़ उप-सभाग के पूर्वी भाग, गिद्धौर, फतुहाँ और लक्खीसराय थाना के उत्तरी भाग में बोली जाती है।

५. सोनतटी मगही—यह पटना और गया के सोन नदी के तटवर्ती क्षेत्रों की बोली है। इस प्रकार की कुछ अन्य स्थानीय उपबोलियाँ अभी ज्ञात हो सकती हैं।

मैथिली

यह मिथिला प्रदेश की बोली है। मैथिली का क्षेत्र बिहार के उत्तरी-भाग में पूर्वी चम्पारन, मुजफ्फरपुर, मुगेर, भागलपुर, दरभगा, पुनिया तथा उत्तरी संथालपरगना में है। इस के अतिरिक्त यह बोली मालदह और दिनाजपुर के साथ भागलपुर एव तिरहुत सभाग की सीमा के निकट नेपाल की तराई मे भी बोली जाती है। इस की छह उपबोलियाँ है,[९३] जो इस प्रकार है—उत्तरी मैथिली, पूर्वी मैथिली, पश्चिम मैथिली, छिकाछिकी तथा जोल्हा बोली। इस भाषा का लिखा हुआ प्राचीन साहित्य भी मिलता है। मैथिल-कोकिलविद्यापति अवहट्ठ, देशीभाषा (मैथिली) और हिन्दी के प्रसिद्ध कवि थे।

इस प्रकार उक्त सभी बोलियाँ हिन्दी की मानी जाती है। भारतीय आर्य-भाषाओं के समूह मे पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी, पहाडी और बिहारी इन पॉच भाषाओं के विकसित प्रवाह से अनेक बोलियों तथा उपबोलियो का जन्म हुआ। इन की सख्या लगभग छह सौ कही जाती है। इस गति और प्रवाह के योग से प्रवाहशील हो कर हिन्दी का भी विकास हुआ। अतएव भाषा के वर्तमान रूप पर इन का प्रभाव लक्षित होता है। भावी-विकास की दृष्टि से भी सस्कृत की अपेक्षा बोलियों की धारा से ग्रहण और स्वीकार करने की प्रवृत्ति बनी रही तो हिन्दी भविष्य में ससार की एक श्रेष्ठ भाषा सिद्ध हो सकेगी।

हिन्दी भाषा का विकास

वैदिक काल से ही स्पष्ट रूप से भाषागत दो धाराएँ परिलक्षित होती हैं, जिनमें से प्रथम 'छान्दस्' या साहित्य की भाषा थी और दूसरी जनवाणी या लोकभाषा थी। इस के स्पष्ट प्रमाण हमें अवेस्ता, निय प्राकृत तथा सर्वप्राचीन शिलालेखो की भाषा मे मिलते हैं। पालि-साहित्य की भाषा के अध्ययन से भी यह निश्चित हो जाता है कि उस समय तक कुछ ही भाषाएँ तथा भाषागत रूप व्यवस्थित एव परिमार्जित हो सके थे; अनेक भाषाएँ अपरिमार्जित ही थीं। ऋग्वेद मे विभिन्न प्राकृत बोलियों के लक्षण मिलते हैं। उदाहरण के लिए, प्राकृत बोलियो मे आरम्भ से ही 'ऋ' वर्ण नहीं था, इसलिए सस्कृत के व्याकरण की रचना को देख कर जब प्राकृत-व्याकरण की रचना हुई, तब यह विधान किया गया कि सस्कृत 'ऋ' के स्थान पर प्राकृत भाषा मे 'अ, इ, या उ' आदेश हो जाता है। किन्तु वेदों की कई ऋचाओं मे 'कृत' के लिए 'कट', वृत के लिए 'वुड' तथा 'मृत' के लिए 'मड' शब्द प्रयुक्त मिलते हैं। 'पाइअ-सद्द-महण्णवो' की भूमिका में ऐसे तेरह विशिष्ट लक्षणों का विवेचन किया गया है, जिन से वैदिक और प्राकृत भाषा में साम्य परिलक्षित होता है। इन प्राकृत बोलियों की एक प्रमुख विशेषता 'देशी' शब्दों की बहुलता भी है। ऋग्वेद, आदि में प्रयुक्त 'वंक (वक्र), मेह (मेघ), पुराण (पुरातन), तितउ (चालनी), जूर्ण (जूना, पुराना) और उच्छेक (उत्सेक)', आदि प्राकृत

बोलियों के शब्द उपलब्ध होते हैं। इन देशी शब्दों की ग्रहणशीलता 'देशी' के प्राचीन पूर्व रूप को सिद्ध करता है। डॉ० ज्यूल ब्लाख ने भी 'देशी' को प्राकृत का प्राचीन पूर्व रूप कहा है। इस से उसे छोड कर अज्ञात भाषाओं के अस्तित्व का पता चलता है।[५४] प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक बीम्स के अनुसार देशी शब्द सदा से लोकबोलियों में प्रयुक्त रहे हैं, साहित्य की भाषा में उन के प्रयोग नहीं मिलते। किन्तु इस से संस्कृत भाषा की प्राचीनता सिद्ध नही हो जाती। वस्तुतः जनबोलियाँ ही प्राचीनतम हैं।[५५] डॉ० जॉर्जग्रियर्सन, वाकरनागल, रिचर्ड पिशेल और प्रो० एन्त्वान् मेय्ये प्रभृति भाषावैज्ञानिकों ने वैदिक युग की प्रादेशिक बोलियों के विकास से शिलालेखों की प्राकृत तथा साहित्यिक प्राकृतों का उद्भव और विकास माना है। वैदिक युग की प्राकृत बोलियों को प्राचीन या प्राथमिक प्राकृत (२,००० ई० पू०–५०० ई० पू०) नाम दिया गया है। डॉ० ग्रियर्सन के शब्दों में "अशोक (२५० ई० पू०) के शिलालेखों तथा महर्षि पतंजलि (१५० ई० पू०) के महाभाष्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि ई० पू० तीसरी शताब्दी में उत्तर भारत में आर्यों की विविध बोलियों से युक्त एक भाषा प्रचलित थी। जनसाधारण की नित्य व्यवहार की इस भाषा का क्रमागत विकास वस्तुतः वैदिक युग की बोलचाल की भाषा से हुआ था। इस के समानान्तर ही इन्हीं बोलियों में से एक बोली से ब्राह्मणों के प्रभाव द्वारा एक गौण भाषा के रूप में लौकिक संस्कृत का विकास हुआ। कालान्तर में इस ने मध्ययुगीन लैटिन की ही भाँति अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। शताब्दियों से भारतीय आर्यभाषा 'प्राकृत' नाम से पुकारी जाती रही है। प्राकृत का अर्थ है—नैसर्गिक एवं अकृत्रिम भाषा। इस के विरुद्ध संस्कृत का अर्थ है—संस्कार की हुई, तथा कृत्रिम भाषा। 'प्राकृत' की इस परिभाषा से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन वैदिक मन्त्रों की बोलचाल की भाषाएँ बाद के मन्त्रों की कृत्रिम संस्कृत भाषा की तुलना में वास्तव में प्राकृत (नैसर्गिक) भाषाएँ थीं। वस्तुतः इन्हें भारतवर्ष की प्रथम प्राकृत कहा जा सकता है।[५६]

ई० बी० कावेल के मतानुसार 'प्राकृत' एक सामान्य शब्द है, जिस के द्वारा हम विभिन्न भारतीय बोलियों का अधिग्रहण करते रहे हैं। यद्यपि वैयाकरणों के द्वारा 'प्राकृत' शब्द का अर्थ 'व्युत्पन्न' अर्थात् मूल संस्कृत है और संस्कृत से व्युत्पन्न प्राकृत है। कहा भी है—'प्रकृतिः संस्कृतं तत्रभवं ततः आगतं वा प्राकृतम्', किन्तु मौलिक रूप से इस कथन का अभिप्राय यही है कि प्राकृत 'जन सामान्य' की 'असंस्कृत, अपरिष्कृत' भाषा है, जैसा कि महाभारत में कहा गया है (दुर्वेदा वा सुवेदा वा प्रकृतिः संस्कृतिः तथा)।[५७] प्राकृत के सभी वैयाकरणों ने विभिन्न प्राकृतों को बोली रूप में निर्दिष्ट किया है। उपलब्ध सभी प्राकृत भाषाएँ व्याकरणिक और कोशीय लक्षणों में वैदिक भाषा के समान हैं, जिन की विशेषताएँ संस्कृत में नहीं मिलती।[५८] इस प्रकार प्राकृत बोलियों की एक परम्परा चली आ रही थी, जिस की जड़ें जनता की भाषा में निहित थीं। स्टेनली रुन्डले ने भाषा और बोली का अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया है कि संस्कृत एक कृत्रिम तथा पूर्ण साहित्यिक भाषा थी, जबकि प्राकृत बोलचाल की भाषा थी। समय-समय पर प्राकृतों

पर संस्कृत का भी प्रभाव पड़ा है, जिस के कारण वैयाकरणों ने संस्कृत को प्राकृत में बदलने के लिए व्याकरण के रूप में विशिष्ट नियमों का प्रतिपादन किया और इस के परिणामस्वरूप वास्तविक प्राकृतों को लुप्त हो जाना पड़ा। लिखित प्राकृतों पर संस्कृत का प्रभाव होने के कारण वे अत्यधिक भ्रष्ट मिलती हैं।"[९] वेदों की भाँति अवेस्ता और प्राकृत भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि अवेस्ता की भाषा में कुछ विशेषताएँ प्राकृतों की भी मिलती हैं। किन्तु ऋग्वेद के सग्रहण मे ऋग्वेद की भाषा की एक नई आवृत्ति होती है। जब ऋचाओ की संकलना हुई तब सहिताकार के समय की भाषा-परिस्थिति किसी न किसी रूप मे ऋग्वेद मे प्रतिबिम्बित हुई। इस लिए ऋग्वेद में कभी-कभी अन्यान्य बोलियों के रूप एक साथ मिल जाते है; जैसे : 'र' और 'ल' की व्यवस्था। ऋग्वेद की रचना एक समय की और एक व्यक्ति की नहीं है। अतएव समय-समय पर उस मे बहुत परिवर्तन होता रहा। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल की भाषा से दशम मण्डल की भाषा मे अन्तर लक्षित होता है। उस के प्राचीनस्तर मे जो व्यवस्था थी, वह दसवें मण्डल मे नहीं दिखाई पड़ती है। ऋग्वेद की अधिकाश रचना भारत के उत्तर पश्चिमी भाग मे की गई थी। अतएव उस प्रदेश की बोलियों से और ईरानी भाषा से उस का साम्य होना स्वाभाविक है। भारत की पूर्व की बोलियो मे 'र' और 'ल' के स्थान पर 'ल' का ही प्रचलन था; किन्तु ऋग्वेद मे भी 'ल' वाले शब्दो के प्रयोग अपना लिए गए।[८०]

प्राकृत भाषाएँ इस देश मे ही नहीं, एशिया के सुदूर देशो मे भी प्रयुक्त होती थी। डॉ० चटर्जी के शब्दो मे 'ई० पू० तीसरी शताब्दी मे भारतीय प्रवासियो का पजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश से अपनी प्राकृत भाषा के साथ खोतन प्रदेश मे जा कर बसने का पता चला है। यह पश्चिमोत्तरी 'गाधारी प्राकृत' है। मध्य एशिया (दक्षिणी सिन्-क्याग या चीनी तुर्किस्तान) मे इस प्राकृत का अपना स्वतन्त्र इतिहास बना। दूसरी एक प्राकृत भाषा ई० पृ० छठी शताब्दी के मध्य मे गुजरात (काठियावाड) से सीलोन या लका पहुँचाई गई।[८१] भारत से बाहर जो प्राकृत के लेख, अभिलेख या साहित्यिक रचनाएँ प्राप्त हुई है, भाषा की दृष्टि से वे बहुमूल्य हैं। उन मे प्राचीनतम भाषा के निदर्शन मिलते है। अश्वघोष के सस्कृत नाटकों की हस्तलिखित खण्डित प्रतियाँ मध्य एशिया में मिली है, जिन का सम्पादन जर्मन विद्वान् ल्यूडर्स ने जर्मनभाषा मे किया है। इसी प्रकार खोतान मे खरोष्ठी लिपि मे लिखे हुए कुछ लेख मिले थे, जिन मे एक 'धम्मपद' भी है। इस की भाषा 'निय' प्राकृत से मिलती जुलती है। 'निय' प्रदेश मे प्राकृत में लिखे हुए कई लेख प्राप्त तथा प्रकाशित हो चुके हैं। ये भारत की प्राचीनतम पश्चिमोत्तरी बोली मे लिखे हुए कहे जाते हैं। इस प्रकार भारत मे तथा अन्य देशों में प्राकृत का विशेष प्रचार रहा है।

डॉ० चटर्जी के विचारों में 'वैदिक' या 'संस्कृत', 'प्राकृत' और 'भाषा' शब्दों का प्रयोग संक्षिप्त और सुविधानुसार है। किन्तु इस की बजाय इन शब्दों का व्यवहार भारतीय आर्यभाषाओं की तीन विभिन्न अवस्थाओं के द्योतन के लिए किया जाता

है। प्राकृत और भाषा के मध्य विशेषकर जो प्राकृत या मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा के युग की ही एक रचना है, सुविधा की दृष्टि से अपभ्रंश कही जा सकती है।[८२] ब्लूमफील्ड ने कुछ शब्दो के अध्ययन से यह निष्कर्ष फलित किया कि पालि-प्राकृत मे प्राक्-वैदिक बोलियो के शब्द-रूप निहित हैं।[८३] वेदो मे शिष्ट भाषा का प्रयोग किया गया है। वैदिक युग की बोलचाल की भाषा प्राकृत ही थी, जो कुछ बातों मे संहिताओ की साहित्यिक भाषा से भिन्न थी।[८४] अनेक वैदिक शब्द आज भी लोकभाषाओ मे ज्यो के त्यो अथवा उच्चार-भेद के साथ प्रयुक्त मिलते है। उदाहरण के लिए, कुछ शब्द इस प्रकार है—अजगर, भेड, लावा, रोट, चरु, चमस, असुर, देव, मेह, शूर्प (सूपा) मुसल (मूसल), दाति (दाँता), उलूखल (ओखली), लाजा (लाई), जूर्ण (जूना), सूर्य, नदी, पात्रा (पात्तर), मिश्र तथा घन प्रभृति। आठवी शताब्दी के प्राकृत के महाकवि वाक्पतिराज ने अपने 'गउडवहो' नामक महाकाव्य मे प्राकृत को लोकव्यापी बोली के रूप मे चित्रित किया है। महाकवि के शब्दो मे—

सयलाओ इम वाया विसंति एत्तो य णेंति वायाओ।
एंति समुद्द च्चिय णेंति सायराओ च्चिय जलाइ ॥९३॥

अर्थात् सभी भाषाएँ इस प्राकृत भाषा मे प्रवेश करती है (समा जाती है) और सभी भाषाएँ इस से निर्गत (विकास) हुई है। जिस प्रकार जल (नदी-नालो का) समुद्र मे प्रवेश करता है और समुद्र से ही बाहर (वाष्प रूप मे) निकलता है, उसी प्रकार प्राकृत भाषा भी समुद्र की भाँति है।

अतएव भारतीय आर्यभाषाओ की तीन अवस्थाओ को एक-दूसरे से उत्पन्न मानना भ्रमपूर्ण होगा। वास्तव मे भाषा-विकास की दो अवस्थाएँ मानी जा सकती है—प्राचीन तथा वर्तमान। किन्तु भाषावैज्ञानिको के अनुसार भारतीय आर्यभाषाओं के विकास की तीन अवस्थाएँ रही है। यह निश्चित है कि आर्य जाति का प्राचीनतम साहित्य वेद है। यह लगभग दो हजार वर्ष ई० पू० का लिखा हुआ माना जाता है। प्रो० मेक्समूलर ने यह समय ई० पू० १,२०० माना है। इसे ही डॉ० ग्रियर्सन ने प्राकृत भाषाओ के प्रथमस्तर का काल निरुपित किया है। उन के अनुसार आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओ के उदय होने के पूर्व भारतीय आर्य भाषाएँ प्राकृतभाषाओ के तीन स्तर पार कर चुकी थी। 'प्राकृत' कहने का उन का अभिप्राय लोकबोली से है। डॉ० चटर्जी भी वेदो की भाषाएँ इस से अधिक प्राचीन नही मानते। उन के ही शब्दो मे "गाथाओ और वेदो की भाषाएँ तो यमज बहनों सी दीखती हैं, और वैदिक भाषाओं का काल २,००० वर्ष ई० पू० से प्राचीनतर हो नहीं सकता, क्योंकि (प्राग्-वैदिक तथा प्राग्गाथा की जननी) आर्यभाषा तब तक ईरानी और भारतीय आर्य-शाखाओ मे अविभाजित न हो कर एक ही भाषा रही प्रतीत होती है, जैसा कि मेसोपोतामिया तथा एशिया-माइनर के दस्तावेजो से उपलब्ध थोड़े-बहुत प्रमाणों से सिद्ध होता है।"[८५] इस प्रकार भारतीय आर्यभाषाओं के विकास की निम्नलिखित अवस्थाओ का वर्गीकरण किया जा सकता है :—

१. प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ—ई० पू० २,००० से ई० पू० ६,००,
२. मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ—ई० पू० ६,०० से १,००० ई०,
३. आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ—१,००० ई० से आज तक।

यथार्थ मे भाषा की ये अवस्थाएँ वास्तविक नहीं हैं, केवल अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से अवस्था, स्तर या भूमिका के नाम से अभिहित की गई हैं।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ

यह पहले ही कहा जा चुका है कि वैदिक काल और उस के पूर्व की सभी बोलियों को प्राकृत नाम दिया गया है। आर्यभाषा का बोली रूप में प्राचीनतम निदर्शन 'प्राकृत' एवं साहित्य के रूप मे वेदों की भाषा 'छान्दस्' मे परिलक्षित होता है। प्रथम अवस्था में सभी प्राकृत बोलियो और वेदो की भाषाओं मे स्वर और व्यंजन, आदि के उच्चारण मे तथा विभक्तियों के प्रयोग मे कोई विशेष अन्तर लक्षित नही होता। इसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि उस युग की बोलियों के लेख या अभिलेखों के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। थोड़े-बहुत बोलियों के जो नमूने मिलते है, वे भी अधिकतर साहित्य की भाषा के रूप में प्रयुक्त पाए जाते हैं। अतएव उन का विशुद्ध रूप नही मिलता। उस युग की भाषाओं का जो भी अध्ययन किया जाता है, वह मुख्य रूप से ऋग्वेद तथा वेदो की भाषाओं के आधार पर तथा गौण रूप से अवेस्ता की भाषा और प्राकृत बोलियो अथवा ऋग्वेदादि मे प्रयुक्त वैकल्पिक रूपों को ध्यान मे रख कर किया जाता है। वेदों और स्मृतियों मे एव पौराणिक साहित्य मे अनेक स्थानों पर कहा गया है कि पहले भी अनेक भाषाएँ बोली जाती थी। शिष्य के अनुरूप ही सस्कृत, प्राकृत तथा देशी भाषा आदि का व्यवहार करना चाहिए।[९] भरत कृत 'गीतालंकार' मे सब से अधिक ४२ भाषाओं का उल्लेख मिलता है। उन के नाम हैं[१०]—महाराष्ट्री, किराती, म्लेच्छी, सोमकी, चोलकी, काची, मालवी, काशिसभवा, देविका, कुशावर्त्ता, सूरसेनिका, बांधी, गूर्जरी, रोमकी, कानमूली, देवकी, पचपत्तना, सैन्धवी, कौशिकी, भद्रा, भद्रभोजिका, कुन्तला, कोशला, पारा, यावनी, कुर्कुरी, मध्यदेशी तथा काम्बोजी प्रभृति। ये बयालीस भाषाएँ गीत-रचना मे प्रयुक्त होती थीं। वास्तव मे, ये उस युग की बोलियाँ थीं, जिन में गीत रचे जाते थे। सस्कृत और प्राकृत मे भी किसी युग मे बहुत गीत लिखे जाते थे, जिन मे प्राकृत के गीत प्रशस्त कहे गए हैं।[११] तीर्थंकर महावीर के युग में ई०पू० ६,०० के लगभग १८ महाभाषाएँ और ७,०० लघुभाषाएँ (बोलियाँ) प्रचलित थीं। उन मे से जैन-साहित्य मे प्रादेशिक भेदों के आधार पर आवश्यक, औपपातिक, विपाक, ज्ञातृधर्मकथाग, राजप्रश्नीय, आदि आगमग्रन्थों तथा 'कुवलयमालकहा' में अठारह प्रकार की प्राकृतों का उल्लेख पाया जाता है। निशीथचूर्णि में अठारह देशी भाषाओं से नियत भाषा को अर्द्धमागधी कहा गया है। उद्योतनसूरि ने 'कुवलयमालाकहा' में विस्तार के साथ गोल्ल, मगध, अन्तर्वेदि, कीर, टक्क, सिन्धु, मरु, गुर्जर, लाट, मालवा, कर्णाटक, ताजिक, कोशल, महाराष्ट्र और कर्णाटक प्रभृति अठारह देशी भाषाओं का विवरण दिया है, जो कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ऋग्वेद की भाषा मे निर्विभक्तिक प्रयोग, विभक्ति-विनिमय : चतुर्थी के लिए षष्ठी और षष्ठी के लिए चतुर्थी, शब्द-रूप तथा विकरण के व्यत्यय होने तथा निपात एवं उपसर्गों की बहुलता से और समास की स्वच्छन्दता से अनेक रूप मिलते है। इसी प्रकार ऋग्वेद मे पादान्त और पादादि मे प्राकृतिक सन्धि परिलक्षित होती है।[९] डॉ० श्यामसुन्दरदास ने 'हिन्दी भाषा' मे वेदो की भाषा विषयक अव्यवस्था के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया है। डॉ० पुसालकर ने व्याकरण सम्बन्धी अनियमितताओ के कारणों पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि जनबोलियो से प्रभावित होने के कारण वेदो की भाषा मे भी अनेक वैकल्पिक रूप आ गए। एक कारण यह भी था कि मूल बोलियॉ प्राकृत थी, किन्तु हठात् उन्हे संस्कृत मे अनूदित किया जा रहा था। वैदिकपाठ भी प्राकृतों से प्रभावापन्न लक्षित होते है। प्राकृतो से प्रभावित होने के कारण काव्यों और पुराणों मे भी तथा शास्त्रीय सस्कृत-साहित्य के पूर्व की रचनाओ मे भाषाविषयक अनियमितता परिलक्षित होती है[१०]। बोलियो के प्रवाह मे जब भाषाविषयक अनियमितता वृद्धिगत होती गई, तब भाषा के 'सस्कार' का प्रश्न सहज ही उत्पन्न हुआ। फलस्वरूप पाणिनि और कुमार, आदि के नियमो से अन्वित भाषा 'सस्कार' प्राप्त करके सुधर, सॅवर कर 'सस्कृत' कहलाई। भाषा की स्थिरता के लिए वैयाकरणो ने दो महान् प्रयत्न किए। प्रथम प्रयत्न मे उन्होने गणो की व्यवस्था की और पाणिनि ने 'पृषोदरादि' गण बना कर शब्द-सिद्धि का एक नया मार्ग ही उन्मुक्त कर दिया। दूसरे प्रयत्न मे स्वार्थिक प्रत्यय का विधान करके देशी तथा म्लेच्छ भाषाओ से शब्दो को उधार ले कर अपनाने की तथा रचाने-पचाने की एक नई रीति को जन्म दिया। इन दोनो ही कार्यों से सस्कृत का शब्द भण्डार विशाल हो गया और भाषा स्थिर तथा निश्चित हो गई। उस मे फिर शब्दानुशासन की रचना के अनन्तर वैदिक भाषा की भॉति अस्थिरता एव अव्यवस्था नही रही, और इसी कारण से 'सस्कृत' भाषा सदा के लिए 'अमर' हो गई। महर्षि पतजलि के महाभाष्य के उल्लेख से भी स्पष्ट है कि जनभाषा के सस्कार से संस्कृत भाषा का जन्म हुआ था, जो साहित्य की भाषा रही है[११]। ऋग्वेद मे भी इस साहित्यिक भाषा का उल्लेख किया गया है[१२]। यद्यपि 'भाषा' परिमार्जित और परिष्कृत होकर 'सस्कृत' बन गई थी, किन्तु जनबोलियो का प्रभाव सतत उस पर बना रहा। महर्षि यास्क के 'निरुक्त' के अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वेदो की भाषा के समय जन-बोलियॉ प्रचलित थी। निघण्टु मे जिन शब्दो का निर्वचन किया गया है, उस मे भी प्रत्येक शब्द की लोकप्रचलित व्युत्पत्ति दी गई है। फिर, जिसे मूल शब्द कह सकते है, ऐसे अनेक शब्द वेदो की भाषा मे ही परिवर्तित मिलते है, जैसे कि—'अग्र' के लिए 'अङ्गुलि' (३ अ० २ पा० २ ख०), 'हिंस्' के लिए 'सिह' (३अ० ४पा० १ख०) 'रघु' के लिए 'लघु' (शीघ्र अर्थ मे), आदि तथा देशभाषा प्रसिद्ध विभाग भी उत्तर मे कुछ और पूरब मे कुछ शब्दों के प्रयोग भिन्न अर्थ मे लक्षित होते है[१३]। इस प्रकार प्रादेशिक भिन्नता के कारण भाषा-भेद और शब्द-भेद वैदिक काल से चले आ रहे है। इस बात की पुष्टि निघण्टु-रचना से भी होती है। वास्तव मे निघण्टु क्यों रचे गए ?

क्या इसलिए रचे गए कि महर्षि यास्क के समय में लोग वेदों के शब्दों का अर्थ भूल गए थे अथवा वे शब्द अपने मूल रूप से रचना या अर्थ मे बहुत भिन्न हो गए थे ? हमारे विचार में निरुक्त लिखने का एक प्रमुख कारण यह था कि एक शब्द के कई रूप और कई अर्थ प्रचलित थे। अर्थ की भिन्नता तो इतनी अधिक थी कि एक शब्द कई तरह से व्युत्पन्न होता था। व्युत्पत्ति-भेद से अर्थ-भेद की अतिशयता थी। अतएव किसी निश्चित अर्थ के द्योतन के लिए निघण्टु रचना आवश्यक हो गई थी। क्यों कि शब्दो मे हमारे जीवन का अनुभव निहित रहता है। वे केवल ध्वनि मात्र नहीं होते। उन मे युग-युगो के जीवन का बिम्ब अन्तर्हित रहता है। यही कारण है कि शब्द प्रतीक माना जाता है। शब्द कैसा भी हो, चाहे साधु हो अथवा असाधु हो, वह हमारे जीवन के अनुभव को अभिव्यंजित करने मे समर्थ होता है। व्याकरण तो केवल ध्वन्यात्मक, रूपात्मक और वाक्य रचनात्मक साँचों का वर्णन मात्र है। एक युग था, जब व्याकरण अपनी प्रकृति से दार्शनिक चिन्तन प्रस्तुत करता था, किन्तु जब उस का उद्देश्य ही बदल गया तब वह वर्ण और अब ध्वनियो तक मे सिमट गया है। यास्क के समय मे इसके विश्लेषण के मुख्य बिन्दु थे : नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। उन में से सभी नाम 'आख्यातज' थे, यह शाकटायन और यास्क का मत है; किन्तु गार्ग्य सभी को आख्यातज नहीं मानते[४]। यास्क ने धातु के छह भेद माने है—प्रकृत्यन्त, सनन्त, यङन्त, यङ्लुक्, ण्यन्त और ण्यन्तसनन्त। वह सब वैदिक भाषा की उत्तरकालिका व्यवस्था थी, जो आज परम्परा के रूप मे हमे प्राप्त होती है।

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ

यह पहले ही कहा जा चुका है कि भाषा का विकास लोकबोलियों से होता है। लोक मे प्रचलित शब्द और अर्थ के सम्बन्ध जब रूढ हो जाते है, तब वे एक भाषा का रूप धारण कर लेते है। महर्षि पतञ्जलि ने स्पष्ट रूप से लोकव्यवहार से अर्थ के अनुसार शब्दप्रयोग माना है, क्योंकि जिस प्रकार लोग कुम्हार की बस्ती मे जा कर घडा बनाने के लिए कहते हैं, उसी प्रकार वैयाकरण या भाषाशास्त्री के पास जा कर कोई शब्द तैयार करने के लिए नहीं कहता[५]। अतएव लोकबोलियो की परम्परा से भाषा के विकास की धारा आरम्भ होती है। मध्यकाल मे इस विकसित धारा के कई स्पष्ट रूप परिलक्षित होते है। अतएव मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओ को चार कालो मे विभक्त किया जाता है। ये निम्नलिखित हैं :—

१. प्राथमिक-स्तर : ६०० ई० पू०-२०० ई० (अशोक के शिलालेखो की प्राकृत तथा पालि आदि)।

२. संक्रमणकालीन स्तर : २०० ई० पू०-२०० ई० (खरोष्ट्री, ब्राह्मी, आदि में लिखित प्राथमिक अभिलेख)।

३. द्वितीय स्तर : २०० ई०-६०० ई० (संस्कृत-नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत तथा साहित्यिक प्राकृत)

४. तृतीय स्तर : ६००-१,००० ई० (अपभ्रंश भाषा)।

सम्राट् अशोक के उत्कीर्ण कराये हुए लगभग चौंतीस अभिलेख उपलब्ध हैं। इन की संख्या इस प्रकार है : १४ धर्मलेख, ७ स्तम्भलेख, १ बभ्रू-शिलालेख, २ लघु शिला लेख, २ कलिंग अभिलेख, २ तराई-अभिलेख, ३ लघुस्तम्भलेख, ३ गुहालेख। इन अभि लेखों मे चार प्रकार की बोलियों के नमूने स्पष्ट रूप से मिलते हैं, जिन के नाम है :—

१ पश्चिमोत्तरी प्रादेशिक भाषा-प्राकृत,

२. पश्चिमी या दक्षिण-पश्चिमी विभाषा-शौरसेनी,

३. मध्यपूर्वी विभाषा—मागधी,

४. पूर्वी विभाषा—मागधी तथा अर्द्धमागधी।

इन शिलालेखो मे पैशाची, मागधी और शौरसेनी प्राकृत की प्रवृत्तियाँ लक्षित होती है। पश्चिमोत्तरी प्रादेशिक भाषा मे पैशाची-प्राकृत की, पूर्वी मे मागधी तथा अर्द्ध-मागधी की, दक्षिण-पश्चिम मे शौरसेनी की एव मध्यपूर्वी समूह मे शौरसेनी ओर मागधी की मिश्रित प्रवृत्तियॉ प्राप्त होती है। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने अभिलेखो की भाषागत प्रवृत्तियो का निर्देश करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि सम्राट् अशोक के समय की पश्चिमोत्तरीय (पैशाच गान्धार), मध्यभारतीय (मागध), पश्चिमीय (महाराष्ट्र), और दाक्षिणात्य (आन्ध्र-कर्णाटक)बोलियाँ उस समय की जनभाषाएँ थीं। पश्चिमोत्तरीय वर्ग की बोली मे शाहबाजगढ़ी और मानसेहरा के अभिलेख, मध्यभारतीय बोली मे वैराट, दिल्ली-टोपरा, सारनाथ और कलिंग-अभिलेख, पश्चिम मे गिरनार और बम्बई मे सोपारा के अभिलेख एव दाक्षिणात्य मे दक्षिणी अभिलेख सम्मिलित है। पश्चिमो-त्तरीय मे दीर्घ स्वरो का अभाव, ऊष्म व्यजनों का प्रयोग, अन्तिम हलन्त व्यंजनो का अभाव, रेफ का प्रयोग एव प्रथमा विभक्ति एक वचन मे एकारान्त शब्दो का अस्तित्व पाया जाता है। मध्यभारतीय बोली मे 'र्' के स्थान पर 'ल्', प्रथमा एक वचन मे एकारान्त रूप का सद्भाव, स्वरभक्ति का अस्तित्व, 'अह' के स्थान पर 'हक' का प्रयोग 'तु' के स्थान पर 'तवे', तुम्हाण अथवा तुझाण के स्थान पर 'तुफाक' एवं 'कृ' धातु के 'क्त' के स्थान पर 'ट' का प्रयोग पाया जाता है। पश्चिमीय बोली मे 'र' का प्रयोग, अधोवर्ती रेफ का शीर्षवर्ती रेफके रूप मे प्रयोग, 'न्य' और 'ञ्ज' के स्थान पर 'ञ' तथा 'ट' मे परिवर्तन, प्रथमा एक वचन मे ओकारान्त रूप, 'र्द्ध' के स्थान पर 'ड्ढ' एव सप्तमी विभक्ति के वचन मे 'स्मि' के स्थान पर 'म्हि' का प्रयोग पाया जाता है। दाक्षिणात्य बोली मे मूर्द्धन्य 'ण्' का प्रयोग, तालव्य 'ञ' का प्रयोग, स्वरभक्ति की प्राप्ति, 'त्म' के स्थान पर 'त्प', ऊष्म वर्णों का दन्त्य वर्णो के रूप मे प्रयोग एवं 'तु' के स्थान पर 'तवे' का प्रयोग मिलता है[१]। वास्तव मे, प्राकृत की बोलियों के ये भेद कोई नए नही थे। वैदिक काल मे भी इन का अस्तित्व था। किन्तु अभिलेखों मे प्रयुक्त होने के अनन्तर एक लिखित प्रमाण के रूप मे प्रकट हो सके। भाषाओं की विकास-धारा को समझने के लिए इन का अध्ययन तथा विश्लेषण यथार्थ में अत्यन्त उपयोगी है।

भारतीय आर्यभाषाओ के विकास के इतिहास मे मध्यदेश की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण

भूमिका रही है। सामान्य रूप से दक्षिण मे दण्डकारण्य के पूर्व से लेकर मध्य और पश्चिम में विन्ध्यगिरि की शृंखलाओं तक तथा उत्तर में हिमाचल की तलहटी तक का भाग मध्यदेश कहा जाता रहा है। अशोककालीन प्राकृत ही नहीं, सम्पूर्ण आर्यप्रजाओं की सार्वदेशिक भाषा 'मध्यदेशीय' रही है। देश के मध्य में होने के कारण तथा स्थिर शासन और लोकप्रचलन होने से मध्यदेश की भाषा प्रख्यात रही है। हम इतिहास के किसी भी युग को पलट कर देख ले, इस आर्यावर्त की मुख्य या केन्द्रीय भाषा मध्यदेशीयभाषा ही मिलेगी। यही कारण है कि अशोक के शिलालेखों (ई०पू०२७०-२५० ई० पू०) की भाषा राजभाषा कही जाती है और उसी के विकासक्रम मे राष्ट्रभाषा हिन्दी का नाम लिया जाता है। हिन्दी मध्यदेशीय बोलियो के विकास की उत्तरकालिक अवस्था विशेष है, जिस का प्रसार सम्पूर्ण मध्यदेश मे रहा है। हिन्दी कभी किसी जनपद की भाषा नही रही है। इसी प्रकार से न केवल वह उत्तरप्रदेश की भाषा रही है। दक्षिण मे हैदराबाद, नागपुर, छत्तीसगढ़, पूरब मे बिहार तथा उत्तरप्रदेश, पश्चिम मे राजस्थान और मालवा तथा उत्तर मे हरियाना प्रदेश बहुसख्यक हिन्दी भाषा-भाषी रहा है। यह मध्ययुगीन देशी भाषाओ का परिणाम है, जो कुछ भिन्न होने पर भी अपने मूल रूप मे सदा परस्पर सम्बद्ध रही हैं और जिन का विकास स्वाभाविक गति से हुआ है।

पालि

कहा जाता है कि भगवान् गौतमबुद्ध जिस भाषा मे उपदेश देते थे, वह 'पालि' भाषा है। वास्तव मे बुद्ध और महावीर मागधी बोली मे ही बोलते थे। भाषा के अर्थ मे 'पालि' शब्द का प्रयोग बहुत बाद मे किया गया। पहले इसे 'मागधी' ही कहा जाता था। सिहल के महाथेर सुमगल ने 'बालावतार' पर अपनी टीका लिखते हुए इसे मागधी कहा है[97]। बुद्धघोष ने अपने ग्रन्थो मे कई स्थानो पर 'पाली' के लिए 'मागधी' शब्द का प्रयोग किया है[98]। आचार्य मोग्गल्लान ने अपने पालि-व्याकरण के प्रारम्भ मे ही इसे मागधी क्यो कहते हैं, इसका सप्रमाण विवेचन किया है[99]। सिंहल देश की स्थविरवादी परम्परा पालि को मागधी कहती आई है। उन के अनुसार मागधी मूलभाषा भी है।[100] कहा भी है—

सा मागधी मूलभासा नरा यायादिकप्पिका।
ब्राह्मातो चस्सुतालापा सम्बुद्धा चापि भासरे॥

अर्थात् वह मागधी प्रथम कल्प के मनुष्यो, ब्रह्माओ तथा अश्रुत वचन वाले शिशुओं की मूल भाषा है तथा बुद्धों ने भी इसी भाषा मे व्याख्यान दिया था।

जनता की बोली किसी सम्प्रदाय की भाषा नहीं होती। लोगो का यह सोचना और कहना ठीक नही है कि पालि बुद्ध की और मागधी महावीर की भाषा है। अतएव 'पालि' का अर्थ 'सुरक्षित' बुद्ध-साहित्य की रक्षित भाषा उचित प्रतीत होता है।[101] 'पा' धातु 'रक्ष्' अर्थ मे प्रयुक्त कही गई है। इसी प्रकार 'पाल' का अर्थ भी 'रक्षित' है।

प्राकृत की प्रथम अवस्था मे ऋ, लृ ध्वनियो का लोप हो गया और ऐ, औ, के स्थान पर ए, ओ, का प्रयोग होने लगा। सयुक्त व्यजनो मे सावर्ण्यभाव की प्रवृत्ति लक्षित होने लगी तथा अय्, अव् , ध्वनि-रूपो का स्थान ए, ओ, ने ग्रहण कर लिया। मध्यवर्ती स्पर्श व्यजनो का घोष भाव इसी अवस्था मे आरम्भ हो गया था। प्राचीन आर्यभाषा मे प्रचलित सगीतात्मक स्वराघात का स्थान बलात्मक स्वराघात ने ले लिया। शब्द एवं धातु-रूपो मे भी अनेक परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनो से आर्यभाषा को एक नवीन रूप प्राप्त हुआ और उसका मध्यकालीन रूप प्रस्फुटित होने लगा। उदीच्य भाषा मे ये परिवर्तन उतनी तीव्रता से नही हुए, जितनी तीव्र गति से प्राच्य भाषा मे परिवर्तन हुए। मध्यदेश की भाषा इन से कुछ ही प्रभावित हुई। अतएव पालि, प्राकृत, जैसे भेद पूर्वी भाषाओ मे लक्षित होते हैं। मध्यदेश की भाषाओ मे भाषागत स्तर पर ऐसे भेद परिलक्षित नही होते।

मध्यभारतीय आर्यभाषाओ के सक्रान्तिकाल (२,००ई०पू०-२,००ई०) मे कई प्रकार की बोलियो के नमूने मिलते हैं। इन मे से प्रथम सिहलीय अभिलेख की बोली है, जिस का समय ई०पू० प्रथम शताब्दी से ई० की तृतीय शताब्दी के मध्य कहा जाता है। यह बहुत कुछ अगे मे मध्यपूर्वीय बोली समूह के समान है। दूसरे, अश्वघोष के नाटको मे प्रयुक्त बोलियो के नमूने हैं। मध्य एशिया से प्राप्त अश्वघोष के नाटको मे जो प्रकीर्ण पद्य मिलते हैं, उनका समय लगभग प्रथम शताब्दी कहा जाता है। जर्मन भाषा मे ये नाटक एच० ल्युडर्स के द्वारा सम्पादित हो कर प्रकाशित हो चुके हैं।[१०१] इनमे तीन तरह की बोलियाँ मुख्य रूप से मिलती है। इन के नाम है : प्राचीन मागधी, प्राचीन शौरसेनी और प्राचीन अर्द्धमागधी। सर ऑरेल स्टीन ने मध्य एशिया से खरोष्ठी लिपि मे लिखे हुए जिन आलेखो को ढूँढ निकाला था, वे नियस्थान से प्राप्त होने के कारण नियप्राकृत मे लिखे हुए कहे जाते हैं। अधिकतर आलेख राजकीय दस्तावेज है, जिनमे जिला अधिकारियो तथा अन्य कार्यालयों के आदेश व जारी किए गए पत्र भी है। ये लगभग तीसरी शताब्दी के लिखे हुए कहे जाते है।'[१०२] इसी प्रकार खरोष्ठी मे लिखा हुआ 'धम्मपद' भी नियप्राकृत के सदृश है। इन सभी की भाषा अशोक के शिलालेखो से साम्य रखती है। भाषा की इस अवस्था मे स्वरमध्यग अघोष व्यजनो के स्थान पर सघोष व्यजनो का व्यवहार होने लगा। सावर्ण्यभाव की प्रवृत्ति दिनोदिन बढने लगी और लिगप्रयोग मे अनियमितता लक्षित होने लगी। इसी काल मे महायानियो ने पालि और सस्कृत के मिश्रण मे ऐसी भाषा का प्रयोग किया, जिसमे वर्ण-व्यत्यय के उदाहरण प्रचुरता से मिलते है और जिसे विद्वानो ने 'गाथा-संस्कृत' नाम दिया है। एडगर्टन ने इसे 'मिश्रित बौद्ध सस्कृत' कहा है। वास्तव मे, यह पालि की अपेक्षा तत्कालीन बोली से प्रभावापन्न ही नहीं, किंचित् मिश्रित भी है। इकार तथा उकारबहुला होने के कारण यह अपभ्रश की प्रवृत्ति को प्रदर्शित करती है। इसी सामान्य सस्कृत मे पुराणो की रचना हुई थी, जिनमे प्रयुक्त भाषागत व्यत्ययो को ध्यान में

रख कर कील्हार्न तथा कीथ प्रभृति विद्वानों ने यह विचार व्यक्त किया था कि पुराणों का पालि अथवा अन्य किसी प्राकृत से संस्कृत में रूपान्तर किया गया है और उस रूपान्तर में मूल के अवशेष यत्र-तत्र रह गए हैं।[१०४] इस प्रकार साहित्य तथा बोलचाल की प्राकृतों में अन्तर रहा है। जो प्राकृत बोलियाँ संस्कृत के प्रभाव से दूर रही हैं, वे अधिक परिणमनशील एवं विकासशील रहीं। भारत के बाहर के देशों में मिले प्राकृत भाषाओं के नमूनों में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से लक्षित होती है।

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की द्वितीय अवस्था (२,००ई०-६,००ई०) में परिवर्तनशील प्रवृत्तियाँ अधिक स्पष्टता के साथ परिलक्षित होती है। सक्रान्ति-काल में कथन किया जा चुका है कि स्वरमध्यग अघोष स्पर्श व्यजन सघोष होने लगे थे। ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी में उच्चारण की इस प्रवृत्ति में अभिनव परिवर्तन प्रकट हुए, जिन्होंने मध्य भारतीय आर्यभाषा का रूप बहुत बदल दिया। स्वरमध्यग सघोष स्पर्श व्यजनों के उच्चारण में शिथिलता आ गई, जिस से वे ऊष्मध्वनि के समान बोले जाने लगे। यह स्थिति बहुत काल तक नहीं रही और कुछ समय बाद ही सघोष व्यजन ध्वनियाँ लुप्त होने लगीं।[१०५] इस से द्वितीय अवस्था में बहुत परिवर्तन आ गया। इस परिवर्तन का एक मुख्य कारण उठ खड़ी होने वाली बोलियों का बढ़ता हुआ प्रभाव भी था। वास्तव में, सस्कृत के नाटकों तथा प्राकृतभाषा के साहित्य में भाषा का जो आदर्शरूप मिलता है, उसे हम साहित्यिक प्राकृत के नाम से जानते हैं।

आ० भरतमुनि ने प्राकृत का 'जातिभाषा' अर्थात् जनभाषा के रूप में उल्लेख किया है। उसकी प्रकृति का संकेत करते हुए उन्होंने तीन रूपों का निर्देश किया है: तत्सम, विभ्रष्ट और देशी। उनके अनुसार सस्कारहीन भाषा प्राकृत है और सस्कारयुक्त संस्कृत।[१०६] आ० भरतमुनि, अभिनवगुप्त और लक्ष्मीधर के विचार समान है। प्राकृत जनभाषा थी और नाटक के पात्र लोकबोली में प्रयुक्त होते थे, इसलिए सस्कृत नाटकों का लगभग आधा भाग प्राकृत से युक्त होता है। जिन पात्रों को सस्कृत भाषा के उच्चारण में कठिनाई होती थी तथा जो विशेष पढ़े-लिखे नहीं होते थे, वे संस्कृत की बजाय प्राकृत में ही बोलते थे। दूसरे शब्दों में, प्राकृत को सब समझते थे, किन्तु संस्कृत केवल शिष्टवर्ग तक ही सीमित थी। संस्कृत के नाटकों में शौरसेनी, महाराष्ट्री, आदि प्राकृतों के अतिरिक्त जनबोलियों के रूप में अपभ्रंश के भी पद्य मिलते हैं। आ० भरतमुनि ने उत्तर-पश्चिम की जिस 'उकारबहुला' भाषा का उल्लेख किया है, वह अपभ्रंश के अतिरिक्त अन्य कोई भाषा नहीं है। इसी प्रकार से मध्यदेश की 'ओकारान्त' भाषा का निर्देश किया गया है, जो विशुद्ध प्राकृत थी। प्राकृत के प्रमुख पाँच भेद माने गए हैं—शौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और अर्द्धमागधी। पुरुषोत्तमदेव ने 'प्राकृतानुशासन' में महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी के अतिरिक्त प्राच्या, आवन्ती, शाकारी, चाण्डाली, शाबरी, टाक्की, कैकेय पैशाची और शौरसेनपैशाची का भी स्वरूपनिर्देश किया है। यही नहीं, उन्होंने नागर और व्राचड अपभ्रंश का भी विवेचन किया है।

विष्णु-धर्मोत्तरपुराण मे तो यहाँ तक कह दिया गया है कि प्राकृतलक्षण का विवेचन संक्षेप मे किया गया है, विशेष प्रयोग लोक से जानना चाहिए। देश-देशों मे इन के जो पृथक् विभिन्न रूप मिलते है, उनका वर्णन करना सम्भव नहीं है, इसलिए लोक मे जो अपभ्रंश सज्ञक है, उन्हे देशविदो से समझ लेना चाहिए।[१०७] आ० भरतमुनि ने सात प्रकार की प्राकृतो का उल्लेख किया है :—[१०८] मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, वाल्हीका और दाक्षिणात्या। प्राकृत के सबसे अधिक भेद २७ कहे गए है[१०९] :—

१. व्राचड, २. लाट, ३. वैदर्भ, ४. उपनागर, ५. नागर, ६. बार्बर, ७. अवन्त्य, ८. मागध, ९. पाचाल, १०. टक्क, ११. मालव, १२. कैकेय, १३. गौड, १४. औढ्री, १५ वैवपश्चात्य, १६. पाड्य, १७. कौन्तल, १८. सैहल, १९. कालिंग, २०. प्राच्य, २१. कार्णाट, २२. काच्य, २३. द्राविड, २४. गौर्जर, २५. आभीर, २६. मध्यदेशीय, २७. वैताल।

प्राकृतो मे न तो व्यजनान्त शब्द है और न समासबहुलता। भाषा की वियोग दशा के सूचक चिह्न इन मे परिलक्षित होते है। कृदन्तरूपो का प्रयोग आरम्भ होने लगा था और रूपो मे पहले से बहुत सरलता आ गई थी। द्विवचन और आत्मनेपद का प्रयोग बिलकुल हट गया था। नपुसकलिग के प्रयोग भी दिनोंदिन कम होते गए। षष्ठी और चतुर्थी विभक्ति एक हो गई। वैकल्पिक रूपो की बहुलता होने लगी। अधिकाश तद्भव और देशी शब्दो का ही व्यवहार किया जाने लगा। देशी शब्दो मे द्रविड और आस्ट्रिक एव कुछ ग्रीक, ईरानी, अरबी, आदि शब्द भी प्रयुक्त होने लगे, क्योकि जनबोलियो मे उनका प्रयोग होने लगा था।

अपभ्रंश

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओ की तीसरी अवस्था (६००–१,२०० ई०) अपभ्रश की है। सस्कृत के वैयाकरण सस्कृत से भिन्न शब्दो को अपशब्द तथा भाषा को अपभ्रश कहते है। उन की दृष्टि मे 'प्राकृत' अव्युत्पादित तथा असस्कृत (सस्कार-रहित) भाषा है। इसी प्रकार अपभ्रश संस्कृत या प्राकृत का अपभ्रष्ट रूप है। यहाँ पर यह ध्यान मे रखने योग्य है कि जिस प्रकार किसी भाषा का शून्य मे जन्म नही होता, उसी प्रकार भाषा का यह सामान्य सिद्धान्त है कि कोई भाषा बोली को जन्म नहीं दे सकती। प्राकृतभाषा की प्राचीनतम रचनाओ को देखने से प्रतीत होता है कि प्राकृत युग मे ही बोली के रूप मे अपभ्रश का जन्म हो गया था।[११०] अपभ्रंश प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं की अन्तिम अवस्था का नाम है। कुछ विद्वान् प्राकृतो की अन्तिम अवस्था को ही अपभ्रश नाम देते है, इसी प्रकार कुछ लोग प्राकृत को ही अपभ्रश समझते हैं। यह सच है कि प्राकृतो की प्रायः सभी विशेषताएँ अपभ्रंश में मिलती हैं, पर यह भी सच है कि अपभ्रश प्राकृत से भिन्न है। दोनो की प्रकृति और प्रवृत्तियाँ भिन्न है।

अपभ्रंश प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं तथा नव्य भारतीय आर्यभाषाओं के बीच की कड़ी है, जो नव्य भारतीय आर्यभाषाओं की पुरोगामिनी कही जाती है। यह प्राकृतों की उस अन्तिम अवस्था का विकास है, जिसमें जन-जन की भावनाओं का समवेत स्वर अपने वास्तविक रूप में मुखरित हुआ था।[१११] डॉ० जैन के अनुसार "अपभ्रंश को देशी कहा जा सकता है, पर एक निश्चित सीमा में। नई काव्यभाषा को देशी कहने की प्रथा इस देश मे बहुत पुरानी है। स्वयं पाणिनि ने 'संस्कृत' को लौकिक भाषा कहा है (लोके वेदे च)। संस्कृत नाम उन्होने नही दिया। बाद में, भाषा शब्द संस्कृत के अर्थ में रूढ हो गया, लेकिन जब नई भाषाएँ उठीं तो संस्कृत से भेद बताने के लिए उन्हें प्राकृत नाम दिया गया। प्राकृत के बाद एक और भाषा काव्य का वाहन बनी। दसवी सदी मे पुष्पदन्त ने इसे 'अपभ्रंश' कहा है। स्वयम्भू शायद इसे 'भाषा' कहते थे, उन के 'गामिलभापा' शब्द से तो यही ध्वनि निकलती है।[११२] आ० हेमचन्द्र ने भी 'ग्राम्यभाषा' के रूप में इस का उल्लेख किया है। अतः इन सब को देख-समझ कर यही उचित प्रतीत होता है कि अपभ्रंश एक देशी परम्परा है। इस का जन्म पश्चिमोत्तर प्रदेश की प्राकृत-बोली से हुआ, जो वैदिक काल से उस अचल में जनबोली के रूप में प्रचलित रही है। अपभ्रंश का अधिकतर साहित्य पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा मध्यदेश मे लिखा गया। राजेशखर ने 'काव्यमीमासा' में अपभ्रंश के कवियों का बैठने का स्थान पश्चिम मे बताया है और इसे मारवाड, वर्तमान पूर्वी पंजाब तथा भदावर की भाषा कहा गया है। अतएव अपभ्रंश का प्रसार उत्तर-पश्चिम से मध्यदेश की ओर हुआ होगा। राजशेखर के अनुसार उत्तर में संस्कृत, पूर्व में प्राकृत, पश्चिम में अपभ्रंश और दक्षिण में भूतभाषा का प्रचार था। मध्यदेश मे बहुभाषाविदों तथा कई भाषाओं के जानकार कवियों का निवास था।[११३] गुजरात, पश्चिमी सौराष्ट्र और मारवाड में दसवीं-ग्यारहवी शताब्दी में अपभ्रंश का विशेष प्रचार था।

प्राकृत-काल में ही मध्यगव्यंजनो के लोप की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई थी, जो अपभ्रंशो मे विशेष रूप से लक्षित होने लगी। 'ओकारान्त' की प्रवृत्ति 'ह्रस्वादेश' के कारण 'उकारान्त' हो गई और उत्तरवर्ती काल में 'आकारान्त' रूपो के प्रयोग की ओर भी उन्मुख हो गई। अपभ्रंश में निश्चित रूप से दो ही लिंग रह गए—पुल्लिंग और स्त्रीलिंग। विभक्ति रूपो में बहुत कमी आ गई। द्वितीय, चतुर्थी और षष्ठी विभक्ति लगभग समान हो गई। प्रायः कृदन्त-रूपो का प्रयोग होने लगा। परसर्ग विकासोन्मुख होने लगे और लुप्तविभक्तिक पदो के प्रयोग दिनो दिन अधिक बढ़ने लगे। एक ही शब्द के विविध रूप और प्रयोग लक्षित होने लगे तथा देशी रूपो का प्राधान्य हो गया। आ० भरत-मुनि (तीसरी शताब्दी) से ले कर सोलहवी शताब्दी तक लगातार संस्कृत साहित्य के समालोचक तथा अपभ्रंश के कवि एवं अन्य साहित्यकार 'देशी' का भाषा के रूप में उल्लेख करते रहे हैं। प्राकृत के भी उद्योतनसूरि, पादलिप्तसूरि और कोऊहल, आदि इसे 'देशी' कहते है। इसी परम्परा में विद्यापति ने अपनी भाषा को 'देसिल बअना सबजनमिट्ठा' कहा है। प्राचीन आचार्य और वैयाकरण इस मे एक मत हैं कि संस्कृत

को छोड कर सब भाषाएँ प्राकृत है। इसलिए आज तक महाराष्ट्र मे मराठी को 'देशी' या 'प्राकृत' कहने का चलन है। मराठी के प्रसिद्ध सन्तों ने अपनी भाषा को 'देशी' कहा है।"[४] रामानन्द, एकनाथ, नामदेव, आदि भारतीय सन्तो ने अपनी बानियों की रचना देशी भाषा में की है। कबीरदासजी ने स्पष्ट कहा है—'कबिरा ससकरत कूप जल, भाखा बहता नीर।' गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'भाषा भनिति, गिरा ग्राम्य और भनिति भदेस एव कीन्हे प्राकृत' आदि कह कर इसी ओर सकेत किया है।

श्री एस० एन० घोषाल के अनुसार ग्रियर्सन और अन्य भाषाशास्त्रियों ने अपभ्रश और उस के विभिन्न रूपो को ठेठ बोलियॉ माना है, जिन का जन्म बोलचाल की प्राकृतो से हुआ और जिनका व्याकरणिक रूप तथा सघटन भी प्राकृतिक बोलियो से निर्मित हुआ। उन की अपेक्षा नाटकों की प्राकृत साहित्यिक तथा कुछ कृत्रिम रूप मे मिलती है। अपभ्रश ने साहित्य का स्थान छठी शताब्दी मे प्राप्त किया।"[५] यद्यपि अपभ्रश का साहित्य सत्रहवीं शताब्दी तक लिखा जाता रहा, किन्तु आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक इस का साहित्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं और उन के साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित करता रहा।

अपभ्रश की विभिन्न बोलियो से आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ का जन्म माना जाता है। डॉ० भोलानाथ तिवारी के शब्दो मे आज की आर्यभाषाओ की जननी के रूप मे निम्नाकित अपभ्रश बोलियॉ उल्लेख्य है :—

१. शौरसेनी से पश्चिमी हिन्दी, इसी अपभ्रश के नागर रूप से–राजस्थानी, गुजराती, इसी अपभ्रश के पार्वतीय अचल बोली-रूप से पहाडी, २. पैशाची से लहदा और पजाबी (शौरसेनी से प्रभावापन्न), ३. ब्राचड से सिन्धी, ४. महाराष्ट्री से मराठी, ५. अर्धमागधी से पूर्वी हिन्दी, ६. मागधी से बिहारी, बगाली, उडिया और असमिया।

इस प्रकार अपभ्रश आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ की एक सामान्य भूमिका रही है।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ का जन्म बारहवी शताब्दी के पूर्व किसी भी प्रकार नही हो सकता। क्योंकि बारहवी शताब्दी के पूर्व किसी भी आधुनिक भारतीय आर्यभाषा की रचना नही मिलती। अधिकतर शिलालेख भी बारहवी शताब्दी के और उसके बाद के मिलते है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त रोडा कृत 'राउलवेल' को जो कि धार का शिलालेख है, ग्यारहवी शताब्दी का शिलाकित काव्य मानते है। डॉ० भायाणी इसे अपभ्रशकाव्य कहते है। वास्तव मे यह उत्तरकालिक अपभ्रश है, जो अवहट्ठ के निकट है। सामान्य अपभ्रश होने के कारण डॉ० गुप्त ने नायिका के छहो नखशिख रूप-वर्णन को अवधी, मराठी, पश्चिमी हिन्दी, पजाबी, बगाली और मालवी इन छह बोलियो मे वर्णित माना है। उन का यह भी कथन है कि सम्पूर्ण शिलालेख एक ही बोली मे पुरानी दक्षिणी कोसली मे निबद्ध है। वास्तव में, यह परस्पर विरुद्ध कथन है। तथ्य यही है कि पूरा शिलालेख उत्तरकालिक अपभ्रश मे लिखा गया है, जो आ० भा०

आर्य भाषाओं की सामान्य भूमिका रही है, जिसे गुजराती 'जूनी गुजराती', राजस्थानी या मारवाड़ी 'प्राचीन राजस्थानी', बंगाली, मराठी 'प्राचीन बागला', 'प्राचीन मराठी' और बिहारी, उडिया, असमिया, आदि अपनी प्राचीन भाषा मानते हैं। व्रज और हिन्दी के लोग इसे 'पुरानी हिन्दी' कहते हैं। इसके उदाहरण हैं :—"त्रिप जोइ फवज्जइ बट लिय" (पृथ्वीराजरासो, २११,४), तथा—"मदगध गयंदनि सुक्कि गय" (वही, २८८, ४)। पं० गुलेरी के शब्दों मे "विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी मे परिणत हो गई इस में देशी की प्रधानता है। विभक्ति घिस गई है, खिर गई है, एक ही विभक्ति 'ह' या 'आहं' कई काम देने लगी है। एक कारक की विभक्ति से दूसरे का भी काम चलने लगा है। वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी इसे मिली। विभक्तियो के खिर जाने से कई अव्यय या पद लुप्त विभक्तिक पद के आगे रखे जाने लगे, जो विभक्तियाँ नहीं हैं। क्रियापदो मे मार्जन हुआ।"[१७] इस पुरानी हिन्दी से ही हिन्दी का निकास-विकास हुआ है। कुछ विद्वान् अपभ्रंश और हिन्दी के बीच मे 'अवहट्ठ' को भी बीच की एक अवस्था मानते हैं। किन्तु 'अवहस', अब्भस तथा 'अवहट्ठ' आदि शब्द अपभ्रंश के ही पर्यायवाची है। भाषा-विकास की दृष्टि से भी अवहट्ठ अपभ्रंश की उत्तरकालिक अवस्था है। अपभ्रंश के आदि महाकवि स्वयम्भू ने आर्यदेव की रचना का एक उदाहरण दिया है :—

काइ करउ हउ माए, पिउ ण गणइ लग्गी पाए,
मण्णु धरंतहो जाइ, कढिण उत्तरग भणाइ।

इस की व्रजभाषा से तुलना कीजिए : का करौ हो माइ, पिउ न गणै लागी पाए। राजस्थानी मे तो आज भी बोलते है : पाए लागी, पिउ ण गणै, काइ करउं। इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण है :—

भल्ला हुआ जो मारिआ बहिणि महारा कतु।

खड़ी बोली मे—भला हुआ जो मार्‌या बहिन हमारा कन्त।

इसी प्रकार—ढोल्ला मइ तुह वारिया मा कुरु दीहा माणु।

हिन्दी मे शब्दानुवाद है—ढोला मै तुहु वार्‌या मा कर दीरघ मान।

डॉ० सिंह के शब्दों मे "आ० हेमचन्द्र के अपभ्रंश दोहो की भाषा व्रज के और भी नजदीक मालूम होती है। मार्दव, सक्षेप, लोच और शब्दो के अत्यन्त विकसित रूपो के कारण इस भाषा का स्वरूप प्रायः पुरानी व्रज जैसा ही है। नीचे कुछ चुने हुए वाक्य उद्धृत किए जाते है"[१८] :—

अपभ्रंश	व्रज
१. अंगहि अंग न मिलिउ ४।३३२	१. अंगहि अंग न मिल्यो
२. हउ किन जुत्तउं दुहु दिसहिं ४।३४०	२. हौं किन जुत्यों दुहुं दिसहिं
३. बप्पीहा पिउ-पिउ भणवि किंत्तिउ रुवहि हयास ४।३८२	३. पपीहा पिउ-पिउ भनि कित्ति रुवै हतास

४. जइ ससणेही तो मुवइ जइ जीवइ विन्नेह ४।३६७	४. जो ससनेही तो मुवै जो जीवे विनुनेह
५. वप्पीहा कइ वोल्लिण्ण निग्घिण वारइ वार। सायरि भरिया विमल जल लहइ न एक्कइ धार ॥ ४।३८२	५. पपीहा कै बोलिए निर्घृण बारहि वार। सागर भरियौ विमल जल लहै न एकौ धार ॥
६. साव सलोणी गोरडी नवखी कवि विस गठि	६. साव सलोनी गोरी नोखी विस के गाठि।

इस प्रकार की अनेक अर्द्धालियाँ, पंक्तियाँ, दोहे ब्रजभाषा से मिलते जुलते हैं। अब 'गउलवेल' की टक्की भाषा का नमूना प्रस्तुत है, जिसे डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अपभ्रंश की स्थिति से निकल कर आधुनिक औक्तिक भाषा की स्थिति में माना है।[११]

केहा टेल्लिपुतु तुहु झाखहि। अ.. दु वेहु तुहु आख (हि) ॥
वेहु एक्कु सो एथु वन्निज्जइ। . अक्खंदह ही आ भिज्जइ ॥
अड्डा वेह पाहु जो वद्धा। सोप्पर तेहा गोरी लद्धा ॥
चद सवाणा टीका कियुयइ। जे मुहु एक्केणवि मंडियुयइ ॥

यहाँ पर 'टेल्लिपुतु (त्तु)', तुहुं, एक्कु, वेहु, पाहु, आदि स्पष्ट रूप से अपभ्रंश के शब्द हैं। इसी प्रकार वन्निज्जइ, भिज्जइ, कियुयइ (किजइ) और मंडियुयइ, आदि अपभ्रंश के क्रिया पद हैं। यहाँ तक कि 'कुतुबशतक' की भाषा जो कि उर्दूनिष्ठ है अपभ्रंश के निकट है :

जउ जोरा तउ तुज्झ ही जउ गोरा तउ तुज्झ।
एह करदा मुज्झ हइ अउर करदा बुज्झ ॥ ३७ ॥
साहिब सो सुरत्तियों हूं (हउं) मालन इहि कम्म।
जिउ किउ दक्खावल्लियों जाणि विलग्गइ अब ॥ ९ ॥

वस्तुतः उक्त भाषा अपभ्रंशनिष्ट हिन्दुस्तानी है। पढने के साथ ही बोल-चाल के भाषा रूप स्पष्ट हो जाते है। वास्तव मे, भाषा का यह प्रवाह परम्परागत है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि हिन्दी का जन्म किसी विदेशी भाषा से न हो कर लोकबोली अपभ्रंश से हुआ है, जो पश्चिमोत्तर प्रदेश की तथा मध्यप्रदेश की जनता मे प्रचलित रही है। केवल हिन्दी की प्रवृत्ति पर ही नही, प्रकृति पर भी अपभ्रंश का अत्यन्त प्रभाव परिलक्षित होता है। हिन्दी की आकारान्त प्रवृत्ति तो अपभ्रंश से रिक्थ रूप मे मिली है। वैसे पुरानी रचनाओ मे उकारान्त प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। किन्तु हिन्दी भाषा और उस के क्षेत्र का सीधा सम्बन्ध 'उकारबहुला' अपभ्रंश से रहा है। श्री 'फिराक' गोरखपुरी का यह कथन उचित ही है कि यद्यपि भाषाशास्त्र की दृष्टि से उर्दू का आधार पश्चिमी उत्तरप्रदेश तथा पूर्वी पंजाब के हरियाना प्रदेश की प्राचीन भाषा शौरसेनी प्राकृत है और यद्यपि उर्दूसाहित्य का मुख्य विकास उत्तरभारत में ही हुआ, तथापि इस भाषा मे साहित्य-सर्जन के पहले नमूने हमे लगभग एक हजार मील दूर दक्षिण मे मिलते

हैं।[१०] जो लोग यह कहते हैं कि संस्कृत से हिन्दी का जन्म हुआ है, वे भूल जाते हैं कि हिन्दी में तत्सम शब्दों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति उस समय आई, जब उर्दू को कचहरी की तथा राजकीय भाषा बनाने के प्रयत्न चल रहे थे। बारहवीं शताब्दी के बाद लगभग छह सौ वर्षों तक हिन्दी-भाषी जनता पर तुर्क, अफगान तथा मुगलों का शासन रहा। अतः इस समय सैकड़ों विदेशी शब्द ग्राम्य बोलियों तक में घुस आए। तुलसी और सूर जैसे वैष्णव महाकवियों की विशुद्ध हिन्दी भी विदेशी शब्दों के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकी। हिन्दी में प्रचलित विदेशी शब्दों में सब से अधिक संख्या फारसी शब्दों की है, क्योंकि समस्त मुसलमान शासकों ने, चाहे वे किसी भी नसल के क्यों न हो, फारसी को ही दरबारी तथा साहित्यिक भाषा की तरह अपना रखा था। अरबी, तुर्की तथा पश्तो के शब्द फारसी के द्वारा ही हिन्दी में आए है।[११] 'उर्दू' जो कि तुर्की शब्द है और जिसका अर्थ 'बाजारू भाषा' है, उस के सर्वोत्तम कोश 'फरहगे आसफिया' के पचपन हजार के लगभग शब्दों में से उसी कोशकार के प्रयास से बत्तीस हजार के लगभग शुद्ध हिन्दी हैं, जो तद्भव और अर्द्धतत्सम के रूप में हैं। राजा शिवप्रसाद 'सितारे-हिन्द' के समय में कचहरियों में फारसी के स्थान पर उर्दू आ गई थी, और लिपि तथा भाषा का प्रश्न बुरी तरह से उलझ गया था। ऐसे समय में राजा शिवप्रसाद ने मिश्रित हिन्दी को अपनाया, जिसमे उर्दू-फारसी शब्दों की बहुलता है। उदाहरण के लिए—

"अब इस नई जबान को अर्थात् उस प्राकृत को जिस में फारसी और अरबी मिली, हिन्दी कहो चाहे हिन्दुस्तानी भाखा कहो, चाहे ब्रज भाखा, रेखता कहो, चाहे खरी बोली उर्दू कहो चाहे उर्दूइमुअल्ला उस के बीज तभी से बोए गए जबकि महमूद गजनवी ने चढ़ाई की और मुसलमानों की इस मुल्क पर तवज्जुह हुई आठ सौ बरस से जियादा गुजरते है।" किन्तु राजा लक्ष्मण सिंह संस्कृतनिष्ठ शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे। 'शकुन्तला नाटक' के हिन्दी अनुवाद में उन की भाषा का नमूना देखिए—

"हे देव, बुढ़ापा भी मनुष्य को कैसी आपदा है। इस अवस्था में मनुष्य की बुद्धि बुझते दीपक के समान मन्द कभी चैतन्य हो जाती है। (इधर-उधर फिर कर देख कर) महाराज वह बैठे हैं, अभी अपनी प्रजा का सन्तान के सदृश समाधान करके एकान्त में गये हैं; जैसे गजराज दिन में सब हाथियों को इधर-उधर भेज कर आप शीतल छाह में विश्राम लेने जाता है।"

हिन्दी भाषा का विकास राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा की आदर्श लीक पर हुआ है। न तो इस में राजा शिवप्रसाद की चलती भाषा का प्रवाह है और न भारतेंदु हरिश्चन्द्र की भाषा की भाँति पत्रकारिता की स्वीकृत पद्धति, वरन् एक मिला-जुला रूप है, जिस में आदर्श और शुद्ध हिन्दी कहने का अर्थ संस्कृत तथा तत्सम शब्दों की भरती है।

किसी भी भाषा का विकास जानने के लिए उस के सर्वनाम और क्रियापदों का अध्ययन विशेष रूप से किया जाना चाहिए; क्योंकि प्रत्येक भाषा में अन्य भाषाओं

के अनेक शब्द मिलते है । तरह-तरह की भाषाओं के शब्दों को रचा-पचा कर अपना बना लेना, यह सजीव भाषा का गुण माना जाता है । इस दृष्टि से हिन्दी मे विश्व की सभी प्रमुख भाषाओ के शब्द किसी न किसी रूप मे मिलते है । जब भाषा का सब कुछ बदलने लगता है, तब सर्वनामो पर प्रभाव पडता है । हिन्दी के सर्वनामो का सम्बन्ध आज भी अपभ्रश से सरलता से जोड़ा जा सकता है । हिन्दी के सर्वनाम हैं :—

मैं, तुम, तू , हम, हमारा, मुझ, तुझ, यह, वह, जो, सो, कौन, क्या, कोई, अपना, आप, इत्यादि । अपभ्रश और हिन्दी दोनों मे 'मै' का प्रयोग कर्मणिवाच्य मे होता है । अपभ्रश मे 'मइं' मै के लिए और 'तइं' तू , या तैं के लिए प्रयुक्त होता है । इसी प्रकार 'अम्ह' हम के लिए और 'अम्हार' हमारे अर्थ मे आता है । 'मुज्झ' और 'तुज्झ' मुझ, तुझ के लिए और 'एह', 'ओह', यह, वह तथा 'एइ', 'ओइ' यही, वही, वो के लिए प्रयुक्त देखे जाते है । जु, जो, सु, सो, काइ, कउणु, कवणु, अप्पणु, आदि अपभ्रश के सर्वनामिक रूपो से ही हिन्दी के सर्वनामो का विकास हुआ है । इन का सस्कृत से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है । 'कुतबशतक' में अपभ्रश भाषा के जउ, तउ, तुज्झ, मुज्झ, बुज्झ, जग्ग, कग्ग, दिट्ठ, पिट्ठ, निट्ठ, समट्ठ, बुट्ठ, अब्भ, भज्ज, भग्ग, भम्म, थल्ल, हल्ल, लल्ल, दम्म, जिण, कुण, रुन्न, लिन्न, मंझ, सझ, तत्त, रत्त, नयण, मयण, सट्ठि, लट्ठि, नट्ठ, पक्क, लोअ, आदि शब्द ही नही, वरन् रुलंति, भखंति, चुणति, विलग्गइ, उप्परि, लीणी, न जाणइ, अखत पढावउ, घरि घरि लग्गी लाइ, आदि कृदन्त रूप तथा क्रियापद भी परिलक्षित होते हैं । अतएव यह निश्चित है कि हिन्दी का विकास संस्कृत से न हो कर अपभ्रंश से हुआ है ।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ मे परसर्गों का विकास स्पष्ट रूप से प्राकृत तथा अपभ्रश के प्रत्ययों से हुआ है । सम्बन्धकारक मे अपभ्रश मे बप्पहो, बप्पकेरको, ये दो रूप बनते हैं । केर की भॉति तण प्रत्यय भी अपभ्रश मे व्यापक रहा है । अवधी तथा छत्तीसगढी भाषा मे आज भी इन प्रत्ययों से निर्मित बहुत से शब्दों का प्रचलन है । गुजराती मे 'तणा' प्रत्यय का प्रयोग होता है । श्री किशोरीदास वाजपेयी बगला के 'एर' प्रत्यय से इस का विकास मानते है । किन्तु बगला के कई प्रत्यय तथा सर्वनामों का विकास अपभ्रश से माना जा सकता है । अपभ्रश मे 'डार' प्रत्यय के सयुक्त होने पर अम्हार, तुम्हार, आदि रूप बनते है । बगला का आमार, गुजराती का म्हेर, राजस्थानी का म्हारा, आदि रूप अपभ्रश के प्रत्ययों से विकसित हुए हैं ।[१२] अवधी मे 'कर' भोजपुरी, मगही और मैथिली में 'क', असमिया मे 'र' और छत्तीसगढ़ी मे 'के' एव कर तथा राजस्थानी मे 'रा' को अपभ्रश के 'केर' के 'र' का अश माना जा सकता है । रामचरितमानस, पदमावत और कबीर की रचनाओं में स्पष्ट रूप से केर या केरा प्रत्यय का प्रयोग मिलता है ।'[१३] इसी प्रकार हिन्दी के भाववाचक 'पन' प्रत्यय का विकास अपभ्रंश के 'प्पणु' प्रत्यय से हुआ है । राजस्थानी और डिंगल मे यह 'पण' मिलता है । इसी तरह से क्रियार्थक क्रिया 'कर' का विकास अपभ्रंश के 'इ' के रूप में

रामचरितमानस में लक्षित होता है; जैसे : 'कहिहउं देखि प्रीति अति तोरी।' यहाँ पर 'देखि' का अर्थ देख कर है। 'स्वारथ लागि करहिं सबप्रीति' इस में 'लागि' परसर्ग के लिए अर्थ मे प्रयुक्त है, जो अपभ्रंश के 'लग्गि' से विकसित हुआ है। इसी प्रकार प्राकृत-अपभ्रंश के 'इल्ल, उल्ल' प्रत्ययो से हिन्दी में 'वाला' प्रत्यय प्रचलित हुआ है। अपभ्रंश के स्वार्थिक प्रत्यय 'अ, ड और उल्ल' से हिन्दी के 'आ' (साजना, बलमा, मोहना आदि), 'डा' (मुखड़ा, दुखड़ा), 'रा' (हियरा, जियरा, पपीहरा), 'ला' (चूड़ला, घुड़ला, गदेला) और 'टा' (छिनट्टा, चोट्टा, चिरौंटा, बहूटी), आदि का विकास हुआ है। हिन्दी की सहायक क्रिया 'है' का विकास भी अपभ्रंश के 'हइ' से हुआ है। 'कुतबशतक' में : "साहिजादा हसता हइ। पग देखि देखि उलसता हइ। साहिजादइ दीनी हइ।" मे 'हइ' का प्रयोग मिलता है। मारवाड़ी में आज भी 'हुवइ' 'हुअइ', 'हुइ', आदि प्रयोग प्रचलित हैं। ब्रज मे 'हुवे', कन्नौजी में 'हैगो', बुन्देली में 'हओ' हअ, वैसवाडी मे 'आहि', मगही मे 'हइ' और छत्तीसगढी मे 'हवे' मिलता है। पश्चिमी अवधी और बघेली मे इसका शुद्ध रूप 'है' ही है। आबू सिरोही क्षेत्र की भाषा में भी 'है' प्रयोग चलता है। रामचरितमानस मे तुलसीदास ने 'अहै' का प्रयोग किया है। इसी प्रकार अपभ्रंश के 'थिय' से हिन्दी का 'था' विकसित हुआ है। हिन्दी-क्रिया-रूपो के विकास मे पुरानी हिन्दी के क्रियारूपों का पर्याप्त योगदान है। अपभ्रंश-काल से ही कृदन्तो के योग से क्रियाविर्भाव की पद्धति चली आ रही है। परन्तु, वास्तव में, इस प्रवृत्ति का पूर्ण विकास पुरानी हिन्दी से ही दिखाई देता है। इसी के प्रभावस्वरूप आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ मे सयुक्त क्रियाओं का महत्त्वपूर्ण प्रयोग देखा जाता है।[१४] इतना ही नहीं, सस्कृत मे क्रियाओं में लिंग-भेद नहीं है; किन्तु हिन्दी मे है। अपभ्रंश से ही यह हिन्दी मे आया है। एक उदाहरण देखिए :—

पाइ विलग्गी अतडी सिरु ल्हसिउ खंधस्सु।
तथा—पहिया दिट्ठी गोरडी दिट्ठी मग्गु निअत।
चलेहि वलतेहि लोअणेहिं जे तइँ दिट्ठा बालि।

इसी प्रकार लग्गा, लग्गी, बइट्ठा, बइट्ठी, चल्ला, चल्लिय, चल्ली, थक्का, थक्की, थक्कइ, आदि क्रिया-रूपो मे लिंग-भेद की विकासोन्मुख प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। अतएव सभी दृष्टियों से पुरानी हिन्दी से वर्तमान हिन्दी का विकास मानना उचित और प्रामाणिक सिद्ध होता है। केवल हिन्दी के ही नहीं, गुजराती, मराठी, आदि भारतीय आर्यभषाओं के ठेठ या देशी शब्द अपभ्रंश-परम्परा के हैं।[१५] पुरानी और आधुनिक हिन्दी में यह भेद स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

हिन्दी भाषा की संवैधानिक स्थिति

इस देश की सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी को प्रतिष्ठित करने के प्रयत्न लगभग पचास वर्षों से चल रहे हैं। सन् १९२० में भारत की स्वतन्त्रता का संग्राम आरंभ हुआ था। उस समय देश के बड़े-बड़े नेता, शिक्षाशास्त्री और भाषावैज्ञानिक राष्ट्रभाषा के

रूप मे हिन्दी के महत्त्व का प्रतिपादन कर चुके थे। स्वय राष्ट्रपिता स्व० महात्मागाधी जिस प्रकार देश की स्वतन्त्रता के लिए सकल्प ले चुके थे, उसी प्रकार राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को अगीकार कर चुके थे। काका कालेलकर के शब्दो मे "अब गाधी जी ने मुझे राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार का कार्य सौंप दिया। मेरा क्षेत्र एकदम विशाल हो गया। हिन्दी को हम ने इसलिए पसद किया कि उस मे भारत की सब भाषाओ का समन्वय करने की शक्ति है। आज जिसे हम भावात्मकएकता कहते है, और जिसे मै सास्कृतिक समन्वय (Cultural integration) कहता हूँ, उस की शक्ति सन्तो के आशीर्वाद से हिन्दी मे है। यह देख कर उसी हिन्दी का भारत की राष्ट्रभाषा के तौर पर प्रचार करने का काम गाधी जी ने शुरू किया।"[१९] भारत मे ब्रिटिश-शासन स्थापित होने के अनन्तर अग्रेजो ने एक सम्पर्क भाषा बनाने के लिए कई बार विचार किया था। परिणामस्वरूप मिशनरी केन्द्रो की स्थापना और फोर्ट विलियम कॉलेज की सस्थापना की गई। बाद मे आर्यसमाजियो ने हिन्दी भाषा के प्रसार के लिए बहुत कार्य किया। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, माधवराव सप्रे, श्री पुरुषोत्तमदास टडन और सेठ गोविन्ददास, आदि ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए अग्रसर हो कर कार्य किया। १६ मार्च, १९२७ को 'कौंसिल ऑव स्टेट' मे सेठ गोविन्ददासजी ने माँग की कि भारतीय विधान-मडल मे हिन्दी या उर्दू मे भी भाषण करने की अनुमति मिलनी चाहिए।[२०] इसी प्रकार देश के स्वतन्त्र हो जाने पर सेठ जी की माँग थी कि सविधान मूल मे राष्ट्रभाषा मे बने, क्योकि बिना राष्ट्रभाषा के कोई देश राष्ट्र नही हो सकता। राष्ट्र की अपनी मातृभाषा होनी चाहिए। यही विचार कर देश की सविधान परिषद् ने १४ सितम्बर, १९४९ को हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप मे और देवनागरीलिपि को राष्ट्रलिपि के रूप मे स्वीकृति दे दी। किन्तु सविधान सभा से अभी तक राजभाषा-विधेयक स्वीकृत नही हो पाया था। यह कार्य २६ जनवरी, १९६५ को संविधान के अनुच्छेद ३४३ के अधीन हिन्दी सघ को राजभाषा बना देने से पूर्ण हो गया। इस से सरकारी कार्यालयो मे हिन्दी के प्रयोग की रुचि और प्रेम उत्पन्न हो गया है। इस देश की लगभग ५५ करोड जनता में से २३ करोड लोग हिन्दीभाषी है। इस प्रकार ससार मे हिन्दी भाषियो का तीसरा स्थान है। आज तो अनेक देशो मे हिन्दीभाषी लोग रहते है और विभिन्न देशो मे हिन्दी मे शिक्षण दिया जाता है। विश्व के लगभग सभी बडे देशो मे हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन-कार्य चल रहे है। देश मे राजभाषा के रूप मे सवैधानिक मान्यता मिल जाने पर हिन्दी के व्यापक प्रचार, शिक्षण एव प्रसार के लिए केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की स्थापना हो चुकी है। इस के अन्तर्गत 'भाषा' पत्रिका के प्रकाशन से ले कर हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली एव शब्दकोश, महत्त्वपूर्ण अग्रेजी पुस्तकों के प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद, हिन्दी टाइप-राइटर और टेलिप्रिन्टरों का निर्माण, प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना और विचार-गोष्ठियों, आदि कई प्रकार के महत्त्वपूर्ण कार्य किए जा चुके है और अब भी किए जा रहे हैं। शिक्षा तथा समाजकल्याण मन्त्रालय, भारत सरकार के अधीनस्थ केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली

आयोग, दिल्ली और केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा हिन्दी के बहुविध विकास में सलग्न हैं। निदेशालय और आयोग के तत्वावधान में विज्ञान और प्रौद्योगिकी, मानविकी और समाज-विज्ञान, भैषजिकी एव आयुर्विज्ञान, तकनीकी, कृषि आदि विषयों तथा प्रशासन की अखिल भारतीय पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण-कार्य पूरा हो चुका है। सम्प्रति पारिभाषिक शब्दकोशो एवं समाज-विज्ञान के विश्वकोश पर कार्य हो रहा है। भारत के सविधान के अनुच्छेद ३५१ मे स्पष्ट रूप से हिन्दी भाषा के विकास के लिए निदेश है :—

"केन्द्रीय सरकार का यह कर्तव्य होगा कि वह हिन्दी भाषा के विकास को इस प्रकार उन्नत बनाए कि वह भारत की मिश्रित संस्कृति के समस्त तत्वों की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप मे उपयोग मे लाए जाने के लिए विकसित हो सके तथा हिन्दुस्तानी और अष्टम अनुसूची मे उल्लिखित भारत की अन्य भाषाओं मे प्रयुक्त अभिव्यक्तियों को रूप और शैली मे हस्तक्षेप किए बिना आत्मसात् करते हुए और अपनी शब्दावली के लिए जहाँ आवश्यक अथवा अपेक्षित हो, प्राथमिक रूप मे सस्कृत तथा गौण रूप मे अन्य भाषाओं से शब्द ले कर उसे सम्पन्न बनाए।"

हिन्दी : राष्ट्रभाषा के रूप में

एक भाषाशास्त्री की दृष्टि मे हिन्दी में राष्ट्रभाषा के गुण अन्तर्निहित हैं। हिन्दी की सब से बडी विशेषता सरलता और व्यंजकता है। इस के अतिरिक्त हिन्दी के पास सर्जनात्मक शक्ति भी पर्याप्त है। नए-नए शब्दों की रचना मे हिन्दी विश्व की किसी भी भाषा से पीछे नही है। आवश्यकता है, ठीक मे भावों को व्यजित करने के लिए उचित शब्दो के प्रयोग की। हिन्दी के स्वाभाविक विकास के लिए यह उचित ही नहीं, आवश्यक भी समझा जाता है कि क्षेत्रीय बोलियों से यथेष्ट शब्दो को ग्रहण कर यह अपनी सम्पत्ति अर्जित कर सकती है। हिन्दी भाषा में सस्कृत-शब्दो का ग्रहण उपयोगी और लाभदायक है, किन्तु हिन्दी भाषा को सर्वथा सस्कृत ही बना देना लाभदायक नहीं है। इसी प्रकार सस्कृत शब्दो की भरमार से त्रस्त-त्रस्त भाषा की प्रतिक्रियास्वरूप हिन्दुस्तानी को चलाते रहना भी उचित नही है। सामान्य रूप से हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुसार जैसी उस की ग्रहणशीलता और प्रवृत्ति है, उस के अनुसार ही इस भाषा का अधिक से अधिक प्रयोग होना चाहिए। महामहोपाध्याय श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए हिन्दी मे अप्रसिद्ध शब्दों और जटिल समासो के नमूने प्रस्तुत करते हुए कहा था कि आवश्यकतानुसार हिन्दी मे सस्कृत शब्दो का ग्रहण होना चाहिए, इसे सर्वथा संस्कृत ही बना देना लाभदायक नहीं है। उदाहरण के लिए[१८]—स्वलक्ष्यशैलशृंग, अनल्पकल्पकल्पना, जलप्रशान्तरेणुकामयमार्ग, सहानुभूतिजनित हृदयममता, शुभ्रागिनि सुपवना, सुजला सुकूला, सत्पुष्पसौरभवती, गिरिशृंगस्पर्शिनी, इत्यादि।

यथार्थ में, देश की भावात्मक एकता के सम्बन्ध में सन्देह नही होना चाहिए।

भावात्मक एकता से हमारा अभिप्राय विभिन्न मतों और जातियों की भिन्न-भिन्न विचारधारा में समन्वय और एकात्मकता से है। भाषा के सम्बन्ध में भी यही सजीवता हो सकती है। जिस प्रकार भाषा की चेतना उस की अभिव्यक्ति में निहित है, उसी प्रकार राष्ट्र की चेतना राष्ट्रभाषा में स्पन्दित होती है। अतएव हमें इस बात पर ध्यान दिए बिना कि कहाँ की भाषा (उत्तर या दक्षिण, पूरब या पश्चिम की भाषा) राष्ट्र-भाषा है, उस के प्रति यथार्थ अनुराग रख कर सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना को स्फुरित करना चाहिए। कबीर के ही शब्दों में—

का भाखा का ससकिरत, प्रेम चाहिए साँच।

हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाएँ

हिन्दी के राष्ट्रभाषा बन जाने के कारण उस का क्षेत्र व्यापक हो गया है। आज वह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का स्वरूप ग्रहण करने लगी है। प्रायः दक्षिणभारत के लोग यह समझते है कि हिन्दी को संस्कृत के माध्यम से सरलता से सीखा जा सकता है, किन्तु यह केवल भ्रम है। हिन्दी के केवल कुछ शब्द ही नही, कई ऐसे नियम है, जिन का सम्बन्ध संस्कृत से नहीं है। संस्कृत के तत्सम शब्दों को ग्रहण करने की हिन्दी की प्रवृत्ति का इतिहास वास्तव में हिन्दी-भाषा-आन्दोलन से सम्बद्ध है, इसलिए वह आधुनिक युग की देन है। वर्तमान स्थिति को देखते हुए हिन्दी की प्रगति और विकास के लिए यह उचित और न्यायसंगत प्रतीत होता है कि हिन्दी को अन्य प्रान्तीय भाषाओं से भी बहुत कुछ ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि यह हिन्दी की एक परम्परा रही है। डॉ० राजनारायण मौर्य के शब्दों में "सम्पूर्ण महाराष्ट्र में हिन्दी के तीन रूप मिलते है—नागपुरी हिन्दी, दक्खिनी हिन्दी और शिष्ट हिन्दी। हिन्दी की प्रकृति को ध्यान में रख कर यदि मराठी से कुछ लिया जा सकता है, तो केवल शब्द-भण्डार।"[१९] प्रो० ना० नागप्पा के अनुसार कन्नड में मुहावरों और लोकोक्तियों की सशक्त परम्परा है, जिसे हिन्दी में ग्रहण किया जा सकता है। कन्नड़ में ही नहीं, कश्मीरी, बंगला, मलयालम और गुजराती, आदि में सांस्कृतिक विशिष्टता के ऐसे अनेक शब्द, मुहावरे और लोकोक्तियाँ है, जिन्हें हिन्दी में ग्रहण किया जा सकता है। डॉ० भवानीदत्त उप्रेती के शब्दों में "पहाड़ी भाषाओं में अनेक ऐसी शब्दावलियाँ और अभिव्यक्तियाँ है जो हिन्दी में नही पाई जाती, अतः उन्हें लिया जा सकता है। हिन्दी और कश्मीरी में कुछ समान शब्दावली भी है, जिस में थोडा-बहुत उच्चारण में अन्तर भी है, लेकिन अपनी प्रकृति के अनुसार उस का समान रूप से उपयोग किया जा सकता है।"[११०] हिन्दी के विकास में तेलुगु बहुत सहायक हो सकती है। कहा जाता है कि जितना अधिक लचीलापन तेलुगु भाषा में है, उतना अन्य किसी भाषा मे नहीं है। डॉ० तेजनारायण लाल के अनुसार अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व दोनों भाषाओं में समान है। उपसर्ग, परसर्ग तथा प्रत्यय लगाने की प्रकृति भी हिन्दी और तेलुगु में समान है। इतना ही नहीं, कई ठेठ तेलुगु शब्द दक्खिनी हिन्दी में अपनाए जा चुके हैं। हिन्दी और तेलुगु में बहुत अधिक

समानताएँ भी हैं।[121] प्राकृत और पालि के माध्यम से भी हिन्दी और तेलुगु में गहरा सम्बन्ध है। अतएव हिन्दी को अपनी प्रकृति के अनुसार आवश्यकता पड़ने पर संस्कृत तथा क्षेत्रीय भाषाओं से भी शब्दादि को ग्रहण करना चाहिए।

लिपि और भाषा

लिपि भाषा का मूर्त रूप है। भाषा मौखिक है और उस का लिखित रूप लिपि है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस वैज्ञानिक युग मे भी अमेरिका, अफ्रीका, आदि कई देशो की सहस्रो भाषाओं को अभी तक लिखित रूप नही मिल सका है। यद्यपि भाषाशास्त्र मे ससार की प्रत्येक भाषा के ध्वन्यात्मक रूप को लिपि मे अंकित किया जा सकता है, किन्तु स्वतन्त्र भाषा की ध्वनियों की अकनव्यवस्था के रूप में वर्णमाला की अनिवार्य रूप से आवश्यकता होती है। विगत दो-तीन दशकों मे अनेक अलिखित भाषाओं को लिखित रूप देने के लिए भाषा विशेष की ध्वनियो के अनुरूप वर्णमाला निर्मित करने की विधि का प्रचलन किया गया है, जिस से उस का ध्वन्यात्मक तथा स्वनिमात्मक प्रतिलेखन किया जा सके। क्योकि वर्णमाला ही एक ऐसी प्राचीनतम पद्धति है, जिस से ध्वनियो को साकेतिक चिह्नो मे लिपिबद्ध किया जा सकता है। इन साकेतिक चिह्नो की अकन-पद्धति को ही 'लिपि' के नाम से अभिहित किया जाता है। डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया के शब्दों मे "यदि वर्णमाला किसी भाषा मे प्रयुक्त ध्वनियो की वैज्ञानिक व्यवस्था है, तो लिपि उस वर्णमाला को दृश्य साकेतिक चिह्नो मे परिवर्तित करने की विधि मात्र है।"[122] वर्णमाला और लिपि मे अन्तर यह है कि वर्णमाला ध्वनियो की साकेतिक चिह्नात्मक पद्धति है और लिपि उन साकेतिक चिह्नो के अकन की विधि है। अतएव लिपि को दृश्यभाषा भी कहा जाता है। लिपि चक्षुग्राही है और भाषा श्रोत्रग्राही। भाषा उच्चरित एव मौखिक है और लिपि अकित एवं दृश्य है। दूसरे शब्दों मे, भाषा को अकित एव स्थायित्व देने की विधि को लिपि कहा जा सकता है। जिस प्रकार भाषा एक प्रतीकात्मक पद्धति है उसी प्रकार लिपि भी एक प्रतीकात्मक पद्धति है। दोनों मे अन्तर केवल इतना है, कि भाषा श्रोतृग्राह्य प्रतीकों की पद्धति है और लिपि चक्षुग्राह्य प्रतीकों की पद्धति है। भावों को सुरक्षित बनाए रखने के लिए मुख्य रूप से लिपि का प्रयोग किया जाता है। लिपि का कार्य है—भाषा के ध्वन्यात्मक रूप को साकेतिक चिह्नो मे अकित करना।

मनुष्य मे अमर होने की भावना अदम्य है। प्राणी मात्र का व्यक्त रूप भाषा है। मनुष्य के मन में जब अपने व्यक्त रूप को चिरस्थायी बनाने की प्रबल आकाक्षा उत्पन्न हुई होगी, तभी लिपि का जन्म हुआ होगा; भले ही लिपि का प्रचलन लेख के रूप मे बहुत बाद मे हुआ हो। क्योकि भाषा और लिपि दोनो का मुख्य उद्देश्य भावों की अभिव्यक्ति करना है। लिपि का सर्वप्रथम प्रयोग सम्भवतः घटनाओं और तथ्यों के चित्रात्मक अकन के रूप मे किया जाता था। विश्व के कई देशों मे और भारत मे भी पाषाण-युग के विभिन्न भित्ति-चित्र गुफाओं मे अंकित मिलते हैं, जो प्रतीक-चित्र

हैं। मुख्य रूप से लिपि के विकास की चार अवस्थाएँ मानी जाती हैं : प्रतीकलिपि, चित्रलिपि, भावलिपि और ध्वनिलिपि।

प्रतीकलिपि

भाषा का लिपि के साथ गहरा सम्बन्ध है। वाणी को प्रत्यक्ष रूप से हृदयगम करने के लिए लिपि का जन्म हुआ। अत्यन्त प्राचीन काल मे भाषा और लिपि अपनी मूल अवस्था में थे। इसलिए उन में सक्षिप्तता विशेष रूप से विद्यमान थी। केवल भारतवर्ष मे ही नहीं, विश्व के विभिन्न देशो मे प्रतीको के माध्यम से सन्देश भेजने की रीति प्रचलित थी।[११३] युद्धस्थल मे युद्ध के पूर्व तीर भेजना, बहनो का रक्षा-बन्धनसूत्र भेजना, विवाह के पूर्व लग्न-पत्रिका के साथ पीले चावल भेजना, विवाह मे हल्दी की गाँठ बाँधना, आदि सामाजिक कार्यों मे आज भी प्रतीको के द्वारा भाषागत अभिप्रायो का बोध होता है।

चित्रलिपि

चीनी विशेष रूप से प्रतीकात्मक चित्रलिपि है। सामान्य रूप से यह मान लिया गया है कि लेखन-पद्धति का विकास चित्रात्मक चिह्नों से हुआ है।[११४] वास्तव मे, यह वस्तु के चित्राकन की विधि है। इसी के विकास-चिह्न हमे रज्जु या ग्रन्थलिपि, रेखालिपि, भाव-प्रकाशनलिपि, ध्वनिप्रकाशक चित्रलिपि और व्यजनमूलक लिपि मे देखने को मिलते है। प्राचीन जैन हस्तलिखित ग्रन्थो मे लेखक यदि तेली है तो अपना नाम, गोत्र न लिख कर कोल्हू का बैल चित्रित कर के अपने आप को व्यक्त करता था। इस प्रकार अपने-अपने कार्यों के द्वारा चित्र रूप मे अपने आप को अभिव्यजित करने की पद्धति अत्यन्त प्राचीन है। इस प्रकार के चित्र शिलाओ, वृक्ष की छालों, जीव-जन्तुओ के चर्मो, हड्डियों, सीगो और दाँतो, आदि अनेक वस्तुओ पर चित्रित उपलब्ध होते हैं। ये चित्र कैलिफोर्निया की घाटियो, स्काटलैण्ड की शिलाओ, ओहियो रियासत की वृक्षछालों, लैपलैण्ड मे ढोलो और ओवर्न (फ्रान्स) मे सीगो पर उत्कीर्ण आज भी मिलते हैं। एक सम्पूर्ण घटना-चक्र को चित्रो के रूप मे प्रकाशित करने की प्रथा अमेरिका के आदिवासियो मे प्रचलित थी। भिन्न-भिन्न वस्तु के लिए भाव-बोधन के चित्र-सकेत (Ideograph) मैक्सिको तथा मिस्र के आदिवासियो मे भी प्रचलित थे।"[११५] इस प्रकार यह प्रत्येक देश मे विभिन्न वस्तुओ पर अकित चित्रों के रूप मे प्राप्त होती है। चित्र-लिपि लेखन-कला का प्राथमिक रूप माना जाता है। वर्ण-माला का विकास लेखन चित्रो से हुआ है।[११६] प्राचीन युग के मानव ने इस का सर्वप्रथम प्रयोग किया था और यह लिपि मिस्र, मैसोपोतामिया, फोनेशिया, क्रीट, स्पेन, दक्षिणीफ्रान्स तथा अन्य देशो मे भी उपलब्ध होती है। मध्य-अफ्रीका, उत्तरी-अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया के प्राचीन मानव ने भी इस लिपि का उपयोग किया था। विभिन्न देशो मे भोजपत्र, काष्ठपट्टिका, मृग तथा अन्य पशुओं के चर्म, अस्थि, हाथीदाँत एवं समतल चट्टानो पर चित्रलिपि के नमूने उपलब्ध हुए हैं।[११७]

भावलिपि

विशिष्ट भावों के बोधन के लिए जिन चित्रात्मक सकेतों का उपयोग लिखित रूप मे किया जाता है, सामान्यतः उसे भावलिपि कहते हैं। चित्रलिपि एक अनुकृति है; किन्तु भावलिपि में चित्र वस्तुओं के प्रतिनिधि नही होते। वे केवल विशिष्ट अर्थ या भावो के द्योतक होते हैं। उदाहरण के लिए, सूरज का गोलाकार चित्र केवल प्रकाश या ऊष्मा के लिए ही नहीं, वरन् उदय-काल, दिन तथा देवता का भी द्योतन करता है।

ध्वनिलिपि

वर्तमान युग की अधिकतर उन्नत लिपियॉ ध्वन्यात्मक हैं। इन मे चिह्न वस्तु या भावो को प्रकट न कर ध्वनियो को व्यक्त करते है; उदाहरण के लिए--'कमल' शब्द मे छह ध्वनियाँ हैं। इन ध्वनियो की लिपि को ही वर्णमाला कहते हैं। इस प्रकार ध्वनि-लिपि के दो भेद हैं: (१) अक्षरात्मक (Syllabic) और (२) वर्णात्मक (Alphabetic)। अक्षर के तीन भेद कहे जाते हैं—सज्ञाक्षर, व्यजनाक्षर और लब्ध्यक्षर। विभिन्न लिपियों के लिखने मे जो प्रयुक्त होते हैं, उन्हें 'संज्ञाक्षर' कहते है। 'अ' से ले कर 'ह' वर्ण पर्यन्त जिन का उच्चारण किया जाता है, वे 'व्यजनाक्षर' कहे जाते है। शब्द को सुनने या रूप के देखने, आदि से अर्थ-प्रतीति के साथ जो अक्षरो का ज्ञान होता है, वह 'लब्ध्यक्षर' कहलाता है। अक्षरात्मक लिपि मे स्वर और व्यजन को सयुक्त कर लिखते हैं। अधिकाशतः स्वरो को ही अक्षर का आधार माना जाता है। अक्षर दो प्रकार के होते है—मुक्त और आबद्ध। जिस अक्षर के अन्त मे स्वर होता है, उसे मुक्त और जिस के अन्त मे व्यजन होता है, उसे आबद्ध कहा जाता है।[१३८] लिपि विज्ञानियों के अनुसार लिपि के विकास मे सब से ऊॅचा स्थान वर्णों का है। प्रत्येक वर्ण ध्वनि का प्रतीक होता है। वैदिक भाषा मे कुल ५२ प्रतीक अथवा वर्ण हैं।[१३९] 'समावायागसूत्र' मे अठारह लिपियो का उल्लेख मिलता है: ब्राह्मी, यवनी, दासा-पूरिता, खरोष्ट्री, पुष्कारसारि, प्रहारातिगा, उच्चत्तरिया, अक्षरपृष्ठिका, गणितलिपि, भोगवतिका, वैणकिया, निह्नविका, अकलिपि, गन्धर्वलिपि, आदर्शलिपि, माहेश्वरी-लिपि, द्राविडीलिपि और पोलिदी लिपि। इस मे यह भी उल्लेख किया गया है कि ब्राह्मीलिपि मे ४६ मूल अक्षर थे, जिन मे ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, और ळ अक्षर सम्मिलित नही किए जाते थे। पत्र, वल्कल, काष्ठ, दॉत, लोहा, तॉबा और चॉदी, आदि के ऊपर अक्षरों के लेखन, उत्कीर्णन, सीने और बुनने का उल्लेख किया गया है। ये अक्षर पत्र, आदि को छिन्न-भिन्न कर के, दग्ध करके और सक्रमण (एक-दूसरे से मिलाना) करके बनाए जाते थे।[१४०] भारतीय प्राचीनतम शिलालेखों मे ४४ अक्षरो की उपलब्धि होती है। उन में से २२ अक्षरों में सेमिटिक लक्षण मिलते हैं।[१४१] जॉर्ज ब्युलर के अनुसार ई० पू० पॉचवीं-छठी शताब्दी में भारतवर्ष में जनसाधारण मे लेखन का प्रचार हो चुका था। इस के साहित्यिक प्रमाण मिलते हैं।[१४२]

कहा जाता है कि भारतवर्ष की सब से प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी है। ब्राह्मी और खरोष्ट्री दोनों लिपियों का उल्लेख जैन और बौद्ध आगमग्रन्थों मे मिलता है। जैन अनुश्रुति के अनुसार कृषि-युग के प्रारम्भ मे भ० ऋषभदेव ने लिपि का आविष्कार किया था। उन्होने दाहिने हाथ से वर्णमाला और बाँए हाथ से अक लिखे थे। भ० ऋषभदेव ने अकार से ले कर हकार वर्णमाला का उपदेश ब्राह्मी नामक अपनी पुत्री को दिया था। गणित अर्थात् अकविद्या को बाएँ हाथ से लिख कर उस का उपदेश उन्होंने अपनी पुत्री सुन्दरी को दिया था।[१७३] भारतीय वर्णमाला के सम्बन्ध मे वेद, छान्दोग्योपनिषद् और अष्टाध्यायी मे भी उल्लेख मिलते है। 'नारदपुराण' मे कहा गया है कि यदि ब्रह्मा वर्णमाला की उत्पत्ति न करते, तो सारा लोकव्यवहार ज्ञान से शून्य हो जाता। कहा गया है कि यूरोप की 'कदमों' नामक पूर्वीय जाति को वर्णमाला का सब से पुराना ज्ञान था। उन से फोनीशियनो ने यह शिक्षा प्राप्त की। उस को सरल बना कर उन्होंने यूनानियों को वर्णमाला सिखाई। यूनानियो से रोम वाले ने वर्णमाला का ज्ञान प्राप्त किया और फिर वहाँ से सम्पूर्ण यूरोप मे इस का प्रचार हुआ। ई० पू० तेरहवी शती तक यूरोप वाले वर्णमाला से सर्वथा अपरिचित थे।[१७४] ससार के प्राचीनतम हस्तलेख मिट्टी की टिकियों और पेपरी की छालो पर लिखे हुए उपलब्ध होते है। कई देशो मे मिट्टी पर ग्रन्थ खोदने का रिवाज था। मिट्टी की गीली टिकियो पर अक्षर उत्कीर्ण करके उन्हे धूप या आग मे सुखा लिया जाता था। बैबिलोन की खुदाई मे इस प्रकार की सहस्रों मिट्टी की ईंटे तथा टिकियाँ मिली है, जिन का समय ई० पू० २,००० कहा जाता है। मिश्र के प्रतिभाशाली मनस्वियों ने ईसा की हजारो शताब्दियो के पूर्व लेखन-कला का आरम्भ इन पेपरी वृक्षो की छालों पर किया था। ये पेपरी-पोथियाँ पत्राकार न हो कर कुण्डलीनुमा होती थीं।[१७५] ईसा से लगभग तीन शताब्दी पूर्व बाँस का कागज लिखने के काम आने लगा था।

ब्राह्मी और खरोष्ट्री के अतिरिक्त भारत मे सिन्धुघाटी की लिपि भी मिलती है। इस लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विभिन्न विद्वानो के भिन्न-भिन्न मत है। चूँकि सिन्धु-घाटी की सभ्यता द्राविडो की थी, इस लिए एच० हेरास तथा जॉन मार्शल इस की उत्पत्ति द्राविट से मानते हैं। एल० ए० वैडेल तथा डॉ० प्राणनाथ के अनुसार यह सुमेरी लिपि से निकली है और कुछ अन्य लोगो के अनुसार प्राचीन एलामाइट, सुमेरी तथा मिस्री लिपियों से साम्य होने के कारण आर्य या असुर जाति से इस की उत्पति हुई है।[१७६] इस लिपि के कुछ चिह्न तो चित्र जैसे है और कुछ अक्षरो की भाँति हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस देश की प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी मानी जाती है, जिस के आविष्कारक ब्रह्मा या ऋषभदेव माने जाते है। यह ई० पू० छठी शताब्दी मे इस देश मे भलीभाँति प्रचलित थी। इसी ब्राह्मी से आधुनिक सभी भारतीय लिपियो का विकास हुआ है। सिन्धु-सभ्यता के आदि केन्द्र हडप्पा एवं मोहन-जो-दरो मे भी ब्राह्मी लिपि के १२ वर्ण उपलब्ध हुए है। उन के अध्ययन से भी ब्राह्मी लिपि की प्राचीनता सिद्ध की

गई है।[१७] द्राविड़ भाषाओं की सभी लिपियाँ ब्राह्मी से उत्पन्न हुई हैं। नागरीलिपि का जन्म भी ब्राह्मी से हुआ है।

इस मे कोई सन्देह नही है कि ब्राह्मी पूर्णतः एक भारतीय लिपि है। ई०पू० ५,०० से ३,०० ई० पू० तक इस देश में ब्राह्मी और खरोष्ट्री दोनो लिपियाँ प्रचलित थी। आगे चल कर ब्राह्मी तीन वर्गों मे विभक्त हो गई : उत्तरी लिपि, दक्षिणी लिपि और पाली। देवनागरी लिपि का जन्म उत्तरी लिपि से हुआ है। तमिल, तेलुगु, कन्नड़, आदि भाषाओं की लिपियाँ दूसरे वर्ग से सम्बन्ध रखती हैं और सिंहलद्वीप तथा जावा की भाषाएँ तृतीय वर्ग की है।

देवनागरी लिपि का उद्भव एवं विकास

मौर्यकाल मे ब्राह्मी लिपि का प्रचलन सम्पूर्ण देश मे था। ईसा की लगभग तीसरी शताब्दी तक इस देश मे ब्राह्मी लिपि का प्रचार रहा। चौथी शताब्दी के आरम्भ मे ही उत्तर और दक्षिण की ब्राह्मीलिपि मे अन्तर लक्षित होने लगा। आगे चल कर इस उत्तरी लिपि की प्रचलित शैली को 'गुप्तलिपि' कहा गया। गुप्त राजाओ के समय मे इसका व्यापक रूप से चलन होने के कारण इसे गुप्तलिपि कहा जाता है। गुप्तसाम्राज्य के प्रभाव के कारण इस का प्रचार चौथी पाँचवी शताब्दी मे सम्पूर्ण उत्तर भारत मे था। इस के नमूने हमे गुप्तकालीन शिलालेख तथा ताम्रपत्रादि मे मिलते हैं। श्री ओझा जी के शब्दो मे "गुप्तो के समय मे कई अक्षरो की आकृतियाँ नागरी से कुछ-कुछ मिलती हुई होने लगी। सिरो के चिह्न जो पहले बहुत छोटे थे, दढ़ कर कुछ लम्बे बनने लगे और स्वरो की मात्राओ के प्राचीन चिह्न लुप्त हो कर नए रूपो मे परिणत हो गए।"[१८] गुप्त लिपि के विकसित रूप को ही आगे चल कर 'कुटिल' नाम दिया गया। इस अवस्था में पहुँच कर स्वरो की मात्राओ की आकृति कुटिल होने लगी थी, इसलिए इसे कुटिललिपि कहा गया। उत्तर भारत मे छठी शताब्दी से ले कर नवी शताब्दी तक यह लिपि प्रचलित रही। इस काल के शिलालेखों और दानपत्रो, आदि मे इस लिपि के नमूने प्राप्त होते हैं। कुटिललिपि से ही नागरी तथा कश्मीर की प्राचीन लिपि शारदा विकसित हुई।

'नागरी' शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे बहुत मतभेद है। कुछ विद्वान् इस का सम्बन्ध 'नागर ब्राह्मणों' से मानते हैं। उन के अनुसार जो लिपि नागर ब्राह्मणों मे प्रचलित थी, वह 'नागरी' कहलाई। कुछ विद्वान् 'नगर' शब्द से सम्बन्ध स्थापित कर इसे नगरों मे प्रचलित होने के कारण नागरीलिपि मानते हैं। एक मत यह भी है कि तान्त्रिक यन्त्रो में प्रचलित कुछ चिह्न 'देवनागर' कहलाते थे, उन से साम्य होने के कारण

इसे 'देवनागरी' कहा जाने लगा। इसी प्रकार नवीं-दसवीं शताब्दी में देवभाषा या देववाणी की जो लिपि थी उसे भी कुछ लोग 'देवनागरी' कहते हैं। उत्तर भारत मे इस का प्रयोग नवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही मिलता है, किन्तु दक्षिण भारत मे कुछ लेख आठवी शताब्दी के प्राप्त होते है। दक्षिण की नागरीलिपि 'नन्दिनागरी' नाम से प्रख्यात है। आज भी दक्षिण भारत मे संस्कृत की पुस्तको के लिखने मे इस का प्रयोग किया जाता है। नागरी की पूर्वी शाखा से दसवी शताब्दी के लगभग बगलालिपि का जन्म हुआ। इसी नागरी लिपि से ग्यारहवी शताब्दी के अनन्तर नेपाली, उडिया, मैथिली का भी विकास हुआ। दक्षिणी लिपि से गुजरात, काठियावाड, खानदेश, आदि भारत के पश्चिमीय भागो मे 'पश्चिमी लिपि', मध्यदेश, हैदराबाद के उत्तरी विभागो मे 'मध्यप्रदेशीलिपि', शोलापुर, बीजापुर, कडप्पा, नैलूर, आदि मण्डलों मे 'तेलुगु-कन्नडी लिपि', मद्रास के विभिन्न भागों में 'ग्रन्थलिपि', मद्रास के चिकाकोल और पजाब के मध्यदेश मे 'कलिंगलिपि', मलाबार प्रदेश मे 'तमिललिपि' और मद्रास के दक्षिण भाग मे तमिल से निकली 'वट्टलेत्तु' लिपि प्रचलित हुई।'[४९] इस प्रकार भारत की सभी लिपियाँ ब्राह्मी से निकली है।

नागरी लिपि मे निरन्तर विकास होता रहा है। श्री ओझा जी के अनुसार ई० सन् की दसवी शताब्दी की उत्तरी भारतवर्ष की नागरी लिपि मे कुटिल लिपि की भॉति अ, आ, घ, प, म, य, ष और स के सिर दो अंशों मे विभक्त मिलते है, परन्तु ग्यारहवी शताब्दी से वे दोनों अंश मिल कर सिर की एक लकीर बन जाती है और प्रत्येक अक्षर का सिर उतना लम्बा रहता है, जितनी कि अक्षर की चोडाई रहती है। ग्यारहवीं शताब्दी की नागरीलिपि वर्तमान नागरी से मिलती-जुलती है और बारहवी शताब्दी से वर्तमान नागरी बन गई है। ई० सन् की बारहवी शताब्दी मे लगा कर अब तक नागरीलिपि बहुधा एक ही रूप मे चली आती है।'[५०] बारहवीं शताब्दी से इस लिपि के रूप मे स्थिरता आ गई। परन्तु केवल इ और ध की बनावट मे पुरानापन है, ए, ऐ, ओ और औ की मात्राओं मे अवश्य कुछ अन्तर प्राप्त होता है। इसी प्रकार परवर्ती काल मे क, क्ष, भ, ण, व, श, स और ह, आदि वर्णो की आकृति मे भी कुछ अन्तर आ गया। इधर कुछ वर्षों मे एकरूपता की दृष्टि से 'ऋ' का प्रचलन उठ गया है, अब केवल 'अ' का ही प्रयोग होता है। इसी प्रकार 'ण' के स्थान पर अब केवल 'ण' और 'झ' के स्थान पर 'झ' का ही प्रयोग चलता है। देवनागरी लिपि का क्रमिक विकास निम्नांकित चित्र को देख कर समझा जा सकता है।

अंक : विकास-क्रम

१ —

२ —

३ —

४ —

५ —

६ —

७ —

८ —

९ —

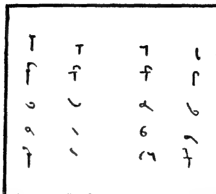
देवनागरीलिपि : विकास-क्रम

अ =	द =
अ =	ध =
इ =	न =
उ =	प =
ए =	फ =
क =	ब =
ख =	भ =
ग =	भ =
घ =	म =
ङ =	य =
च =	र =
छ =	ल =
ज =	व =
झ =	श =
झ =	ष =
ञ =	स =
ट =	ह =
ठ =	ळ =
ड =	क्ष =
ड =	ज्ञ =
ढ =	का =
ण =	कि =
ण =	की =
त =	कु =
थ =	कू =
	के =

नागरी तथा अन्य लिपियाँ

नागरी.	गुर.	बंगला.	गुज.				
क	ਕ	ক	ક	प	ਪ	প	પ
ख	ਖ	খ	ખ	फ	ਫ	ফ	ફ
ग	ਗ	গ	ગ	ब	ਬ	ব	બ
घ	ਘ	ঘ	ઘ	भ	ਭ	ভ	ભ
ङ	ਙ	ঙ	ઙ	म	ਮ	ম	મ
च	ਚ	চ	ચ	य	ਯ	য	ય
छ	ਛ	ছ	છ	र	ਰ	র	ર
ज	ਜ	জ	જ	ल	ਲ	ল	લ
झ	ਝ	ঝ	ઝ	व	ਵ	ব	વ
ञ	ਞ	ঞ	ઞ	श	ਸ਼	শ	શ
ट	ਟ	ট	ટ	ष	ਸ਼	ষ	ષ
ठ	ਠ	ঠ	ઠ	स	ਸ	স	સ
ड	ਡ	ড	ડ	क्ष			ક્ષ
ढ	ਢ	ঢ	ઢ	ज्ञ			જ્ઞ
ण	ਣ	ণ	ણ	अ	ਅ	অ	અ.
त	ਤ	ত	ત	इ	ਇ	ই	ઇ
थ	ਥ	থ	થ	उ	ਉ	উ	ઉ
द	ਦ	দ	દ	ऋ		ঋ	ઋ
ध	ਧ	ধ	ધ	ए		এ	એ
न	ਨ	ন	ન				

मात्राओं का विकास-क्रम



इस प्रकार देवनागरीलिपि के विकास-क्रम में एक ही वर्ण कई आकृतियों एवं रूपों में परिवर्तित होता हुआ आज इस अवस्था को प्राप्त हुआ है। तेरहवीं शताब्दी से ले कर पन्द्रहवीं शताब्दी के बीच उत्तर, पश्चिम और मध्य भारत में जिस लिपि का प्रचलन रहा है, उस नागरी में वर्णों की आकृति में कुछ अन्तर होने पर भी सामान्य रूप से कोई बड़े परिवर्तन लक्षित नहीं होते। इस काल में इसे बोल-चाल की भाषा में 'पड़ी लिपि' कहते थे, क्योंकि इस में मात्राओं का प्रयोग वर्ण के ऊपर न किया जा कर नीचे ही किया जाता था। उदाहरण के लिए, 'जे' 'ाज' रूप में और 'जो' 'ाजा' रूप में लिखते थे। सब से पहले हिन्दी की लिपि में 'खड़ी पाई' का प्रयोग किया गया था, इसलिए इसे 'खड़ी बोली' कहते है। पड़ी और खड़ी इन दोनों का सम्बन्ध मात्राओं से है, भाषा से नहीं। अतः मात्राओं के प्रयोग में भेद होने के कारण लिपि में भी सामान्य रूप से भेद बना रहा। नागरी में उच्चारण के अनुसार बोली के सूक्ष्म भेदों को भी लिपि के सहारे पता लगाया जा सकता है। पाणिनि ने जिसे 'रंग' के नाम से अभिहित किया है और जन साधारण जिसे अनुनासिक या गुन्ना कहते है, लिपि में वह उच्चारण-भेद बराबर लक्षित होता है। स्वर के उच्चारण में रंग लाने के लिए इस का उपयोग किया जाता है।[१५] नागरीलिपि की लगभग दो सौ वर्ष पुरानी कई हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ ऐसी मिलती है, जिन में अनुनासिक, अनुस्वार और विशिष्ट उच्चारण के लिए बिन्दी का प्रयोग किया गया है। कई प्रतियों में बिन्दी का प्रयोग वर्ण के सामने किया हुआ मिलता है। अतः 'ड' के लिखने से उन का अभिप्राय 'ड़' से होता है। इस प्रकार के अन्य भी कुछ परिवर्तन परिलक्षित होते है, जिन से भाषा ही नहीं, लिपि की गति और उस के विकास का परिचय मिलता है।

देवनागरी एक बौद्धिक लिपि है। समय-समय पर इस में परिवर्तन व विकास होता रहा है। इस में स्वर और व्यजनों को पृथक्-पृथक् रूप से लिपिबद्ध करने की

क्षमता है। इसे यह गुण स्वाभाविक रूप में ब्राह्मी से परम्परागत प्राप्त हुआ है। अपने इस गुण के कारण यह एक वैज्ञानिक लिपि भी कही जाती है। डॉ० चल के शब्दों में "देवनागरी लिपि के वैज्ञानिक होने पर भी इस से संबंधित आधुनिक भारतीय भाषाओं की लिपियाँ पूर्ण रूप से ध्वनिविज्ञान सम्मत नहीं हैं; तो भी ये लिपियाँ अंग्रेजी तथा फ्रांसीसी लिपियों से कहीं अधिक वैज्ञानिक हैं। भारतीय भाषाओं में तमिल भाषा की लेखन-प्रणाली उत्तर भारतीयों के लिए कठिन मालूम पड़ती है। हमारे एक वर्ग क, ख, ग, घ के लिए तमिल में केवल एक संकेत 'क' का ही व्यवहार होता है। इसलिए तमिल भाषाभाषी लिखते है 'कान्ति' और पढ़ते हैं 'गान्धि'। मलयालम भाषा में भी स्थिति तमिल जैसी ही है। फिर भी इन लिपियों मे नियम है, व्यवस्था है, जिसे समझ लेने पर कोई कठिनाई नहीं रहती। अंग्रेजी, फ्रांसीसी जैसी अव्यवस्था इन मे भी नहीं है। हिज्जे मे अव्यवस्था होने के कारण अंग्रेजी को बहुत कुछ हानि पहुँची है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जब एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा की आवश्यकता का अनुभव लोगों को हुआ, तो कुछ लोगों ने अंग्रेजी को इस पद पर प्रतिष्ठित करने का सुझाव रक्खा था। परन्तु जेस्पर्सन ने अंग्रेजी मे हिज्जे की अव्यवस्था दिखा कर उसे इस पद के लिए अप्रमाणित कर दिया था।"[१५९]

देवनागरीलिपि की वैज्ञानिकता

विश्व की आधुनिक सभी लिपियो मे देवनागरी लिपि का स्थान श्रेष्ठ है, क्योंकि यह ससार की लिपियो में सब से अधिक वैज्ञानिक है। इस की वैज्ञानिकता के निम्न-लिखित कारण है :—

१. एक ध्वनि : एक सांकेतिक चिह्न—देवनागरी लिपि मे सभी स्वरो के ह्रस्व और दीर्घ रूप के लिए अलग-अलग सकेत-चिह्न हैं। सभी स्वरो की मात्राएँ निश्चित है। अतएव इस लिपि मे किसी प्रकार का भ्रम नहीं होता। किन्तु उर्दू में 'स' ध्वनि के लिए तीन वर्ण (सीन, स्वाद, से), 'ज' के लिए चार वर्ण (जाल, जे, ज़्वे, ज्वाद, जोय), 'त' के लिए दो वर्ण (ते, तोय), और 'ह' के लिए तीन वर्णों (छोटी हे, बड़ी हे, द्वि चश्मी हे) का प्रयोग करने से कभी-कभी भ्रम हो जाता है। अंग्रेजी में तो ध्वनि-चिह्नों की इतनी विभिन्नता है कि 'अ' ध्वनि को प्रकट करने के लिए लगभग ग्यारह बारह साकेतिक चिह्नो का प्रयोग करना पड़ता है। इसी प्रकार 'श' वर्ण को व्यक्त करने के लिए चौदह चिह्न मिलते हैं : Sugar, shoe, issue, mansion, mission, nation, suspicion, ocean, nauseous, conscious, search, chaperon, schist, fuchsia, Pshaw. अन्य साकेतिक चिह्नों की भी यही स्थिति है। इसी प्रकार रोमन लिपि में लिखने के लिए छोटे-बड़े दो रूप अलग हैं, और मुद्रण के लिए अलग हैं।

२. एक सांकेतिक चिह्न : एक ध्वनि—देवनागरी लिपि में एक साकेतिक चिह्न से एक ही ध्वनि का बोध होता है। श, ष, स भिन्न-भिन्न होने के कारण पृथक्-पृथक् ध्वनि

को व्यक्त करते है। डॉ० तिवारी के अनुसार यदि इस लिपि मे मराठी 'ळ' को मिला ले तथा 'ए, ओ, ɾ, ट' ये चार वर्ण और मिला के तो देवनागरीलिपि सभी भारतीय भाषाओ को लिख सकती है।'[१५]

३. **लिपि में स्वर और व्यंजन की क्रमबद्धता**—इस लिपि मे प्रथम असंयुक्त स्वर, सयुक्त स्वर, फिर व्यजन और सयुक्तव्यंजन, आदि एक वैज्ञानिक क्रम मे नियोजित हैं। आज की अन्तर्राष्ट्रीय वर्णमाला मे भी यही क्रम मिलता है। किन्तु फारसी और रोमन लिपियो मे स्वर और व्यजन किसी पूर्वापरक्रम से नहीं लिखे जाते। उन में पहले स्वर, फिर व्यजन और फिर स्वर बीच मे आते है।

४. **वर्णमाला की पूर्णता एवं सम्पन्नता**—देवनागरी लिपि मे ५२ वर्ण हैं। इतने अधिक वर्ण विश्व की किसी अन्य लिपि में नहीं हैं। रोमन लिपि मे २६ वर्ण ही है। उन मे से १२ मूल स्वर है और १४ व्यजन। किन्तु अंग्रेजी मे कुल स्वरध्वनियाँ २१ है। अतः उन ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए अन्य ध्वनियो का सयोग करना पडता है। दूसरे शब्दों मे, हिन्दी के श, च, ड, ढ, थ, आदि ध्वनियो के लिए अंग्रेजी मे कोई स्वतन्त्र साकेतिक चिह्न नहीं हैं। इसी प्रकार २४ व्यजन-ध्वनियों को प्रकट करने के लिए उस के पास केवल १८ ध्वनि-चिह्न है। इन साकेतिक चिह्नो की कमी के कारण रोमनलिपि मे हिन्दी, बगाली, मराठी, आदि भाषाओं को लिखने मे बडी कठिनाई होती है और उस मे भ्रम भी उत्पन्न हो जाता है। भारतीय हलन्त व्यञ्जन को तो रोमन लिपि मे व्यक्त ही नही किया जा सकता।

५. **उच्चारण और लेखन में एकरूपता**—हिन्दी मे जैसा बोला जाता है, लेखन मे वैसा ही लिपिबद्ध किया जाता है। हिन्दी की पुरानी से पुरानी हस्तलिखित प्रतियो में 'सिंघ', 'दस', 'करम', 'करतब' और 'बरत', आदि लिखा हुआ मिलता है, जो उच्चारण के अनुरूप है। इसी प्रकार 'ङ्, ञ्' के लिए अनुस्वार का ही प्रयोग मिलता है। वास्तव मे, रोमन और उर्दू, आदि लिपियों की तुलना मे उच्चारण की दृष्टि से देवनागरीलिपि सर्वोत्तम मानी जाती है।

६. **स्पष्टता**—इस लिपि मे स्पष्टता इतनी है कि उच्चरित ध्वनियाँ ही लिखी जाती हैं। रोमन की भाँति इस मे ऐसा नही है कि लिखा जाए कुछ और पढ़ा जाए कुछ। अंग्रेजी के अनेक शब्दों मे आदि तथा मध्यवर्ती (Knife, Calf, Calk, Calm) ध्वनियाँ उच्चरित ही नहीं होती। यह लिपि की अस्पष्टता का प्रमाण है। हिन्दी मे प्रत्येक लिखी जाने वाली ध्वनि का उच्चारण किया जाता है।

७. **सरलता**—रोमन लिपि की भाँति इस लिपि की वर्णमाला तीन तरह की न हो कर एक ही तरह की है। इस से सीखने मे सरलता होती है। अंग्रेजी में वाक्य का पहला अक्षर बड़े रूप (कैपिटल) मे लिखा जाता है। उस में लिखने की वर्णमाला अलग है और पढ़ने की अलग। हिन्दी में यह कठिनाई नहीं है। किन्तु उर्दूलिपि मे 'करम' को कर्म या क्रम पढ़ना सहज नहीं है। उस मे भ्रम को 'भरम' ही पढ़ा जा सकता है। इसी प्रकार 'कर्म' या 'क्रम' को 'करम' ही पढा जा सकता है।

८. **वर्णानुरूप आकृति**—हिन्दी मे 'उ' ओष्ठ्य वर्ण है। इस का उच्चारण ओंठ की सहायता से होता है। इसलिए इस की बनावट भी ओंठ जैसी है। यद्यपि सामान्य रूप से यह बात सभी वर्णों पर लागू नही होती, किन्तु यह बात बहुत कुछ अंशों में सच है। कहा जाता है कि एक पाश्चात्य भाषाशास्त्री ने देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता का पता लगाने के लिए देवनागरी अक्षरो के मिट्टी के प्रतिरूप तैयार किए। जब उस ने उस मे हवा फूँकी तो वह यह जान कर आश्चर्यचकित रह गया कि 'अ' ध्वनि 'अ' प्रतिरूप में से आई और 'आ' की ध्वनि आ प्रतिरूप में से निर्गत हुई। इसी प्रकार अन्य अक्षर-प्रतिरूपों का निर्माण हुआ है।[१४]

९. **वर्णविन्यास : वर्गीकरण**—देवनागरी लिपि की वर्णमाला मे वर्णों का वर्गीकरण वर्गों मे किया गया है; जैसेकि—कवर्ग (क से घ तक), चवर्ग (च से झ तक), टवर्ग, आदि। उच्चारणों के स्थान और प्रयत्नो के आधार पर वर्गीकृत वर्णों का विन्यास इस प्रकार किया गया है कि उस मे एक सुव्यवस्था परिलक्षित होती है। किसी भी लिपि की सुव्यवस्था उस की वैज्ञानिकता को प्रकट करने वाली होती है। इस व्यवस्था के कारण ही हम भाषा को शुद्ध रूप मे पढ सकते हैं। किन्तु उर्दू में 'शान्ति' को 'शाती', 'भ्रम' को 'भरम' और 'शक्ति' को 'शक्ती' ही पढ सकते हैं।

१०. **ध्वन्यात्मकता**—रोमन लिपि की अपेक्षा देवनागरी का ध्वन्यात्मक मूल्य (Phonetic Value) अधिक है। अपने इस गुण के कारण ही कुछ नए ध्वनि-चिह्नो को अपना कर देवनागरी लिपि एक अन्तर्राष्ट्रीय लिपि बनने की क्षमता अर्जित कर सकती है।

देवनागरी लिपि की त्रुटियाँ और सुधार

यद्यपि देवनागरी लिपि ससार की अन्य लिपियो की अपेक्षा अधिक पूर्ण, स्पष्ट तथा वैज्ञानिक है, फिर भी अभी तक इस मे कई त्रुटियाँ दिखलाई पड़ती है। जो विद्वान् रोमनलिपि का समर्थन करते हैं, उन का कथन है कि देवनागरी अक्षरात्मक है; वर्णात्मक नहीं। अक्षरात्मक होने के कारण देवनागरी के प्रत्येक सांकेतिक चिह्न मे स्वर और व्यजन मिले हुए रहते है। अतएव सयुक्त व्यजनो को लिखने के लिए कभी-कभी व्यजनों का आधा रूप लिखना पडता है; जैसे कि—'विद्या', 'खाद्य', 'सयुक्त' और 'धर्म', आदि शब्दो के लिखने मे व्यजन का रूप बदल जाता है। इन शब्दों मे न तो 'द' अपने मूल रूप मे है और न 'क्त' एवं 'र्' ही। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार वैज्ञानिक लिपि की दो विशेषताएँ है : उस मे शुद्ध लिखा जाए और उस मे ध्वनि-विश्लेषण सरलता से हो सके। देवनागरी मे शुद्ध तो लिखा जाता है, किन्तु वह अर्द्ध-अक्षरात्मक है, इसलिए ध्वनि-विश्लेषण सरलता से नहीं हो सकता; जैसेकि—देवनागरी मे 'धर्म' में दो अक्षर 'ध' और 'र्म' हैं। इन में न तो स्वर-वर्ण स्पष्ट है, न धातु और प्रत्यय। इस के विपरीत रोमन लिपि में 'DHARMA'।

दो स्वर भी स्पष्ट हैं और साथ ही धातु 'धर्' और प्रत्यय 'म' भी।[१५]

२. एक वैज्ञानिक लिपि मे एक ध्वनि के लिए एक ही ध्वनि-चिह्न होना चाहिए। देवनागरी लिपि मे श्र, क्ष, त्र, ज्ञ, ञ, आदि कई ऐसे सांकेतिक चिह्न हैं, जिन में दो ध्वनियो का सयोग है।

३. कुछ ध्वनियाँ ऐसी है, जिन का आज उच्चारण ही नही होता। ङ्,ञ्, का प्रयोग केवल सयुक्ताक्षरों के रूप मे किया जाता है। किन्तु हिन्दी मे इन का उच्चारण 'न' जैसा होता है। इस लिए इन के स्थान पर 'अनुस्वार से काम लिया जा सकता है। इसी प्रकार ऋ, ऌ, आदि ध्वनियो का उच्चारण ठीक से नहीं होता है। संयोगी शब्दो मे 'ऋ' का उच्चारण 'रि' किया जाता है।

४. वैज्ञानिक लिपि की दृष्टि से उच्चारण के क्रम के अनुसार ही ध्वनि-चिह्नो का प्रयोग किया जाना चाहिए। किन्तु देवनागरी लिपि मे 'रि' मे 'इ' की मात्रा पहले लिखी जाती है और 'र' बाद मे; जबकि उच्चारण मे 'र' का उच्चारण पहले किया जाता है और 'इ' का बाद मे। इसी प्रकार अन्य मात्राओ तथा अनुस्वार का प्रयोग उच्चारण की दृष्टि से व्यजन के पश्चात् होना चाहिए। नागरी लिपि मे इन मात्राओ को लगाने की विधि ठीक नहीं है।

५. कुछ ध्वनि-चिह्न आज अनावश्यक माने जाने लगे है; यथा—क्ष, त्र, ज्ञ। इसी प्रकार कुछ अक्षरो के दो रूप प्रचलित है: अ-ऋ, झ-झ, ण-ण, ल-ल, श श, इत्यादि। इन मे से किसी एक रूप को स्वीकार किया जाना चाहिए।

६. लिपि मे स्पष्टता भी आवश्यक है। हिन्दी मे ख, घ ध, म-भ, ण-ण मे कभी-कभी भ्रम हो जाता है; जैसे कि—खाना—रवाना; शिरोरेखा न रहने पर म-भ, घ-ध एक से हो जाते है, 'अण्डा' को 'अ ण्डा' भी पढा जा सकता है।[५६]

७. म्ह, ल्ह, र्ह, न्ह, अब हिन्दी मे सयुक्त व्यजन न हो कर मूल महाप्राण व्यजन है। इस लिए इन के स्वतन्त्र ध्वनि-चिह्नो को बना लेने की आवश्यकता है। इसी प्रकार अरबी-फारसी-तुर्की, आदि शब्दो मे नुक्ते का प्रयोग करना उचित ही है।[५७] अंग्रेजी-ध्वनियो के लिए भी; जैसे—डॉक्टर के 'ऑ' के लिए तथा ह्रस्व ऍ, ऑ के लिए भी नए ध्वनि-चिह्नों को अपनाने की आवश्यकता है। जो ध्वनि-चिह्न हमारे यहाँ नहीं है, उन्हे हम अन्य भाषाओं से भी ग्रहण कर सकते हैं।

वास्तव मे, हिन्दी की लिपि-समस्या अंग्रेजी से सर्वथा भिन्न है, क्योकि अंग्रेजी मे वर्णों से उचारण को पहचानना बहुत ही कठिन है। फिर, लिपि की समस्या सदा वर्तनी की समस्या नही होती। यह समस्या तो केवल उन दो-चार ध्वनियों के संबध मे हो सकती है, जिन की वर्तनी निश्चित नही है। जिन की वर्तनी निश्चित है, उन की कोई समस्या नही है। वर्तनी की समस्या के समाधान का एक ही मार्ग है और वह है—वर्णों के ध्वनि-मूल्यों का विश्लेषण। हिन्दी के वर्णों के अध्ययन करने से पता लगता है कि हिन्दी मे व्यजन ७३, स्वर २३, गुच्छ १०, और अनुतान १३; इस तरह कुल ११९ ध्वनियाँ है। इसी प्रकार हिन्दी के कुल वर्णग्राम हैं[५८]: ४२ व्यंजन, १२ स्वर, ८ गुच्छ और ११ अनुतान।

हिन्दी की लिपि-समस्या मुख्य रूप से लेखन-पद्धति से संबंधित है। 'र' वर्ण-ग्राम के चार रूप शब्दों में ध्वनिक्रम को आधार मान कर चलते हैं। इस कारण 'वर्क' और 'वक्र' के उच्चारण-भेद, ध्वनि-भेद और लिपि-भेद को समझने में कठिनाई होती है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए हम लेखन-पद्धति में वर्णों को अलग-अलग लिख सकते हैं; जैसे कि—विद्या, खाद्य, संयुक्त, आदि। अब 'इ' की मात्रा की जो समस्या है, उसे भी इस प्रकार लिख कर सुलझाया जा सकता है; जैसे-शक्ति, अनुरक्ति को 'शकित', 'अनुरकित' लिखा जा सकता है। यदि वर्ण हलंत हो तो स्वतंत्र रूप से लिख सकते हैं: बुद्धि, मद्दा, चिह्न, आह्वान, इत्यादि। ऊपर की '' रेफ का प्रयोग यों कर सकते हैं: धर्म, वर्द्धन, उत्तरार्द्ध, आदि। इस लिपि की दूसरी मुख्य कठिनाई अनुस्वार और अनुनासिकता की है। अनुस्वार से कई ध्वनियों का बोध होता है। हिन्दी के केवल नौ वर्ण हैं, जिन पर अनुनासिक का ध्वनि-चिह्न प्रयुक्त होता है:[१५] अ, आ, उ, ऊ, ए, शून्य, ा, ु, ू। आक्षरिक वर्ण ऋ, ऌ तथा अन्य भाषाओं के ऑ, ए, ओ, वर्णों के साथ अनुनासिकता का उच्चारण नही होता। सयोगी 'इ' भी सानुनासिक उच्चरित नही होती। जिन स्थानों पर अनुस्वार व्यजन का रूप ग्रहण नहीं कर सकता, ऐसे शब्द हैं: सम्मिलित, उन्मीलित, सम्यक्, सम्बुद्ध, गन्ना, गुम्मा, सन्नाटा, किन्तु, परन्तु, चिह्नित, बन्धु, सिन्धु, अन्त, कान्त, वसन्त, आदि। यथार्थ मे, इस प्रकार के शब्द हिन्दी मे सस्कृत से आगत है। इसलिए सस्कृत भाषा मे जैसे ये लिखे जाते हैं, वैसे ही हिन्दी मे ठीक माने जाते हैं। इसी प्रकार सस्कृत के 'अंश, कस, संयोग, सवाद, सकट, सक्षेप, सख्या, सगति, सगम, संयम, सरम्भ, ससार, उगय, सस्कार, आदि शब्दों मे अनुस्वार के स्थान पर व्यंजन का प्रयोग करना ठीक नहीं माना जाएगा। किन्तु सस्कृत से हिन्दी मे आगत जिन शब्दों के अन्त मे हलन्त व्यजन का प्रयोग होता है, हिन्दी मे उन्हे अनुस्वार हो जाता है; जैसेकि: एव, पर, स्वयं अह और अहकार, आदि। परन्तु अन्य भाषाओं से आए हुए शब्दों मे 'न' के लिए दो प्रकार के ध्वनि-चिह्नो का प्रयोग होता है; उदाहरण के लिए—हिदी-हिन्दी, इसान-इन्सान, जिंद-जिन्द, खान-खाँ, जबान-जबाँ, बयान-बयाँ, जहान-जहाँ, आदि।

यथार्थ मे, भाषा की लिपि-पद्धति की सबसे बडी समस्या तब उत्पन्न होती है, जब किसी भी भाषा मे अन्य भाषाओं की ध्वनियाँ अगीकृत की जाती हैं। यद्यपि प्रत्येक भाषा विभिन्न भाषाओ की ध्वनियों को अपनी-अपनी रीति से अपनाती हैं, किन्तु व्यवहार में वह उन का उच्चारण किसी भी प्रकार करे; परन्तु लिपि मे उन भिन्न ध्वनियों के सांकेतिक चिह्नों का ससूचन आवश्यक हो जाता है। ध्वनि-चिह्नों के अभाव में हम किसी भी भाषा की विशिष्ट ध्वनि को अंकित नहीं कर सकते। रोमन लिपि की यह सब से बड़ी कमी है कि उस में नई ध्वनियों के लिए अलग से कोई चिह्न नहीं हैं। यही कारण है कि 'कूट' और 'कृत' को, 'लुता' और 'लूट' को तथा 'बाल' और 'बाला' को जब अंग्रेजी में लिखा जाता है, तब उन की वर्तनी में कोई भेद नहीं दिखलाई पड़ता है। हिन्दी में

यह बात नही है। क्योंकि देवनागरीलिपि मे नई ध्वनियों के लिए चिह्न विकसित होते रहे है और होते जाएँगे। इस मे संसार की लगभग सभी प्रमुख भाषाओं की ध्वनियाँ आती रही है और आती रहेंगी। इन ध्वनियों को अपनाने के साथ ही नए चिह्नो का प्रयोग किया जा रहा है। अतएव हिन्दी मे इस प्रकार की कोई समस्या नही है। देवनागरी इस दृष्टि से अत्यन्त प्राणवान और सजीव लिपि है।

समय-समय पर देश के शिक्षाशास्त्रियों और मनीषियो का ध्यान देवनागरी के सशोधन की ओर भी गया है। परिणामत अगस्त, १९५८ के शिक्षा-मन्त्रियों के सम्मेलन में देवनागरीलिपि का अन्तिम सशोधित रूप स्वीकार कर लिया गया। इस में खड़ी पाई वाले व्यजनो का रूप पूर्ववत् है। इन मे केवल ख, भ और ध के रूप मे किंचित् परिवर्तन कर दिया गया है। शिरोरेखा ज्यो की त्यों है। केवल फुलस्टॉप (पूर्णविराम) को छोड़ कर अंग्रेजी के शेष सभी विरामचिह्न अपना लिए गए हैं। देश के सभी मुद्रणालयों (प्रेसो) मे प्रूफ रीडिंग (सशोध्य पत्र) के चिह्नों का प्रयोग किया जाता है। विगत पाँच वर्षों मे भारतीय मानक सस्था ने एक ऐसी मानक पद्धति तैयार की है, जो किसी भी भाषा के लिए प्रयुक्त हो सकती है। टंकण-लिपि के संशोधन और विशिष्ट-यन्त्र (टाइपराइटर) के निर्माण की ओर भी अनेक सस्थान ध्यान दे रहे हैं। इस प्रकार देवनागरीलिपि के सभी प्रकार के उपयोग और सुधार के सम्बन्ध मे गत वर्षों मे पर्याप्त विचार किया जा चुका है।

एक राष्ट्रीय लिपि के रूप में

लिपि भाषा से सर्वथा असयुक्त नही है, इसलिए राष्ट्र की एक भाषा की भाँति लिपि का प्रश्न भी उस से सम्बद्ध है। सभी भारतीय भाषाओ के लेखन के लिए एक सामान्य लिपि की आवश्यकता नितान्त अनिवार्य है। सामान्यलिपि का यह अर्थ नहीं है कि विभिन्न प्रान्तों के लोग अपनी लिपि छोड कर देवनागरी या किसी अन्य राष्ट्र-लिपि मे लिखने लग जाएँ, किन्तु अपनी-अपनी लिपियो के अतिरिक्त सामान्यरूप से एक ऐसी लिपि की भी आवश्यकता है, जिस के प्रचलन से प्रशासनिक कार्य मे सुविधा हो और देश की एकता को बल मिले। लिपि की भाँति अको का प्रयोग भी सम्पूर्ण राष्ट्र मे एक सा होना चाहिए। जहाँ तक राष्ट्रीय लिपि का प्रश्न है, देवनागरी ही एक ऐसी लिपि है, जिसे भाषावैज्ञानिक और शिक्षाशास्त्री राष्ट्रीयलिपि के सर्वथा योग्य बतलाते है। डॉ० चटर्जी के शब्दो मे "देवनागरी लिपि मे उस की ऐतिहासिक महत्ता के अति-रिक्त और भी कई विशेष गुण है। उस का भारत की अन्य प्रान्तीय लिपियो से सहोदर बहनों या चचेरी बहनो का-सा सम्बन्ध है। बगला-असमी, मैथिली, उड़िया, गुरुमुखी तथा देवनागरी एक-दूसरे से इतनी निकट रूप से सम्बद्ध हैं एव एक-दूसरे से इतनी अधिक मिलती-जुलती हैं कि हम उन्हे एक ही लिपि की विभिन्न शैलियाँ तक कह सकते है। सारे भारत मे (ठीक आकृति में नहीं, परन्तु सिद्धान्ततः) सभी लिपियाँ देवनागरी लिपि की स्वगोत्र या कौटुम्बिक लिपियाँ ही सिद्ध होती हैं।"[९९] देवनागरी लिपि के अति-

रिक्त रोमन और फारसी लिपि बच रहती हैं। अरबी-फारसी-लिपि भी आक्षरिक हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि रोमन लिपि अत्यन्त सदोष एवं त्रुटिपूर्ण है। प्रस्तावित 'परिवर्तनों या सुधारों' वाली फारसी-अरबी लिपि को भी भारत की 'एकमात्र' तो क्या एक राष्ट्र लिपि बनने का भी न तो अवसर प्राप्त हो सकता है और न इस के लिए उस का अधिकार ही है। वास्तव में, स्वभावतः देवनागरी ही भारत की एकमात्र राष्ट्रीय लिपि है, साथ ही उस मे निहित उस के गुण भी—बिलकुल प्रत्यक्ष हैं।[११] सन् १९०५ मे काशी-नागरीप्रचारिणी-सभा के अधिवेशन में भाषण देते हुए लोकमान्य बाल गगाधर तिलक ने सभी भारतीय भाषाओ के लिए एक सामान्य लिपि के रूप में देवनागरी लिपि को अपनाने का प्रबल समर्थन किया था। उन्होने कहा था कि देवनागरी रोमन लिपि की तुलना में कही अधिक उपयुक्त है। श्री वी० के० गोकाक ने देवनागरी की उत्कृष्टता तथा वैज्ञानिकता के सबंध मे अन्य विकल्पों की अपेक्षा के आधार पर कहा है कि देवनागरी लिपि से कई लाभ हैं। आमतौर पर संस्कृत भाषा और साहित्य के भी विद्यार्थी इस से परिचित है। यह रोमन लिपि की अपेक्षा अधिक ध्वन्यात्मक है। अग्रेजी भाषा से जो नई ध्वनियाँ ग्रहण की गई है, उन्हें व्यक्त करने के लिए कुछ नए सकेतों को छोड कर यह लिपि सभी भारतीय भाषाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती है। मलयालम भाषा के विद्वान् श्री एन० वी० कृष्ण वारियर ने एक समान लिपि की अनिवार्यता पर विचार करते हुए अपना अभिमत व्यक्त किया है कि देश मे जो लिपि सब से अधिक चालू हो उसे सामान्य राष्ट्रलिपि बनना चाहिए। देवनागरी लिपि भारत मे सर्वाधिक प्रचलित है, इस लिए इसे ही राष्ट्रलिपि बनाना उचित होगा।[१२] प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक डॉ० एस० एम० कत्रे ने देवनागरी लिपि के वैज्ञानिक गठन तथा उस की ऐतिहासिक महत्ता पर बल देते हुए उसे अपवाद के रूप मे प्रतिष्ठित किया है। उन के विचार से अन्य लिपियों के साथ देवनागरी की तुलना अनावश्यक है। उत्तरी और दक्षिणी भाषाओ की महान् लिपियो के बीच मे ही नहीं, भारतीय आर्य तथा द्राविड़ वर्गों की लिपियो के बीच मे भी देवनागरी ने एक कड़ी का काम किया है।[१३] हिन्दी के अतिरिक्त सस्कृत और मराठी भी देवनागरी लिपि मे लिखी जाती हैं। देश की लगभग सात करोड जनता देवनागरी लिपि का व्यवहार करती है। यह सख्या देश के साक्षर लोगो की तुलना मे पचास प्रतिशत के लगभग है। बहुसख्यक लोगो के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण तथा वैज्ञानिक गुणो से भरपूर होने के कारण ही देवनागरी लिपि सम्पूर्ण भारत की एक सामान्य राष्ट्र लिपि के रूप मे प्रतिष्ठित मानी जाती है। आचार्य विनोबा भावे भारत की सभी भाषाओ को देवनागरी लिपि मे लिखने के पक्ष में हैं। उन के सुझावानुसार तेलुगु का 'साम्य-योगमु' साप्ताहिक पत्र पूर्ण रूप से देवनागरी लिपि मे छपने लगा है। गुजराती का 'भूमिपुत्र' दशवारिक (दशवासरीय) पहले से ही देवनागरी मे छपता है। सम्प्रति बंगला का 'भूदान' भी देवनागरी मे छपने लगा है। पिटमन के शब्दों में "यदि संसार मे कोई पूर्ण वर्णमाला है, तो वह हिन्दी की है।"

देवनागरी लिपि के लेखन की सरल तथा वैज्ञानिक विधि का विचार-विश्लेषण

अभी चल रहा है। क्योंकि अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी की लिपि में यथासम्भव एक-रूपता लाने के लिए वैज्ञानिक पद्धति को अपनाना ही एकमात्र उपाय है। इस दिशा में वर्णों मे पाई जाने वाली विभिन्नता को यथासम्भव स्थिर बनाए रखने की आवश्यकता है। देवनागरी लिपि मे प्रचलित कुछ वर्णों के दो-दो रूपों मे से अ-भ्र, ल-ल, झ-म्क, आदि वर्णों का मानकीकरण हो चुका है। दक्षिण की भाषाओं के लेखन के लिए देवनागरी वर्णमाला मे दो नए चिह्न स्वीकार किए गए हैं—ळ और ष। इसी प्रकार अन्य भारतीय लोकभाषाओ मे प्रचलित ह्रस्व 'ऍ' तथा 'ऑ' स्वरध्वनियों को भी स्वीकार कर लिया गया है। अतएव देवनागरी ही एक राष्ट्रीय लिपि के रूप मे उभर कर हमारे सामने आती है।

कुछ भारतीय विद्वान् रोमन लिपि को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रो में सर्वाधिक प्रचलित होने के कारण उसे भारत की सामान्य राष्ट्रीय लिपि बनाने के पक्ष मे रहे हैं। किन्तु अंग्रेजी वर्णमाला इतनी अव्यवस्थित है कि वर्णमाला के पहले वर्ण 'अ' की ध्वनि को अंग्रेजी में कई ध्वनि चिह्नों से व्यक्त किया जाता है; जैसे कि—rub, son, double, flood, does, arise, fountain, parliament, dudgeon, family, purpoise ferm, firm, इत्यादि।

अंग्रेजी मे एकाक्षरी शब्दो या समोच्चारितों की बहुलता के कारण so, sow, sew, meat, meet, mete का भेद वर्तनी से ही सम्भव है। वैसे तो कोई भी वर्तमान लिपि अपनी भाषा के सभी सकेतो को ठीक-ठीक अकित नही कर सकती; जैसे कि हिन्दी में भी 'वह काम करता है' और 'वह इस का कर्त्ता है' मे 'करता' और 'कर्त्ता' का उच्चारण तो एक ही है, पर उन की वर्तनी भिन्न-भिन्न है।[१४] वास्तव मे, हिन्दी की लिपि में यह अन्तर वहीं लक्षित होता है, जहॉ कि अन्य भाषाओ की ध्वनियों का उच्चारण हिन्दुस्तानी रीति से किया जाता है। यदि हिन्दी में केवल 'करता' और 'करतार' का ही प्रचलन होता, तो इस प्रकार की कठिनाई परिलक्षित नही होती। किन्तु इस का समाधान और उपाय भी है। यथार्थ में, उच्चारणगत सूक्ष्मभेद लिपि के द्वारा प्रकट नही किया जा सकता। स्थान और काल के भेद से उन मे कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है, किन्तु लिपि एक प्रकार से स्थायी होती है, उस मे सहज और शीघ्र परिवर्तन नही होता। फिर, प्रत्येक लिपि मे कोई न कोई स्वाभाविक त्रुटि होती है। सभी प्रकार के सशोधन करना सभव और उचित भी नही है। अतएव अन्य लिपियो की अपेक्षा वैज्ञानिक और अधिक गुणवती होने के कारण देवनागरी लिपि पूरे देश की राष्ट्रीय लिपि बनने में पूर्ण सक्षम है।

देवनागरी लिपि मे लेखन और मुद्रण मे प्रयुक्त होने वाले कुछ चिह्न इस प्रकार हैं :—

(क) विराम-चिह्न—

१. अल्प विराम—,

२. अर्द्ध विराम—;

३. पूर्ण विराम—।
४. प्रश्नवाचक चिह्न—?
५. आश्चर्यसूचक चिह्न—!
६. निर्देशक चिह्न— —
७. विसर्गात्मक या समानभावसूचक चिह्न—:
८. विभक्तिसूचक चिह्न— -

(ख) कोष्ठक—
१. लघु—( )
२. मध्य—{ }
३ वृहत्—[ ]

(ग) अन्य—
१. अवतरण चिह्न—" "
२. रेखांकित चिह्न— — — (शब्द के नीचे रेखा अंकित करना)
३. पुनरुक्तिसूचक चिह्न—, ,
४. स्थानपूरक चिह्न—. . . .
५. समाप्तिसूचक चिह्न— —०—
६. परिवर्द्धनसूचक चिह्न—∧
७. तुल्यतासूचक चिह्न—=
८. अपूर्णतासूचक चिह्न—× × ×
९. तारक चिह्न—*
१०. टिप्पणीसूचक चिह्न—+ +
११. विशिष्ट चिह्न—†

संदर्भ-संकेत :

१. मेरिओ ए० पेइ - द वर्ल्ड्स चीफ लैंग्वेजेज, तृतीय संस्करण, १९६१, पृ० १५।
२. डॉ० आइ० जे० एस० तारापुरवाला : एलीमेन्ट्स ऑव द साइन्स ऑव लैंग्वेज, १९६२, पृ० २२८-२६३।
३. वहीं, पृ० ३६८-६९ से उद्धृत।
४. मेरिओ ए० पेइ : द वर्ल्ड्स चीफ लैंग्वेजेज, तृतीय संस्करण, १९६१, पृ० २५-२६।
५. डॉ० उदयनारायण तिवारी : हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, प्रथम संस्करण, पृ० ८।
६. डॉ० आइ० जे० एस० तारापुरवाला : एलीमेन्ट्स ऑव द साइन्स ऑव लैंग्वेज, १९६२, पृ० २७०।
७. डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी : भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, द्वितीय संस्करण, १९५७, पृ० १७ से उद्धृत।
८. डॉ० भोलानाथ तिवारी : हिन्दी भाषा, १९६६, पृ० २४-२५ से उद्धृत।

९. पं० राजाराम - अवेस्ता, लाहौर, वि० सं० १९९१।
१०. सर जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन (अनु०—डॉ० उदयनारायण तिवारी) : भारत का भाषा-सर्वेक्षण, खण्ड १, भाग १, १९५९, पृ० २१२।
११. डॉ० प्रबोध बेचरदास पंडित प्राकृत भाषा, १९५४, पृ० १२-१३।
१२ डा० सुनीतिकुमार चटर्जी भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, द्वितीय संस्करण, १९५७, पृ० ४७-४८ से उद्धृत।
१३. वहीं, पृ० ५४-५५ से उद्धृत।
१४ द्रष्टव्य है—परिषद्-पत्रिका, वर्ष ८, अंक ३-४, भाषा-सर्वेक्षणांक, पृ० ५४।
१५ "अथ यान् शब्दान् आर्या न कस्मिंश्चिदर्थे आचरति म्लेच्छास्तुकस्मिंश्चित् प्रयुञ्जते, यथा पिक-नेम-सत-तामरस आदि शब्दा तेषु सन्देह।"—मीमांसादर्शन, अ० १, पा० ३, सू० १०, अ० ५ की टीका तथा—"ये शब्दा न प्रसिद्धाः स्यु। तद्यथा द्राविडादिभाषामीदृशी स्वच्छन्दकल्पना तदा पारसी-बर्बर-यवन-रौमकादि भाषासु किं विकल्प्य किं प्रतिपत्स्यन्ते इति न विद्मः।" कुमारिल (तन्त्रवार्तिक)।
१६ डॉ० हेमचन्द्र जोशी : दो आर्यभाषाएँ : खत्ति और मित्तान्नि, भाषा, वर्ष पाँच, अंक १, सितम्बर, १९६५, पृ० ४१-४२।
१७ ग्राहम विल्सन (सं०) ए लिंग्विस्टिक्स रीडर, न्यूयार्क, १९६७, पृ० ८७।

"The same process took place in the case of sanskrit, which was an artificially perfected literary language. The natural dialects were known as Prakrits, and as there prakrits developed literatures of their own, even they became influenced by the literary Sanskrit Infact, the grammarians of the day developed special rules for turning Sanskrit into prakrit. So that the real prakrit tended to be lost to the written language and the literary prakrit became a definite mutilation of Sanskrit."—p. 87.

१८ ज्यूल ब्लाख (अनु०—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय) : भारतीय- आर्यभाषा, १९६३, पृ० २।
१९ विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य है—हिन्दुस्तानी, भाग ३१, अंक १-२, जन०-जून, १९७०, पृ० १९-३९।
२० प्रो० अमरनाथ झा हिन्दी के कुछ भूले हुए शब्द, हिन्दुस्तानी, १९३७, पृ० २६७-२७७ द्रष्टव्य है।
२१ डॉ० भोलानाथ तिवारी हिन्दी भाषा, १९६६, पृ० १२६।
२२. डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी : भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, द्वितीय संस्करण १९५७, पृ० १५५।
२३ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, १९४९, पृ० ५०।
२४ भाषा, वर्ष १, अंक १, अगस्त, १९६१, पृ० २५।
२५. (१) डा० सुनीतिकुमार चटर्जी भारतीय-आर्यभाषा और हिन्दी, द्वितीय संस्करण, १९५७, पृ० १७८।
(२) "Does khari Boli mean nothing more than rustic speech"—टी० ग्राहम बेली।
२६. पं० किशोरीदास वाजपेयी : हिन्दी-शब्दानुशासन, द्वितीय संस्करण, पृ० ८-९।
२७. डॉ० उदयनारायण तिवारी : भाषाशास्त्र की रूपरेखा, पृ० २३१-२३२।

२८. (१) खरचत खात खरो पछताहि, ओर देहि न आयुम खाहि। (कृपणजगावन चरित्र : ब्रह्म गुलाल)।

(२) अपने मन की बात कहूँ तो सो खरी।—श्रीपालकथा, २८३।

२९. राहुल सांकृत्यायन : दक्खिनी हिन्दी-काव्यधारा, १९५९, भूमिका से।

३०. डॉ० भोलानाथ तिवारी : हिन्दी भाषा, पृ० १८८।

३१. मुहम्मद हुसेन आजाद : आबेहयात, पृ० ६।

३२. डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम : खड़ी बोली का उद्भव और उसकी आकारान्तता, विशालभारत, सितम्बर, १९६४, पृ० १२६।

३३. डॉ० मनोहरलाल गौड़ 'भ्रमर' : ब्रज तथा खड़ी बोली के संक्रमणक्षेत्र में वाक्य-संरचना, परिषद्-पत्रिका, वर्ष ८, अंक ३-४, भाषा-सर्वेक्षणांक, पृ० २०९।

३४. पं० किशोरीदास वाजपेयी : हिन्दी-शब्दानुशासन, द्वितीय संस्करण, पृ० ५९।

३५. रामचन्द्र वर्मा : अच्छी हिन्दी, दसवाँ संस्करण, पृ० १६।

३६. "स्यादौ दीर्घ ह्रस्वौ।"—सिद्धहेमशब्दानुशासन।

३७. डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी : भारत की भाषाएँ और भाषा संबंधी समस्याएँ, पृ० ७२।

३८. गोलोक विहारी धल : ध्वनिविज्ञान, १९५८, पृ० २३६ में उद्धृत।

३९. डॉ० उदयनारायण तिवारी : हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, १९५५, पृ० १६२।

४०. सर जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन (अनु०—डॉ० उदयनारायण तिवारी) : भारत का भाषा-सर्वेक्षण, खण्ड १, भाग १, १९५९, पृ० २२२-२२३, पूर्ण उद्धृत।

४१. डॉ० उदयनारायण तिवारी : हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, १९५५, पृ० १७५-१७६।

४२. "तस्मादुदीच्यां प्रज्ञाततरा वाग् उद्यते, उदञ्च उ एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्, यो वा तत आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति।"—कौषीतिकि ब्राह्मण, ७-६।

४३. सर जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन (अनु०—डॉ० उदयनारायण तिवारी) : भारत का भाषा-सर्वेक्षण, खण्ड १, भाग १, १९५९, पृ० २९९।

४४. डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन' : पश्चिमी हिन्दी और उसकी विभिन्न उपभाषाओं का स्वरूप, हिन्दुस्तानी, भाग २५, अंक १-४, जन०-दिस०, १९६४, पृ० २२९ से उद्धृत।

४५. वहीं, पृ० २२८ में उद्धृत।

४६. डॉ० भोलानाथ तिवारी : हिन्दी भाषा, १९६६, पृ० ३३१।

४७. डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन' : पश्चिमी हिन्दी और उसकी विभिन्न उपभाषाओं का स्वरूप, हिन्दुस्तानी, भाग २५, अंक १-४, पृ० २४८।

४८. डॉ० उदयनारायण तिवारी : हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, १९५५, पृ० २२०।

४९. डॉ० माताप्रसाद गुप्त : कुतुबशतक और उसकी हिन्दुई, १९६७, प्रस्तावना, पृ० ५।

५०. वहीं, पृ० २६।

५१. डॉ० भोलानाथ तिवारी : हिन्दी भाषा, १९६६, पृ० २३१।

५२. डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी : भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, द्वितीय संस्करण, १९५७, पृ० २१४।

५३. डॉ० भोलानाथ तिवारी : हिन्दी भाषा, १९६६, पृ० २३४ से उद्धृत।

५४. डॉ० उदयनारायण तिवारी : हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, १९५५, पृ० २०५।

५५. परिषद्-पत्रिका, भाषा-सर्वेक्षणांक, पृ० २५०।

५६. सर जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन (अनु०—डॉ० उदयनारायण तिवारी) : भारत का भाषा-सर्वेक्षण, खण्ड १, भाग १, १९५९, पृ० ३१८।

५७. वहीं, पृ० २९१-२९२।
५८. डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन' पूर्वी हिन्दी और उसकी प्रमुख उपभाषाएँ, हिन्दुस्तानी, भाग २६, अंक ३-४, जुलाई-दिस०, १९६५, पृ० १३१ एवं १४८ से उद्धृत।
५९. डॉ० भोलानाथ तिवारी : हिन्दी भाषा, १९६६, पृ० २६०-२६१।
६०. वहीं, पृ० २६९-२७०।
६१. वहीं, पृ० २७८-२७९।
६२. सर जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन (अनु०—डॉ० उदयनारायण तिवारी) : भारत का भाषा-सर्वेक्षण, खण्ड १, भाग १, पृ० ३१६।
६३. डॉ० भोलानाथ तिवारी : हिन्दी भाषा, १९६६, पृ० २८२।
६४. वहीं, पृ० २९१।
६५. वहीं, पृ० ३०२-३०६।
६६. डॉ० श्याम परमार : मध्यभारत की बोलियाँ और मालवा, वीणा, मालवीअंक, सितम्बर-अक्तूबर, १९७१, पृ० २५।
६७. डॉ० भोलानाथ तिवारी : हिन्दी भाषा, १९६६, पृ० ३१३।
६८. वहीं, पृ० ३२१।
६९. सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन (अनु०—डॉ० उदयनारायण तिवारी) : भारत का भाषा-सर्वेक्षण, खण्ड १, भाग १, पृ० ३३४।
७०. डॉ० भोलानाथ तिवारी : हिन्दी भाषा, १९६६, पृ० ३४१।
७१. वहीं, पृ० ३४२।
७२. वहीं, पृ० ३६०, ३६१।
७३. वहीं, पृ० ३६२।
७४. ज्यूल ब्लाख (अनु०—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय) : भारतीय आर्य भाषा, १९६३, पृ० १५।
७५. जॉन बीम्स : कम्पेरेटिव ग्रैमर ऑव मोडर्न आर्यन लैंग्वेजेज ओव इण्डिया, प्रथम जिल्द, १८७२, पृ० २४।
७६. सर जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन (अनु०—डॉ० उदयनारायण तिवारी) : भारत का भाषा-सर्वेक्षण, खण्ड १, भाग १, पृ० २२४ से पूर्ण उद्धृत।
७७. ई० बी० कावेल : शॉर्ट इन्ट्रोडक्शन टु द आर्डिनरी प्राकृत ओव द संस्कृत ड्रामाज, लन्दन, १८७५, पृ० ६।
७८. आर० पिशेल (अनु०—सुभद्र झा) : कम्पेरेटिव ग्रैमर ऑव द प्राकृत लैंग्वेजेज, द्वितीय संस्करण, १९६५, पृ० ४।

"All the prakrit languages have a series of common grammatical and lexical characteristics with the vedic language, and such are significantly missing from sanskrit."—p. 4.

७९. ग्राहम विलसन (स०) : ए लिंग्विस्टिक्स रीडर, न्यूयार्क, १९६७, पृ० ८७।
८०. डॉ० प्रबोध बेचरदास पंडित : प्राकृत भाषा, १९५४, पृ० १४।
८१. डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी : भारतीय-आर्यभाषा और हिन्दी, १९५७, पृ० ८३।
८२. डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी : द ओरिजन एण्ड डेवलपमेन्ट ऑव द बेंगाली लैंग्वेज, कलकत्ता, १९२६, पृ० १७।
८३. एम० ब्लूमफील्ड : ऑन ए पोसिबल प्रि-वैदिक फॉर्म इन पालि एण्ड प्राकृत, जर्नल ऑव द अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी, जिल्द ४१, १९२१ ई०, पृ० ४६५-४६६।

८४ दिनेशचन्द्र सरकार ए ग्रैमर ऑव द प्राकृत लैंग्वेज, भूमिका, पृ० १।
८५ डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, १९५७, पृ० ७०।
८६ "जन बिभ्रती बहुधा विवाचसम्"
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्। अथर्ववेद १२।१।४५
तथा—वाल्मीकि रामायण सुंदरकांड ३०।१७।१९।
स्मृति में उल्लेख है—"संस्कृतै प्राकृतै वाक्यै शिष्यमनुरूपत।
देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत् स गुरु स्मृत॥"
८७ भरत नाट्यशास्त्र, भाषाप्रकरण, अध्याय १४।
८८ सक्कता पागता चेव दुहा भणिईओ आहिया।
सरमंडलम्मि गिज्जते पसत्था इसिभासिता॥—अनुयोगद्वारसूत्र
८९ बटकृष्ण घोष प्राकृतिव सन्धि इन द ऋकसंहिता, इण्डियन लिंग्विस्टिक्स, जिल्द ९, भाग १, पृ० २९।
९० डा० ए० डी० पुसालकर वयर द पुराणाज ओरिजिनली इन प्राकृत ?, आचार्य ध्रुवस्मारक ग्रन्थ भाग ३ पृ० १०१-१०४।
९१ महर्षि पतञ्जलि महाभाष्य, अ० १, पा० १, आ० १।
तथा—अष्टाध्यायी ३, २, १०८ ७, ? ८८, २, ३, ६२।
९२ परि त्वा गिर्वणो गिर इमा भवन्तु विश्वत।'—ऋग्वेद १ म० १ अ० १०, सू० २०।
९३ शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते कम्बोजा कम्बलभोजा कमनीयभोजा वा कम्बल कम नीया भवति विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येष्वेवमेक पदानि निब्रूयात्। —निरुक्त, २ अ०, ? पा०, ४ ख०।
९४ तत्रैतानि चत्वारि पदजातान्यनुक्रान्तानि नामाख्यात चोपसर्गनिपाताश्च तत्र नामान्या ख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च न सर्वाणीति गार्ग्यो॥' वही, १ अ०, ४ पा०, १ ख०।

९५ सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे। कथ पुनर्ज्ञायते सिद्ध शब्दोऽर्थ सम्बन्धश्चेति। लोकत। यल्लोकेऽर्थ मर्थमुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते नैषा निर्वृत्तौ यत्न कुर्वन्ति। ये पुन कार्या भावा निर्वृत्तौ तावत्तेषा यत्न क्रियते। तद्यथा। घटेन कार्य करिष्यन्कुम्भकारकुल गत्वाह कुरु घट कार्यमनेन करि ष्यामीति। न तद्वच्छब्दान्प्रयोक्ष्यमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह कुरु शब्दान्प्रयोक्ष्य इति। तथा — लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियम। यथा लौकिकवैदिकेषु।"—महाभाष्य, अ० १ पा० १, आ० १।
९६ डा० नेमिचन्द्र शास्त्री अशोककालीन भाषाओं का भाषाशास्त्रीय सर्वेक्षण परिषद् पत्रिका, भाषा सर्वेक्षणांक, पृ० ७८ से पूर्ण उद्धृत।
९७ भिक्षु सिद्धार्थ बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृ० ६४१।
९८ 'मागधिकाय सब्बसत्तान मूलभासाय।" "देसभासा नाम एकसतवोहारकुसलता विसेसेन पन मागधिके कोसल्ल।"—विसुद्धिमग्ग, पृ० ३४, ३०८।
९९ सिद्धमिद्धगुणं साधु नमस्सित्वा तथागत।
सधम्मसङ्घ भासिस्स मागध सद्दलक्खण॥ मोग्गल्लानव्याकरण, ?।
१०० गुणरत्नशेखर कच्चायनव्याकरण की भूमिका, पृ० २।
१०१ पालिसद्दो पालिधम्मे तन्ताकपालियं पि च।
दिस्सते पन्तिय चेव इति ञेय्य विजानता॥—अभिधानप्पदीपिका सूची, पृ० २३८।
—पा रक्खणे लि, पाति रक्खतीति पालि, पालीति एकत्थे।

१०२ एच० ल्युडर्स (म०) बुखशतेव बुद्धिदिरश्वर क्रेमन, वर्लिन, १९११।
१०३ डॉ० सुकुमार सेन कम्परेटिव ग्रैमर आव मिडिल इन्डो-आयन, १९६०, पृ० १३।
१०४ लक्ष्मीनारायण तिवारी पच्चायन व्याकरण की भूमिका, १९६२, पृ० ४२।
१०५ डॉ० उदयनारायण तिवारी हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, १९५५, पृ० ११३।
१०६ भरतमुनि नाट्यशास्त्र १७ १६।
१०७ देशेषु देशेषु पृथग विभिन्न न शक्यत लक्षणतस्तु वक्तुम्।
लोकेषु यत् स्यादपभ्रष्टमुक्त ज्ञय हि तद्देशविदोऽधिकारम्॥
—विष्णुधर्मोत्तर, ७, ११।

१०८ मागध्यवन्तिजाप्राच्या शौरसेन्यद्धमागधी।
वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्तिता॥ नाट्यशास्त्र १७, ४९।
१०९ डा० नामवर सिंह हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग १९ ४, पृ० ३७।
११० 'सद्देसणेण पाउ पइउ रस्उ वीमम्भो।
वीमभाओ पणओ, पचविह वड्ढए पिम्म।
तह जह करोमि नेह तह तह नेहो मे वड्ढए तुमम्मि।
तण नाडिओमि वलिय न पुच्छमि दुक्खत्तरात्ति॥
—बृहत्क पभाष्य।
विशेष जानकारी क लिए द्रष्टव्य है 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ परिशिष्ट (२) प्राकृत साहित्य में उपलब्ध कतिपय अपभ्रंश पद्य पृ० २३७।
१११ डा० एम० एम० कत्रे प्राकृत लैग्वेज एण्ड देयर कन्ट्रिब्युशन टु इण्डियन कल्चर पृ २२।
११२ डा० देवेन्द्रकुमार जैन अपभ्रंश भाषा और साहित्य, १९६५, पृ० १७।
११३ राजशेखर काव्य मीमांसा, अध्याय १०।
११४ आता संस्कृता अथवा प्राकृता
भाषा जाली ज हरिकथा॥—एकनाथ।
तथा—प्राकृत लोक न जाणति मूढ, उग च इगा कथिताती मर्दा।
'देशी हा का मह्राठी, परी उपनिषन्नाची च राहाटी। —विवेकसिन्धु।
अम्हा प्राकृत देश कारे बन्धे गीता। —ज्ञानेश्वर।
११५ डा० एम० एन० घाषाल अपभ्रंश एण्ड पोस्ट अपभ्रंश फाचस इन द अली प्राकृत्स, इण्डियन हिस्टारिकल क्वा र्टर्ली जिल्द ३०, स० ४ पृ० २४७-२६३।
११६ डा० भालानाथ तिवारी हिन्दी भाषा १९६६, पृ० ९१।
११७ प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी पुरानी हिन्दी, प्रथम संस्करण पृ० ८।
११८ डा० शिवप्रसाद सिंह सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, १९५८ पृ० ६९।
११९ डा० माताप्रसाद गुप्त कुतुबशतक और उसका हिन्दुई, १९६७, पृ० ७३।
१२ रघुपति सहाय 'फिराक गोरखपुरी उर्दू भाषा और साहित्य १९६२, पृ० १।
१२१ डा० धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा का इतिहास, १९४९, पृ० ७० से उद्धृत।
१२२ विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य है हिन्दी परसर्गों का विकास, सप्तसिन्धु दिसम्बर १९६१, पृ० १० १४।
१ ३ धरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रवन्ह सुर मनि ढेरी॥
—रामचरितमानस अयोध्याकाण्ड, ११३, ३।
निठुर होइ जिउ बधसि परावा। हत्या केर न होहि उर आवा॥—पदमावत।
पानी केरा बुदबुदा, अस मानुस की जात।

१२४ डॉ० बालमुकुन्द हिन्दी क्रिया स्वरूप और विश्लेषण, १९७०, पृ० १०० ।
१२५ द्रष्टव्य है—अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध-प्रवृत्तियाँ, पृ० २१ ।
१२६ हिन्दी शब्द रचना, प्राक्कथन, पृ० ६ ७ से उद्धृत ।
१२७ लक्ष्मीचन्द हिन्दी भाषा आन्दोलन, १९६३, पृ० ३ से उद्धृत ।
१२८ म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी वर्तमान हिन्दी में संस्कृत शब्दों का ग्रहण, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भा० १०, अङ्क १ २, पृ० २२३ ।
१२९ 'चौदहभाषा गोष्ठी' ज्ञानपीठ पत्रिका फरवरी, १९६७, पृ० ४१ ।
१३० वहीं, पृ० ३६ ।
१३१ वहीं, पृ० ३८ ।
१३२ भाषा, वर्ष ८, अक २ पृ० ३६ ।
१३३ डॉ० उदयनारायण तिवारी हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, १९५५, पृ० ५४६ ।
१३४ एच० ए० ग्लीसन, जू० एन इन्ट्रोडक्शन टु डिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक्स, संशोधित संस्करण, १९६६, पृ० ४१२ ।
१३५ वाचस्पति गैरोला अक्षर अमर रहें, १९५९, पृ० २८० ।
१३६ ई० एच० स्तुर्तवन्त लिंग्विस्टिक चेन्ज, १९६१, पृ० ५८ ।
१३७ डा० उदयनारायण तिवारी हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, १९५५, पृ० ५४७ ।
१३८ डा० गोलोक बिहारी धल ध्वनिविज्ञान, १९५८, पृ० २०८ २०९ ।
१३९ डा० उदयनारायण तिवारी हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, १९५५, पृ० ५४९ ।
१४० डा० जगदीशचन्द्र जैन जैन आगम सहित्य में भारतीय समाज, १९६५, पृ० ३०० ।
१४१ जाज ब्युलर आन द ओरिजिन आव द इण्डियन ब्राह्म अल्फाबेट, १९६३ पृ० ८२ ।
१४२ वहीं पृ० ५३ ।
१४३ आचाय जिनसेन महापुराण १६ १०४ १०८ ।
१४४ वाचस्पति गैरोला अक्षर अमर रहें १९५९, पृ० २० ।
१४५ वहीं पृ० २३
१४६ डा० भोलानाथ तिवारी हिन्दी भाषा १९६६, पृ० ३०६ ३०७ ।
१४७ कैलाशनाथ सिन्धु सभ्यता का आदि केन्द्र हड़प्पा, पृ० २१४ ।
१४८ गौरीशकर हीराचन्द ओझा भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० ३२ ।
१४९ भाषा १ १ पृ० ३१ ।
१५० गौरीशकर हीराचन्द ओझा भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० ६८ ७० ।
१५१ यथा म राष्ट्रिका नारी तक्र इत्यभिभाषत ।
एव रङ गा प्रयोक्तव्या --॥ पाणिनिशिक्षा, २६ ।
१५२ डा० गोलोक बिहारी धल ध्वनिविज्ञान, १९५८, पृ० २९ पूण उद्धृत ।
१५३ डॉ० भोलानाथ तिवारी हिन्दी भाषा, १९६६ पृ० ३२६ ।
१५४ श्री० दा० सतवलेकर देवनागरी प्राचीनतम और पूर्ण वैज्ञानिक लिपि, भाषा, ५, १, सितम्बर, १९६५, पृ० २२ ।
१५५ डॉ० गुणानन्द जुयाल हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास, १९६६, पृ० १४८ ।
१५६ डॉ० भोलानाथ तिवारी हिन्दी भाषा, १९६६, ३२७ ।
१५७ वहीं, पृ० ३२७ ।
१५८ वी० रा० जगन्नाथन हिन्दी की लिपि-स्वरूप और समस्याएँ, गवेषणा, सितम्बर, १९६६, पृ० ४६ ।

१५९ वही, पृ० ४८ ४९।

१६० डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी भारतीय आयभाषा और हिन्दी, १९५७, पृ० २३३।

१६१ वही, पृ० २३८।

१६२ भाषा वष ६ अक ४ पृ० ६ से उद्धृत।

१६३ वही पृ० ६।

१६४ शासकीय महाविद्यालय पत्रिका नीमच वर्ष १८ अक १७, पृ० ५१।

अध्ययन व विमर्श के लिए पठनीय पुस्तकें

(१) फ्रेडरिक बाम्मर द लूम आव लैंग्वेज।
(२) मरिओ ए० पेइ द वर्ल्डस चीफ लैंग्वेजेज।
(३) डा० उदयनारायण तिवारी हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास।
(४) डा० भोलानाथ तिवारी हिन्दी भाषा।
(५) भाषा विज्ञान।
(६) गौरीशंकर हीराचन्द ओझा भारतीय प्राचीन लिपिमाला।
(७) नागरी अंक और अक्षर।
(८) डा० सुनीतिकुमार चटर्जी भारतीय आयभाषा और हिन्दी।
(९) डा० राजबली पाण्डेय पेलियोग्राफी।
(१०) डा० धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा का इतिहास।
(११) ज्यूल ब्लॉख भारतीय आर्यभाषा।
(१२) डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री भारत की आर्यभाषाएं।
(१३) न० चि० जोगलेकर (स०) देवनागरी लिपि स्वरूप विकास और समस्याएं
(१४) डा० अम्बाप्रसाद सुमन' हिन्दी और उसकी उपभाषाओं का स्वरूप।
(१५) डा० हरदेव बाहरी हिन्दी उद्भव, विकास और रूप
(१६) नलिनी मोहन सान्याल बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति और विकास।
(१७) डा० कैलाशचन्द्र भाटिया ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली।
(१८) डॉ० सतीशकुमार रोहरा भाषा एवं हिंदी भाषा।

पारिभाषिक शब्दावली

अंग्रेजी-हिन्दी

A

Absolute निरपेक्ष
Abstraction पृथक्करण
Ablaut अपिश्रुति
Academic विद्वत्परिषद्, अकादमी
Accent आघात, स्वराघात
Accented आघातयुक्त
Acoustic श्रौत, श्रवणात्मक
Acoustical श्रौतग्राह्य
Acoustic Phonetics श्रौतिकी ध्वनिविज्ञान
Acute उदात्त
Adam's apple टेंटुआ कंठ
Adapt रूपान्तर करना
Addendum परिशिष्ट
Adhere संसक्त रहना
Adjoining sound सन्निहित ध्वनि
Advanced अग्रवर्ती
Affinity साम्य
Affix प्रत्यय
Affricate स्पर्शसंघर्षी
Agglutinate संश्लिष्ट, चिपका हुआ
Allegory रूपक
Allegro सजीव, तीव्र गति से
Allergo form निर्बल रूप
Allograph उपवर्णग्राम
Allophone सस्वन, उपध्वनिग्राम
Allophonic सस्वनीय
Alphabet वर्णमाला
Alveolar वर्त्स्य, दन्त कोटर
Alveoli वर्त्स
Alveolopalatal वर्त्स्यतालव्य
Amphitheatre रंगभूमि
Amplitude प्रकंपन-विस्तार, दोलनांक
Analects संकलन, साहित्यिक संचयन
Analogous सदृश, समान
Analogy सादृश्य, समानता
Analysis विश्लेषण
Analyst विश्लेषक
Analytic, Analytical विश्लेषणात्मक
Anaptyxis स्वरभक्ति
Anatomy शरीररचना विज्ञान
Ancillary आनुषंगिक
Anecdote उपाख्यान
Anglo अंग्रेज जाति का
Angular कोणयुक्त
Annotate टीका लिखना, टिप्पणी करना
Anthropology नृतत्त्व विज्ञान, मानव शास्त्र
Antilogy उक्ति विरोध
Antiquary पुरातत्त्वविद्
Antiquity प्राचीनता
Antithesis प्रतिपक्षीय, विरोधात्मकता
Apex नोक, सिरा
Aphesis आदि स्वर लोप, शब्द के आरम्भिक स्वर का लोप (e) squire
Apical जिह्वानीक, जीभ की नोक
Apocope अन्त्याक्षर लोप
Apostil उपान्तस्थ टिप्पणी, हाशिये का नोट
Appendix परिशिष्ट
Arbitrary यादृच्छिक
Argot गुटबोली
Articulation उच्चारण
Aspirate महाप्राण व्यंजन
Assimilation समीकरण
Assonant समस्वरयुक्त
Atonic स्वराघातहीन
Attune एक सुर करना
Audible श्रव्य, जो सुना जा सके
Auditory श्रुतिग्राह्य
Augment आगम

B

Back पश्च
Back rounded पश्च वृत्ताकार
Back vowel पश्च स्वर
Bass मन्द्र, मन्द ध्वनिवाला
Bibliography सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची, ग्रन्थ-सूची
Bilabial द्वयोष्ठ्य
Bilingual द्विभाषिक
Blade of the tongue जिह्वाफलक
Borrowed word गृहीत शब्द
Breath श्वास
Breathed (voiceless) अघोष
Bronchi श्वासनली के दो मुख्य भाग, ग्रैवेय
Broad transcription प्रशस्त प्रतिलेखन
Buccal cavity मुख-विवर

C

Cacoepy अशुद्ध उच्चारण
Cacography अशुद्ध वर्तनी
Calligraphy सुलेख
Cant किसी वर्ग की निजी अपभाषा या बोली
Cardinal consonant मान व्यजन
Cardinal vowel मान स्वर
Cartilage उपास्थि
Case कारक, विभक्ति
Catachresis अर्थ-विपर्यय
Catalogue अनुक्रमणिका, सूची
Category कोटि
Catharsis भाव-विरेचन
Cavity विवर
Central vowel केन्द्रीय स्वर
Character लक्षण
Chart रेखाचित्र
Chord तन्त्री, स्वरों का तारतम्य
Chrone दीर्घता
Chronology कालक्रम
Cingalese सिंहली भाषा
Circumflex स्वराघात
Classification वर्गीकरण
Close सवृत्त
Close Vowel सवृत्त स्वर
Cluster (व्यंजन था स्वरध्वनियों का गुच्छा गुच्छा)
Coarticulation समकालिक प्रयत्न
Coda गह्वर
Code संहिता, सकेत
Cognate सजातीय
Coinage गढा हुआ, गढत
Collate परस्पर पांडुलिपि का मिलान करना
Collinear एकरेखीय
Colloquial बोलचाल का, प्रचलित
Colophon पुष्पिका
Coloured vowel अनुरंजित स्वर
Complementary distribution परिपूरक वितरण
Complex जटिल, मिश्र
Complicate जटिल बनाना
Component घटक
Compose रचना करना
Composite सयुक्त
Composition सघटन
Compositor अक्षर-योजक
Compound सामासिक, समास पद बनाना, समास
Comprise समाहित करना
Compute गणना करना
Concept तथ्य, विचारणा, धारणा
Concrete sound मूर्त ध्वनि
Conditional परोद्भूत
Conflated मिश्रित
Conglutinate परस्पर चिपकना
Conjugate रूप चलाना, रूपान्तर बनाना
Conjunct सश्लिष्ट
Connote सकेत करना
Consonant Cluster व्यजनगुच्छ
Consonantal vowel व्यजनीय स्वर
Constitute सघटन करना
Constitutive सघटक
Content विषयवस्तु
Contentives मूल शब्द
Context अन्वय, सन्दर्भ

Contiguous सन्निहित, सांसर्गिक
Contingent सायोगिक
Continuant सप्रवाह
Contour आकृति रेखा
Contraction सकुचन, सिकुड़न
Contrast व्यतिरेक, विपरीत
Contrastive व्यतिरेकी
Conversion परिवर्तन, रूपान्तर
Cord रज्जु, तन्त्री
Corpus भाषांश, निकाय (समुदाय)
Corpuscular theory आण्विक सिद्धान्त
Corresponding अनुरूप, सदृश
Corrupt विकृत
Counter अनुरूपता, समानता
Counterpart प्रतिरूप
Crest of sonority मुखरता शीर्ष
Critic समालोचक
Criticism समालोचना
Crystallizing form रचना प्रक्रिया-रूप
Current चालू, प्रचलित
Curving power अवराधक शक्ति

D

Denasalisation अनासिक्यीकरण
Denominative नामधातु
Dental दन्त्य
Depict चित्रण करना
Derivation व्युत्पत्ति
Derivational व्युत्पादक
Descended परम्परागत ढल कर
Descriptive Linguistics वर्णनात्मक भाषाशास्त्र
Descriptive procedure वर्णनात्मक विधि
Design परिकल्पना ढाँचा
Device विधि, अभिलक्षण
Devoiced अघोषीकृत
Diachronic ऐतिहासिक
Diacritic mark ध्वनिभेदक चिह्न, मात्रा-चिह्न
Dialect बोली
Dialectology बोली-विज्ञान
Diaphragm उर-प्राचीर
Diction विशिष्ट पद-योजना, शब्द चयन
Digraph द्विवर्णात्मक विन्यास, दो वर्णों का समूह जो एक ही ध्वनि का वाचक हो
Diphthong संयुक्त स्वर
Diphthongisation संयुक्तस्वरीकरण
Disparate विषम, असंबद्ध
Dissect विभाजित करना
Dissimilation विषमीकरण
Distributional वितरणीय
Ditto पूर्वोक्त, उपर्युक्त, वही
Divergence अपसरण
Diversion परावर्तन
Divisible विच्छेद्य, बटने योग्य
Division विभाग
Dorsal पश्च जिह्व
Dorsum जिह्वा पश्च
Dotty बिन्दुओं के द्वारा चिह्नित
Double articulation द्वित्व-प्रयत्न
Double Consonant द्वित्व व्यंजन
Double Stop द्वित्व स्पर्श
Double Stress द्विगुणाघात
Dramatically अकस्मात्
Drift भाव अभिप्राय
Dual द्विमस्य द्विवाचक द्वैती
Duct वाहिनी
Dumb गूँगा, मूक
Durative (Spirant) संघर्षी, ऊष्म
Dynamic गतिशील, क्रियात्मक
Dyslogistic अपकर्ष, बुरे अर्थवाला शब्द प्रयोग

E

Ear drum कर्णपटह
East middle मध्यपूर्व
Ecology परिस्थितिकी, परिस्थिति विज्ञान
Economy of effort प्रयत्न लाघव
Edict राजघोषणा
Edit सम्पादन करना
Edition संस्करण, आवृत्ति
Editor सम्पादक
Egressive air stream बहिर्गामी वायु प्रवाह
Electric वैद्युत

Electro motion विद्युत्तरंग
Elegant सुन्दर, ललित
Element मूल तत्त्व
Elision लोप (स्वर, अक्षर-लोप)
Embody मूर्त रूप देना
Emend संशोधन करना (पुस्तक-पाठादि का)
Emotion भाव, संराग
Energy ऊर्जा
Epenthesis अपिनिहिति
Epenthetic अपिनिहित्यात्मक
Epic महाकाव्य
Epiglottis स्वरयन्त्रावरण
Epigraph उत्कीर्ण लेख
Episode उपाख्यान
Equivocal अनेकार्थक
Erotic शृंगारिक, प्रेमकाव्य
Esperanto एक कृत्रिम विश्व-भाषा
Ethnology मानवजाति-विज्ञान
Etymology व्युत्पत्तिशास्त्र, निरुक्त
Euphony श्रुतिमधुर
Event वृत्त, घटना
Evolution विकास
Exclusive एकान्तिक, अतिरिक्त
Expansion विस्तार
Explosion स्फोट
Extant उपलब्ध

F

Fable कल्पित कथा
Factor निमित्त
Faculty संकाय
Fallacy भ्रान्ति
Falling tune अवरोही तान
False analogy मिथ्या सादृश्य
Fancy ललित कल्पना, कल्पना-तरंग
Fantasy कल्पना
Feature लक्षण
Fiction गल्प, कल्पित कथा
Flapped उत्क्षिप्त
Flexibility लोच, लचीलापन
Form रूप
Form-Class रूप-वर्ग
Formation रूप-रचना
Formative affix रचनात्मक उपसर्ग
Formula सूत्र
Fortis सबल, सशक्त
Free form मुक्त रूप
Free variation मुक्त परिवर्तन
Frequency आवृत्ति, बारबारता
Friction घर्षण
Fricative संघर्षी
Front of the tongue जिह्वाग्र
Front vowel अग्रस्वर
Functional क्रियात्मक, क्रियाशील
Functor नामाख्यात

G

Gender लिंग
Genealogical वंशक्रमीय
Generate व्युत्पादित
Generator जनक
Genetic Classification उत्पत्तिमूलक वर्गीकरण
Gerund क्रियावाचक संज्ञा
Gesture language सांकेतिक भाषा
Gist भावार्थ
Gland ग्रंथि
Glide श्रुति
Gliding sound श्रुति-ध्वनि
Glottal stop काकल्य स्पर्श
Glottis काकल, अलिजिह्वा
Grapheme वर्णग्राम
Gullet भोजन-नली
Gum मसूढ़ा
Gutteral कंठ्य

H

Half close Vowel अर्ध संवृत स्वर
Half open Vowel अर्ध विवृत स्वर
Haplology समाक्षर लोप
Hiatus अवग्रह
Homogeneous सजातीय
Homologous सजातीय

Homonym भिन्नार्थ शब्द
Homorganic समावयवी
Human speech मानवीय वाक्
Humanities मानविकी, विज्ञानेतर विषय
Humour विनोदवृत्ति
Hyphen विभक्तियोजक चिह्न
Hypothetical काल्पनिक

I

Iconography प्रतिमा शास्त्र
Ideal sound आदर्श ध्वनि
Identical अभिन्न, वही
Identification अभिज्ञान, स्थिरीकरण
Identification of morpheme पद स्थिरीकरण
Idiolet उपबोली
Ideograph भाव लिपि
Illustration उदाहरण
Image बिम्ब, प्रतिच्छाया
Imagery कल्पना सृष्टि
Imagination कल्पना
Imitative words अनुकरणमूलक शब्द
Immanent अन्तर्निहित
Imperative आज्ञार्थक
Impression of syllable अक्षर का चित्रांकन
Implosive अन्तर्विस्फोट्य
Inarticulate sound अव्यक्त ध्वनि
Incidental sound आकस्मिक ध्वनि
Inclusive अन्तर्गत, समाविष्ट
Incompetent अक्षम
Incorporate मिलाना, अनुयोजना
Index अनुक्रमणिका, निर्देशिका
Indivisible length अविभाज्य दीर्घता
Infix अन्तःप्रत्यय
Inflection विभक्ति
Informant सूचक
Ingressive air stream अन्तःप्रवेशी वायु प्रवाह
Inscription अभिलेख
Inspiration अन्तःश्वास, अन्तःस्फुरण
Instinct सहजवृत्ति
Instrumental साधन
Inter change विनिमय
Internal change आन्तरिक परिवर्तन
Inter vocalic अन्तरस्वरात्मक
Intonation स्वरलहर
Intonation contour स्वरलहर-रेखा
Intone सस्वर पाठ करना
Intransitive अकर्मक
Inversion विपर्यय
Irregular अनियमित
Isoglass bundle लक्षण समुच्चय
Isolation वियुक्ति, पृथक्ता, अलगाव

J

Jaw जबड़ा
Jest परिहासोक्ति, ठिठोली
Jester विदूषक
Journal पत्रिका
Junction सन्धि
Juncture विवृति, सन्धि
Junction prosody सन्धि राग
Jung grammatrikar नव्य वैयाकरण

K

Key word सूचक शब्द
Kinds of phones स्वन प्रकार
Kymogram काइमोग्राम, ध्वनियों को नापने का एक यन्त्र
Kymograph काइमोग्राफ, दबाव के परिवर्तन या ध्वनि-तरंगों के विभेद को नापने का एक यन्त्र

L

Labial ओष्ठ्य
Labial click ओष्ठ्य अन्त स्फोट
Labiodental दन्तोष्ठ्य
Labio velar ओष्ठ्यकण्ठ्य
Language भाषा
Language material भाषा सामग्री
Larynx स्वरयन्त्र
Lateral पार्श्विक
Law of palatalization तालव्यीकरण का नियम

Lax vowel शिथिल स्वर
Legend आख्यान
Length दीर्घता
Lengthening दीर्घीकरण
Lenis अशक्त
Lento सवक, पूर्णरूप
Level स्तर
Level pitch समतान
Lexeme व्याकरणिक रूप
Lexicon शब्दकोश, अभिधान, निघण्टु
Lexicography कोश विज्ञान
Libido कामवासना, रति
Linear रैखिक
Linguist भाषातत्त्वविद्
Linguistic भाषिक, भाषात्मक, भाषाशास्त्रीय
Linguistics भाषाशास्त्र
Linked sequences सम्बद्धानुक्रम
Lipography लेखन प्रमाद
Liquid sound तरल ध्वनि, स्वर जैसी ध्वनि
Litoral शाब्दिक
Literary साहित्यिक
Literator साहित्यकार
Literature साहित्य
Loan ऋण, आगत या गृहीत शब्द
Local colour स्थानीय रंगत
Locution वक्तृता शैली
Logograph शब्द चिह्न
Logomachy शब्द विवाद, शाब्दिक मत भेद
Long consonant दीर्घव्यंजन
Long vowel दीर्घ स्वर
Loutish गवारू, भद्दा
Low pitch निम्न तान, अनुदात्त
Lucubrate अभिव्यंजित करना
Ludicrous हास्यास्पद
Lung फफड़ा, फुफ्फुस
Lyric प्रगीत

M

Macron दीर्घ चिह्न, स्वरों की दीर्घतासूचक चिह्न (a̅)
Mandible अधोहनु अस्थि, जबड़ा
Manuscript पाण्डुलिपि
Map मानचित्र
Masculine पुंल्लिंग
Material सामग्री, वस्तु
Mathematical गणितीय
Matter विषय वस्तु
Maxim कहावत, उक्ति
Maximum महत्तम, अधिकतम
Meaning अर्थ
Meaningful element अर्थवान तत्त्व
Mechanical यान्त्रिक
Mechanism of speech भाषणावयव
Machanize यान्त्रिक प्रक्रिया
Medieval मध्ययुगीन, मध्यकालीन
Mediopalatal region मध्यतालव्य प्रदेश
Medium माध्यम, उपाय, साधन
Medium long vowel मध्यम दीर्घ स्वर
Melody स्वरानुक्रम, लय
Membrance झिल्ली
Mental process मानसिक प्रक्रिया
Morphological Classes गठन विषयक वर्ग
Mesne मध्यवर्ती
Metaphor रूपक
Metaphrase शब्दशः, दूसरे शब्दों में कहना
Metaphysics तत्त्वमीमांसा
Metathesis विपर्यय, वर्णविपर्यय
Metonymi वक्रोक्ति अलंकार
Metre छन्द, वृत्त
Microphone ध्वनिप्रसारक यन्त्र
Middle माध्यमिक, मध्यवर्ती
Middle Indo-Aryan (MIA) मध्यकालीन भारतीय आर्य (भाषा)
Middle of the tongue जिह्वामध्य
Mid pitch मध्यसुर
Minimal } Minimum } अल्पतम, न्यूनतम
Minimal pair अल्पतम युग्म
Minimal phonetic change अल्पतम ध्वन्यात्मक परिवर्तन
Minimum unit लघुतम इकाई

Mixed vowel मिश्रित स्वर
Modal रूपीय, रूपविषयक
Mode रीति
Model प्रतिरूप, आदर्श, नमूना
Modern आधुनिक, वर्तमान
Modify स्वर-परिवर्तन करना
Molar चबाने वाला दाँत, दाढ़
Molecule अणु
Momentum वेग, सवेग
Monograph एक विषय पर लिखित प्रबंध
Monologue स्वगत भाषण
Monophone एकस्वनात्मक
Monosyllable एकाक्षर
Monophthong मूलस्वर
Monotony एकस्वरता, उकताहट
Monotype एक-एक अक्षर का टाइप निकालने वाली मशीन
Mood मन स्थिति, वृत्ति
Mora मात्रा
Morph पद
Morpheme पदग्राम, पदिम
Morphology पद-विज्ञान
Morphological Class गठनविषयक वर्ग
Motif अभिप्राय
Motion गति
Motive गत्यात्मक
Motor प्रेरक या चालक
Motor nerve प्रेरक तन्त्रिका
Motor unit गत्यात्मक इकाई
Motto आदर्श वचन, आदर्श वाक्य
Mouth cavity मुख-विवर
Mouth tracing मुखानुरेखण
Moving power प्रेरक शक्ति
Musical accent गीतात्मक सुर
Mutable परिवर्तनीय, परिवर्तनशील
Mute signs मूक संकेत
Mysticism रहस्यवाद
Myth कथाकल्प, मिथक
Mythology पुराणशास्त्र

N

Narration वर्णन, कथन
Narrative आख्यायिका
Narrow transcription संकीर्ण प्रतिलेखन
Nasal अनुनासिक, नासिक्य
Nasal cavity नासिका-विवर
Nasality अनुनासिकता
Nasalization अनुनासिकीकरण
Nasalized सानुनासिक
Nasal plosion नासिक्य स्फोट
Naso pharynx नासिका-विवरोन्मुखी गलबिल
Negative निषेधात्मक, नकारात्मक
Neology नव-शब्द-रचना, नव-शब्द-प्रयोग
Nerve system स्नायु-तन्त्र, तन्त्रिका-तंत्र
Neutral vowel उदासीन स्वर
New Indo-Aryan (NIA) नव्य भारतीय आर्य (भाषा)
Nominative कर्त्ता कारक
Non aspirate अल्पप्राण
Non contrastive distribution अविरोधात्मक वितरण
Non-linguistic भाषेतर
Non segmental phoneme खण्डेतर ध्वनिग्राम
Non-speech sound अवाक् ध्वनि
Non-syllabic अनक्षरात्मक
Norm मानक, आदर्श
Notion भाव, विचार
Noun संज्ञा, नाम
Novel उपन्यास
Nucleus of a syllable अक्षराधार

O

Object कर्म
Objective वस्तुपरक
Objective—stress प्रत्यक्ष बलाघात
Oblique तिर्यक्, वक्र
Oblique form अंगरूप विकार
Occidental पाश्चात्य
Octant } अष्टक
Octave }

Ocular चाक्षुष
Occlusive स्पर्श
Odd विषम
Ode गीतिकाव्य
Oesophagus अन्ननली
Off glide परश्रुति
On glide पूर्वश्रुति
Open Vowel विवृत स्वर
Operation क्रिया, कार्य-सम्पादन
Operative प्रवर्तनशील
Oral cavity मुख-विवर
Organic सावयव
Organ of speech भाषणावयव
Oriental प्राच्य
Origin उद्भव, उत्पत्ति
Orthography वर्ण-विन्यास, वर्तनी-विचार
Oscillograph ध्वनियों के कम्पन के चित्र लेने वाला एक यन्त्र (ओसिलोग्राफ)
Overlapping of phonemes परस्परा-च्छादित ध्वनिग्राम
Oxidize जारण क्रिया

P

Palaeography पुरालेख या शिलालेखों का अध्ययन
Palatal तालव्य
Paradigm शब्द रूपावली, रूपतालिका
Paradigmatic approach रूपतालिकात्मक पद्धति
Paragraph अनुच्छेद
Parallel समानान्तर
Parasynthetic समस्तपद से व्युत्पन्न
Parataxis असम्बद्ध व्यवस्था वाले उपवाक्य
Parisyllabic समाक्षर
Parody व्यंग्यप्रधान काव्य
Paronomasia श्लेष
Partial आंशिक सुर
Participle कृदन्त, धातुओं में कृत् प्रत्यय संयुक्त कर बनाया हुआ शब्द
Pathos करुण रस
Patois स्थानीय या जनपदीय बोली
Pattern साँचा, प्रतिरूप
Pause विराम
Pejorative ह्रासकारी
Perception प्रत्यक्षीकरण, प्रत्यक्ष ज्ञान
Personification मानवीकरण
Pharyngal उपालिजिह्वीय
Pharyngal contraction उपालिजिह्वीय संकोचन
Pharynx उपालिजिह्वा
Phase वाक्यांश
Philologist भाषाविज्ञानी
Philology भाषाविज्ञान
Phonation process उच्चारण-प्रक्रिया
phone स्वन
Phonematic स्वनग्रामिक
Phoneme ध्वनिग्राम
Phonemic ध्वनिग्रामीय
Phonemics ध्वनिग्रामशास्त्र
Phonemic system ध्वनिग्रामिक प्रणाली
Phonetic ध्वन्यात्मक
Phonetics ध्वनिशास्त्र
Phonetic script ध्वनिलिपि
Phonetic symmetry ध्वन्यात्मक साम्य
Phone type स्वनप्रकार
Phonic ध्वनीय
Phonography ध्वन्यात्मक शीघ्रलिपि प्रणाली
Phonological ध्वनिप्रक्रियात्मक
Phonology ध्वनिप्रक्रिया-विचार
Phonometer ध्वनिमापी यन्त्र
Phonoscope ध्वनिपरीक्षण-यन्त्र
Phonotype ध्वनिमुद्रण
Photozincography ब्लॉक बनाने की कला
Phrase मुहावरा, कहावत, पदबन्ध
Physiology शरीरक्रियाविज्ञान
Pictorial सचित्र
Pitch तान, सुर
Pitch accent सुराघात
Pleasure सुख, प्रसाद
Plosion स्फोट
Plosive स्पर्श, स्फोटात्मक

Plot कथानक, वस्तु
Plural बहुवचन
Poetic काव्यात्मक, सरस
Polyglot बहुभाषाविद्
Polyphonic अनेकध्वनियुक्त
Polysyllabic अनेकाक्षरी
Post Alveolar region पश्चवर्त्स्य प्रदेश
Post Consonantal पश्च व्यंजनीय
Post fix परसर्ग
Post position परसर्ग
Postpositive परसर्गात्मक
Postulate आधारतत्त्व
Potential विधिलिङ
Practical व्यावहारिक, क्रियात्मक, सैद्धान्तिक
Practice प्रक्रिया विधि, पद्धति
Precise यथार्थ, जैसा का तैसा
Predicate विधेय
Preface प्रस्तावना, भूमिका मुखबंध
Prefix उपसर्ग
Preformation पूर्वरचना
Prehistoric प्रागैतिहासिक
Preliminary प्रारंभिक
Preposition पूर्वसर्ग संबंध या विभक्तिसूचक अव्यय
Prescriptive रीत्यात्मक, आदेशात्मक
Previous पूर्ववर्ती प्राथमिक
Primary Accent प्रधान बलाघात
Primary Root मूल धातु
Principal प्रमुख
Principle सिद्धान्त
Process प्रक्रिया
Process of Aspiration महाप्राणीकरण प्रक्रिया
Process of Deaspiration अल्पप्राणीकरण प्रक्रिया
Process of Devocalisation अघोषीकरण प्रक्रिया
Process of Vocalisation घोषीकरण-प्रक्रिया
Profoundity गाम्भीर्य
Progressive पुरोगामी, प्रगतिशील
Projection प्रक्षेपण, आरोपण
Prologue प्रस्तावना, पूर्वरंग, आमुख
Prominence मुखरता, प्रमुख, उत्कर्ष
Pronoun सर्वनाम
Pronunciation उच्चारण
Propriety औचित्य
Prosaic गद्यात्मक
Prosody छन्द शास्त्र
Prosodic रागात्मक
Prosodic feature राग लक्षण
Prosodic System राग पद्धति
Prosody of Junction संधिराग
Prothesis आदि स्वरागम
Proverb लोकोक्ति
Psychology मनोविज्ञान
Psychophysical मनोदैहिक
Psychophonetic मनोध्वनिविज्ञान
Pulsimeter नाडीमापक यन्त्र, स्पन्दनसूचक
Pursuit अनुशीलन

Q

Quality गुण
Qualitative ablaut गुणात्मक अपिश्रुति
Quantity मात्रा
Quantitative ablaut मात्रिक अपिश्रुति
Quotation उद्धरण

R

Radical समूल
Rant आलंकारिक भाषा का प्रयोग करना
Rate of speaking वाग्वेग
Reaction प्रतिक्रिया, पुनरावर्तन
Realisation of a sound ध्वनिव्यक्तीकरण
Recension संशोधन, पाठ्ययन
Receptiveness ग्रहणशीलता
Reciprocal पारस्परिक, अन्योन्य
Reconstituent पुनर्गठनकारी, पुनगठनार
Reconstruction पुनर्रचना, पुनर्निर्माण
Recorder ध्वनि-लेखक यन्त्र
Recurrent आवर्तक
Reduce मूल अवस्था में लाना, छोटा करना, कृश बनाना

Reduplication द्वित्व, पुनरावृत्ति
Reference book सन्दर्भ-ग्रन्थ
Regressive पश्चगामी
Relative सापेक्ष
Relaxed शिथिल
Release उन्मोचन
Renaissance पुनर्जागरण
Replacement प्रतिस्थापन
Research अनुसन्धान, शोध-कार्य
Residual अवशिष्ट
Respiratory system श्वसन तन्त्र
Restoration पुनरावर्तन
Resultant Reaction परिणामी प्रतिक्रिया
Retracted Articulation पश्चीकृत उच्चारण
Retraction process पश्चीकरण प्रक्रिया
Retroflex Plosive मूर्धन्य स्पर्श
Retroflexion मूर्धन्यभाव
Rhetoric अलंकारशास्त्र
Rhythm लय
Rising juncture आरोही विवृति
Rising tune आरोही सुर
Rolled लुठित
Romantic कल्पनाप्रधान, स्वच्छन्दतावादी
Root of tongue जिह्वामूल
Root stage धातु अवस्था
Rounded Vowel वृत्ताकार स्वर
Rural ग्राम्य
Rustic ग्रामीण, अक्खड़ भाषा

S

Satire व्यंग्यपूर्ण रचना, व्यंग्योक्ति
Scar अंक, चिह्न
Scholar साहित्यमर्मज्ञ, छात्र, विद्वान्
Scholiast टीकाकार, भाष्यकार
Scrabble घसीट लिखना
Script लिपि
Scripture धर्मग्रन्थ
Sculpture मूर्ति, प्रतिमा
Secondary cardinal vowels गौण मानस्वर
Secondary stress गौण बलाघात
Segment खण्ड
Segment of Utterence उच्चार-खण्ड
Segmental phonemes खण्डीय ध्वनिग्राम
Self expression आत्माभिव्यंजना
Semantics अर्थ-विज्ञान
Sememe सक्रिय अर्थ-इकाई
Semi Plosive ईषत् स्पर्श
Semi Vowel अर्द्धस्वर
Semiology प्रतीक-विज्ञान
Sensibility संवेदनशीलता
Sensory nerve संवेदक तन्त्रिका
Sentence stress वाक्याघात
Sentimental भावुक
Sequence अनुक्रम, कथाक्रम
Sequence of words शब्दक्रम
Serial क्रमागत, आनुक्रमिक
Shift sign परिवृत्ति चिह्न
Short spoken अल्पभाषी
Sibilant ऊष्मवर्ण
Sign चिह्न, संकेत
Signal संकेतक, संज्ञापक
Signalise संज्ञापन करना
Significant अभिव्यंजक
Silent अनुच्चरित
Similar अनुरूप, समान, सदृश
Similitude सादृश्य, अनुरूपता
Simple Vowel मूल स्वर
Singular एक वचन
Situation स्थिति
Sketch रेखाचित्र
Slang ग्राम्य भाषा, अपशब्दों का प्रयोग करना
Slant तिर्यक्
Slit type articulation विस्तृत प्रकार से उच्चारण
Soft palate कोमलतालु, तालु का पिछला भाग
Soliloquy स्वगतभाषण
Somatology शरीर-रचना-विज्ञान
Sonant सघोष

Sonnet गीतिका
Sonometer स्वरमापी; बहिरे की श्रवणशक्ति मापकयन्त्र
Sonority मुखरता
Sound attribute ध्वनिलक्षण
Sound quality ध्वनिगुण
Sound symbol ध्वनि-प्रतीक
Sound-track ध्वनि-पथ
Sound wave ध्वनि-तरंग
Source उद्गम
Speaker वक्ता, भाषक
Speaking circuit भाषणचक्र
Speech वाक्, वाक्-शक्ति
Speech habit वाक्प्रवृत्ति
Speech organ भाषणावयव
Speech sound वाग्ध्वनि
Speech Strecher वाग्विस्तारक
Spelling वर्तनी, वर्ण विन्यास
Spirant ऊष्म, सघर्षी
Spirit मनोदशा, चेतना
Spontaneous Nasalization स्वत: अनुनासिकता
Standard आदर्श, प्रामाणिक
Standard pronunciation प्रामाणिक उच्चारण
Stem मूल शब्द, प्रातिपदिक
Sternum उर:फलक
Stertorously घरघराहट
Stimulation स्नायविक उत्तेजना
Stop स्पर्श, अवरोध
Stress बलाघात
Stressed syllable बलाघातयुक्त अक्षर
Stria रेखांकन
Stroneme बलाघातग्राम
Structural संरचनात्मक, गठनात्मक
Structure गठन, निर्माण, संरचना
Stuff सामग्री, उपादान
Style शैली
Stylistic शैली-विज्ञान, शैलीशास्त्र
Subject विषय
Subjective आत्मनिष्ठ, आत्मगत
Subjective stress अप्रत्यक्ष या मानसिक बलाघात
Sublimation उदात्तीकरण
Sublime उदात्त
Subsequent पश्चाद्वर्ती, बाद का
Subsidiary पूरक, सहकारी
Substitute स्थानापन्न
Succeed परवर्ती होना
Succession अनुक्रम
Suction sound अन्तःस्फोट ध्वनि
Suffix प्रत्यय
Suggestive अभिव्यंजक, सांकेतिक
Superable अतिक्रमणीय
Superlative सर्वोत्तम
Supplement पूरक, परिशिष्ट
Suprasegmental खण्डेतर
Supreme परम, सर्वश्रेष्ठ
Surd अघोष
Survey सर्वेक्षण
Suspicious Sequence संदेहास्पदक्रम
Syllable अक्षर
Syllabic division आक्षरिक विभाजन
Syllabic pattern आक्षरिक प्रणाली
Symbol प्रतीक, संकेत
Symbolics प्रतीकविद्या
Symphony ध्वनिसाम्य, स्वरानुरूपता
Synchronic समकालिक
Synonym पर्यायवाची शब्द
Syntactic वाक्य-विन्यास
Syntactic structure वाक्य-विन्यास-संघटना
Syntactical वाक्यविन्यासात्मक
Syntagmatic वाक्यरचनाक्रमात्मक
Syntax पदरचना-पद्धति, वाक्य-विन्यास
Synthetic संश्लिष्ट, संयोगात्मक
System पद्धति, प्रणाली, व्यवस्था
Systematic क्रमबद्ध

T

Tacit लक्षित, ध्वनित, व्यंजित
Tactile स्पर्शोत्पन्न

Tag गीत की टेक, तुक मिलाना
Talent प्रतिभा
Tangent स्पर्शरेखा
Tap मृदु आघात, थपकी
Taxeme व्याकरणिक लक्षण
Technical पारिभाषिक
Technique प्रविधि
Teeth ridge वर्त्स
Tenacious ससक्त
Tendency प्रवृत्ति
Tense काल
Tenuise अघोष
Terminal अन्त्य
Terminology पारिभाषिक शब्दावली
Text मूलपाठ
Textual criticism पाठालोचन
Theoretical सैद्धान्तिक
Thesis शोध-प्रबन्ध
Thorax वक्षस्थल
Throat कंठ
Thyroid cartilege गलग्रन्थिकास्थि
Timbre स्वनलक्षण, ध्वनि का गुणत्व
Time pattern कालरूप, काल-प्रणाली
Title शीर्षक
Tone तान
Toneme तानग्राम
Tip of the tongue जिह्वानीक
Topic विषय
Topically विषयानुसार
Totality पूर्णता
Trachea श्वासनली
Tract पुस्तिका
Traction सकर्षण
Traditional परम्परागत
Trait गुण, लक्षण
Transcript प्रतिलिपि
Transferred स्थानान्तरित
Transform रूपान्तर करना
Transit सक्रमण
Transitional सक्रमणकालीन
Transitive सकर्मक क्रिया
Translate अनुवाद करना
Translation अनुवाद, स्थानान्तरण
Transliteration अनुलेखन, लिप्यन्तरण
Trefoil त्रिपर्णी
Triange त्रिकोण
Triglot तीन भाषाओं में रचित
Trigram } एक ध्वनि को प्रकट करने वाले
Trigraph } तीन अक्षरों का समूह
Trill कम्पित स्वर
Trilled लुण्ठित
Trilogy नाटकत्रय
Triphthong त्रिसंयुक्तस्वर
Triserial,-iate त्रिक
Trisyllabic त्र्यक्षरात्मक
Trope लाक्षणिक प्रयोग
Tropology लाक्षणिकता
Type प्रकार, प्ररूप
Typical आदर्श रूप
Typological प्ररूपात्मक

U

Ultralong प्लुत
Umlaut अभिश्रुति
Unaspirated अल्पप्राण
Unconditional स्वयम्भू
Under differentiation मात्राल्पभेद
Unexploded stop अस्फोट स्पर्श
Uniformity समानता, एकरूपता
Unison स्वरैक्य, स्वरमेल
Unit इकाई
Unrounded Vowel अवृत्ताकार स्वर
Unruled अरेखांकित, रेखाहीन
Unstable sounds अस्थिर ध्वनियाँ
Unstressed बलाघातहीन
Urbane शिष्ट, सुसंस्कृत
Usage प्रयोगविधि, प्रयोग
Utterance उच्चार
Uvula अलिजिह्वा, कौवा, काकल
Uvular काकलीय, अलिजिह्वीय

V

Vacuum शून्य
Valency संयोजकता
Valuation मूल्यांकन
Variant विभिन्न रूप
Variation विभिन्नता, विभेद
Variety भेद
Variphone अनिश्चित रूप ध्वनि
Velar fricative कण्ठ्य संघर्षी
Velarisation कण्ठ्यीकरण
Velic closure नासिक्यावरोध
Velum कोमल तालु
Verb क्रिया
Verbal शाब्दिक, मौखिक, क्रिया सम्बन्धी
Vernacular देशी, स्थानीय
Verse पद्य, कविता
Version अनुवाद, अनुवाद अंश
Vertex चरम बिन्दु, शीर्ष
Vertical खड़ी रेखा, उद्वृत्त
Vibration कम्पन, स्पन्दन
Vigorous शक्तिमान
Visible चाक्षुष, दृश्यमान
Visual image चाक्षुष चित्र
Visual symbol चाक्षुष प्रतीक
Vituperation अपशब्द, गाली
Vocable शब्द
Vocabulary शब्दावली
Vocal ध्वनित, स्वरोच्चरित
Vocal cord स्वरतन्त्री
Vocalic स्वरात्मक
Vocal organ उच्चारणावयव
Voice नाद, घोष
Voiced सघोष
Voluntary ऐच्छिक, स्वत प्रवृत्त
Vowel affinity स्वरसाम्य
Vowel gradation स्वरावस्थान
Vowel group स्वर-समुदाय
Vowel harmony स्वर-संगति
Vowel quality स्वर-गुण
Vowel neutral तटस्थ स्वर
Vowel system स्वर पद्धति
Vowel triangle स्वर त्रिकोण
Vowel variation स्वर विभेद
Vulgar गँवारू
Vulgarity गँवारूपन, ग्राम्यत्व दोष

W

Wave theory तरंगवाद
Weak form निर्बलरूप
Whisper फुसफुसाहट
Wide vowel प्रशस्त स्वर
Windpipe श्वासनली
Wireless बेतार का तार
Word शब्द
Word book शब्दभण्डार
Word picture शब्दचित्र
Writer लेखक

X

X ray photograph क्ष-किरण-रश्मिचित्र

Y

Yotization य कारीकरण

Z

Zero Allomorph शून्यसहपद
Zero form शून्यरूप
Zero grade शून्य श्रेणी
Zero inflexion शून्यविभक्तिक
Zero modification शून्य संस्कार
Zoetrope जीवनचक्र
Zoology प्राणिविज्ञान

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी द्वारा प्रकाशित

श्रेष्ठ, पठनीय एवं संग्रहणीय साहित्य

शोध-ग्रन्थ

अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद डॉ० वासुदेव सिंह	१२ ००
आदिकालीन हिन्दी साहित्य डॉ० शम्भूनाथ पाण्डेय	२० ००
दादूदयाल जीवन, दर्शन और काव्य डा० सतनारायण उपाध्याय	२० ००
रामभक्ति मे रसिक सम्प्रदाय डा० भगवतीप्रसाद सिंह	२५ ००
मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का सामाजिक विवचन डॉ० सुमन शर्मा	(प्रेस में)
रीतिकालीन काव्य सिद्धान्त डॉ० सूयनारायण द्विवेदी	१६ ००
शिवनारायणी सप्रदाय और उसका साहित्य डॉ० रामचन्द्र तिवारी	३०-००
भारतेन्दुकालीन हिन्दी-साहित्य की सास्कृतिक पृष्ठभूमि डा० कमला कानोडिया	३० ००
प० बालकृष्ण भट्ट व्यक्तित्व एव कृतित्व डा० मधुकर भट्ट	३० ००
हिन्दी भाषा और साहित्य क अध्ययन मे ईसाई मिशनरियो का योगदान डॉ० पजाबराव जाधव	५० ००
हिन्दी रगमच और प० नारायणप्रसाद 'बेताब' डॉ० विद्यावती नम्र	६० ००
प्रसाद तथा मिश्र क नाटको का तुलनात्मक अध्ययन डा० शशिशेखर नैथानी	२० ००
प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासो का वस्तुरुपात्मक विकास डॉ० कृष्णअवतार सिहल	(प्रेस मे)
हिन्दी काव्य पर आग्ल प्रभाव डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा	६ ००
पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव डा० रवीन्द्रसहाय वर्मा	६ ००
आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य का स्वरुप और विकास (१९२० ६० ई०) डॉ० आशा किशोर	३० ००
हिन्दी कहानियो में व्यक्तित्व विश्लेषण डॉ० राजेन्द्रप्रसाद शर्मा	१८ ००

साहित्य-शास्त्र

काव्यशास्त्र डॉ० भगीरथ मिश्र	१२ ५०
आलोचक और आलोचना डॉ० बच्चन सिंह	८ ००
अभिनव का रस विवेचन नवीनदास पारेख तथा डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त	९५ ००
दशरूपक (हिन्दी टीका तथा समीक्षा सहित) डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी	१५ ००

काव्य में अन्योक्ति : डॉ० सूर्यनारायण द्विवेदी	७-५०
दिग्विजय भूषण (अलंकार ग्रन्थ) : डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह	२५-००
साहित्य का मूल्यांकन : वर्सफोल्ड तथा डॉ० रामचन्द्र तिवारी	(प्रेस में)
पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र : डॉ० भगीरथ मिश्र	(प्रेस में)

साहित्य-समीक्षा

सहज साधना : प० हजारीप्रसाद द्विवेदी	३-५०
हिन्दी का गद्य-साहित्य : डॉ० रामचन्द्र तिवारी	२०-००
तुलसीदास : विभिन्न दृष्टियों का परिप्रेक्ष्य : हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय	९-००
मानस-मथन : डॉ० स्वामीनाथ शर्मा	१२-६०
सृजन के आयाम : ज्वालाप्रसाद खेतान	४-५०
मध्ययुगीन काव्य-साधना : डॉ० रामचन्द्र तिवारी	४-५०
साहित्य और संस्कृति : स० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल	२०-००
सूर, तुलसी, कबीर और जायसी : एक विवेचन : रामअवध शास्त्री	५-००

प्रसाद साहित्य-समीक्षा

कवि प्रसाद आँसू तथा अन्य कृतियाँ : डॉ० विनयमोहन शर्मा	३-००
कामायनी विमर्श : भगीरथ दीक्षित	१०-५०
कामायनी सर्वेक्षण : रामअवध शास्त्री	४-५०
प्रसाद काव्य : पुनर्मूल्यांकन : डॉ० युगेश्वर	(प्रेस में)
प्रसाद के नाटक : रचना और प्रक्रिया : डॉ० जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव	(प्रेस में)
प्रसाद तथा मिश्र के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन : डॉ० शशिशेखर नैथानी	२०-००

व्यक्तित्व और कृतित्व

सेनापति और उनका काव्य : डॉ० रामचन्द्र तिवारी	(प्रेस में)
निराला : व्यक्ति और कवि : रामअवध शास्त्री	२०-००
डॉ० भगीरथ मिश्र : व्यक्तित्व और कृतित्व : कुमारी पी० ललिताम्बा	१०-००
हरिऔध शती स्मारक ग्रन्थ : डॉ० किशोरीलाल गुप्त	१६-००
अज्ञेय : व्यक्तित्व और कृतित्व : सपा० डॉ० विश्वनाथप्रसाद तिवारी	(प्रेस में)
मनीषी की लोकयात्रा (प० गोपीनाथ कविराज का जीवन-दर्शन) : डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह	३०-००